

185  
4







Binding Removed/out. ~~As~~

## पुस्तकालय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या... 222 8आगत संख्या... 7344

पुस्तक-विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३०वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

~~14 MAR 2011~~~~18/3/2~~~~Amesh~~~~20 DEC 2005~~~~18/12/05~~~~Amesh~~~~6 DEC 2012~~~~M 2163~~~~Amesh~~~~26 SEP 2007~~~~18/9/07~~~~Amesh~~~~31 MAR 2010~~~~2055/B~~~~Amesh~~



out. 18

225,4



7344







ओ३म्

# मनुस्मृतिः

भारतदेश-भाषानुवाद-सहिता

तथा च

यथाऽऽवश्यकं तत्रतत्रोपयुक्तविशिष्टव्याख्यानैः

परिवृंहिता

सा चेयम्

सानवेदभाष्यकारेण, वेदप्रकाशसम्पादकेन

तुलसीराम स्वामिना

सम्पाद्य

स्वकीये मेरठ-स्थे "स्वामि मेशीन यन्त्रालये"

मुद्रयित्वा

पञ्चमवारं प्रकाशितः

225,4



7344

सृष्टिसंवत् १९७२४८०१०, विक्रमी संवत् १९६६

मूल्यम् १)

57

09







ओ३म्

# मनुस्मृति भाषानुवाद का

विषयसूचीपत्र

मनोभाषानुवादस्य तुलसीरामशर्मणा ( स्वामिना )  
अनुक्रमणिका सूची विषयानामुदीर्यते ॥ १ ॥

भूमिका में—

विषय	पृष्ठ
पुस्तक के भाषानुवाद का कारण	६७
जिन ३० पुस्तकों से पाठ की सहायता ली है उन के नगरों तथा स्वामियों के नाम	६७
किस २ अध्याय में कितने २ श्लोक प्रक्षिप्त हैं	६८
मनु के आरम्भ में एक नवीन श्लोक १९ पुस्तकों में मिला है	२८
अध्याय १ से २ तक में जो २ श्लोक किन्हीं २ पुस्तकों में हैं	६९-७२

प्रथमाध्याय में—

	श्लोक
मनु जी से ऋषियों का धर्मज्ञानार्थ प्रश्न	१-३
मनु जी का उत्तर देने का आरम्भ	४
जगत् की उत्पत्ति से पूर्वावस्था	५
परमेश्वर का जगत् की उत्पत्ति करना	६-९
नारायण शब्द का निर्वाचन	१०
ब्रह्मा शब्द का वाच्यार्थ	११
द्युलोक, भूलोक, अन्तरिक्ष, दिशा, जलस्थान की उत्पत्ति	१२-१३
मन और अहङ्कार, महत्तत्त्व, ३ गुण, ५ इन्द्रियों की उत्पत्ति	१४-१५
अन्य दैवी सृष्टि	१६-२२
वेदोत्पत्ति	२३
काल, कालविभाग, नदी, समुद्रादि की उत्पत्ति	२४
तप, वाणी, रति आदि की उत्पत्ति	२५-३०
ब्राह्मणादि चार वर्णों की उत्पत्ति	३१
स्त्री पुरुषों और बिराट् की उत्पत्ति	३२



## विषय

“ मनु और मरीचि आदि १० प्रजापतियों और अन्य १ मनुओं तथा यक्ष राक्षसादि की उत्पत्ति प्रक्षिप्त श्लोकों में ” प्रक्षिप्त	३३-
सब के धर्म वर्णनार्थ मनु की प्रतिज्ञा	
१ श्लोक जो ३ पुराने पुस्तकों में मिला है	
जरायुज, अगृहज, स्वेदज, उद्भिज्जों की उत्पत्ति	४३-
मनु ने अपनी उत्पत्ति के साथ जगदुत्पत्ति का उपसंहार किया है	
उत्पत्ति और प्रलय की अवस्थाओं का वर्णन	५२-
“मनु का कथन कि परमेश्वर ने मुझे यह शास्त्र पढ़ाया, मैंने मरीचयादि को, इन में भृगु तुम्हें सुनावेगा” प्रक्षिप्त	५८-
“ भृगु ने १ मनुओं का वर्णन और नाम बताये ” प्रक्षिप्त	६०-
निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त, मानुष दैव पित्र्य दिन, रात्रि आदि काल के परिमाण	६४-
मन, आकाश, वायु आदि तत्व और इन के गुणों का वर्णन	७४-
सन्धश्चर का परिमाण	७९-
“ युगों का प्रभाव ” प्रक्षिप्त	८१-
ब्राह्मणादि वर्णों के कर्म	८७-
ब्राह्मण की प्रशंसा	९२-
प्राणियों में कौन किस से श्रेष्ठ है	९६-
पुनः सब में ब्राह्मण की श्रेष्ठता	९८-
“ भृगु का कथन कि यह शास्त्र मनु ने बनाया और इस के पढ़ने का अधिकार और फल ” प्रक्षिप्त	१०२-
आचार की प्रशंसा	१०८-
“ मनुस्मृति का संक्षिप्त सूचीपत्र ” प्रक्षिप्त	१११-
<b>द्वितीयाध्याय में-</b>	
धर्मोपदेश की प्रतिज्ञा	
सकामता, निष्कामता का विवेक	
वेद, स्मृति, शील, आत्मतुष्टि का धर्म में प्रमाण	
“ भृगुवचन से वेदप्रशंसा ” प्रक्षिप्त	
श्रुति स्मृति में कहे धर्म की प्रशंसा, न मानने की निन्दा	८-



## विषयसूची

३

क्र.	विषय	श्लोक-
	श्रुतिद्वैध में दोनों की प्रमाणता	१४-१५
३३-	यहां दो विशेष श्लोक ३ पुस्तकों में मिले हैं	०
	इस शास्त्र में गर्भाधानादि वेदोक्त कर्म धर्म का ही वर्णन है	१६
	आर्यावर्त की उत्तर दक्षिण सीमा	१७
४३-	सदाचार का लक्षण	१८
	एक अधिक श्लोक मेधातिथि के भाष्य से मिला	०
५२-	ब्राह्मर्षि देश की सीमा	२८
	इसी देश के ब्राह्मणों से सब देशों के लोग पढ़ें	२७
५८-	मध्यदेश की सीमा	२९
६०-	आर्यावर्त की पूर्व पश्चिम सीमा	२२
	यज्ञयोग्य देश का लक्षण	२३
६४-	ऊपर के पवित्र देशों में द्विजों को वास करना चाहिये	२४
७४-	वर्णधर्मवर्णन की प्रतिष्ठा	३५
७८-	संस्कारों की प्रशंसा और आवश्यकता तथा फल	२६-२८
८१-	जातकर्म, नामकरण संस्कार	३९-४३
८७-	निष्ठक्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म संस्कार	३४-३५
९२-	उपनयन का काल और कालातिक्रम का दोष	३६-४०
९६-	चर्म, मेखला, उपवीत और दण्डों के वर्णन	४१-४८
९८-	भिक्षा का प्रकार, भोजन	४९-५१
	" किस ओर मुख करके भोजन का क्या फल है " प्रश्नित	५२
१०२-	एक श्लोक यहां ३ पुस्तकों में अधिक है	०
१०८-	भोजन का प्रकार, आचमनादि करना	५३-५८
१११-	ब्राह्मादि तीर्थों की संज्ञापरिभाषा	५९
	आचमन, मुखप्रक्षालनादि का वर्णन	६०-६२
	उपवीती, निवीती आदि संज्ञा	६३
	मेखलादि टूटने पर नवीन का धारण	६४
	केशान्त संस्कार का समय	६५
	" स्त्रियों के इन संस्कारों में मन्त्र न पढ़े " प्रश्नित	६६
८-	" केवल विवाह ही स्त्रियों का वेदमन्त्रों से हो " प्रश्नित	६७



विषय	श्लोक-
उपनयन का उपसंहार	६८
शिष्य को गुरु किस प्रकार पढ़ाया करे, और शिष्य पढ़ते समय कैसा व्यवहार करे	६९-७५
ओंकार और गायत्री के ३ पादों के व्याहृतिपूर्वक जप का फल, त्याग की निन्दादि	७६-८४
विधियज्ञादि से जप यज्ञ की श्रेष्ठता	८५-८७
इन्द्रियों के निग्रह की कर्त्तव्यता, इन्द्रियों की गणना	८८-९३
गन्धसे काम शान्त नहीं होते, प्रत्युत बढ़ते हैं इत्यादि से जितेन्द्रिय होने की आवश्यकता	९४-१००
प्रातः सायं सन्ध्या की कर्त्तव्यता, त्याग का दोष	१०१-१०४
वेदोपकरणादि में अनध्याय नहीं	१०५-१०६
स्वाध्याय का फल, समावर्त्तन तक अत्याज्य कर्म	१०७-१०८
आचार्यपुत्रादि १० धर्मानुसार पढ़ाने चाहियें	१०९
पठन पाठन वा उपदेश में नियम	११०-११६
लौकिक वा वैदिक विद्यादाता को प्रथम प्रणाम करे	११७
वेदपाठी अकर्मण्य से अल्पज्ञ कर्मनिष्ठ की प्रशंसा	११८
बड़ों की शय्यासनादि पर न बैठे इत्यादि	११९
बड़ों को प्रत्युत्थान की आवश्यकता	१२०
अभिवादन का फल, प्रकार न जानने की निन्दा, प्रत्यभिवादन का विधान	१२१-१२६
ब्राह्मणादि से कुशलादि भिन्न २ शब्दों से प्रश्नभेद	१२७
दीक्षित का नाम लेकर संभाषण न करे	१२८
परपत्नी, मामा, चाचा आदि सम्बन्धियों से अभिवादनादि में विशेष	१२९-१३३
पुरवासी आदि से कैसे व्यवहार साने	१३४
पूज्यता की आयु षोडशी होने पर भी उच्चता	१३५
न, बन्धु, आयु, कर्म, विद्या के कारण मान्यभेद	१३६-१३७
तैत्तिरीय किस की मार्ग छोड़े	१३८-१३९
आचार्य, उपाध्याय, गुरु, ऋत्विज् के लक्षण	१४०-१४३
गुरु से द्रोह न करे	१४४



	विषय	श्लोक
६८	पार्थ, पिता माता आदि में किस की केली उच्चता है	१४१-१४०
७५	अज्ञिरस कवि ने पितरों को अज्ञानी होने से पढ़ाया और पुत्र कहा	१४१-१४२
८४	य से वृद्धता होती है, न कि आयु आदि से	१४३-१४४
८९	मृणादि भिन्न २ वर्णों में भिन्न २ कारण से बड़प्पन है	१४५
९३	न पकने से वृद्ध नहीं होता, किन्तु विद्या से	१४६
९८	ता पढ़े ब्राह्मणकुलोत्पन्न की निन्दा	१४७-१४८
१००	राणी से ही उपदेशादि करे, कटु से नहीं	१४९-१५१
१०४	मान की इच्छा न करे इत्यादि	१५२-१५४
१०६	जों को वेदाध्ययन स्वाध्यायादि की आवश्यकता	१५५-१५८
१०८	जों के ३ जन्म वेदोक्त हैं	१५९
११०	जों जन्म में माता गायत्री, पिता आचार्य है	१६०
११२	जों को पिता क्यों कहते हैं कि वह वेद देता है	१६१
११६	पितृ से पूर्व वेदाध्ययन का अनधिकार	१६२-१६३
११८	जों समय भी अपने २ विहित दण्डमेखलादि का धारण	१६४
१२०	चारों को गुरुकुलवास के ये नियम सेवनीय हैं	१६५-१६८
१२२	प्रा और होम की आवश्यकता	१६९-१७०
१२४	प्रा की प्रशंसा में दो अधिक श्लोक ८ पुस्तकों से मिले	१७१
१२६	पितृयादि कार्य में व्रत के तुल्य भोजन करे	१७२
१२८	व्रत (१८९ का) नियम ब्राह्मण को ही है	१७३
१३०	जों जिना कहे भी विद्योपार्जन में यत्न करे	१७४-१७५
१३२	गृह में ते समय समय कैसे बैठना उठना आदि करे	१७६-१७७
१३४	पितृ से वहाँ १ अधिक श्लोक मिला है	१७८
१३६	निन्दकादि की निन्दा	१७९
१३८	प्रा की दूर से प्रणाम न करे, न स्त्री के समीप में, किस ओर	१८०-१८१
१४०	बैठे इत्यादि नियम	१८२-१८३
१४२	प्रा के गुरु से कैसे वर्त्तें इत्यादि	१८४-१८५
१४४	पुत्र के चरण दावना आदि न करे	१८६
१४६	उपनिषद् के साथ किस प्रकार व्यवहार, सेवा करे	१८७-१८८
१४८	प्रा की शुश्रूषा से विद्या की प्राप्ति	१८९



## विषय

जटा रखे वा सब मुंडावे, ग्राम में मूयौल न होने दे, सूर्योदय तक सीता न रहे, सोव तो प्रायश्चित्त

आचमनादि का नियम रखे, सब से उत्तम बात भीखे त्रिवर्ग किन की कहते हैं

माता पिता आचार्योंदि का अपमान न करे, इन की प्रतिष्ठा विद्या, धर्म, स्त्री, नीच से भी ग्रहण करले

आपत्काल में अव्राह्मण से भी पढ़े इत्यादि

कोई वस्तु गुरु से पूर्व न भोगे, परस्पर गुरुकी आज्ञा से स्नान पूर्वभी करले आचार्य के मरने पर गुरुपुत्रादि का मान्य करे इत्यादि

## तृतीयाध्याय में—

१६ वर्ष आदि का ब्रह्मचर्य रख कर वेद पढ़ कर जो सहस्र बने उस सनावर्त्तित को सोदान

सपिण्डादि स्त्रियों विवाह के अयोग्य हैं

“प्रक्षिप्त श्लोकों में असवर्णा विवाह के नियम”

शूद्रा आदि हीन स्त्री से विवाह न करे

शूद्राविवाह से पतित होने में अनेक मत

शूद्रा से विवाह की निन्दा

आठ प्रकार के विवाह और उन के नाम

“आठ विवाहों में से किस वर्ण की कौन २ विवाह धर्म्य हैं”

आठों विवाहों के भिन्न २ लक्षण

ब्राह्मणों की कन्यादानसंकल्प की प्रशंसा

“इन विवाहों के गुण दोषों के वर्णन में मृगु की प्रतिष्ठा” प्रक्षिप्त

ब्राह्मणादि ४ विवाहों के पुत्रों की न्यूनाधिक प्रशंसा

“असवर्णा विवाह के विधान” प्रक्षिप्त

स्त्रियों के ऋतुकाल का सविस्तर वर्णन

कन्या के मूल्य लेने की निन्दा और निषेध

स्त्रियों की पूजा की प्रशंसा और निरादर की निन्दा

कुलीनता की हानि और उन्नति के कारण

पद्मनहायनों का वर्णन



## विषयसूची

9

विषय	श्लोक
अग्नि में दी हुई आहुति से जगदुपकार में युक्तिप्रमाण	96
गृहाश्रम की श्रेष्ठता	99-100
यायादि से ऋष्यादि की पूजा	101-103
वदेव यज्ञ की 10 आहुतियों और 16 बलि	104-109
गो आदि के 6 भाग, वैश्वदेव की प्रशंसा	112-113
अग्नि यज्ञ की विधि, फल, अतिथिलक्षणादि	114-119
अतिथि वेवाहिता आदि स्त्रियों की अतिथि से पूर्व ही भोजन दे देना	120
अतिथि को भोजन कराकर ही स्वयं भोजन करे	121-122
अतिथि के बिना स्वयं भोजन करना पापभोजन है	123
अतिथि आदि घर आवें तो मधुपर्क सत्कार	124-125
गृहाश्रम के भोजन में वैश्वदेवकर्म	126
मधुपर्कश्राद्ध का प्रतिष्ठित वर्णन "	127
श्राद्ध में कैसे ब्राह्मण जिमाने, कैसे नहीं "	128-130
जानते सम्बन्ध वालों को श्राद्ध में जिमा सकते हैं "	131-132
श्राद्ध में निन्दित अभोजनीय लोग "	133-134
श्राद्ध के जिमाने का दुष्ट फल	135
अवेत्ता तथा परिचित के लक्षण और उन के जिमाने का दोष	136-137
धूम्रपति, कुण्ड, गोलक के लक्षण	138-139
इस प्रकार के अपाङ्कत्य को जिमाने में क्या 2 दोष है "	140-141
हस्तिपावन ब्राह्मणों के वर्णन "	142-143
श्राद्ध में निमन्त्रण और निमन्त्रित के नियम "	144-145
अन्न 2 मांसादि से कितने 2 दिन तक पितृवृत्ति होती है "	146-147
सोदशी श्राद्धादि विशेष श्राद्धों का वर्णन "	148-149
शुद्ध आदित्य संज्ञक पितर	150
विशेष भोजन की विधि और प्रशंसा	151
गो में मुख्य ब्राह्मण की वृत्ति का प्रतिज्ञाकरण	152
चतुर्थाऽध्याय में-	
यु का दूसरा भाग गृहाश्रम में लगावे	1



## विषय

जिन से किसी को कष्ट न हो वा अल्प कष्ट हो उन ऋत अमृत आदि  
वृत्तियों से जीते

वृत्ति ( जीवन ) में एक श्लोक एक पुस्तक से मिला

कोई ब्राह्मण ६, कोई ३, कोई २, और कोई १ ही कर्म करके जीविका  
करते हैं, अन्तिम को पर्यान्तरादि इष्टि कर लेना ही पर्याप्त है

ब्राह्मण लोकवृत्त न करे, सन्तोष से रहे

जीविका में ब्राह्मण को स्वाध्यायादि के विघ्न बनाने चाहिये और

नित्य शास्त्राभ्यास रखना

एक पुस्तक में शास्त्राभ्यासार्थ १ श्लोक पाया गया है

पशुयज्ञ न त्यागे और ज्ञानी के ज्ञान में ही ५ यज्ञ

अग्निहोत्र, दर्श पौर्णमास का समय और कर्तव्यता

“ नवसस्येष्टि और पशुयज्ञ प्रक्षिप्त ”

अपूजित अतिथि न रहने पावे, अतिथि कैसे न माने, कैसे साने

बलिवैश्वदेव भी यथाशक्ति अवश्य करना

स्नातक विप्र के दान लेने आदि में नियम और दण्डादि धारण

रहने सहने के प्रकार

रजस्वला से गमन न करना तथा स्त्री के साथ अन्य व्यवहारों का नियम

चार पुस्तकों में १ अधिक श्लोक मिला है

एक वस्त्र पहने भोजन न करे, न नग्न होकर करे, कई स्थानों में मल

मूत्र त्याग का निषेध और विधि

अग्नि को मुख से न फूँके इत्यादि नियम

सन्ध्याकाल के निषिद्ध कर्म, पुष्पमाला न उतारना

जल में मल, मूत्र, थूक आदि न करे

अकेले शयनादि का निषेध, दहिने हाथ के काम

३ पुस्तकों में १ श्लोक मिला है कि एकेशा इतने काम न करे

बछड़े को दूध पिलाती गौ को न रोके इत्यादि छोटे २ नियम

आधार्मिक ग्रामादि में वास न करे

भोजन, पान, नाचना, गाना, पांव धोना, जूता, उपवीत, पुष्पमालादि  
के नियम



## विषयसूची

विषय	श्लोक
निषिद्ध और विहित सवारी	६७-६८
धूप, धुंवां, आसन के नियम, तृण तोड़ना आदि वृथा चेष्टा का निषेध	६९-७१
उद्गच्छता से बात न करना, बैल की पीठ पर न चढ़ना, विना द्वार न घुसना, रात्रि में वृक्षच्छाया का त्याग, फांसे न खेलना, शय्या आसन वा हाथ पर भोजन न करना, सूर्यास्त समय तिलयुक्त भोजन न करना, नङ्गे न सोना, झूठे सुंह बाहर न जाना, गोले पांव खाना, पर सोना नहीं	७२-७६
विना देखे दुर्ग में न जाना, मल मूत्र न देखना, नदी को बाहु से न तिरना, बाल आदि पर न बैठना, चण्डालादि में न बसना	७७-७९
“शूद्र को सुमति न दे । इत्यादि” प्रक्षिप्त	८०-८१
दोनों हाथों से शिर न खुजावे, शिर में चोट न मारे इत्यादि	८२-८३
राजा का प्रतिग्रह लेने वाला तामिस्रादि २१ नरकों में जाता है	८४-८९
ब्राह्म मुहूर्त में सो कर जगना आदि	९०-९४
आवणी वा भाद्री पौर्णमासी में वेदाध्ययनारम्भ, पौषी वा माघी में त्याग, उपरान्त शुक्ल पक्ष में वेद, कृष्ण पक्ष में अन्यग्रन्थ पढ़ना, वेदपाठ में निन्दित स्थान	९५-१००
अनध्यायों का वर्णन	१०१-१२७
अमावास्या, अष्टमी, पौर्णिमा, चतुर्दशी में सैथुनत्याग, भोजनोत्तरादि काल में स्नानत्याग, गुरु आदि की छाया न लांघना, चतुष्पथ सेवन का निषेध, उबटनादि पर न बैठना	१२८-१३२
झीरी आदि के पास न जाना, परस्त्रीगमनत्याग, क्षत्रियादि का तथा अपना अपमान न करना, सत्य प्रिय बोलना, बहुत अन्धेरे में न चलना, हीनाङ्ग आदि को न चिड़ाना, झूठे हाथों ब्राह्मणादि को न छूना इत्यादि	१३३-१४४
मङ्गलाचारादियुक्त रहना, जप हवन नित्य करना, वेदाभ्यास परम तप है, वेदाभ्यासादि ४ उपायों से पूर्वजातिज्ञान, सावित्र होम, शान्ति होम, अष्टका अन्वष्टका आहु की कर्त्तव्यता	१४५-१५०



## विषय

सूत्र

रहने के स्थानादि से दूर भूआदि करना, स्नानादि कई कार्य दो  
पहर से पहले ही करना, पर्वों पर धार्मिकादि के दर्शनार्थ  
जाना, वृद्धों को अभिवादन, जातों के पीछे जाना, सदाचार  
का सेवन और फल, दुराचारी की निन्दा

१५१-१५५

परवश कामों को स्ववश करना, आचार्यादि को दुःख न देना,  
नास्तिकत्वादि न करना, दूसरों को न मारे, शिष्य पुत्र की  
ताड़ना का नियम, ब्राह्मण को धनकी न देना आदि,  
अधार्मिकादि सुख नहीं पाते, अधर्म कभी भी न करे, अधर्म  
शीघ्र नहीं तो देर में अवश्य नाश करेगा, इत्यादि

१५६-१७६

ह्याय पाँच नेत्रादि से चपलता न करे, बाप दादों के सन्मार्ग पर  
चले, ऋत्विज् आदि से विवाद न करे

१७७-१८१

आचार्य आदि ब्रह्मलोकादि के स्वामी हैं

१८२-१८५

प्रतिग्रह लेने से बचे, प्रतिग्रह के नियम

१८६-१९१

बैद्यालप्रतिकादि को दान न देना इत्यादि

१९२-२००

पराये जलाशय में न नहाना, विना दिये यानादि वर्त्तने वाला  
स्वामी के चतुर्थांश पाप का भागी है, नद्यादि में स्नान करना,  
यसों का अवश्य सेवन करना, यम नियमों की गणना

२०१-२०४

अश्रोत्रियादि के रचित यज्ञ में भोजन न करना, मदमत्तादि का  
भोजन, गौ आदि का सूँघा भोजनादि, चौरादि का भोजन,  
मृतकान्न, असत्कृतादि अन्न और पिशुनादि का अन्न त्याज्य हैं

२०५-२११

याज्यान्न भक्षण के भिन्न २ दुष्फल, निन्दा, ब्राह्मणान्न की प्रशंसा,  
अहुता से दिये की प्रशंसा

२१८-२२६

अन्नप्रशंसा, भिन्न २ दानों के भिन्न ९ फल, ब्रह्मदान की श्रेष्ठता,  
तप से गर्व न करना इत्यादि

२२७-२३७

धर्म की प्रशंसा, मृत्यु होने पर भी धर्म का साथ जाना

२३८-२४३

उच्चों से सम्बन्धादि करना

२४४-२४५

सुदु, जितेन्द्रियादि की प्रशंसा

२४६

“ एधोदकादि भिक्षा को निषेध न करे ” इत्यादि प्रश्न

२४७-२५२



स्रोत	विषय	पृष्ठ-संख्या
	भीतर बाहर एकसा वर्त्ताव रखना, अन्यथा नहीं	२५४-२५६
	वानप्रस्थधर्मवर्णन की प्रतिष्ठा, गृहस्थधर्मवर्णन का उपसंहार	२५७-२६०
	<b>पञ्चमाऽध्याय में-</b>	
१-१५८	“ ऋषियों का भृगु से संवाद ” प्रसिद्ध	१-३
	आलस्यादि दोषों से मृत्यु की समीपता	४
	लशुनादि अभक्ष्य द्रव्यगणना	५-१०
	“ अभक्ष्य मांसों की गणना और मांसभक्षण में दोष न मानने के हेतु ” प्रसिद्ध	११-२३
	अभक्ष्य द्रव्यों में अपवादरूप भक्ष्य द्रव्यादि	२४-२५
९-१७६	“ मांसभक्षण के विधि और निषेध, यद्यपि मांसभक्षण की निर्दोषता, इस में हेतु ” इत्यादि प्रसिद्ध	२६-४२
७-१८१	( महाभारत के प्रमाण से मनु की मांसविरुद्ध सम्मति )	१
२-१८५	वेदविहित हिंसा अहिंसा, मांसभक्षण के दोष, न भक्षण की प्रशंसा	४३-५५
६-१९१	“ मद्य मांस मैथुन में दोष नहीं ” प्रसिद्ध	५६
२-२००	प्रेतशुद्धि, मृतक का अशौच	५७-७४
	परदेश में मृत की सूचना पर अशौचादि	७५-८८
	शवस्पर्शादि की शुद्धियाँ	८९-९०
१-२०४	सङ्करजातादि का मृतकादि नहीं, न उदकक्रिया	९१
	आचार्यादि मृतक को उठाने से ब्रती का व्रतभङ्ग नहीं होता	९२
	शूद्रादि मृतकों को दक्षिणादि नियत दिशाओं से निकालना	९३-९८
१-२११	राजा आदि जिन को वा जिन का अशौच नहीं होता	९९
	ब्राह्मणादि की शुद्धि के जलस्पर्शादि भिन्न २ साधन	१००-१०३
१-२२६	असपिण्ड प्रेतशुद्धि की व्यवस्था	१०४
	ब्राह्मण मृतक को शूद्र से न उठवावे	१०५
७-२३७	ज्ञान तप अग्नि आदि १२ शुद्धिकारक पदार्थ	१०६
२-२४३	अर्थशुद्धि ( ईमानदारी ) बड़ी भारी शुद्धि है	१०७
२-२४५	विद्वान् आदि क्षमादि से शुद्ध होते हैं	१०८-१२६
२४६	भिन्न २ पात्रादि भिन्न २ मृत्तिकादि से शुद्ध होते हैं	१२७-१२८
२५२	अदृष्टादि को शुद्ध मानना, अधिक जल को शुद्ध मानना	



विषय	श्लोक—
कारीगर आदि के हाथ आदि शुद्ध मानने	१२९
“ स्त्रीमुख और शिकार का मांसादि शुद्ध मानना ” प्रक्षिप्त	१३०-१३१
नाभि से ऊपर की इन्द्रियों की शुद्धता ( मेध्यता )	१३२
मक्खी आदि को अशुद्ध न माना	१३३
मल मूत्रादि त्यागार्थ कितना जल मिही लेना	१३४
देह के १२ मलों की संख्या	१३५
गुदा आदि में कितनी धार मिही लगाना	१३६
गृहस्थादि आश्रमभेद से शुद्धिभेद	१३७
मलमूत्रत्यागोत्तर आचमनादि	१३८-१३९
शूद्र सेवकों के मासिक वपनादि	१४०
जलविन्दु आदि को अशुद्ध न मानना	१४१-१४२
उच्छिष्ट को छूने आदि की अशुद्धि पर कर्त्तव्य	१४३-१४६
स्त्रीधर्म, स्त्रियों की परतन्त्रता, भर्ता आदि से वियुक्त न रहना, प्रसन्न रहना, स्त्री पुरुष का सम्बन्ध, पति की प्रशंसा, पति- शुश्रूषा, और पर पुरुष का त्याग	१४७-१५८
सन्तानार्थ भी व्यभिचार न करना, अपुत्र की भी सद्गति, व्यभिचार निन्दा, पतिव्रतप्रशंसा	१५९-१६६
भार्या पूर्व सर जावे तो अग्निहोत्री का कर्त्तव्य	१६७-१६८
गृहस्थ धर्म का उपसंहार	१६९

## षष्ठाऽध्याय में—

वानप्रस्थ होने की आज्ञा और समय	१-२
वनी को ग्राम्याहारत्याग, अग्निहोत्र का साध, वन में वास, शाक मूल फलों से निर्वाह, पञ्चयज्ञानुष्ठान, जितेन्द्रियादि रहने का विधान	३-१३
मद्य मांस भौम-कवकादि न खाना	१४-१६
क्या क्या खावे, कब २ खावे, संप्रह कितना रक्खे, भूमि में सोवे इत्यादि नियम	१७-२२
ग्रीष्म में पञ्चतपा, जाड़े में जल में खड़ा होना आदि सहनशीलता	२३-२४
आत्मा में वैतानिक अग्नि का समारोपण, सुखार्थ यज्ञ न करना, खान पान की साधारणता, वा सरण पर्यन्त जल वायु आदि से ही निर्वाह	२५-३१



## विषयमूची

१३

विषय	श्लोक-
वानप्रस्थ धर्म से मुक्ति	३२
संन्यासधर्म की आज्ञा, समय, तीन ऋणों को चुकाने की आवश्यकता, बिना चुकाये संन्यास लेने से अधोगति	३३-३८
सब प्राणियों को अभयदान, निष्क्रामता, एकाकी रहना, अग्नि का त्याग, वृक्षमूलादि में रहना आदि, जीवन सरण की उपेक्षा, छान कर अल पीना आदि, निन्दा का सहना और क्रोध, वैर, असत्यादि का त्याग	३९-४८
ध्यान में रहना, गणितादि विद्या से जीविका न करना, अन्यो से वसी जगह में न रहना, झाड़ी मूँछ झुंझाये रहना	४९-५२
“ धातु के पात्र न हों इत्यादि ” प्रक्षिप्त	५३-५४
एक काल भोजन, गृहस्थों की आवश्यकता पूरी होने पर भिक्षा लाना, सादा भोजन, भोजन न मिले तो भी शोक न करना, अल्पभोजी होना, इन्द्रियदमनादि	५५-६०
मनुष्यों की कर्मगतियों पर दृष्टि डालना, मृत्यु, शोक, भय, उत्पत्ति, परमात्मा की सूक्ष्मता का विचार करना	६१-६५
निन्दा करने पर भी धर्म करना, लिङ्ग धर्म का कारण नहीं	६६
नाम मात्र से शुद्धि नहीं होती	६७
पृथिवी को देख कर चलना, अज्ञात जन्तु के मर जाने का प्रायश्चित्त, प्राणायाम का फल, अन्तरात्मगति का विचार, देह की घृणितता का विचार, इस के त्याग की प्रशंसा	६८-७८
प्रियाऽप्रिय में एकभाव, द्वन्द्वत्याग, वेदान्तादि पाठ, संन्यास की प्रशंसा, मुक्ति की प्राप्ति, धर्मपूर्वक सभी आश्रमों से मुक्ति-प्राप्ति, गृहस्थ की बड़ाई, दश लक्षण वाला धर्म सेवनीय है	७९-८४
गृहस्थ में ही संन्यासफलप्राप्ति, संन्यासी को वेद न त्यागना, संन्यास से मुक्ति, संन्यासधर्म का उपसंहार, राजधर्मवर्णन की प्रतिज्ञा	८५-८९
<b>सप्तमाऽध्याय में-</b>	
राजधर्मवर्णन की प्रतिज्ञा, राजा के बिना हानि, राजोत्पत्ति का प्रयोजन, राजा का दैव बल, सूर्यादि के समान तेज, राजा का प्रभाव, राजनियम का मान्य, दण्ड की उत्पत्ति	१-१४



## विषय

श्लोक

दण्ड की बड़ाई, न्यायपूर्वक दण्ड चलाना, दण्ड न हो तो हानि,  
अनुचित दण्ड देने से राजा प्रजा का नाश

१५-२९

सूदृढत्वादिदोषयुक्त राजा दण्ड को न्यायपूर्वक नहीं दे सकता, किन्तु  
पवित्र सत्यवादित्वादि गुणवान् हा दे सकता है, स्वराज्य  
परराज्यादि में वर्त्ताव का भेद, इस प्रकार के राजा के लाभ, विप-  
रीत की हानियाँ, उत्तम राजा के कर्त्तव्यवर्णन की पुनः प्रतिज्ञा,  
राजा को ब्राह्मणादि वृद्धों का मान्य करना, उन से विनय  
सीखना, अविनय से हानि और विनय के लाभ

३०-४०

“प्रसिद्ध २ श्लोकों में विनय अविनय के ऐतिहासिक प्रमाण”

४१-४२

राजा को त्रयीविद्यादि सीखना, जितेन्द्रिय होना, काम के १० और  
क्रोध के ८ व्यसनों से बचना, लोभ १८ हों का मूल है, किन लक्षणों  
के ७ वा ८ मन्त्री रखने, उन से मन्त्र ( सलाह ) करना

४३-५६

मन्त्रियों से मन्त्र करने की रीति, उन का विश्वास करना, अन्य  
अधिक अपेक्षित मन्त्री बढ़ाना, दूत का वर्णन, लक्षण,  
बड़ाई और दूत से स्वयं सावधान रहना

५७-६८

राजा कैसे देश में वसे, छः प्रकार के दुर्ग ( किले ), सब दुर्गों में  
पहाड़ी दुर्ग की उत्तमता, जहाँ दुर्गों में से किन २ के सहारे  
से सुगादि कौन २ बचते हैं, दुर्ग के लाभ, दुर्ग की सामग्री,  
उस में राजगृह और उस में पत्नीसहित रहना

६९-७७

राजा को पुरोहित रखना, ब्राह्मणसत्कार, आमपुरुषों से राजकर  
संग्रहवाना, कार्यकर्त्ताओं पर अध्यक्ष ( इन्सपेक्टर ) रखना,  
समावर्तित ब्रह्मचारियों का सत्कार, ब्राह्मणसत्कार में व्यय  
किये धनादि की सफलता

७८-८६

संग्राम में कोई ललकारे तो पीछे न हटना, युद्ध में न हटने वालों की  
सद्गति, कूट हथियार आदि से न लड़ना, नपुंसकादि किन २  
पर शस्त्र न चलाना, रथादि वस्तु जो २ योद्धा जीते उस २  
को दे देना, वे योद्धा लूट में से राजा को भेंट दें

८७-१००



श्लोक	विषय	श्लोक
२९	अलङ्घ्य लाभादि ४ चेष्टा, नित्य दण्ड को उद्यत रखना आदि, कल म करना और शत्रु के छल को समझना, अपने छिद्र छिपाना, शत्रु के छिद्र जानना, बक, सिंह आदि के सी वृत्ति रखना, शत्रुवशीकरण, सामादि ४ उपाय, प्रजा को सताने से राजा का नाश	९९-११२
४०	राज्यरक्षार्थ देशविभाग करके काम बांटना, नीचे के शासक ऊपर वालों को सूचना दें, राजा के देय पदार्थ ग्राम का शासक प्राप्त करे, छोटे बड़े शासकों की कितनी रजीविका हों, उन पर राजसन्त्री दृष्टि रखे, बड़े २ नगरों में प्रधान शासक रखना, रिश्वत न चलने देना, छोटे नीकर चाकर स्त्री आदि की प्रतिदिन की मजदूरी देना और घेतन विभाग	११३-१२६
४२	व्यापारियों से कर लेने का विचार, किस वस्तु पर कितना कर लगाना, शिल्पी लोगों से क्या कर लेवे, अधिक कर से न दबावे, नम्र और क्रूर दोनों भाव रखे	१२७-१४०
५६	अपने को रोगादि हो तौ सन्त्री से काम ले, प्रजारक्षा न करने की निन्दा, ब्राह्मसूक्त में उठना, सन्ध्या अग्निहोत्र ब्राह्मणशुश्रूषा करना, राजसभा में जाकर प्रजा के व्यवहार (मुकुटमे) देखना, प्रजा को विसर्जन करके एकान्त देश में सन्न कराना, गुंगे बहरे आदि को सन्नसमय दूर भगाना परन्तु आवरपूर्वक, सन्नियों की परस्परविरुद्ध सम्मतियों से सार निकालना, कन्या और कुमारों पर राजा का कर्त्तव्य, दूत भोजना, कार्यशेष को जानना	१४१-१५३
६८	आदान विसर्गादि ८ कर्म, ५ वर्ग आदि का विचार, शत्रु मित्र उदासीन की चेष्टाओं पर ध्यान, अमात्य आदि ७२ प्रकृतियों का वर्णन, सामादि उपायों का प्रयोग, सन्धिविग्रहादि ६ गुण, सन्धिविग्रहादि के अवसर और भेद	१५४-१६२
९९	कब सन्धि, कब विग्रहादि, कै २ प्रकार के करने, यदि मित्रों में भी भीतरी दुर्भाव देखे तौ उन से भी लड़े	१६३-१७६
८६	मित्रादि अधिक न बढ़ावे, वर्त्तमान और भविष्यत का विचार रखे, चढ़ाई कैसे समय में किस प्रकार करे, चढ़ाई के समय अन्य मित्रोदासीनादि से कैसा व्यवहार रखे, दण्ड शकटादि व्यूह रचना और आप पद्मव्यूह में रहे	१७७-१८८



## विषय

## श्लोक

सेनापति सेनाध्यक्ष के संग्राम में कार्यभाग, कैसे २ स्थान में किन २ साधनों से लड़े, कुरुक्षेत्रादि वीरभूमि के वीरों को आगे रक्खे, उन्हें प्रसन्न रक्खे, लड़ते हुवों पर भी दृष्टि रक्खे, शत्रु के भोजनादि को दिगाड़े, शत्रु के मन्त्री आदि को फोड़े, यथाशक्तियुक्त को बचावे, जीत कर ब्राह्मणोंका सत्कार करे, अभयकी डौंड़ी पिटवावे, जीते हुषे राजा को गद्दीसे उतार कर उसी वंश के योग्य पुरुष को बैठावे १८८-२०२

शत्रु के प्राचीन रिवाजों का प्रमाण साने, रत्नों से शत्रु का सत्कार करे, देने से सब प्रसन्न और लेने से अप्रसन्न होते हैं, दैव की चिन्ता न करे, मानुष में यत्न करे वा शत्रु से मिलकर लौट आवे, किस प्रकार के मनुष्य की मित्र वा पाणिग्रहादि बनावे, शत्रु मित्र उदासीन के लक्षण, अपनी रक्षा के लिये उत्तम से उत्तम भूमि को भी त्याग दे २०३-२१२

धन स्त्री आत्मा में उत्तरोत्तर रक्षा, बहुत आपत्तियों में सानादि सब उपाय एक साथ करना, राजा का व्यायाम, स्नान, अन्तःपुर में विश्वासपात्रादि के हाथ का भोजन, भोजन में विष की परीक्षा, भोजन शयनादि में यत्न रखना, स्त्रीक्रीड़ा, फिरवाह-नायुधादि की संभाल, सायंसन्ध्या करके बाहर के गुप्त विचार और सूचनाओं का सुनना, फिर भोजनार्थ अन्तःपुर में जाना २१३-२२६

## अष्टमाऽध्याय में-

व्यवहार (मुकुटमे) देखने में मन्त्रियों की सहायता लेनी, शास्त्रीय और लौकिक हेतुओं से निश्चय करना और ऋण न देना आदि १८ विवाद के स्थान

सनातनधर्मानुसार निर्णय करना, राजा स्वयं न करे तो विद्वान् ब्राह्मण से निर्णय करावे, उन अधिकारी और अन्य ३ सभ्यों की सावधानी और सावधानी न करें तो उन को दोष या तो सभा में न जावे, जावे तो धर्मानुसार कहे, विपरीत कहने वा चुप रहने का दोष, धर्म का महत्त्व, अधर्म करने से राजा मन्त्री साक्षी आदि को दोष के भाग, शूद्र को न्यायासन न देना १-७ ८-१२ १३-२०



## विषय

## श्लोक

राज्य में शुद्धवृद्धि न होने देना, न्यायासन पर बैठने का प्रकार,  
क्रमपूर्वक कार्य ( मुकुटमे ) देखना

२०-२४

चेष्टा आकारादि से हृद्गत भाव पहचानना, बालकों वा स्त्रियों  
आदि के स्वत्व की राजा समावर्तनादि तक रक्षा करे, जीवती  
स्त्रियों का भाग छीनने वाले कुटुम्बियों को चौरदण्ड, नष्ट-  
स्वामिक द्रव्य की रक्षा, उस के लौटाने में छान बीन, उस में  
से राजभाग लेना और उस की रक्षा करना इत्यादि

२५-३६

ब्राह्मण को धरा दवा धन मिल जावे तो स्वयं रक्खे, राजा को मिले  
तो आधा दान करे, चोरी का माल राजा स्वयं न ले, जाति-  
धर्मादि के अनुसार विचार करना, राजा वा राजपुरुष स्वयं  
मुकुटमे न उत्पन्न करें, अनुमान से न्याय में काम लेना, सत्य  
साक्षी, देशकालादि का विचार, देशधर्मादि के अविरोध से  
निर्णय करना

३७-४६

उत्तमर्ण का धन अधमर्ण से दिखाना, नटने वाले को दण्ड, अधमर्ण  
नटे तो उत्तमर्ण को प्रमाण देने चाहियें, राजपुरुष अधमर्ण से  
प्रश्न ( जिरह ) करे, सिद्ध न कर पावे तो धन न पावे, नालिश  
करके फिर पैरवी न करे तो दण्ड, १॥ मास तक उपस्थित न  
हो तो हार जावे, नटने वाले को नटने अनुसार दण्ड इत्यादि

४७-६०

कैसे लोग साक्षी करने, कैसे न करने, कौन साक्ष्ययोग्य है, कौन  
नहीं, बाल वृद्ध रोगी आदिको साक्ष्य में स्थिरमति न मानना,  
साहसादि में उक्त लक्षण के ही साक्षियों की आवश्यकता नहीं,  
साक्षियों के परस्परविरोध में राजा का कर्तव्य

६१-७४

साक्षी को धर्मविरुद्ध असत्य से बचना, राजसभा में आये साक्षियों  
से साक्ष्य लेने का प्रकार, सत्य साक्ष्य की स्तुति, असत्य की निन्दा ७५-८४

साक्षी असत्य कहते हुवे यह न समझें कि हमें कोई देखता नहीं,  
ब्राह्मणादि वर्णों से भिन्न २ प्रकार साक्ष्य पूछे, असत्य से बचने के  
लिये साक्षी को कई प्रकार के शपथ कराना, सत्यवादी की प्रशंसा ८५-९६



## विषय

## श्लोक

- किस २ साक्ष्य में झूठ बोलने से कितने २ बान्धवों के मारने का पाप  
है, भिन्न २ पदार्थों के असत्य साक्ष्य में भिन्न २ पाप, गोरक्ष-  
कादि विषयों से शूद्र के समान साक्ष्य पूछे, दो श्लोक अधिक भी ९७-१०२  
“ शूद्रादि के बचाने को असत्य साक्ष्य में दोष नहीं ” प्रक्षिप्त १०३-१०४  
“ किन्तु वे असत्यवादी एक प्रकार का प्रायश्चित्त हीस करें ” प्रक्षिप्त १०५-१०६  
साक्ष्य न दे सकने की अवधि ( मियाद ), साक्षी न हों तो शपथ  
से निश्चय करना १०७-१०९  
“ शपथ ( कसम ) करने में इतिहासप्रमाण ” प्रक्षिप्त ११०  
झूठा शपथ न करना, करने से नाश १११  
“ स्त्री आदि के निमित्त झूठ शपथ भी करे ” प्रक्षिप्त ११२  
ब्राह्मणादि वर्णों को भिन्न २ शपथ करावे ११३  
“ सत्यपरीक्षार्थ अग्निदाहादि न लगे तो सत्य जाने ” प्रक्षिप्त ११४-११६  
असत्य साक्ष्य के निर्णय अनिर्णय हैं, जिस साक्ष्य में जो २ जिस २  
कामादि कारण से असत्य बोले उस २ को भिन्न २ दण्ड ११७-१२२  
दण्ड के हस्तच्छेदादि १० स्थान, ब्राह्मण को न्यून दण्ड, अधर्म  
दण्डादि की निन्दा, वाग्दण्डादि ४ दण्ड १२३-१३०  
असरेणु से लेकर उत्तम साहस पर्यन्त विविध सिक्के, संज्ञा, नाप वा  
तौल, व्याज लेने का प्रकार, धरोहर ( अमानत ), गिरवी,  
आढ़ आदि का निर्णय १३१-१४८  
आधि, सीमा आदि भोगने से नहीं छुटती, अर्धवृद्धि का भोग, वृद्धि  
( व्याज ) के प्रकार और परिमाण, ऋण का कागज़ आदि बदल-  
वाना, प्रतिभू ( ज़ामिन ) आदि होना पिता का पुत्र पर  
आवश्यक नहीं, देने की ज़मानत दायादों से भी दिलानी,  
ज़मानत के अन्य विचार १४९-१६२  
मत्त उन्मत्तादि के चलाये मुकद्दमे नहीं चलते, क़ानून विरुद्ध शर्त  
सत्य न होगी, दलकृत गिरवी आदि लौटाने योग्य हैं, कुटुम्बार्थ  
ऋण लेने वाला मर जावे तो अलग हुवे दायादों को भी देना  
चाहिये, कुटुम्बार्थ पुत्रादिकृत लेन देन का भार कुटुम्बी पर है,



## विषयसूची

१८

क

०२

०४

०६

०८

१०

११

१२

१३

१६

२२

३०

४८

५२

## विषय

## श्लोक

- बलात् कराये दान भोग आदि अकृत हैं, तीन परार्थ क्लेश  
पाते, चार समुद्र होते हैं, राजा अग्राह्य न ले, ग्राह्य न छोड़े,  
राजा की यमवृत्ति, अधर्मी राजा का नाश १६३-१७४
- राजा का संयम, ऋणी का ऋण दिखाना, धरोहर कैसे पुरुष के  
यहां रखनी, धरोहर के मुकदमे १७५-१८६
- जो जिन वस्तु का स्वामी नहीं वह उस को बेच डाले तो उस के  
न्याय, भोग, कठजा आदि विवादानिर्णय, छलविक्रय, छलकृत  
कन्यादान, ऋत्विजों की दक्षिणा का विवादानिर्णय, दान का  
लौटाना वा न देना १८७-२१३
- वैतन न देने के विवाद, प्रतिज्ञाभङ्गविवादानिर्णय, बेचने खरीदने  
में नापसन्द का १० दिन में लौटा सकना, दुष्टाकन्यादान पर  
दण्ड, काम ठहर कर नापसन्द रहने के निर्णय, गोस्वामी  
गोपाछ आदि के विवाद, ग्राम की छुटी भूमि, खेत की बाढ़,  
सस पर चरने से पशुपालादि का विवाद २१४-२४४
- सीमाविवादानिर्णय, सीमाचिह्न, साक्षी, सीमा कमीशन इत्यादि  
विवाद निर्णय, दण्ड आदि २४५-२६४
- वाक्पारुष्य ( गाली ) आदि का विवादानिर्णय २६५-२७७
- दण्डपारुष्य-अङ्गच्छेदनादि दण्डविवरण, फौजदारी के विवाद, रथी  
की हानि आदि, रथ से किसी की हानि, इत्यादि २७७-३००
- चोरी के विवाद का निर्णय, राजा को अवश्य रक्षा करना, अरक्षक  
राजा को दोष, भिन्न २ चोरियों के भिन्न २ दण्ड ३००-३४४
- साहसिक बलात्कारादि पर राजकर्त्तव्य, आततायिवध, परस्त्रीगम-  
नादि में राजदण्ड, कन्यादूषण का निग्रह, भिन्न २ दण्डों के  
व्यभिचार में दण्डभेद ३४५-३७८
- " ब्राह्मण अवध्य है " प्रसिद्ध ३७९-३८१
- परस्त्रीगमन में ब्राह्मणादि के दण्डभेद, ऋत्विज का त्याग, पिता  
माता आदि के त्याग पर राजदण्ड ३८२-३८८
- अन्यदृष्टियों के विवाद में दण्ड न देकर समझाना, सत्कारार्ह के



विषय	श्लोक
सत्कार न करने पर राजा की ओर से शिक्षा, सूत और जुलाहे के निर्णय, राजा के विक्रय द्रव्यों का विचार, क्रयविक्रय में राज-नियम, भाव नियत करना, नाप तोल बाट आदि की परीक्षा	३९०-४०३
पुल वा नौका के महसूल इत्यादि	४०४-४०९
ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रों की वृत्ति में राजा का हस्तक्षेप, शूद्रों ( दासों ) के ७ भेद, इत्यादि	४१०-४१८
राजा की कोशादि निरीक्षण में सावधानी, धर्मों राजा की सुक्ति	४१९-४२०

### नवमाऽध्याय में—

स्त्री पुरुष के धर्म, स्त्री की परतन्त्रता, स्त्री की रक्षा, जाया शब्द का निर्वचन, स्त्रीरक्षा के काम वा उपाय, स्त्री के ६ दूषण	१-१३
" स्त्रियों की वृथा निन्दा, " स्त्रीधर्म का उपसंहार	१४-२५
सन्तानधर्म-सन्तान में स्त्री की बड़ाई, क्षेत्र बीज का वर्णन	२६-४१
" पर स्त्री में बीज न बोलने के लिये इतिहास " प्रक्षिप्त	४२-४४
स्त्री पुरुष की एकाङ्गता, कन्यादानादि ३ कार्य का १ ही बार होना, क्षेत्र बीज आदिविवाद	४४-५५
स्त्रियों का आपद्गर्भ, नियोग का निर्णय— " वेन कथा " प्रक्षिप्त	५६-६८
देवर से नियोग, उस की विधि, कन्या का पुनर्दान न करना, स्त्री की वृत्ति करके परदेश जाना, परदेशगत की प्रतीक्षा की अवधि, स्त्री की प्रतीक्षा की अवधि	६९-७७
स्त्रीपरित्याग, उस के समय की मर्यादा	७८-८४
" असवर्णाविवाह में स्त्रीसत्कारभेदादि " प्रक्षिप्त	८५-८७
कन्यादान का समय, वरपरीक्षा, स्वयंवर	८८-९२
" ऋतुमती कन्या के हरण का वर्णन " प्रक्षिप्त	९३-९४
स्त्री पुरुष की धर्मानुसार सहस्थिति	९५-९६
" कन्याविक्रय का विधान " प्रक्षिप्त	९७
कन्याविक्रय का निषेध, स्त्री पुरुषों का परस्पर व्यभिचारत्याग	९८-१०२
दायन्नाग-माता पिता के पश्चात् ही पुत्र स्वामी है, पिता के धन में ज्येष्ठ पुत्र की श्रेष्ठता, ज्येष्ठ का कनिष्ठों के प्रति धर्म, ज्येष्ठ का अधिक दाय, ज्येष्ठ कनिष्ठों के अंशभेद, ज्येष्ठ की सेवनीयता	१०३-१२१



## विषयसूची

११

विषय	श्लोक
"दो स्त्रियों में उत्पन्न पुत्रों के ज्येष्ठ भागादि का निर्णय" प्रक्षिप्त	१२२-१२५
जौड़ियों में कौन ज्येष्ठ है, अपुत्र को पुत्रिका का विधान	१२६-१२७
"दत्त प्रजापति की पुत्रियों का पुत्रिकात्व और विभाग" प्रक्षिप्त	१२८-१२९
पुत्र पुत्री की बराबरी, माता का धन पुत्री ले, धेवते का भाग, पुत्रिका के पुत्र और निज पुत्र में समता, पुत्रिका का पुत्र न हो तो जामाता धन पावे, पुत्र की बड़ाई, दीहित्र पुत्रादि कैसे पिण्डदान का भेद करें, दत्तपुत्र का भाग	१३०-१४२
नियुक्तापुत्र के भाग, आदरणी का धनादि सन्तान होने पर उसे ही दे देना आदि	१४३-१४७
"असवर्णाविवाहजनित सन्तानों के भागादि" प्रक्षिप्त	१४८-१५८
१२ प्रकार के पुत्र, उन के भाग, औरस पुत्र की बड़ाई, कुपुत्रनिन्दा, औरसादि १२ पुत्रों के लक्षणादि	१५९-१८१
भाइयों में १ की सन्तान से सब का सपुत्रत्व, कई स्त्रियों में १ के पुत्र हो तो सब का सपुत्रीत्व, पुत्रों में नीचोच्चत्व से भागभेद, अपुत्र के मरने पर दायभागी, किस अपुत्र का दाय राजा ले, पुत्रों के भागविवाद में निर्णय, स्त्री मरने पर भर्ता का धन हो	१८२-१९६
स्त्रीधन के अन्य निर्णय, स्त्रियों के आभूषण को न बांटना, दाय भाग के अनधिकारी, माता पिता और भाइयों के भाग, वस्त्रादि कई वस्तु बांटने योग्य नहीं	१९७-२५०
द्यूत और समाह्वय का भेद, द्यूतादि क्रीडकों, रिश्वतखोरों, बल से शासन करने वालों, प्रजादूषकादिकों को दण्ड, अपील नामंजूर करना, संजूर करना, अन्यायपूर्वक निर्णयकारी अमात्यादि को दण्ड और मुकदमा फिर से करना, ब्रह्महत्यारे आदि ४ महापातकियों को दण्ड, उस दण्डधन को राजा क्या करे, ब्राह्मणों के बाधक का निग्रह, अवध्यवधादि से राजा को बचना, १८ विवादों का उपसंहार	२२१-२५०
राजा को न्यायपूर्वक प्रजारक्षा करते हुवे राज्यवृद्ध्यादि उपाय, प्रकाश और अप्रकाश दो प्रकार के तस्कर, उन का पता लगा-	



## विषय

## श्लोक

- कर शासन, सभा प्याऊ चौराहे आदि पर चौकी बैठाना,  
 वहां के मस्करों का निग्रह दसन और दण्ड २५१-२६९
- मालसहित ही चौर को दण्ड देना, चोरों के सहायकों का निग्रह,  
 स्वधर्मत्यागियों को दण्ड, यथाशक्ति राजा की सहायता न  
 करने वालों को ग्रामघातादि में दण्ड, राजकोष के चोरों,  
 सैन्य लगाने वालों, अग्नि लगाने वालों, जलभेदकों इत्यादिकों  
 को दण्ड २७०-२८०
- तड़ागादि के जलचोर, राजमार्ग में मैला गेरने वाले, चिकित्सक,  
 पुल आदि तोड़ने वाले, बराबर के मूल्य से घटिया वस्तु देने  
 वाले इत्यादि के भिन्न २ दण्ड २८१-२८७
- जेलघर मार्ग पर बनवाने, छारदिवारी तोड़ने वाले-सागणादि  
 प्रयोग करने वाले-अबीजविक्रयी आदि-चोरसुनार खेती का  
 सामान चुराने वाले-शस्त्र वा औषध के चोर इत्यादि को दण्ड २८८-२९३
- स्वामी अमात्यादि ७ प्रकृति, चार (गुप्तदूत) आदि रखना, सदा आरम्भ  
 रखने वाले को लक्ष्मीलाभ, राजा ही युग है, इन्द्र सूर्यादि के  
 तेजोवृत्त पर राजा चले, ब्राह्मणों के कोप से बचे २९४-३१३
- " ६ श्लोकों में ब्राह्मणों की असंभव प्रशंसा " प्रतिष्ठ ३१४-३१९
- राजा का शासन ब्राह्मण ही कर सकते हैं, ब्राह्मण क्षत्रियों की  
 मिलकर काम करना, राजा का वानप्रस्थ, राजधर्म का उप-  
 संहार, वैश्यधर्म का व्यौरेवार वर्णन, शूद्रधर्म का वर्णन ३२०-३६६

## दशमाऽध्याय में-

ब्राह्मण अन्य सब वर्णों को स्ववर्णधर्मशिक्षादि दें, अन्य केवल शिक्षा  
 ग्रहण करें, ब्राह्मणप्रभुता, चार वर्ण, स्ववर्ण में उत्पन्न सन्तान  
 का जातिवर्ण, हीनवर्णोत्पन्न सन्तानों का वर्ण, उन के अस्वपुत्रादि  
 भेद, वर्णसङ्करों का उपसंहार

अनुलोमप्रतिलोमज संकीर्ण योनि, सूत वैदेह जगडाल आदि भेद  
 तप और बीजादि के प्रभाव से उच्चनीचता, क्षत्रियों की अधम जातियों  
 पौण्ड्रक कम्बोजादि, दस्यु, इन सब की जीविकाओं के भेद

१ २४

२५-४१

४२-५६



विषय	श्लोक-
वर्णसङ्करादि की पहचान, अधिक वर्णसङ्कर वाले राज्य का नाश ब्राह्मण के प्राणरक्षणदि कर्मों के प्रभाव से पतितों की उन्नता, अहिंसादि चातुर्वर्ण्यधर्म, शूद्रादि का ब्राह्मणत्वादि वा ब्राह्म- णादि का शूद्रत्वादि को प्राप्त होना, आर्य से अनार्य वा अनार्य से आर्य में उत्पन्न सन्तान का अधिकार, बीज और यौन का बलाऽबल	५१-७२
अनार्य आर्यकर्मी वा आर्य अनार्यकर्मी में विवेक, ब्राह्मणादि के षट् कर्मादि वर्णधर्म और आपद्दुर्मे	७३-८३
"बहुत से व्यापारों को वृथा वर्जित करना" प्रक्षिप्त नीचे को ऊंच जीविका न करना, शूद्र के आपद्दुर्मे, "ब्राह्मण की आपत्ति में वृत्ति"	८५-९४
प्रतिग्रह की निन्दा, जप होम शिलोञ्छादि वृत्ति, राजा से ब्राह्मण जीविका कब २ मांग सकता है, दाय आदि ७ धर्म्य धनान्न, विद्या शिल्पादि १० जाविकार्ये, ब्राह्मण क्षत्रिय को व्याज न खाना, आपत्ति में क्षत्रिय को व्याज खाने का निषेध, क्षत्रिय को वैश्य आदि से बलिग्रहण	९५-१०८
शूद्र की उच्च सेवा में प्रशंसा, धर्मात्मा शूद्रों की प्रशंसा, उन्नता, शूद्र को धनसञ्चय का निषेध, वर्णधर्म का उपसंहार, प्रायश्चित्त की प्रतिज्ञा	१०९-१२०

### एकादशाऽध्याय में-

नव ९ प्रकार के स्नातक धर्मभिक्षुक हैं, राजा को इन का सत्कार करना, सत्कार की प्रशंसा, सोमयाग का अधिकारी कौन है, कुटुम्बादि का पोषण न करके यज्ञादि पुण्य की निन्दा, यज्ञ रुका हो तो यजमान ब्राह्मण को वैश्य से राजा धन दिलावे, शूद्र से या अन्यो से भी सहायता कराना	११९
देवधन और असुरधन, ब्राह्मण को राजा सुतगीडा से बचावे यज्ञार्थ शूद्र से धन मांगने का दुष्फल, देवधनहरणादि की निन्दा, अनापद् में आपत्कर्म की निन्दा	२०-३०



## मनुभाषानुवाद

विषय	श्लोक -
ब्राह्मण को कोई सतावे तो यथाशक्ति ब्रह्मबल से ही रोके, राजा से निवेदन न करे, सत्रिय और वैश्य शूद्र किन उपायों से आपत् का निवारण कर	३१-३४
ब्राह्मण की श्रेष्ठता के कारण, कन्यादि होता नहीं हो सकते, दक्षिणा न देने पर अनाहिताग्निपना, दक्षिणा का संकोच ही तो अन्य पुण्य करे-यज्ञ का नाम न ले, अग्नि के अपवेध, विहित कर्म का त्याग, निषिद्ध का अनुष्ठान करने से प्रायश्चित्त, विना जाने वा जाने कर्म के भी प्रायश्चित्त	३५-४६
प्रायश्चित्त पर विचार, प्रायश्चित्त न होने तक अलग रहना, पूर्व जन्म वा इस जन्म के प्रायश्चित्तियों के कुल होने आदि लक्षण, ब्रह्म-हत्यादि ४ महापातक और अन्य कर्म जो महापातकों के समान हैं	४७-५८
गोवधादि उपपातकों की गणना	५९-६६
जातिभ्रंशकर ३ कर्म, सङ्करीकरण, अपात्रीकरण, सलिनीकरण कर्म ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्तों के भेद	६७-७७
शूणहत्या, यज्ञमानवध, इत्यादि में यही ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त, जानकर ब्रह्महत्या करने का उपाय नहीं, मद्यपान का प्रायश्चित्त, मद्य की निन्दा, मद्य के भेद, मद्य मांसादि यक्षरक्षःपिशाचाक्ष है, मद्यपान की हानियाँ	७९-९८
सुवर्ण की चोरी, उस के दण्ड, प्रायश्चित्तादि	९९-१०२
गुरुपत्नीगामी के प्रायश्चित्त तप आदि	१०३-१०६
उपपातकों के प्रायश्चित्त, गोवधादि का प्रायश्चित्त	१०७-११६
अन्यों को भी गोवध का प्रायश्चित्त, ब्रह्मचर्य नष्ट करने वाले और जातिभ्रंशकर कर्म का प्रायश्चित्त	११७-१२४
सङ्करीकरण और अपात्रीकरण तथा सलिनीकरण के प्रायश्चित्त, अन्य-वर्णों के वध में ब्रह्महत्या की अपेक्षा अंशन्यून प्रायश्चित्त इत्यादि	१२४-१३०
मार्जारदि के वधों के प्रायश्चित्त भेद	१३१-१४४
अभक्ष्यभक्षण के प्रायश्चित्त, वारुणी मदिरापान प्रायश्चित्त	१४५-१५०
पुनः संस्कार में क्या २ काम प्रथम संस्कार से न्यून हों	१५१



## विषयसूची

२५

विषय	श्लोक-
अभोज्यों के अन्न, उच्छिष्ट, मांस वा अन्य अभक्ष्य, अत्यन्त खटे सड़े द्रव्य, जन्तुओं के मूत्र पुरीष, कबक, शुष्क मांस इत्यादि भक्षण पर प्रायश्चित्त	१५२-१५५
" क्रव्यादि के भक्षण पर प्रायश्चित्त " प्रक्षिप्त	१५६-१५८
विडालादि के उच्छिष्टादि खाने पर प्रायश्चित्त	१५९-१६०
धान्यादि चुराने, मनुष्यों के हरण, भक्ष्य, वृण, काष्ठ, मणिमुक्तादि, धातु, कर्पास इत्यादि चुराने के प्रायश्चित्त व्रत	१६१-१६८
अगम्यागमन के प्रायश्चित्त व्रतादि	१६९-१७८
पतितों से मेल संवासादि के प्रायश्चित्त	१७९-१८१
" पतित का ऊर्ध्वदेहकृत्यादि निर्णय " प्रक्षिप्त	१८२-१८८
प्रायश्चित्तीय होकर प्रायश्चित्त न करने वालों का संगत्याग, बाल हत्यादि कारकों से प्रायश्चित्त करने पर भी संगत्याग, सावित्रीपतितों, अन्य कुकर्मी द्विजों, निन्दिताजीवी ब्राह्मणों, अस-तप्रतिग्राहियों, व्रात्यों को यज्ञ कराने वालों, शरणागत के त्यागियों, इत्यादिकों के प्रायश्चित्त व्रतादि	१८९-१९८
कुत्ते आदि के काटखाने, अपाङ्क्त्य भोजन, खरयानादि निन्दित यान पर सवारी करने, वेदोदित कर्मत्याग, स्नातक के व्रत-लोप, ब्राह्मण को धमकाने आदि के प्रायश्चित्त	१९९-२०५
" ब्राह्मण को धमकाने आदि का दुष्फल " प्रक्षिप्त	२०६-२०७
ब्राह्मण के रक्तनिपातनान्त कर्म, अनुक्त प्रायश्चित्तों का देश कालादि विचारपूर्वक प्रायश्चित्तकल्पन	२०८-२०९
प्रायश्चित्तार्थ व्रतों में क्या २ उपाय करने होते हैं	२१०
प्राजापत्य, कच्छ, सान्तपन, अति कच्छ, तप्त कच्छ, पराक कच्छ, चान्द्रायण	२११-२१९
व्रतियों को किन नियमों से रहना चाहिये, तप की बड़ाई	२२०-२४४
वेदाभ्यास, जप, ज्ञान की बड़ाई, " रहस्य प्रायश्चित्त "	२४५-२५२
तरतसमन्दीयादि सूक्तजपों के विधान फल प्रयोगादि	२५३-२५६



## द्वादशाध्याय में—

विषय	श्लोक
“भृगुसंवाद” प्रसिद्ध	१-२
कर्म का प्रवर्तक मन है, मन वचन देह के कार्य, तीनों का भोग-साधन, फल, योनि, संयमी को सिद्धि, क्षेत्रज्ञ और भूतात्मा, जीव, शरीरोत्पत्ति के वर्णन	३-१६
यमयातनाभोग, फिर सात्राओं में लय, उन्नति, स्वर्गप्राप्ति, नरक-प्राप्ति, धर्म में ही मन लगाना, सत्त्वादि ३ गुण, सब भूतों का गुणों से व्याप्त होना	१७-२६
३ गुणों की पहचान, तीनों गुणों की तीन तीन=९ गति	२७-५२
किस २ कर्म से क्या २ योनि मिलती है, उन के अनेक दुःख	५३-८२
वेदाभ्यासादि नैश्रेयसकर्मों का वर्णन, प्रवृत्ति निवृत्ति मार्ग, वेद चक्षु है, वेदविरुद्ध स्मृति असामान्य तथा नश्वर हैं	८३-९६
सब कुछ चातुर्वर्ण्यादि वेद से प्रसिद्ध हुआ है, वेद सर्वाधार है, सब अधिकार वेदज्ञ को योग्य हैं, वेदज्ञ दुष्ट कर्म से बचता है, वेदज्ञ की मुक्ति, ज्ञान की अपेक्षा उच्च नीचता का तारतम्य	९७-१०३
तप और विद्या का फल, प्रत्यक्ष अनुमान और शास्त्र को जानना उचित है, जिन धर्मों का शास्त्रों में वर्णन न हो वहां शिष्ट ब्राह्मणवचन प्रमाण, शिष्ट ब्राह्मण का लक्षण	१०४-१०८
१० वा ३ विद्वानों की सभा वा १ भी विद्वान् का धर्म में प्रामाण्य, अज्ञानी बहुतेकों का भी अप्रामाण्य, मूर्खनिर्धारित धर्माभास का दुष्ट फल, धर्मानुयायी की मुक्ति, आत्मज्ञान	११०-१२५
“फलश्रुति”	१२६



462 542 222/8 46

## निवेदन

मनु के भाषानुवाद की धर्मजिज्ञासुओं को जितनी अधिक आवश्यकता है, उसे जिज्ञासु ही जानते हैं और सम्प्रति मनु पर अनेक संस्कृत टीका और भाषा टीकाओं के होते हुवे भी एक ऐसे अनुवाद की आवश्यकता थी जो सुगम हो, अल्प मूल्य का हो, संक्षिप्त और मूल का आशय भले प्रकार स्पष्ट करने वाला हो, जिस के अर्थों में खँचातानी और पक्षपात न हो। इस पर भी यह जाना जासके कि कितने और कौन २ से श्लोक लोगों ने पश्चात् मिला दिये हैं। यह एक ऐसा कठिन काम है, जैसे दूध में मिले पानी का पृथक् करना। इसी लिये हमने ऊपर लिखे गुणों से युक्त यह टीका छापी है और जो श्लोक हमारी समझ में पीछे से औरों ने मिला दिये हैं, उन को ठीक उसी स्थान पर कुछ छोटे अक्षरों में उपस्थित रक्खा है और " " चिन्ह उन के ऊपर कर दिया है तथा संक्षेप से उन के प्रक्षिप्त मानने के हेतु दिखलाते हुवे उस के अर्थ में कुछ हस्तक्षेप न करके अपनी सम्मति ( ) चिन्ह के भीतर लिख दी है। जिस में जिन सज्जनों को उन २ श्लोकों के प्रक्षिप्त मानने के हेतु पर्याप्त (काफ़ी) प्रतीत हों, वे श्रद्धा करें और जिन की दृष्टि में अग्राह्य हों, वे न मानें। क्योंकि हम निर्भान्त वा सर्वज्ञ नहीं हैं और न मनुष्य सर्वज्ञ हो सकता है। इसी से अपनी सम्मति को सर्वोपरि मानकर पुस्तक में से वे श्लोक निकाल नहीं दिये हैं। जहां तक बना छान बीन बहुत की है। कितने ही ऐसे श्लोकों का भी पता लगता है जो अब मूल में से निकल गये, प्राचीन काल में थे वा अभी सब पुस्तकों में नहीं मिल पाये। हम ने उन को भी [ ] कोष्ठक में रक्खा है। जिन श्लोकों को स्वामी जी ने अपने ग्रन्थों में माना है, उन में से हमने किसी को प्रक्षिप्त नहीं माना। मुम्बई के एक पुस्तक से, जिस में मेधातिथि, सर्वज्ञनारायण, कुल्लूक, राघवानन्द, नन्दन और रामचन्द्र; इन परिश्रमी और प्रसिद्ध ६ टीकाकारों की टीकाओं के अतिरिक्त १-बङ्गाल ऐसियाटिक सोसाइटी। २-उज्जैन के सोरठी बाबा रामभाऊ। ३-उज्जैन के आठवले नाना साहब। ४-७-मुन्शी हनुमान् प्रसाद प्रयाग। ८-खण्डवा के रावबहादुर खरे बङ्गालात्मज वासुदेव शर्मा। ९-१०-मिरज के महाबल वामन सह। ११-यौतेश्वर के रामचन्द्र। १२-१४-पूना के ज्योतिषी बलवन्तराव। १५



( २८ )

अहमदाबाद के सेठ बेचरदास । १६-शम्भुमहादेव क्षेत्र के जावड़े बलवन्तराव । १७-बङ्गाल ऐसि० के मूल पुस्तक । १८-आर्स्टे लिमये के गोविन्द । १९-लण्डन का मूल पुस्तक । २०-कलिकाता राजधानी का छपा । २१-निरज के वामन मह का राघवानन्दी टीका का । २२-बहौदे के वसुदेव । २३-जयपुर के लक्ष्मीनाथ शास्त्री (राघ०) । २४-मद्रास के दीवान बहादुर रघुनाथराव । २५-पूने के गरेश ज्योतिर्विद् । २६-पूना के गोखले मह नारायण । २७-जयपुर के लक्ष्मीनाथ शास्त्री का मूलमात्र । २८-सर्वज्ञना० टी० । २९-३०-आर्स्टे लिमये के गोविन्द राघवा० टीका । इन ३० प्राचीन पुस्तकों का संग्रह किया है; पाठान्तर, पाठाधिक्य, श्लोकाधिक्य आदि को देख भाल कर यथासम्भव अपनी सम्मति लिखने में सावधानी की है । और अब तक जो कुछ विचार किया उस से " चिह्नयुक्त प्रति अध्याय क्रम से ३४ । ४ । १६७ । २० । ४१ । ०० । ३ । १९ । ४९ । १९ । २२ । ४ सब ३८२ श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़े हैं । परन्तु अभी कई विचारणीय भी है । आशा है कि सज्जन इस श्रम से प्रसन्न होंगे ॥

मनुस्मृति के प्रथमाध्याय के आरम्भ में ही सब से प्रथम ३० प्रकार के प्राचीन लिखे पुस्तकों में से १९ प्रकार के पुस्तकों में एक श्लोक अधिक पाया जाता है और श्लोकसंख्या उस पर नहीं है । इस से भी पाया जाता है कि वर्तमान में जो मनुस्मृति का पुस्तक मिलता है, यह मनुप्रोक्त नहीं, किन्तु अन्य का बनाया है । इसी में यथार्थ मनु के आशय भी हैं । वह श्लोक यह है:-

स्वयंभुवे नमस्कृत्य ब्रह्मणेऽमिततेजसे ।

मनुप्रणीतान्विविधान्यमर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥ १ ॥

अर्थात्-मैं (सम्पादक) अनन्त तेजस्वी स्वयम्भू ब्रह्मा को नमस्कार करके मनुप्रोक्त सनातन विविध धर्मों का वर्णन करूंगा ॥ अध्याय एक श्लोक २ में "अन्तरप्रभवाणाम्" के स्थान में ३ पुस्तकों में "सङ्करप्रभवाणाम्" पाठ देखा जाता है ॥

अध्याय १ श्लोक ७ में सर्वज्ञनारायण टीकाकार "अतीन्द्रियोऽग्राह्यः" मानते हैं और इसी श्लोक में ८ पुस्तकों में "सएव=सएषः" पाठ देखा जाता है ॥ १ । ८ में कई पुस्तकों का पाठ अभिध्याय=अभिध्यायन् । बीजम्=वीर्यम् । असृजत्=अक्षिपत्, है ॥ १ । ९ में दो पुस्तकों में "तस्मिन्=यस्मिन्" पाठ है । १ । १० में तीन पुस्तकों में "अयनं तस्य ताः पूर्वं" पाठ है १ । १० के आगे:-



( २९ )

नारायणपरोव्यक्तादण्डमव्यक्तसंभवम् ।

अण्डस्यान्तस्त्वमे लोकाः सप्तद्वीपाऽत्र मेदिनी ॥

यह श्लोक दो पुस्तकों के मूल में और एक की टीका में देखा जाता है और एक पुस्तक में उक्त श्लोक के स्थान में निम्नलिखित प्रक्षिप्त श्लोक पाया जाता है:-

सहस्रशीर्षा पुरुषोरुवमबाहुस्त्वतीन्द्रियः ।

ब्रह्मा नारायणाख्यस्तु सुखापु सुलिले तदा ॥

एक पुस्तक में १।११ में "नित्यम्=लोके" देखा जाता है ॥ १।१३ में-  
ताभ्यां स शकलाभ्याम्=ताभ्यां च शकलाभ्याम्=ताभ्यां मुण्डकपालाभ्यां, ओं  
देखे जाते हैं ॥ तथा-स्थानं च शाश्वतं=स्थानमकल्पयत्-भी है ॥ तथा इस  
के आगे निम्नस्थ डेढ़ श्लोक ३ पुस्तकों में अधिक है:-

वैकारिकं तैजसं च तथा भूतादिमेव च ।

एकमेव त्रिधाभूतं महानित्येव संस्थितम् ॥

इन्द्रियाणां समस्तानां प्रभवं प्रलयं तथा ।

१।१५ से आगे:-

अविशेषान्विशेषांश्च विषयांश्च पृथग्विधान् ।

यह अर्ध श्लोक दो पुस्तकों में अधिक मिलता है ॥ १।१६ में १ पुस्तक में  
षष्ठामप्यमि=षष्ठमयानपि । मात्रासु=मात्रास्तु, देखा जाता है ॥ १।१७ में १  
पुस्तक में तस्येमानि=तानीमानि, है ॥ १।२५ के १ पुस्तक में वाचं=बलं है  
॥ १।२७ के १ पुस्तक में सार्धं=विश्वं, है ॥ १।४६ के ७ पुस्तकों में-स्थाव-  
राः=तावः, है ॥ १।४९ के १ पुस्तक में-अन्तःसंज्ञा=अतःसंज्ञा, और ४ पुस्तकों  
में-अन्तःसंज्ञाः, और दो पुस्तकों में-सुखदुःखसमो=फलपुष्पसमो, पाठ हैं ।  
उन पाठों से वृक्ष सुखदुःखयुक्त नहीं सिद्ध होते ॥ १।६३ से आगे १ पुस्तक  
में और दूसरी में ७० वें श्लोक में यह अर्ध श्लोक अधिक है:-

कालप्रमाणं वक्ष्यामि यथावत्तं निबोधत ॥

१।७८ से आगे ३ पुस्तकों में आगे कहा श्लोक अधिक है:-



( ३० )

परस्परानुप्रवेशादुभयान्ति परस्परम् ।

गुणं पूर्वस्य पूर्वस्य धारयन्त्युत्तरोत्तरम् ॥

१। ८५ में-युगहासानुरूपतः=तत्तद्वर्मानुरूपतः, पाठ है और इस से आगे १ पुस्तक में निम्नस्थ श्लोक अधिक है, जिस की व्याख्या केवल रामचन्द्र टीका-कार ने, जो सद्य से नवीन है, की है। जिस से प्रतीत होता है कि अति नवीन समय तक युग २ के पृथक् २ धर्मों की शिक्षा की मिलावट होती रही है:-

ब्राह्मं कृत्युग्रं प्राक्तं त्रेता तु क्षत्रियं युगम् ।

वैश्योद्वापरमित्थाहुः शूद्रः कलियुगः स्मृतः ॥

१। ८७ से आगे दो पुस्तकों में यह श्लोक और अधिक है कि:-

तेषां न पूजनीयोऽन्यस्त्रिषु लोकेषु विद्यते ।

तपोविद्याविशेषेण पूजयन्ति परस्परम् ॥

तथा अन्य दो पुस्तकों में आधा श्लोक और अधिक है कि:-

ब्रह्मविद्वयः परं भूतं न किञ्चिदिह विद्यते ॥

१। १०५ से आगे दो पुस्तकों और रामचन्द्रकृत टीका में यह श्लोक अधिक है:-

यथा त्रिवेदाध्ययनं धर्मशास्त्रमिदं तथा ।

अध्येतव्यं ब्राह्मणेन नियतं स्वर्गमिच्छता ॥

२। ५ से आगे दो पुस्तकों में ये दो श्लोक अधिक हैं:-

असद्वृत्तस्तु कामेषु कामोपहतचेतनः । नरकं समवाप्नोति  
तत्फलं न समश्नुते ॥ १ ॥ तस्माच्छ्रुतिस्मृतिप्रोक्तं यथाविध्यु-  
पपादितम् । काम्यं कर्मह भवति श्रेयसे न त्रिपर्ययः ॥ २ ॥

२। १५ से आगे भी ३ पुस्तकों में दो श्लोक अधिक हैं, जो हमने उसी स्थान पर छापे हैं ॥ २। ३१ के उत्तरार्ध का ३ पुस्तकों में-

शूद्रस्य प्रेक्ष्यसंयुतम्

पाठभेद है ॥ २। ३२ में भी १ पुस्तक में:-



राज्ञोरक्षासमन्वितम्=राज्ञोवर्मसमन्वितम् ।

पाठभेद है ॥ २ । ५१ के-यावदन्नं=यावदर्थं, पाठों में मेधातिथि के आध्यानुसार भेद है ॥ २ । ६७ वें प्रक्षिप्त श्लोक के पाठ में भी बड़ा अन्तर है कि एक पुस्तक में-

संस्कारोवैदिकः स्मृतः=औपनायनिकः स्मृतः ।

पाठभेद है । दूसरे एक पुस्तक में-

गृहार्थोग्निपरिक्रिया=गृहार्थोग्निदरिगृहः ।

पाठ है और अन्य दो पुस्तकों में इसी की जगह-

गृहार्थोग्निपरिक्रिया

पाठान्तर है । तौ क्या ठिकाना है कि यह श्लोक मनुप्रोक्त है ॥ इसी ६७ वें से आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:-

अग्निहोत्रस्य शुश्रूषा सायमुद्रासमेव च ।

कार्यं पत्न्या प्रतिदिनमिति कर्म च वैदिकम् ॥

ऐसे ही एक पुस्तक में यह श्लोक ११७ से आगे मिलाया गया है कि:-

जन्मप्रभृति यत्किञ्चिच्चैतसा धर्ममाचरेत् ।

तत्सर्वं विफलं ज्ञेयमेकहस्ताभिवादानात् ॥

नन्दन भाट्यकार के मत में "भोः शठदं कीर्त्त०" यह १२४ वां श्लोक १९३ वें " नामधेयस्य० " के स्थान में पाया जाता है ॥

इस से आगे १२ वें अध्याय तक पाठभेद, पाठाधिक्य वा जो २ अधिक श्लोक किन्हीं पुस्तकों में पाये गये वे अनुमान ११९ के हैं और सती २ स्थान पर [ ] चिन्ह के भीतर हम छापते गये हैं ॥

एकादशाध्याय में प्रायश्चित्तार्थ जिन वेदमन्त्रों के प्रतीक श्लोकों में आये हैं, वे २ मन्त्र वेदों के मण्डल सूक्त अध्याय आदि पते खोज कर लिख दिये हैं ॥

इस पुस्तक का विषयसूची पृथक् भी अब इस लिये छपा दिया है कि यद्यपि अध्याय १ श्लोक १११ से ११८ तक १२ हों अध्यायों का भिन्न २ विषयसूची किसी ने श्लोक बना कर मिलाया है, उस की भाषाटीका भी हमने की है, परन्तु वहां जिन की विस्तार से कोई विषय जानना हो, नहीं जान सकते । बहुत



श्रीगुरु मैने यह सनाया और उपाया था । इस से बहुत सुधारने पर भी जहां जहां जो कुछ अशुद्धि रह गई हों और पाठकगण को दृष्टि पड़ें तो सरलता से मुझे लिखें, छठी बार छपेगा, उस में भी और ठीक कर दिया जायगा ॥

इस के अतिरिक्त हेमाद्रि आदि लोगों ने ऐसे कई वचन कहे हैं जो उन्हें ने मनुवचन कहके लिखे हैं, परन्तु वे वचन अब मनु में नहीं मिलते । ऐसे वचनों का संग्रह ४६६ श्लोकों के अनुमान ज्ञात हो चुका है । जैसा कि धर्माधिकार में १ स्मृतिचन्द्रिका में ३२ दानहेमाद्रि में ११ व्रतहेमाद्रि में १ श्राद्धहेमाद्रि में ३१ स्मृतिरत्नाकर में ५३ शूद्रकमलाकर में १४ पराशरमाधव में ४९ निर्णयसन्धु में १५ मिताक्षरा में १३ संस्कारकौस्तुभ में ६ विवादभङ्गार्णव में १९ नारायणभट्टकृत प्रयोगरत्न संस्कारसूत्र में २ व्यवहारतत्त्व में १ दायक्रमसंग्रह में २ श्रीमद्भागवत ३। १। ३६ की टीका में १ शङ्करदिग्विजय १ प्रकरण में २ संस्कारसूत्र में ४ आचारसूत्र में ८ श्राद्धसूत्र में २ व्यवहारसूत्र में २ प्रायश्चित्तसूत्र में १० और वृद्धमनु के नाम से १७४ बृहन्मनु के नाम से १७ इस प्रकार श्लोक ४६६ हुवे । तथा मेधातिथि के समस्त पाठभेद ५०० के लगभग हैं । कुल्लूक के पाठभेद भी ६५० के ऊपर हैं । राघवानन्द ने भी ३०० से ऊपर पाठभेद माने हैं । नन्दन ने १०० के लगभग पाठभेद माने हैं । इत्यादि अनेक हेतु इस पुस्तक के (जो वर्तमान समय में मिलता है) टीका २ मनुकृत होने में पूर्ण सन्देहजनक हैं ॥

मेरठ १। ३। १९०६ तुलसीराम स्वामी



ओ३म्

श्री परमात्मने नमः

अथ

## मनुस्मृति-भाषानुवादः

प्रणम्य जगदाधारं वाक्पतिं परमेश्वरम् । क्रियते  
सान्वी टीका तुलसीरामशर्मेणा ( स्वामिना ) ॥ १ ॥

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः ।

प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ॥ १ ॥

अर्थ-महर्षि लोग एकान्त में विराजमान मनु जी के निकट जाकर ( सनका ) यथोचित प्रतिपूजन कर, यह वचन बोले कि-॥ १ ॥

भगवन्सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः । अन्तरप्रभवाणां च  
धर्मान्नी वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥ त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य  
स्वयंभुवः । अचिन्त्यस्य अप्रमेयस्य कार्यसत्त्वार्थवित्प्रभोः ॥ ३ ॥

अर्थ-महाराज ! संपूर्ण वर्णों और वर्णसङ्करों के धर्मों का यथावत् क्रम से हम लोगों को उपदेश करने में आप समर्थ हैं ॥ २ ॥ क्योंकि संपूर्ण वेद ( ऋग्यजुः साम अथर्व ) के कार्यों ( ज्योतिष्टोमादि यज्ञ और नित्यकर्म संध्यावन्दनादि ) के यथार्थ तात्पर्य के जानने वाले आप एक ही हैं । जो ( वेद ) कि अचिन्त्य, अप्रमेय, अनादि=परमात्मा का विधान ( कानून ) है ॥ ३ ॥  
स तैः पृष्टस्तथा सम्यगमितौजा महात्मभिः । प्रत्युवाचाचर्य  
तान् सर्वान्महर्षीञ्छ्रूयतामिति ॥ ४ ॥ आसीदिदं तमोभूत  
मप्रज्ञातमलक्षणम् । अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ ५ ॥

अर्थ-जब इन महात्माओं ने महात्मा मनु से इस प्रकार प्रश्न किया, तब मनु जी ने इन सब महर्षियों का सत्कार करके कहा कि श्रवण कीजिये ॥ ४ ॥



यह विश्व ( महाप्रलयकाल में ) अन्यकारयुक्त और लक्षणों से रहित, संकेत के अयोग्य तथा तर्क द्वारा और स्वरूप से जानने के अयोग्य, सब ओर से निद्रा की सी दशा में था ॥ सोठी पड़ी ॥

( यहां यह प्रश्न होता है कि ऋषियों ने तौ धर्म पूछा था, मनु जी सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन क्यों करने लगे ? मनु के सब टीकाकारों ( १ मेधातिथि, २ सर्वज्ञनारायण, ३ कुल्लूक, ४ राघवानन्द, ५ नन्दन ) ने एक छठे रामचन्द्र टीकाकार को छोड़ कर यह प्रश्न उठाया है और थोड़े से भाव में भेद करते हुवे प्रायः सब का तात्पर्य उत्तर में यह है कि सृष्टि का वर्णन करते हुवे, चारों वर्णों के धर्म क्रमशः वर्णन करने के लिये प्रथम सृष्टि की उत्पत्ति से आरम्भ करना साङ्गोपाङ्ग धर्म का वर्णन कहा जा सकता है । इस लिये और ब्रह्म-ज्ञान की सब धर्मों में उत्तमता होने से मनु जी ने परमात्मा से जगत् की उत्पत्ति दिखाते हुवे धर्मोपदेश का आरम्भ किया । परन्तु दूसरे श्लोक के भागे अन्य दो श्लोक भी चार प्राचीन लिखित पुस्तकों में देखे जाते हैं और मन्दन तथा रामचन्द्र ने इन पर टीका भी की है । वे ये हैं:-

[ जरायुजाण्डजानां च तथा संस्वेदजोद्भिदाम् । भूतग्रामस्य सर्वस्य प्रभवं प्रलयं तथा ॥१॥ आचारांश्चैव सर्वेषां कार्याकार्य-विनिर्णयम् । यथाकालं (\* कामं) यथायोगं वक्तुमर्हस्यशेषतः ॥२॥ ]

अर्थात्-जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज्ज और सब प्राणिमात्र की उत्पत्ति और प्रलय ॥ १ ॥ और सब के आचार और कार्य अकार्य का निर्णय; काल ( वा इच्छा ) और योग के अनुसार समस्त कहिये ॥ २ ॥ तीन पुस्तकों में "कालम्" पाठ देखा जाता है । यदि ये श्लोक प्राचीन माने जाय तौ यह संशय सर्वथा नहीं रहता कि मुनियों ने धर्म पूछा था, मनु जी सृष्टि का वर्णन क्यों करने लगे ? हमारे विचार में तौ जैसे बहुत श्लोक मनु में नये मिल गये, वैसे ही ऐसे २ श्लोक मनु से जाते रहे और किन्हीं २ पुस्तकों में रह गये ) ॥ ५ ॥

ततः स्वयंभूर्भगवानऽव्यक्तोव्यञ्जयन्निदम् । महाभूतादिवृ-त्तोजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥६॥ योसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः । सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्भवो ॥७॥



अर्थ—इस ( दशा ) के अनन्तर उत्पत्तिरहित, सर्वशक्तिमान्, इन्द्रियों से अतीत, ( मलयकाल के अन्त में ) प्रकृति की प्रेरणा करने वाले, महत्तत्त्व वाकाश वायु अग्नि जल पृथ्वी आदि कारणों में युक्त है बल जिसका उस परमात्मा ने इन को प्रकाशित करके अपने को प्रकट किया । (परमेश्वर का प्रकट होना यही है कि जगत् की रचना और जगत् के लोगों को अपना ज्ञान कराना ) ॥ ६ ॥ जो कि इन्द्रियों से नहीं ( किन्तु आत्मा से ) जाना जाता और परम सूक्ष्म, अव्यक्त, सनातन, संपूर्ण विश्व में व्याप्त तथा अचिन्त्य है, वही अपने आप प्रकट हुवा ॥ ७ ॥

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः । अपएव  
ससर्जदौ तासु बीजमवासृजत् ॥ ८ ॥ तदण्डमभवद्दुमं सह-  
स्रांशुसमप्रभम् । तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ ९ ॥

अर्थ—उस (स्वस्वामिभावसंबन्ध से=मालिक और मिलकियत् के लिहाज से) अपने शरीर से नाना प्रकार की प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा करने वाले ने ध्यान करके प्रथम अप् तत्त्व ही उत्पन्न किया, उस में बीज को आरोपित किया । ( यहां शरीर शब्द से उपादान कारण का ग्रहण है \* । परमेश्वर उस का अधिष्ठाता=स्वामी [ मालिक ] है, इस लिये उसे “परमेश्वर का” कहा गया है ) ॥

अप् शब्द का अर्थ अमर्त्तव है, जल नहीं । वास्तव में पञ्च भूतों में से एक भूत जल का अर्थ लेना यहां संगत भी नहीं किन्तु प्रकृति को जब परमात्मा कार्योन्मुख करके सृष्टि को उत्पन्न करना आरम्भ करता है तब जो तत्त्व प्रकृति का सब से पहला कार्य वा सब से पहला परिणाम होता है उसी को “अमर्त्तव” कहा समझना चाहिये क्योंकि इस के आगे १।११ में—

“यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।”

इस श्लोक में अव्यक्त ( प्रकृति ) का वर्णन प्रकरण में है । उसी को १।८ में शरीर कहा है । शरीर से अप् को उत्पन्न करना कहा गया है । अप् वही वस्तु जान पड़ती है जिस को सांख्य मत में—

प्रकृतेर्महान्

\* प्रधानमेव तस्येदं शरीरम्=प्रकृति ही उस पुरुष का शरीर है । मेधातिथि टीकाकार ।



कह कर महत्तरव संज्ञा दी है। यदि हम अप् का जल मात्र लें तो यह किसी शास्त्र वा दर्शन से अनुमोदित नहीं हो सकता ॥ ऐतरेय आरण्यक पृ० ११२ में सायणाचार्य कहते हैं कि—

“अप् शब्देन पञ्चभूतान्युपलक्ष्यन्ते,” ( तथा— )

“अप् शब्देन सर्वेषां देहबीजभूतानां सूक्ष्मभूतानां ग्रहणम्” ।

यह सायणीय वा साधवीय शङ्करदिग्विजय के सर्ग १ श्लोक १ की टीका टिप्पणी में कहा गया है। इन दोनों वाक्यों का अर्थ यही है कि अप् शब्द से देह के बीजभूत सब सूक्ष्म भूत समझने चाहियें ॥ ऋग्वेद १० । १२१ । १ में जो मन्त्र है कि—

आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन्  
गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्-।  
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः  
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

इस में अप् शब्द के विशेषण—गर्भं दधानाः, अग्निं जनयन्तीः, दक्षं दधानाः, यज्ञं जनयन्तीः; आये हैं जो केवल जल साधारण में गर्भ का धारण, अग्नि का उत्पादन, बल का धारण, यज्ञ का उत्पादन नहीं संभव होता, किन्तु प्रकृति की पहली विकृति में ही घट सकता है और यही कारण संस्कृत में ‘अप्’ शब्द के स्त्रीलिङ्ग होने का भी जान पड़ता है। पीछे ‘अप्’ के जल तुल्य द्रव ( रक्तीक ) पदार्थ होने से उस का नाम जल पड़ गया और लिङ्ग वही स्त्रीलिङ्ग प्रयुक्त होता रहा जान पड़ता है। यही मन्त्र यजुर्वेद २१ । ६५ में भी आया है, जिस का भाष्य करते हुये महीधर ने शतपथ ११ । १ । ६ । १ का प्रमाण दिया है कि—

आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास । ✓

इस में भी जगत् की प्रथम कार्यावस्था वाले तत्त्व को ही ‘अप्’ तत्त्व कहा जान पड़ता है ॥

इसी यजुः २१ । २५ में—स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने भी ( आपः ) = “व्यापिकास्तन्मात्राः” । व्यापक=जलों की सूक्ष्म मात्रा, कहा है और यजुर्वेद ११ । १ में पुनः इस मन्त्र का प्रतीक आने पर भी उक्त स्वामी



जी ने ( आपः ) व्याप्ताः, ( आपः ) आकाशाः, अर्थ किया है, जिस से मेरे लिखे सन्ध्या पुस्तकस्थ अर्णवः समुद्रः के अर्थ=जल भरा समुद्र=आकाश अर्थ की पुष्टि होती है। इसी को आकाशतत्त्व भी कह सकते हैं ॥

वास्तव में जगत् की उत्पत्ति के प्रकरण में आपः शब्द योगरूढ है, जो वेदों और अन्य सब शास्त्रों में जहां सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है, बाहुल्य से प्रयोग में आया है, इसी से पौराणिक समुद्र से कमलनाल में ब्रह्मा की उत्पत्ति वाली कथा चड़ी गई जान पड़ती है और इसी से ईसाइयों के उत्पत्ति प्रकरण के वाक्य कि ईश्वर का आत्मा जल पर डोलता था, इत्यादि घड़े गये अनुमान होते हैं ॥ ८ ॥ वह ( बीज ) चमकीला सूर्य के समान अगह्वाकार बना था। उसमें परमात्मा ( ब्रह्मा ) सर्वलोक का पितामह आप प्रकट हुवा ( अर्थात् प्रथम उपादान कारण का एक चमकीला गोला सा बनाया ) ॥ ९ ॥

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः । तायदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥१०॥ यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सद-सदात्मकम् । तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥ ११ ॥

अर्थ-अप् को "नाराः" कहते हैं क्योंकि नर=परमात्मा से अप् उत्पन्न हुवा है। वह नारा प्रथम स्थान है जिसका, इस कारण परमात्मा को "नारायण" कहते हैं ॥१०॥ जो सम्पूर्ण जगत् का उपादान और नेत्रादि से देखने में नहीं आता तथा नित्य और सत् असत् वस्तुओं का मूलभूत प्रधान ( प्रकृति ) है, उस सहित परमात्मा लोक में " ब्रह्मा " कहाता है ॥ ११॥

तस्मिन्नगडे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् । स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदगडमकरोद् द्विधाः ॥१२॥ ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिंचनिर्ममे । मध्येव्योमदिशश्चाष्टावपांस्थानंचशाश्वतम् १३

अर्थ-उस अगड़े में परिवत्सरसंज्ञक कालपर्यन्त स्थित होकर, उस परमात्मा ने आप ही अपने ध्यान से उस अगड़े के दो ( कल्पित ) टुकड़े किये ॥

( कल्प के समय का १०० वां भाग परिवत्सर जानो। जिस प्रकार १०० वर्ष की सामान्य आयु वाला मनुष्य एक वर्ष के लगभग गर्भ में तैयार होता है, इसी प्रकार वह जगत् भी अपने १०० वें कालभाग तक गर्भ के सी अवस्था में रहा )



॥१२॥ उस ने उन दो हुकड़ों से धुनोक और पृथिवी, बीच में आकाश और आठ दिशा तथा जल का सनातन स्थान बनाया ॥ १३ ॥

उद्धवर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम् । मनसश्चाप्यहंकार-  
मभिमन्तारमोश्वरम् ॥१४॥ महान्तिमेव चात्मानं सर्वाणि त्रिगु-  
णानि च । पिषयाणां ग्रहीतृणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च ॥१५॥

अर्थ- और अपने स्वभूत ( निलकियत ) प्रकृति से उस ( जगत्कर्त्ता ) ने सङ्कल्पविकल्पात्मक मन और मन से अभिमानी सामर्थ्य वाले अहंत्तरव को उत्पन्न किया ॥ १४ ॥ महान् आत्मा=महत्तरव और रजः सत्त्व तमः और विषयों की ग्रहण करने वाली पांच इन्द्रियां शनैः ( उत्पन्न कीं ) ॥ १५ ॥

तेषां त्रयत्रयान्सूक्ष्मान्पणामप्यमितौजसाम् । सन्निवेश्या-  
त्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे ॥१६॥ यन्मूर्त्यव्ययाः सूक्ष्मास्तस्ये-  
मान्याश्रयन्ति षट् । तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्यमूर्तिमनीषिणः ॥१७॥

अर्थ- वड़े बल वाले पूर्वोक्त छः ६ ( ५ इन्द्रियां और १ अहङ्कार=६ ) के सूक्ष्म अवयवों को अपनी २ मात्राओं ( शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ) में योजना करके सब प्राणियों को बनाया ॥ १६ ॥ क्योंकि शरीर के सूक्ष्म छः अवयव ( अर्थात् अहङ्कार और पांच इन्द्रियों से पांच महाभूत=६ ) सब कार्यों के हेतुरूप होकर उस परमात्मा के आश्रय में रहते हैं, इस कारण उस ज्ञान-स्वरूप परमात्मा के रचित ( मूर्ति ) जगत् को उस का शरीर कहते हैं । ( यद्यपि परमात्मा निराकार=शरीररहित है । यह वेदों का सिद्धान्त है । और पूर्व छठे श्लोक में यहां मनु जी ने भी उसे ( अव्यक्त ) निराकार इन्द्रियातीत कहा है । परन्तु ब्रह्मणा की रीति से जैसे शरीर में जीवात्मा रहता है, वैसे जगत् में परमात्मा रहता है । इस एकदेशीय दृष्टान्त से इस सारे जगत् को परमात्मा का शरीर कल्पित कर लिया जाता है । वेदों में इस प्रकार के अहङ्कार की शैली बहुत आई है ) ॥ १७ ॥

तदाविशन्तिभूतानि महान्ति सह कर्मभिः । मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः  
सर्वभूतकृदव्ययम् ॥१८॥ तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौ-  
जसाम् । सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः संभवत्यव्ययाद्व्ययम् ॥१९॥



अर्थ-५ महाभूत और मन को सब का कर्ता और (अन्यों की अपेक्षा) अविनाशी है, ये ६ सब पूर्वोक्त जगत्कृती शरीर में अपने २ कामों और सूक्ष्म अवयवों सहित प्रविष्ट होते हैं ॥ १८ ॥ पूर्वोक्त सात पुरुष (जगत्कृत् पुर में रहने वाले १ अहङ्कार २ महत्तत्त्व और आकाशादि ५ पांच, इस प्रकार ७ सात) जो कि बड़े सामर्थ्य वाले हैं इन की सृक्ष्म सृष्टिमात्राओं (पञ्चतन्मात्राओं) से अविनाशी परमात्मा-नाशवान् जगत् को उत्पन्न किया करता है ॥ १९ ॥

आदादास्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः। यो यो यावन्ति यश्चैषां  
स स तावद्गुणः स्मृतः ॥२०॥ सर्वेषां तु ते नामानि कर्माणि च  
पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥२१॥

अर्थ-इन (पञ्चमहाभूतों) में से पूर्व २ के गुण को परला २ प्राप्त होता है (आकाश का गुण शब्द परले वायु में व्याप्त हुवा। ऐसे ही वायु का स्पर्श अग्नि में, अग्नि का रूप जल में, जल का रस पृथ्वी में। इन्हीं से पृथ्वी के शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध ५ गुण हैं) इन में जो २ जितनी संख्या वाला है, वह २ उतने २ गुण वाला कहलाता है ॥२०॥ उस (परमात्मा) ने सृष्टि के आरम्भ में उन सब के पृथक् २ नाम और कर्म और व्यवस्था वेदशब्दों से रचीं ॥ २१ ॥

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः। साध्यानां च  
गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम् ॥२२॥ अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं  
ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्धार्थं मृगयजुःसामलक्षणम् ॥२३॥

अर्थ-उस प्राणियों के प्रभु ने, कर्म है स्वभाव जिन का ऐसे देवों (अग्नि वायु आदित्यादि), साध्यों के सूक्ष्म समुदाय और सनातन (ज्योतिष्टोमादि) यज्ञ को उत्पन्न किया ॥ २२ ॥ (उसने) यज्ञ के अर्थ सनातन वेद, जिस के ३ भेद=ऋग्यजुः साम हैं, इन को अग्नि वायु सूर्य से (अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद, सूर्य से सामवेद) प्रकट किया ॥ २३ ॥

कालं कालविभक्तीश्च नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा।

सरितः सागरान् शैलान् समानि विषमाणि च ॥२४॥

अर्थ-समय, (वर्ष मास पक्ष तिथि ग्रहर चटिका पल कला काष्ठादि) काल-विभाग तथा नक्षत्र ग्रह नदी समुद्र पर्वत और ऊंचीनीची (भूमि उत्पन्न किये) ॥२४॥



तपो वाचं रतिं चैव कामं च क्रोधमेव च । सृष्टिं ससर्ज चै-  
वेमां सृष्टुमिच्छन्निमाः प्रजाः ॥२५॥ कर्मणां च विवेकार्थं धर्मा-  
ऽधर्मौ व्यवचेयत् । द्वन्द्वैरयोजयन्नेमाः सुखदुःखादिभिः प्रजाः ॥२६॥

अर्थ-प्रजा के उत्पन्न करने की इच्छा करते हुवे ने तप, वाणी, रति (जिस से चित्त की प्रसन्नता होती है), काम तथा क्रोध को उत्पन्न किया ॥ २५ ॥ कर्मों के विवेक के लिये धर्म अधर्म को अताया (और धर्माधर्मानुसार) सुख दुःखादि द्वन्द्वों से प्रजा का योजन किया ॥ २६ ॥ X

अण्वयो मात्राविनाशिन्यो दशार्हुनां तु याः स्मृताः । ताभिः  
सार्द्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः ॥२७॥ यं तु कर्मणि यस्मिन्स  
न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः । स तदेव स्वयं भजे सृज्यमानः पुनः पुनः ॥२८॥

अर्थ-सूक्ष्मजी दश की आधी विनाशिनी (पांच) तन्मात्रा (शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध) कहीं हैं, उनके साथ यह संपूर्ण सृष्टि क्रमशः उत्पन्न है ॥२७॥ उस प्रभु ने सृष्टि के आदि में जिस स्वाभाविक कर्म में जिस की योजना की, उस ने पुनः २ जब २ उत्पन्न हुआ, स्वयं वही स्वाभाविक कर्म अपने आप किया ॥ २८ ॥

हिंसाहिंसे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते । यदस्य सोऽदधात्सर्गे  
तत्तस्य स्वयमाविशत् ॥ २९ ॥ यथर्तुलिङ्गान्यृतवः स्वयमेवर्तु-  
पर्यये । स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ॥३०॥

अर्थ-हिंस्रकर्म-अहिंस्र, मृदु (दयाप्रधान) क्रूर, धर्म धृत्यादि-अधर्म, सत्य-असत्य, जिस का जो कुछ (पूर्व कल्प का) स्वयं प्रविष्ट था, वह वह उस २ को सृष्टि के समय उस ने धारण कराया ॥ २९ ॥ जैसे वसन्त आदि ऋतुओं अपने अपने समय में निज २ ऋतुचिन्हों को प्राप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार मनुष्यादि भी अपने अपने कर्मों को पूर्वकल्प के बचे कर्मानुसार प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३० ॥

लोकानां तु विवृढयथं मुखग्राहूरुपादतः । ब्राह्मणं क्षत्रियं  
वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत् ॥३१॥ द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन  
पुरुषोऽभवत् । अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥३२॥



अर्ध लोकों की वृद्धि के लिये मुख ब्राह्मण, बाहू क्षत्रिय, जखू वैश्य, पाद शूद्र ( इस क्रम से सृष्टिकर्त्ता ने ) उत्पन्न किये ॥ ३१ ॥ उस प्रभु ने अपने जगत् रूपी शरीर के दो भाग किये, अर्द्ध भाग से पुरुष और अर्द्ध भाग से स्त्री हुई, उस स्त्री में विराट् ( सारे जगत् को एक पुरुषरूपक में ) उत्पन्न किया ॥

( यहां सब जगत् को एक पुरुष माना है । जिस में अर्धभाग स्त्रीपने का और अर्ध पुरुषपने का है । मनुष्य पशु पक्षी वृक्ष और पृथिव्यादि लोक इत्यादि सब में स्त्रीभाव और पुरुषभाव है ) ॥ ३२ ॥

“तपस्तप्त्वासृजयं तु स स्वयं पुरुषो विराट् । तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः ॥ ३३ ॥ अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् । पतीन्प्रजानामसृजं महर्षीणादितो दश ॥ ३४ ॥ ”

“ अर्थ—हे द्विजश्रेष्ठो ! उसी विराट् पुरुष ने तप करके जिस को उत्पन्न किया, वह सब का उत्पन्न करने वाला मुझे जानो ॥ ३३ ॥ मैंने प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा से उग्र तप करके प्रजा के पति दश १० महर्षियों को प्रथम उत्पन्न किया ॥ ३४ ॥

“मरीचिमत्रयङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् । प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥ ३५ ॥ एते मनूस्तु सप्तान्यान्सृजन्भूरि तेजसः । देवान्देवनिकायांश्च ब्रह्मर्षींश्चामितौजसः ॥ ३६ ॥ ”

“ अर्थ—(उन दश महर्षियों के नाम) मरीचि १ अत्रि २ अङ्गिरस् ३ पुलस्त्य ४ पुलह ५ क्रतु ६ प्रचेतस् ७ वसिष्ठ ८ भृगु ९ और नारद १० को ॥ ३५ ॥ इन बड़े प्रकाश वाले दश प्रजापतियों ने अन्य बड़े कान्तिवाले सात मनु तथा देवतों और उन के स्थानों और ब्रह्मर्षियों को उत्पन्न किया ॥ ३६ ॥ ”

“यक्षरक्षः पिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान् । नागान्सर्पान्सुपर्णांश्च पितृणां च पृथग्गणान् ॥ ३७ ॥ विद्युतोऽशनिमेघांश्च रोहितेन्द्रधनूंश्च । उल्कानिघातकेतूंश्च ज्योतींष्युच्चावचानि च ॥ ३८ ॥ ”

“ अर्थ—और यत्न रक्षः पिशाच गन्धर्व अप्सरा असुर नाग सर्प सुपर्ण और पितरों के गण (समूह) को ॥ ३७ ॥ और विद्युत् (जो बिजली बादलों में चमकती है), अशनि ( जो बिजली लोह आदि पर गिरती है, ) मेघ=बादल, रोहित ( जो नानावर्ण दण्डाकार आकाश में दिखाई देते हैं । वर्षा ऋतु में ) इन्द्र-



धनुष् ( प्रसिद्ध ), उल्का ( जो रेखाकार आकाश से गिरती है ), निर्घात= अन्तरिक्ष या पृथिवी से उत्पन्न शब्द, केतु ( पूछ वाले तारे ) और नाना प्रकार के तारे ॥ ३८ ॥ ”

“ किन्नरान्वानरान्मत्स्यान्विषांश्च विहंगमान् । पशून्मृगान् मनुष्यांश्च व्यालान्चोभयतोदतः ॥ ३९ ॥ कृमिकीटपतङ्गांश्च यूकामक्षिकमत्कुणम् । सर्वं च दंशमशकं स्थावरं च पृथग्विधम् ४० ”

“ अर्थ- किन्नर, वानर, मत्स्य, नाना प्रकार के पक्षी, पशु, मृग, मनुष्य, व्याल और जिन के ऊपर नीचे दांत होते हैं ॥ ३९ ॥ कृमि, कीट, पतङ्ग, यूका, खटसल और सम्पूर्ण ( क्षुद्र जीव ) मच्छर इत्यादि काटने वाले और स्थावर नाना प्रकार के ( वृक्ष लता वल्ली इत्यादि ) ॥ ४० ॥ ”

“ एवमेतैरिदं सर्वं मन्नियोगान्महात्मभिः ।

यथाकर्म तपोयोगात्सृष्टं स्थावरजङ्गमम् ॥ ४१ ॥ ”

येषां तु यादृशं कर्म भूतानामिह कीर्तितम् ।

तत्तथा बोधिधास्यामि क्रमयोगं च जन्मनि ॥ ४२ ॥

अर्थ-“ पूर्वोक्त ( मरीचि आदि ) महात्माओं ने मेरी आज्ञा तथा अपने तप के प्रभाव से यह सम्पूर्ण स्थावर जङ्गम कर्म के अनुसार रचा ” ॥ ४१ ॥

( ३३ से ४१ तक ९ श्लोक हमारी सम्मति में अवश्य पीछे से मिलाये गये हैं, क्योंकि इन में बड़ा परस्परविरोध है । प्रथम कह आये हैं कि प्रकृतिसहित परमात्मा ने लोक, मनुष्य, ब्राह्मणादि वर्ण, वेद तथा अन्य सब जगत् बनाया । यहां ४ जगत्कर्ता पाये जाते हैं, १ परमात्मा, २ विराट्, ३ मनु, ४ मरीचयादि । इन में ३६ वें श्लोक में मरीचयादि ऋषियों से अन्य ७ मनुओं का उत्पन्न होना कहा है । सब लोग ब्रह्मा का पुत्र मनु को मानते हैं, यहां विराट् का पुत्र मनु कहा है । ३३ वें श्लोक में मनु अपने को सब जगत् का बनाने वाला बताते हैं जो इसी मनु के पूर्व श्लोकों, वेदों और पुराणों तक के विरुद्ध है । तथा १ श्लोक ४० वें के आगे और भी किन्हीं पुस्तकों में पाया जाता है, सबों में नहीं । इस से जाना जाता है कि वह ती बहुत ही थोड़े समय से मिलाया गया है । वह यह है-

“ यथाकर्म यथाकालं यथाप्रज्ञं यथाश्रुतम् ।

यथायुगं यथादेशं यथावृत्तिं ( यथोत्पत्तिम् ) यथाक्रमम् ॥ १॥ ”



“इस श्लोक का (यथोत्पत्ति\*) पाठ उज्जैन नगरी के (भाटवले) नामा साहेब के रामचन्द्र कन टीकायुक्त पुस्तक में पाया जाता है। यह श्लोक सितारा के समीपवर्ती यौतेश्वर स्थान के द्रविड शङ्करात्मज रामचन्द्र के मूलपात्र पुस्तक में भी पाया जाता है। तथा उज्जैन के (खोरठी बाबा) रामभाऊ शर्मा के मूल पुस्तक में भी पाया जाता है। शेष २९ प्रकार के पुराने लिखे पुस्तकों में यह श्लोक नहीं है। हम को आश्चर्य यह है कि मेधातिथि आदि ६ टीकाकारों ने न जाने क्यों इस विरोध पर दृष्टि भी नहीं की) ॥ ४१ ॥

इस संसार में जिन प्राणियों का जो कर्म कहा है उसी प्रकार हम कहेंगे तथा उन के जन्म में क्रम भी (कहेंगे। सो कहते हैं) ॥ ४२ ॥

पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः। रक्षांसि च पिशाचाश्च  
मनुष्याश्च जरायुजाः ॥ ४३ ॥ अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा म-  
त्स्याश्च कच्छपाः। यानि चैवंप्रकाराणि स्थलजान्योदकानि च ४४

अर्थ—[ जरायु ( गर्भ की फिझी ) से जो उत्पन्न हो उसे जरायुज कहते हैं ] गाय आदि पशु, हरिण आदि मृग, सिंह और जिन के ऊपर नीचे दांत होते हैं वे, और राक्षस (स्वार्थी), पिशाच (कच्चे मांस खाने वाले), मनुष्य, ये सब जरायुज हैं ॥ ४३ ॥ और पक्षी (परंद), सर्प, नाके, कछुवे इत्यादि, इसी प्रकार के भूमि पर तथा पानी में उत्पन्न होने वाले भी सब अण्डज कहलाते हैं ॥ ४४ ॥

स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम्। ऊष्मणश्चोपजा-  
यन्ते यच्चान्यत्किंचिदीदृशम् ॥ ४५ ॥ उद्भिज्जाः स्यावराः सर्वे बीज-  
काण्डप्ररोहिणः। ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ४६

अर्थ—सकड़र और काटने वाले सुद्र जीव जूमां मक्षिका खटमल इत्यादि और जो गरमी से उत्पन्न होते हैं। और जो इन्हीं के सदृश (चींटियां इत्यादि), स्वेदज अर्थात् पसीने से उत्पन्न होने वाले हैं ॥ ४५ ॥ जो भूमि की फाड़ कर ऊपर निकलें, उन को उद्भिज्ज कहते हैं, वे ये हैं—स्यावर अर्थात् वृक्षादि। इन में दो प्रकार हैं, एक बीज से उत्पन्न होने वाले, दूसरे शाखा से, (धान यव इत्यादि) जिन का फलपाक में अन्त हो जाता है और पुष्प फल जिन में अधिक होते हैं, उन को ओषधि कहते हैं (उद्भिज्ज हैं) ॥ ४६ ॥



अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः । पुष्पिणः फलिन-  
 श्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः ॥४७॥ गुच्छं गुल्मं तु विविधं तथैव  
 तृणजातयः । बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना बल्ल्यएव च ॥४८॥

अर्थ-जिन में पुष्प नहीं किन्तु फल ही होता है उन को वनस्पति कहते हैं और जो पुष्प फल से युक्त हों उन को वृक्ष कहते हैं ॥ ४७ ॥ जिस में जड़ से ही लता का मूल हो और शाखा इत्यादि न हो उस को गुच्छ कहते हैं ( जैसे मल्लिका ) गुल्म ( जैसे इक्षुप्रभृति ) तृणजाति, नानाप्रकार के बीज शाखा से उत्पन्न होने वाले और प्रतान ( जिन में सूत सा निकले जैसे कद्दू खीरा इत्यादि ) और बल्ली ( जैसे गुडूच्यादि, उद्भिज्ज हैं ) ॥ ४८ ॥

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना । अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते  
 सुखदुःखसमन्विताः ॥ ४९ ॥ एतदन्तास्तु गतयो ब्रह्माद्याः  
 । समुदाहृताः । घोरेस्मिन्भूतसंसारे नित्यं सततयायिनि ॥ ५० ॥

अर्थ-ये ( वृक्ष ) अधिक तमोगुण और ( दुःख देने वाले अधर्म ) कर्मों से व्याप्त हैं, इन के भीतर दुःख ज्ञान रहता है, सुख दुःख से युक्त रहते हैं \* ॥ ४९ ॥ इस नाशवान्, प्राणियों को भयङ्कर और सदा चल संसार में ब्रह्मा से स्थावरपर्यन्त ये गतियें कहीं ॥ ५० ॥

एवं सर्वं स सृष्टेर्दं मां चाचिन्तय पराक्रमः । आत्मन्यन्तर्दधेभूयः  
 कालं कालेन पीडयन् ॥५१॥ यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते  
 जगत् । यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥ ५२ ॥

अर्थ-उस अचिन्त्यपराक्रम ईश्वर ने संपूर्ण (स्थावरजङ्गमरूप) सृष्टि और मुक्त मनु को ऐसे उत्पन्न करके सृष्टिकाल को प्रलयकाल से नाश कर्त्ते हुवे अपने में छुपा लिया है ( अर्थात् प्राणियों के कर्मवश से पुनः पुनः सृष्टि प्रलय करता है ) ॥ ५१ ॥ जब प्रजापति जागता ( =सृष्टि करने की इच्छा करता ) है उस समय यह संपूर्ण जगत् चेष्टायुक्त हो जाता है और जब निवृत्ति की इच्छा होती है तब संपूर्ण लय को प्राप्त होता है (यही उस का सोना जागना है) ॥ ५२ ॥

तस्मिन् स्वपति तु स्वस्थे कर्मात्मानः शरीरिणः । स्वकर्मभ्यो नि-

\* जिस प्रकार जलादि के न मिलने से मनुष्यादि सरजाते हैं वैसे वृक्षादि भी ।



वर्तन्ते मनश्च ग्लानिमुच्छतिः॥५३॥ युगपत्तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन्महात्मनि । तदायं सर्वभूतात्मा सुखं स्वपिप्सि निर्वृतः ॥ ५४ ॥

अर्थ-जब वह व्यापारों से रहित हो शयन करता है उस समय कर्मात्मा ( जो कि शरीर के साथ तक कर्म बन्धन से नहीं छूटते हैं ) प्राणी अपने २ कर्म से निवृत्त हो जाते हैं और मनस्त्व भी क्षीण हो जाता है ॥ ५३ ॥ एक ही समय जब वे संपूर्ण ईश्वर में प्रलय को प्राप्त होते हैं उस समय ( सुख दुःखादि से रहित जीवों को सुषुप्ति का सुख प्राप्त हो, इस लिये ) यह परमात्मा निवृत्त और सोता कहा जाता है ॥

(कभी भी अनुभव न किया हुआ प्रलय का वर्णन लोगों की समझ में कुछ न कुछ आजावे, इस लिये प्रलय को परमात्मा की रात्रि करके वर्णन किया गया है । वस्तुतः परमात्मा चेतनस्वरूप सदा जागने वाला ही है ॥ जिस प्रकार सूर्य वनस्पतियों के उगने और सूखने का हेतु है परन्तु किसी वृक्षादि को उगाने वा सुखाने के समय सूर्य का स्वरूप नहीं बदलता किन्तु एक सा ही रहता हुआ सूर्य उगाता और सुखाता भी है । किन्तु वे वृक्षादि अपने स्वभाव-भेद और अवस्थाभेद से सूर्य का प्रभाव अपने ऊपर अनेक प्रकार का डालते हैं । यद्यपि सूर्य का प्रभाव है एक ही प्रकार का । ऐसे ही परमात्मा के सब गुण सदा एक से ही रहते हैं, परन्तु प्रकृति कभी विकृत होती है, कभी प्रकृत और इसी से जब विकृत होती है तब परमात्मा की व्यापकता का फल उत्पत्ति और जब प्रकृत होती है तब उस की व्यापकता का फल प्रलय हो जाता है) ॥ ५४ ॥

तमोऽयं तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रियः । न च स्वङ्कुरुते कर्म तदोत्क्रामति मूर्तितः ॥ ५५ ॥ यदा णुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थासु चरिष्यु च । समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्तिं विमुञ्चति ॥ ५६ ॥

अर्थ- जब यह जीव इन्द्रियों सहित बहुत कालपर्यन्त तम (सुषुप्ति) को आश्रय करके रहता है और अपना कर्म ( श्वासप्रश्वासादि ) भी नहीं करता तब शरीर से पृथक् हुवा रहता है ॥ ५५ ॥ जब अणुमात्रिक होकर ( अर्थात् अणु हैं मात्रायेँ जिस की, उस अणुमात्र को पुर्यष्टक कहते हैं अर्थात् शरीर प्राप्त होने की आठ सामग्री- जीव १ इन्द्रिय २ मन ३ बुद्धि ४ वासना ५ कर्म ६ वायु ७ अविद्या ८ ये आठ मिल कर अणुमात्र कहलाते हैं तो प्रथम अणुमात्रिक



होकर) अक्षर ( कृष्णादि ) या चर ( मनुष्यादि ) के हेतुभूत बीजों में प्रविष्ट होता है, तब उन में मिल कर शरीर को धारण करता है ॥ ५६ ॥

एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम् ।

सञ्जीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः ॥ ५७ ॥

अर्थ-ऐसे वह अविनाशी परमात्मा शयन और जाग्रत् से इस संपूर्ण चराचर को निरन्तर उत्पन्न और नष्ट करता है ॥ ५७ ॥

“ इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ मामेव स्वयमादितः ।

विधिवद् ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ॥ ५८ ॥ ”

“मनु जी कहते हैं कि इस ( ब्रह्मा ) ने सृष्टि के प्रथम इस धर्मशास्त्र का निर्माण करके विधिवत् मुक्त को उपदेश किया, अनन्तर मैंने मरीच्यादि मुनियों को पढ़ाया ॥ ५८ ॥ ”

“ एतद्द्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः ।

एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः ॥ ५९ ॥

ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः ।

तानब्रवीद्वृषीन्सर्वान्प्रितात्मा श्रूयतामिति ॥ ६० ॥ ”

अर्थ “ यह संपूर्ण शास्त्र भृगु आप लोगों को सुनावेगा, जो मुक्त से संपूर्ण पढ़ा है ॥ ५९ ॥ अनन्तर महर्षि भृगु ने मनु की आज्ञा पाकर प्रसन्नचित्त होकर उन सब ऋषियों के प्रति कहा कि सुनिये ॥ ६० ॥ ” ✓

“ स्वायंभुवस्यास्य मनोः षड्वंश्यामनवोऽपरे ।

सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वामहात्मानोमहौजसः ॥ ६१ ॥

स्वारोचिषश्चौत्तमश्च तामसोरैवतस्तथा ।

चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च ॥ ६२ ॥ ”

अर्थ-इस स्वायंभुव मनु के वंश में उत्पन्न हुये छः मनु और हैं, उन बड़े पराक्रम वाले महात्माओं ने अपनी २ सृष्टि उत्पन्न की थीं ॥ ६१ ॥ ( उन के नाम ) स्वरोचिष १ औत्तम २ तामस ३ रैवत ४ चाक्षुष ५ और विवस्वत ६ ये छः बड़े कान्ति वाले हैं ॥ ६२ ॥ ”



“स्वायंभुवाद्याः सप्तैते मनवोभूरितेजसः ।

स्वेस्वेन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्यापुश्चराचरम् ॥ ६३ ॥”

अर्थ—“स्वायंभुव आदि सात मनु बड़े तेजस्वी हुये जिन्होंने ने अपने अपने अधिकार में संपूर्ण चर अचर सृष्टि को उत्पन्न करके बालन किया” ॥ (५८ से ६३ तक ६ श्लोक असत्य जान पड़ते हैं। ५८ वें में मनु का यह कहना असम्भव है कि मैंने यह शास्त्र परमात्मा से ग्रहण किया। यदि वेदों का तात्पर्य लेकर बनाये हुये को भी ईश्वरीय कहें तो न्यायशास्त्रादि सब ग्रन्थ परमेश्वर से ही ऋषियों ने पढ़े मानने पड़ेंगे। और मनु का ऋषियों से यहां तक अविच्छिन्न संवाद चला आता है इस लिये यह वाक्य भृगु की ओर से नहीं माना जा सकता। और ५८ में यह कहकर कि “मैंने परमात्मा से पढ़ा और फिर मरीच्यादि को पढ़ाया” ५९ वें में आगे यह कथन है कि “सो मेरा पढ़ाया हुवा शास्त्र भृगु तुम को सुनावेगा” इस से भी मनु का ही ऋषियों से संवाद चलता रहना पाया जाता है। किन्तु ये श्लोक, बनाने वाले ने इस ग्रन्थ की अपौरुषेयता सिद्ध करने और यह सिद्ध करने को कि मैंने साक्षात् मनु से पढ़ा, बनाये हैं। आगे ६१। ६२। ६३ श्लोकों में यह वर्णन है कि स्वायंभुव के वंश में छः और मनु हुये थे, जिन्होंने ने अपने २ समय में चराचर जगत् बनाये और पाले। इस से यह झलकता है कि श्लोककर्ता से पूर्व छः मन्वन्तर बीत चुके थे। तौ छः मन्वन्तर बीतने पर इस भृगु को उपदेश करने स्वायंभुव मनु कहां से आया। इन श्लोकों का यह कहना भी असत्य है कि मनु के वंश में कोई देहधारी मनु नामक मनुष्य हुये और उन्होंने ने अपनी २ प्रजा बनायीं। ७१ चतुर्युगियों का १ मन्वन्तर आगे श्लोक ७९ में कहेंगे। फिर कोई राजा इतने दिनों तक कैसे वर्तमान रह सकता है। पुराणों ने सत्ययुग में एक लक्ष, त्रेता में १० सहस्र, द्वापर में १ सहस्र और कलि में १०० वर्ष की आयु लिखी है। यह भृगु तो उससे भी आगे बढ़ गया। मन्वन्तर किसी पुरुष का नाम भी नहीं है किन्तु जैसे सत्ययुग आदि चार युग काल की संज्ञा हैं वैसे मन्वन्तर भी आगे ७९ वें श्लोक में कहे प्रमाण ७१ चतुर्युगियों के बराबर काल की संज्ञा है। काल के नाम पर राजा का नाम संभव मानें तो भी एक मनु के वंश में दूसरा मनु कैसे रहे। और इतने दीर्घकाल तक एक २ पुरुष की आयु कैसे रहे। क्योंकि ६३ वें श्लोक में (स्वे स्वेन्तरे) कहा है कि अपने २ काल के



अन्तर ( मन्वन्तर ) में उस २ मनु ने अपनी २ प्रजा रची और पाली। और मन्वन्तर का वर्णन काल के विभागों ( निमेष से लेकर ) को बतलाते हुये ७९ वें श्लोक में आवेगा। फिर निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त, दिन, रात, वर्ष, युग इत्यादि के पश्चात् वर्णन करने योग्य मन्वन्तर का यहां प्रथम ही वर्णन करना असङ्गत और पुनरुक्त भी है। श्लोक ५९ में ( अशेषतः ) ( सर्वम् ) ( अखिलम् ) यह तीन पद एक ही अर्थ में पुराणों की शैली के से व्यर्थ भी हैं ) ॥ ६३ ॥

निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत् ताः कला ।

त्रिंशत्कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः ॥ ६४ ॥

अर्थ—( सृष्टि का समय जानने के लिये समय की संज्ञा निरूपण करते हैं ) आंख की पलक गिरने के समय का नाम निमेष है, अठारह निमेष की १ काष्ठा होती है, तीस काष्ठा की १ कला, तीस कला का १ मुहूर्त, तीस मुहूर्त का १ दिन रात होता है ॥ ६४ ॥

अहोरात्रे विभजते सूर्योमानषदैविके । रात्रिः स्वप्नाय भूतानां  
चेष्टायै कर्मणामहः ॥ ६५ ॥ पितृये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तु  
पक्षयोः । कर्मचेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी ॥ ६६ ॥

अर्थ—सूर्य, मनुष्य देव सम्बन्धी रात दिन का विभाग करता है, उस में मनुष्यादि के शयन को रात्रि और कर्म करने को दिन है ॥ ६५ ॥ ( मनुष्य ) के एक मास का १ रात्रिदिन पितरों का होता है, उस में कृष्णपक्ष दिन कर्म करने के लिये और शुक्लपक्ष रात्रि शयन के लिये है ॥ ६६ ॥

दैवेरात्र्यहनीवर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः । अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः  
स्यादक्षिणायनम् ॥ ६७ ॥ ब्राह्मस्य तु क्षपाऽहस्य यत्प्रमाणं  
समासतः । एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तान्निबोधत ॥ ६८ ॥

अर्थ—मनुष्यों के एक वर्ष में देवों का रात्रि दिवस होता है, फिर उन का विभाग यह है कि उस में उत्तरायण दिन है और दक्षिणायण रात्रि है ॥ ( पितरों की दिनरात्रि का तात्पर्य चन्द्रलोक वालों की दिनरात्रि है । उपनिषदों में पितृगति को चन्द्रलोक की गति और दैवगति को सूर्यलोक की गति करके कहा है । सूर्य की परिक्रमा पृथिवी एकवर्ष में करती है, इस विचार से सूर्यापेक्षया उत्तरायण प्रकाश की वृद्धि से दैव दिन और दक्षिणायन प्रकाश



की घटती से दैवी रात्रि माना गया है । चन्द्रलोक पृथिवी की परिक्रमा एक मास में करता है इस से चन्द्र=पितृलोक की १५ दिन की १ रात्रि और १५ दिन का १ दिन कहा है ) ॥ ६७ ॥ अब ब्राह्म रात्रि दिवस और ( कृत त्रेता द्वापर कलि ) प्रत्येक युगों का भी परिमाण क्रम से सुनो ॥ ६८ ॥

चत्वार्षाहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम् । तस्य तावच्छती  
संध्या संध्यांशश्च तथाविधः ॥ ६९ ॥ इत्येषु ससंध्येषु ससंध्यांशेषु  
च त्रिषु । एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ ७० ॥

अर्थ - (मनुष्यों के ३६० वर्ष का १ दैव वर्ष, ऐसे) चार हजार वर्ष की कृत युग कहते हैं और उस की सन्ध्या (युग का पूर्वकाल) चार सौ वर्ष का होता है और सन्ध्यांश (युग का पर काल) भी चार सौ वर्ष का होता है । (सन्ध्या और सन्ध्यांश मिल कर कृतयुग ४८०० दैव वर्ष का होता है ) ॥ ६९ ॥ अन्य तीन (त्रेता द्वापर कलि) की सन्ध्या और सन्ध्यांश के साथ जो संख्या होती है वह क्रम से सहस्र में की और शत में की एक एक संख्या घटाने से तीनों की संख्या पूरी होती है । जैसे कृतयुग ४८०० = १७२८००० त्रेता ३६०० = १२९६००० द्वापर २४०० = ९६४००० कलि १२०० = ४३२००० ) ॥ ७० ॥

यदेतत्परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम् । एतद्द्वादशसाहस्रं  
देवानां युगमुच्यते ॥ ७१ ॥ दैविकानां युगानां तु सहस्रं परि-  
संख्यया । ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावती रात्रिरेव च ॥ ७२ ॥

अर्थ - यह जो प्रथम गिनाये, इन्हीं चार युगों को बारह हजार १२००० गुणा करके १ दैव युग कहाता है ॥ ७१ ॥ दैव सहस्र युगों का ब्रह्मा का एक दिन और सहस्रयुगों की रात्रि ( अर्थात् दैव दो सहस्रयुग होने से ब्रह्मा का रात्रि दिन होता है । दैव १२००० वर्ष का एक युग, इसे १००० गुणा करने से १२०००००० दैव वर्ष का १ ब्राह्म दिन हुवा । इसे ३६० गुणा करने से ४३२००००००० मानुष वर्षों का ब्राह्म दिन और इतनी ही रात्रि हुई ) ॥ ७२ ॥

तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः । रात्रिं च तावतीमेव  
तेऽहोरात्रविदोजनाः ॥ ७३ ॥ तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रति-  
बुध्यते । प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदऽसदात्मकम् ॥ ७४ ॥



अर्थ-सहस्र युग से अन्त अर्थात् समाप्ति है जिस की उसे ब्रह्मा का पुरय  
विस और उतनी ही रात्रि की वे अहोरात्रज्ञ जानते हैं ॥१३॥ पूर्वोक्त अहोरात्र  
के अन्त में वह ( ब्रह्मा ) सोते से जाग्रत होता है और जागकर संकल्पवि-  
कल्पात्मक मन को उत्पन्न करता है ॥ १४ ॥

मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया । आकाशं जायते  
तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः ॥७५॥ आकाशात्तु विकुर्वाणात्सर्व-  
गन्धवहः शुचिः । बलवान् जायते वायुः स वै स्पर्शगुणो मतः ॥७६॥

अर्थ-( परमात्मा की ) रचने की इच्छा से प्रेरित किया हुआ मन सृष्टि को  
विकृत करता है, मनस्तत्त्व से आकाश उत्पन्न होता है, उस के गुण को शब्द  
कहते हैं ॥ १५ ॥ आकाश के विकार से सब गन्ध को लेचलने वाला पवित्र  
बलवान् वायु उत्पन्न होता है, वह स्पर्श गुण वाला माना है ॥ १६ ॥

वायोरपि विकुर्वाणाद्विरोचिष्णु तमोनुदम् । ज्योतिरुत्पद्यते  
आस्वत्तदरूपगुणमुच्यते ॥७७॥ ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापोरस  
गुणाः स्मृताः । अद्वयगन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः ७८

अर्थ-वायु के विकार से तम का नाश करने वाला प्रकाशित चमकीला  
अग्नि उत्पन्न होता है, उस का गुण रूप है ॥ १७ ॥ अग्नि के विकार से जल  
उत्पन्न होता है जिस का गुण रस है और जल से पृथिवी, जिस का गुण गन्ध  
है । प्रथम से सृष्टि का यह क्रम है ॥ १८ ॥

यत्प्राग्द्वादशासहस्रमुदितं दैविकं युगम् । तदेकसप्ततिगुणं  
मन्वन्तरमिहोच्यते ॥७९॥ मन्वन्तराण्यसंख्यानं सर्गः संहार  
एव च । क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठो पुनः पुनः ॥ ८० ॥

अर्थ-पूर्व जो बारह सहस्र वर्ष का दैव युग कहा था, ऐसे एकहत्तर युग  
का एक मन्वन्तर होता है ॥१९॥ मन्वन्तर असंख्य हैं । सृष्टि और संहार=  
प्रलय भी असंख्य हैं । इन को बारबार प्रजापति कीड़ावत् ( बिना श्रम )  
ही किया करता है ॥ ८० ॥

“चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यश्चैव कृते युगे । नाधर्मेणागमः कश्चि-  
न्मनुष्यान् प्रतिवर्तते ॥ ८१ ॥ इतरेष्वगमाद्धर्मः पादशस्त्वऽव



रोषितः । चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः ॥ ८२ ॥ ”

“ अर्थ-सत्ययुग में धर्म पूर्ण चतुष्पाद् और सत्य रहता है क्योंकि तब अधर्म से मनुष्यों को धन प्राप्त नहीं होता ॥ ८१ ॥ इतर (तीन-त्रेता द्वापर कलि) में वेद से प्रतिपादित धर्म क्रमशः चौथाई घटता है । चोरी, झूठ, साया; इन से धर्म चौथाई २ क्षीण होता है ॥ ८२ ॥ ”

“अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः । कृते त्रेतादिषु ह्येषामायु-  
हसति पादशः ॥ ८३ ॥ वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाश्लेषश्चैव  
कर्मणाम् । फलन्त्यनुयुगं लोके प्रभावश्च शरीरिणाम् ॥ ८४ ॥ ”

“ अर्थ-सत्ययुग में सब रोगरहित होते हैं और संपूर्ण मनोरथ पूरे होते हैं । आयु ४०० वर्ष की होती है । आगे त्रेतादि में इन की चौथाई २ आयु घटती है ॥ ८३ ॥ मनुष्यों की वेदानुकूल आयु, कर्मों के फल और शरीरधारियों के प्रभाव, सब युगानुकूल फलते हैं ॥ ८४ ॥ ”

“अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे । अन्ये कलियुगे नृणां  
युगहासानुरूपतः ॥ ८५ ॥ तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमु-  
च्यते । द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥ ८६ ॥ ”

“ अर्थ-युगों की हीनता के अनुसार मनुष्यों के धर्म सत्ययुग के और हैं, त्रेता के दूसरे हैं, द्वापर के अन्य और कलियुग के और ही हैं ॥ ८५ ॥ कृतयुग में तप मुख्य धर्म है, त्रेता में ज्ञान प्रधान है, द्वापर में यज्ञ कहते हैं और कलि में एक दान ही प्रधान है ॥ ”

( ८१ से ८६ तक छः श्लोक भी प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं । क्योंकि मनु सा धर्मात्मा सत्यवादी पुरुष ऐसा असत्य लिखे, सो संभव नहीं प्रतीत होता । जैसा कि ८१ श्लोक में कहा है कि सत्ययुग में धर्म पूरा होता है, अधर्म की मनुष्यों में प्रवृत्ति नहीं होती । यह बात प्रथम तो “ काल क्या वस्तु है ” इस बात पर विचार करने से ज्ञात हो सकती है:—

अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि ॥

वैशेषिकदर्शन अ० २ आ० २

पहले, पीछे, एक साथ और शीघ्र; ये ४ काल के चिह्न हैं । इन में धर्म वा अधर्म में प्रवृत्त करना काल का काम नहीं । तथा यह इतिहासप्रमाण के



भी विरुद्ध है कि सत्ययुग में अधर्म न हुवा हो। इतिहासों के विचार से ज्ञात होता है कि सब युगों में पापी पुण्यात्मा देव असुर इत्यादि होते रहे हैं। और यह लेख मनु के ही पूर्व लेख के प्रतिकूल है। मनु में पूर्व श्लोक २६ में लिखा है कि प्रजा प्रथम धर्माधर्म सुख दुःख से युक्त हुई। तो सृष्टि के आरम्भ में पहले सत्ययुग होता है उस में अधर्म और दुःख कैसे उत्पन्न हुवे ? श्लोक २९ में हिंसक अहिंसक, मृदु क्रूर, धर्माधर्म, सत्यासत्य थे, तो सत्ययुग में क्यों थे ? इत्यादि प्रकार से और इस कारण से भी कि युगों की व्याख्या श्लोक ६९। ७० में हो चुकी, मनु जी युग में धर्माधर्म का प्रभाव बताते तो उसी के आगे लिखते। अतः ये श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं। ८२ वें में त्रेता में चोरी, द्वापर में असत्य और कलि में लाल होना बताना भी पूर्वोक्त कारणों से माननीय नहीं। ८३ में सत्ययुग में सब का नीरीग रहना बताना भी उक्त कारणों से अग्राह्य है। ८४। ८५ और ८६ में जो काल के प्रभाव लिखे हैं, वे भी उक्त प्रकार से शास्त्रों, इतिहासों और मनुवचनों से भी विरुद्ध हैं। श्लोक ८० का ८१ के साथ संबन्ध भी ऐसा ठीक मिलता है, जिस से बीच के ६ श्लोक अनावश्यक जान पड़ते हैं) ८६

**सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं समहादातिः। मुखब्राह्मरूपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत् ॥ ८७ ॥ अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ ८८ ॥**

अर्थ—उस महातेजस्वी ने इस सब सृष्टि की रक्षार्थ ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रों के कर्मों को पृथक् २ बताया ॥ ८७ ॥ ब्राह्मणों के षट् कर्म—पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, कराना, दान देना और लेना बताये हैं ॥ ८८ ॥

**प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च। विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ ८९ ॥ पशूनां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च। वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ ९० ॥**

अर्थ—प्रजा की रक्षा, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना और विषयों में न फंसना; ये संक्षेप से क्षत्रिय के कर्म हैं ॥ ८९ ॥ पशुओं का पोषण, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार करना, व्याज लेना और खेती; ये वैश्य के हैं ॥ ९० ॥

**एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्। एतेषामेव वर्णानां**



शुश्रूषामनसूयया ॥ ६१ ॥ ऊर्ध्वं नाभेर्मध्यतरः पुरुषः परि-  
कीर्तितः । तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयंभुवा ॥ ६२ ॥

अर्थ-प्रभु ने शूद्रों का एक ही कर्म बताया कि इन ( तीनों ) वर्णों की निन्दारहित (जिस में कोई निन्दा नहीं) सेवा करनी ॥६१॥ पुरुष नाभि के ऊपर पवित्रतर कहा है, इस से परमात्मा ने उस का मुख उस से भी पवित्र कहा है ॥६२॥

उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद्ब्राह्मणश्चैवधारणात् । सर्वस्यैवास्य सर्ग-  
स्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ६३ ॥ तं हि स्वयंभूः स्वादास्यात्तपस्तत्त्वा-  
ऽऽदितोऽसृजत् । हव्यकव्याभिवाह्याय सर्वस्याऽस्य च गुप्तये ॥ ६४ ॥

अर्थ-उत्तमाङ्गोद्भव (मुखतुल्य होने) और ज्यैष्ठ्यता और वेद के धारण कराने से ब्राह्मण सम्पूर्ण जगत् का धर्म से प्रभु है ॥६३॥ क्योंकि ब्राह्मण को परमात्मा ने देवता और पितरों के हव्य कव्य पहुंचाने और सम्पूर्ण जगत् की रक्षा के लिये ( ज्ञानमय ) तप करके (स्वस्वामिभाव से) अपने मुख से उत्पन्न किया है ॥

(देवता-वायु आदि और पितर-चन्द्रकिरणादि को हव्य कव्य नासक पदार्थ अग्नि में होमे जाते हैं, उसे यज्ञ कहते हैं। यज्ञ कराना ब्राह्मण का कर्म बताया जा चुका है। इस लिये हव्य कव्य पहुंचाने का काम ब्राह्मणों का हुवा। "परमात्मा ने अपने मुख से रचा" इस का तात्पर्य श्लोक ८८ के अनुसार यही है कि पढ़ना मुख से, पढ़ाना मुख से, यज्ञ करने कराने में वेदपाठ मुख से, दान और आदान का वाक्य उच्चारण करना, प्रायः ये सब काम मुख से ब्राह्मण करता है। परमात्मा ने वेद द्वारा जो धर्मोपदेश किया है सो भी ब्राह्मण ऋषियों के मुख द्वारा किया है। यथार्थ में परमात्मा तौ [सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् । श्रेता० इत्यादि प्रमाणों से] मुखादिरहित ही है) ॥ ६४ ॥

यस्यास्येन सदाऽश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः । कव्यानि चैव पि-  
तरः किंभूतमधिकं ततः ॥ ६५ ॥ भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां  
बुद्धिजीविनः । बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥ ६६ ॥

अर्थ-हवन में जिस के मुख से ( मुखोच्चारित मन्त्र के साथ ) त्रिदिवौ-  
कस् (पृथिवी अन्तरिक्ष दिव के रहने वाले निरुक्तोक्त वायु आदि) देवता हव्यों  
और पितर कव्यों को पाते हैं, उस से अधिक कौन प्राणी होगा ॥६५॥ भूतों



(त्यावर जङ्गलों) में प्राणी (कीटादि) श्रेष्ठ हैं, इन में भी बुद्धि जीवी (पञ्चादि), इन सब में मनुष्य श्रेष्ठ है और मनुष्यों में ब्राह्मण ॥ ९६ ॥

ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः । कृतबुद्धिषु कर्तारः  
कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥ ९७ ॥ उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य  
शाश्वती । स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ९८ ॥

अर्थ-ब्राह्मणों में अधिक विद्यायुक्त श्रेष्ठ हैं, विद्वानों में जन की श्रौतीकृत कर्मों के विषय कर्तव्यबुद्धि हो, और उन से करने वाले और करने वालों से ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ हैं ॥ ९७ ॥ ब्रह्मज्ञ की उत्पत्ति ही धर्म की शाश्वत मूर्ति है, क्योंकि वह (ब्राह्मण) धर्मार्थ उत्पन्न हुवा है । मोक्ष का अधिकारी है ॥

(ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य द्विज कहाते हैं अर्थात् इन का जन्म एक बार माता के गर्भ से, दूसरा जन्म गावत्री माता और गुरु पिता से होता है, यह द्विज कहाने का अधिकारी यथार्थ में दूसरे जन्म से होता है, इसलिये यहां ब्राह्मण की उत्पत्ति का तात्पर्य दूसरे विद्यासम्बन्धी जन्म से है) ॥ ९८ ॥

ब्राह्मणोजायमानो हि पृथिव्या मधि जायते । ईश्वरः सर्वभूतानां  
धर्मकोशस्य गुप्तये ॥ ९९ ॥ सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किञ्चिज्ज-  
गतीगतम् । श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽहति ॥ १०० ॥

अर्थ-ब्राह्मण का उत्पन्न होना ही पृथ्वी में श्रेष्ठ होता है, क्योंकि संपूर्ण जीवों के धर्मरूपी खजाने की रक्षार्थ वह प्रभु है (अर्थात् धर्म का उपदेश ब्राह्मण द्वारा ही होता है) ॥ ९९ ॥ जो कुछ जगत के पदार्थ हैं वे सब ब्राह्मण के हैं । ब्रह्मोत्पत्तिरूप श्रेष्ठता के कारण ब्राह्मण सम्पूर्ण को ग्रहण करने योग्य है ॥ (यह ब्राह्मण की प्रशंसा है कि सम्पूर्ण को ब्राह्मण अपने सा जाने किन्तु ब्राह्मण यह नहीं समझे कि पराये धन की चोरी आदि से ग्रहण कर लें । क्योंकि ब्राह्मणों की भी चोरी का दण्ड आगे लिखा है) ॥ १०० ॥

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च ।

आनृशंस्याद्ब्राह्मणस्य भुञ्जते होतरे जनाः ॥ १०१ ॥

“तस्य कर्म विवेकार्थं शेषाणामनुपूर्वशः ।

स्वायंभुवोमनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत् ॥ १०२ ॥”



अर्थ—( जो कि ) ब्राह्मण ( दूसरे का भी दिया अन्न ) भोजन करे या (दूसरे का दिया वस्त्र) पहिने या (दूसरे का दिया लेकर और को) देवे, सो सब ब्राह्मण का अपना ही है । अन्य लोग जो भोजनादि करते हैं वे केवल ब्राह्मण की कृपा से ॥ (तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण के द्धर्मों में व्यापारादि करना, धन कमाना नहीं कहा, केवल दान और यज्ञ कराने आदि कार्यों में दक्षिणा लेना ही उस की जीविका है । इस पर कोई कदाचित् यह समझे कि ब्राह्मण "संत मेंत खावा" (मुक्तखोर) रहे, सो नहीं किन्तु ब्राह्मण धर्मानुसार सब जगत् की बला कर जगत् का उपकार करना है और इस से अर्थ (धनादि) प्राप्त होते हैं तो एक प्रकार से धर्मोपदेष्टा होने से सब जगत् की कमाई का ब्राह्मण प्रधान सहायक होने से किसी को यह न समझना चाहिये कि ब्राह्मण व्यर्थभोजी ( मुक्तखोर ) है, किन्तु सब को ब्राह्मण के मुख्य कर्म धर्मोपदेश से जीविका है, यही उस की कृपा जानो, परन्तु यह प्रशंसा जन्ममात्र के ब्राह्मणब्रुवों की नहीं । ऐसा यथार्थ ब्राह्मण बड़े तप से कभी कठिन से कोई हो पाता है) ॥१०१॥ "उस ब्राह्मण के और शेष सत्रियादि के भी कर्म क्रमशः जानने के लिये बुद्धिमान् स्वायंभुव मनू ने यह धर्मशास्त्र बनाया ॥ १०२ ॥ "

"विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः । शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यङ् नान्येन केनाचित् ॥ १०३ ॥ इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणः शंसितव्रतः । मनोवाग्देहजैर्नित्यं कर्मदोषैर्न लिप्यते" ॥ १०४ ॥

"अर्थ—विद्वान् ब्राह्मण को यह धर्मशास्त्र पढ़ना और शिष्यों को पढ़ाना योग्य है, परन्तु अन्य किसी को नहीं ॥ १०३ ॥ इस शास्त्र को पढ़ा, इस शास्त्र की आज्ञानुसार कर्म करने वाला, ब्राह्मण जन वाणी और देह से उत्पन्न होने वाले पापों से लिप्त नहीं होता ॥ १०४ ॥ "

"पुनाति पङ्क्तिं वंश्यांश्च सप्त सप्त परावरान् । पृथिवीमपि चैवेमां कृत्स्नामेकोपि साऽर्हति ॥ १०५ ॥ इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठमदं बुद्धिविवर्धनम् । इदं यशस्यमायुष्यमिदं निःश्रेयसं परम्" ॥ १०६ ॥

"अर्थ—अपवित्र पांति को ( इस धर्मशास्त्र का जानने वाला ) पवित्र कर देता है और अपने वंश के सात पिता प्रपिता आदि और सात पुत्रादि क्रम से इन सब १४ को पवित्र कर देता है तथा इस सम्पूर्ण पृथिवी को भी



यह ( लेने ) योग्य है ॥ १०५ ॥ यह शास्त्र कल्याण देने वाला और बुद्धि का बढ़ाने वाला तथा यश का देने वाला और आयु का बढ़ाने वाला है और मोक्ष का भी सहायक है ॥ १०६ ॥ ”

“ अस्मिन्धर्मोखिलेनोक्तोगुणदोषौ च कमर्णाम् ।

चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः ” ॥ १०७ ॥

“ अर्थ—इस (स्मृति) में सम्पूर्ण धर्म कहा है और कर्मों के गुण दोष तथा चारों वर्णों का शाश्वत ( परम्परा से होता आया ) आचार भी कथन किया है ॥ १०७ ॥ ”

10/ [ आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च ।

तस्मादस्मिन्सदायुक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः ॥ १०८ ॥

अर्थ—श्रुति ( वेद ) और स्मृति में कहा हुआ आचार परम धर्म है । इस स्मृतिये अपना कल्याण चाहने वाला द्विज सदा आचारयुक्त रहे ॥ १०८ ॥

[ आचाराद्विज्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते । आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभागवेत् ॥ १०९ ॥ एवमाचारतोदृष्ट्वा धर्मस्य मुन्योगतिम् । सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥ ११० ॥

अर्थ—आचार से छूटा हुआ विप्र वेद के फल को नहीं पाता और जो आचार से युक्त है, वह सम्पूर्ण के फल का भागी होगा ॥ १०९ ॥ मुनियों ने आचार से धर्म की प्राप्ति इस प्रकार से देख कर धर्म के परम मूल आचार को ग्रहण किया था ॥ ११० ॥

“ जगतश्च समुत्पत्तिं संस्कारविधिमेव च । व्रतचर्योपचारं च स्नानस्य च परं विधिम् ॥ १११ ॥ दाराऽधिगमनं चैव विवाहानां च लक्षणम् । महायज्ञविधानं च श्राद्धकल्पश्च शाश्वतः ” ॥ ११२ ॥

“ अर्थ—जगत् की उत्पत्ति ( प्रथम अध्याय में कही है ) और संस्कारों की विधि और ब्रह्मचारियों के व्रतधारण और स्नान की परम विधि ॥ १११ ॥ तथा गुरु के अभिवादन का प्रकार और उपासनादि ( दूसरे अध्याय में लिखे हैं ) गुरु के पास से विद्याभ्यास कर स्त्रीगमन और [ ब्राह्मादि ८ ] विवाहों का लक्षण, महायज्ञविधि और श्राद्धकल्प जो \* अनादि समय से चला आता है ( तीसरे अध्याय का विषय ) है ” ॥ ( श्राद्ध को ही \* अनादि



काल से सनातन करके लिखा है । इस से सूची बनाने वाले को यह शङ्का भलकती है कि कोई इसे नवीन न समझे ॥ ११२ ॥ ”

“वृत्तीनां लक्षणं चैव स्नातकस्य व्रतानि च । भक्ष्याभक्ष्यं च शौचं च द्रव्याणां शुद्धिमेव च ॥ ११३ ॥ स्त्रीधर्मयोगं तापस्यं मोक्षं संन्यासमेव च । राज्ञश्च धर्ममखिलं कार्याणां च विनिर्णयम्” ॥ ११४ ॥

“अर्थ-वृत्तियों के लक्षण और स्नातक के व्रत (चतुर्थ अध्याय में) भक्ष्य अभक्ष्य, शौच, द्रव्यों की शुद्धि ॥११३॥ स्त्रियों का धर्मोपाय (पांचवें अध्याय में) वानप्रस्थ आदि तपस्वियों का धर्म और मोक्ष तथा संन्यासधर्म (षष्ठाध्याय में) और राजा का संपूर्ण धर्म (सप्तमाध्याय में) और कार्यों का निर्णय (सुकृद्दमों की छान बीन) ॥ ११४ ॥ ”

“साक्षिप्रभविधानं च धर्मं स्त्रीपुंसयोरपि । विभागधर्मं द्यूतश्च कण्टकानां च शोधनम् ॥ ११५ ॥ वैश्यशूद्रोपचारं च संकीर्णानां च सम्भवम् । आपद्धर्मश्च वर्णाणां प्रायश्चित्तविधिं तथा ॥ ११६ ॥ ”

“अर्थ-साक्षिप्रभ [गवाहों से सवाल] (अष्टमाध्याय में) स्त्री पुरुष के धर्म और विभाग [हिस्सा] तथा जुवारी चोर इत्यादि का शोधन ॥११५॥ वैश्य शूद्रों के धर्म का अनुष्ठान प्रकार (नवमें अध्याय में) वर्णसङ्करों की उत्पत्ति और वर्णों का आपद्धर्म (दशमाध्याय में) और प्रायश्चित्तविधि (एकादश में) ॥११६॥ ”

“संसारगमनं चैव त्रिविधं कर्मसम्भूतम् । निःश्रेयसं कर्मणां च गुणदोषपरीक्षणम् ॥ ११७ ॥ देशधर्माजातिधर्मान्कुलधर्माश्च शाश्वतान् । पाषण्डगणधर्माश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान्मनुः ॥ ११८ ॥ ”

“अर्थ-देहान्तरप्राप्ति जो तीन प्रकार के कर्म (उत्तम मध्यम अधम) से होती है और मोक्ष का स्वरूप और कर्मों के गुण दोष की परीक्षा (द्वादश में) ॥११७॥ देशधर्म (जो प्रचार जिस देश में बहुत काल से चला आता है) और जो धर्म जाति में नियत है और जो कुल परम्परा से चला आता है और पाषण्ड (वेद शास्त्र में निषिद्ध कर्म) और गणधर्म इस शास्त्र में \* मनु ने कहे हैं ॥ ११८ ॥ ”

\* इस से स्पष्ट है कि ये श्लोक अन्य ने संपादित करके कभी सूचीपत्र बनाया है ॥



“ यथेदमुक्तवान्शास्त्रं पुरा पृष्ठोमनुर्मया ।

तथेदं यूयमप्यद्य मत्सकाशान्निबोधत ॥ ११९ ॥ ”

इति मानवे धर्मशास्त्रे ( भृगुप्रोक्तायां संहितायां )

प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

“ अर्थ-जिस प्रकार मनु जी से पूर्व मैंने पूछा तब यह शास्त्र उन्होंने ने उपदेश किया । उसी प्रकार अब आप मुझ से सुनिये ॥ ”

( १०२ वां श्लोक इस पुस्तक के सम्पादक का वचन है । मनु का नहीं । यह श्लोक ही से स्पष्ट पाया जाता है ॥ १०३ में इस ग्रन्थ पर ब्राह्मणों का अधिकार जमाना पक्षपात है । अन्यत्र यह कहीं नहीं लिखा कि स्मृति पर ब्राह्मणों का ही अधिकार है । जो ग्रन्थ शूद्र को वेदाध्ययन का निषेध भी लिखते हैं वे भी शूद्र को स्मृति पढ़ने का निषेध नहीं करते और द्विजमात्र को तौ वेद के अधिकार में भी कोई नवीन वा प्राचीन ग्रन्थ निषेध नहीं करता, फिर यह पक्षपात नहीं तौ क्या है ॥ १०४ में इस ग्रन्थ के पढ़ने से पापों का नाश लिखा है और कर्मदोष न लगना कहा है, वह भी ग्रन्थ की अत्युक्ति करके प्रशंसा है ॥ १०५, १०६ में भी यही बात है ॥ १०७ वें श्लोक में इस ग्रन्थ के संपादक ने इस ग्रन्थ का सूचीपत्र आरम्भ किया परन्तु १०८ से ११० तक ३ श्लोकों में धर्मशास्त्र की आज्ञा है और १११ से फिर सूचीपत्र है जो ११८ तक चला गया है ॥ ११९ में पुस्तक का संपादक कहता है कि मैंने मनु से जैसे सुना वैसे मैं आप को सुनाता हूं । सो सम्पादक का मनु के समकाल होना तौ असम्भावित है । हां, मनु के धर्मशास्त्र से जो कि पूर्व सूत्ररूप में था, इस महापुरुष ने उस मूल से आशय लिया हो और वही मनु से सुनना समझा जाय तौ दूसरी बात है ॥ ११९ ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिकृते मनुस्मृतिभाषानुवादे

प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥



ओ३म्

## अथ द्वितीयोऽध्यायः

(विद्वद्विःसेवितःसद्विर्नित्यमद्वेषरागिभिः । हृदयेनाभ्यनुज्ञातो  
यो धर्मस्तं निबोधत ॥१॥) कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहा-  
स्त्यकामता । काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥२॥

अर्थ-वेद के जानने वाले और रागद्वेषादि से रहित महात्माओं ने जिस  
धर्म का सेवन किया और हृदय से जिस को अच्छे प्रकार जाना, उस धर्म को  
सुनो ॥१॥ न तो कामात्मा होना और न केवल निष्काम होना ही अच्छा है  
क्योंकि वेद की प्राप्ति और वेदोक्त कर्मानुष्ठान कामना करने के ही योग्य हैं ॥२॥

(संकल्पमूलःकामो वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः । व्रतानियमधर्माश्च  
सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥३॥) अकामस्य क्रियाकाचिद् दृश्यते नेह  
कहिं चित् । यदाहि कुरुते किञ्चित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥४॥

अर्थ-( इस कर्म से यह इष्ट फल प्राप्त होगा, इस को संकल्प कहते हैं ।  
फिर जब पूरा विश्वास होता है तब ) संकल्प से उस के करने की इच्छा  
होती है । यज्ञादि सब संकल्प ही से होते हैं और व्रत, नियम, धर्म; ये सब  
संकल्प ही से होते हैं (अर्थात् संकल्प विना कुछ भी नहीं होता) ॥३॥ लोक (word)  
में भी कोई क्रिया (भोजन गमनादि) विना इच्छा कभी देखने में नहीं आती  
इस कारण जो कुछ कर्म पुरुष करता है, वह संपूर्ण काम ही से करता है ॥४॥

तेषु सम्यग्वर्त्तमानो गच्छत्यमरलोकताम् । यथासंकल्पितां  
श्रेह सर्वान्कामान्समश्नुते ॥५॥ (विदोऽखिला धर्ममूल स्मृति-  
शीले च तद्विदाम् । आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥६॥)

अर्थ-उन शास्त्रोक्त कर्मों में अच्छे प्रकार आचरण करने वाला अमरलोकता  
अर्थात् अविनाशी भाव को प्राप्त होता है । यहाँ संकल्प करता है वह संपूर्ण  
पदार्थ भी प्राप्त होते हैं ॥५॥ स्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्य-

18 20  
19 21  
22



वालों की स्मृति तथा शील भी धर्ममूल है। इसी प्रकार साधुजनों का आचार और आत्मा का सन्तोष भी धर्ममूल है ॥ ६ ॥

“यः कश्चित्कस्य चिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।

स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥ ६ ॥

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।

श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मं निविशेत् वै ॥ ८ ॥

अर्थ-“जिस वर्ण के लिये जो धर्म मनु ने कहा है, वह संपूर्ण वेद में कहा है क्योंकि वेद सब विद्याओं का भण्डार है ॥ अर्थात् सम्पूर्ण वेद को जान कर यह स्मृति बनाई, इस से सब स्मृतियों से इस की उत्कृष्टता दिखाई है ॥

इस ७ वें श्लोक में ग्रन्थ के सम्पादक ने मनु की प्रशंसा और वेदानुकूलता पुष्ट की है ॥ ७ ॥

(ग्रन्थकार कहता है कि) विद्वान् को चाहिये कि इस सब धर्मशास्त्र को ज्ञान की आंख से वेद के प्रमाण से जांचे और अपने धर्म में श्रद्धा करे ॥ ८ ॥

A.C. श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः । इह कीर्त्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ९ ॥ श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः । ते सर्वाथेष्वमीमांसे ताभ्यां धर्मो हि निर्वभौ ॥ १० ॥

(अर्थ-वेद और स्मृतियों में कहे धर्म को जो मनुष्य करता है, उस की यहां कीर्त्ति होती है और परलोक में अनुत्तम सुख की प्राप्ति होती है) ॥ ९ ॥ श्रुति वेद है और (मन्वादिकों का) धर्मशास्त्र स्मृति है। ये दोनों सम्पूर्ण अर्थों में निर्विवाद हैं, क्योंकि इन से धर्म का प्रकाश हुवा है ॥ १० ॥

योऽवमन्येत तेमूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ ११ ॥ विदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः । एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥

अर्थ-जो द्विज कुतर्कादि से इन (धर्ममूलों) का अपमान करे, वह साधुओं को निकाल देने योग्य है क्योंकि वेदनिन्दक नास्तिक है ॥ ११ ॥ (वेद=श्रुति, स्मृति (मन्वादिकों की), सदाचार=शीलादि और अपना सन्तोष; यह चार

लक्षण ) कहते हैं ॥ १२ ॥



A. C.

द्वितीयाध्याय

६१

(अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते। धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥ १३ ॥) श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ। उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥ १४ ॥

अर्थ-अर्थ और काम में जो पुरुष नहीं फंसे हैं उन को धर्मोपदेश का विधान है और जो पुत्र धर्म जानने की इच्छा रखते हैं उन को परम प्रमाण वेद है ॥ १३ ॥ श्रुतियों के जहां दो प्रकार हों (अर्थात् भिन्न भिन्न अर्थ का प्रतिपादन ही) वहां वे दोनों (तुल्य बल के कारण) धर्म हैं, दोनों विकल्प से अनुष्ठेय हैं। यह ऋषियों ने कहा है ॥ १४ ॥

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्यषिते तथा। सर्वथा वर्त्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥ १५ ॥ निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः। तस्य शास्त्राधिकारोऽस्मिन् ज्ञेयोनान्यस्य कस्यचित् ॥ १६ ॥

अर्थ-(पूर्व जो कहा कि श्रुतिभेद दोनों माननीय हैं, उस को यहां दिखाते हैं, जैसे-) उदित समय में अर्थात् सूर्य के प्रादुर्भाव के समय में, अनुदित उस के विरुद्ध और समयाध्यषित अर्थात् सूर्यनक्षत्ररहित काल में, सर्वथा यज्ञ (होम) होता है। यह वैदिकी श्रुति है अर्थात् वेदमूलक वाक्य सुनते हैं ॥ (श्लोक १५ के आगे ३० प्रकार के पुस्तकों में से ३ में ये दो श्लोक अधिक पाये जाते हैं:-

[श्रुतिं पश्यन्ति मुनयः स्मरन्ति तु यथास्मृतिः।

तस्मात्प्रमाणं मुनयः प्रमाणं प्रथितं भुवि ॥ १७ ॥

धर्मव्यतिक्रमो दृष्टः श्रेष्ठानां साहसं तथा।

तदन्वीक्ष्य प्रयुज्जानाः सीदन्त्यपरधर्मजाः ॥ १८ ॥ ]

हमारा तात्पर्य इन के लिखने से यह है कि लोग यह जान लें कि मनुस्मृति में पाठों की अधिकता अवश्य होती आई है ॥ १५ ॥ गार्भाधान से लेकर अन्त्येष्टिपर्यन्त जिस कर्म की वेदोक्त मन्त्रों ने विधि कही है उस कर्म का अधिकार (प्रकरण) इस (मानवधर्मशास्त्र) में जानिये, अन्य किसी का नहीं ॥ १६ ॥

सर्वस्वतोदृषद्वत्योर्देवनदोर्यदन्तरम्। तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते ॥ १७ ॥ तस्मिन्देसे य आचारः पारम्पर्य-



क्रमागतः । वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥ १८ ॥

अर्थ सरस्वती और दूषद्वती इन देवतियों के मध्य में जो देश है, वह देवतों से बनाया गया है, उस को ब्रह्मावर्त कहते हैं ॥ १७ ॥ उस देश में परंपरा से प्राप्त जो वर्ण ( अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ) और वर्णसङ्करों का आचार है, उस को सदाचार ( सदा का आचार ) कहते हैं ॥ ( १८ वें के आगे एक श्लोक मेधातिथि के भाष्य में पाया जाता है, अन्यत्र कहीं नहीं । वह यह है—

[विरुद्धा च विगीता च दृष्टार्था दिष्टकारणे ।

स्मृतिर्न श्रुतिमूला स्याद्या चैषासंभवश्रुतिः ॥ १ ॥]

इस से भी हमारा सन्देह पुष्ट होता है कि मनु में कुछ पीछे की मिलावट अवश्य है, और वेदविरुद्ध स्मृतियों का होना भी इस से पाया जाता है ॥ १८ ॥

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः । एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः ॥ १९ ॥ (एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः । स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥) २० ॥

अर्थ कुरुक्षेत्र और मत्स्य देश, पञ्चाल और शूरसेनक, यह ब्रह्मर्षि देश है, जो ब्रह्मावर्त से समीप है ॥ १९ ॥ (इन ( कुरुक्षेत्रादि ) देशों में उत्पन्न ब्राह्मण से पृथिवी के सम्पूर्ण मनुष्य अपने २ कामों की शिक्षा पावें ॥ २० ॥

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्ये यत्प्राग्निनशनादपि । प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥ २१ ॥ आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् । तयोरेवान्तरं गिर्यार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः ॥ २२ ॥

अर्थ—हिमवान् और विन्ध्याचल के बीच में जो सरस्वती के पूर्व और प्रयाग के पश्चिम में देश है उस को मध्यदेश कहते हैं ॥ २१ ॥ पूर्व समुद्र से पश्चिम के समुद्र तक और हिमाचल से विन्ध्याचल के बीच में जो देश है, उस को विद्वान् लोग आर्यावर्त कहते हैं ॥ २२ ॥

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः । स ज्ञेयो यज्ञियो देशो स्नेच्छदेशस्त्वतः परः ॥ २३ ॥ एतान् द्विजातयो देशान् संप्रयेरन् प्रयत्नतः । शूद्रस्तु यस्मिन्कस्मिन्वा निवसेद्वृत्तिकर्षितः ॥ २४ ॥



अर्थ-कृष्णसार मृग जहां स्वभाव से विचरता है (अर्थात् बलात्कार से न छोड़ा हो) वह यज्ञिय देश है (अर्थात् यज्ञ करने योग्य देश है) इस से परे जो देश है, वह स्नेच्छ देश है ॥२३॥ इस देश को द्विजाति लोग प्रयत्न के साथ आश्रय करें और शूद्र चाहे किसी देश में वृत्तिपीडित हुवा निवास करे ॥

(यद्यपि धर्मानुष्ठान मनुष्य के आधीन है, देश के आधीन नहीं, तथापि जिस देश में धर्मात्मा लोग अधिक रहते हैं, वहां धर्मानुष्ठान में बाधा कम होती है और धर्मानुष्ठान के साधन सुगमता से मिलते हैं, इस लिये देश का धर्म सम्बन्ध होजाता है। पूर्वजों ने स्वाभाविक ( नेचुरल ) रीति पर भी इस देश को अच्छा और यज्ञादि धर्मानुष्ठान के लिये उत्तम जान कर यहां ही रहना स्वीकार किया था। इसी से मनु ने १७ से २३ श्लोक तक धर्म के उपयोगी देश का वर्णन किया है और २३ वें में तो यज्ञयोग्य देश की पहचान ही बतलाई है कि " कृष्णसार " मृग, जिस का चर्म ऊपर से काला होता है, जिस देश में स्वभाव से उत्पन्न हों और विचरें, उस देश को जानो कि यह यज्ञयोग्य देश है, इस में वे बूटी उत्पन्न होती हैं, जिन से यज्ञानुष्ठान होता है) ॥२४॥

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता । संभवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत ॥२५॥ वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् । कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥२६॥

अर्थ-यह धर्म की योनि ( अर्थात् जानने का कारण ) और इस सब ( जगत् ) की उत्पत्ति तुम से संक्षेप से कही, अब वर्णधर्मों को सुनो ॥ २५ ॥ वैदिक जो पुण्य कर्म हैं उन से ब्राह्मणादि तीन वर्णों का ( गर्भाधानादि ) शरीरसंस्कार, जो दोनों लोक में पवित्र करने वाला है, करना चाहिये ॥२६॥

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीबन्धनैः । वैजिकं गार्भिकं चैनौ द्विजानामपमृज्यते ॥२७॥ स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्योनेज्यया सुतैः । महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ २८ ॥

अर्थ-गर्भाधान संस्कार, जातकर्म, चौड़ा कर्म और मौञ्जीबन्धन; इन में के होमों से द्विजों के गर्भ और बीज के दोषादि की शुद्धि होती है ॥२७॥ वेदत्रयी का पढ़ना, व्रत, होम, इज्याकर्म, पुत्रोत्पादनादि तथा पञ्च महायज्ञों और यज्ञों से यह तनु ब्राह्मी होती है ॥ (होम=पर्वादि समय का। इज्या=अग्निष्टोमादि। यज्ञ=पौर्णमासादि। व्रत=सत्यभावणादि) ॥ २८ ॥



प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते। मन्त्रवत्प्राशनं चास्य  
 हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥२९॥ नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य  
 कारयेत्। पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥ ३०॥  
 मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम्। वैश्यस्य धन-  
 संयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥ ३१॥ शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्वाज्ञो  
 रक्षासमन्वितम्। वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् ॥ ३२॥

अर्थ-नामि छेदने के पूर्व पुरुष का जातकर्म संस्कार करे और गृह्योक्त  
 वेदमन्त्रों से सुवर्ण मधु घृत का प्राशन करावे (चटावे) ॥ २९॥ दशवें या बारहवें  
 दिन नामकरण करे अथवा जब शुद्ध तिथि मुहूर्त ( २ घड़ी ) नक्षत्र हो ॥  
 ( इस का तात्पर्य साफ दिन और समय से है, जिस में मेघाच्छन्नादि दुर्दिन  
 न हो ) ॥ ३०॥ सुखवाचक शब्दयुक्त ब्राह्मण का नाम हो, क्षत्रिय का बलयुक्त,  
 वैश्य का धनयुक्त और शूद्र का दास्ययुक्त नाम होवे ॥ ३१ ॥ ब्राह्मण के नाम  
 शर्मा, क्षत्रिय के वर्मादि, वैश्य के भूतियुक्त और शूद्र के दासयुक्त रखे ॥ ३२॥

स्त्रीणां सुखोदमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम्। मङ्गल्यं दीर्घवर्णा-  
 न्तमाशीर्वादाभिधानवत् ॥ ३३॥ चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्नि-  
 ष्क्रमणं गृहात्। षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले ॥ ३४॥

अर्थ-और स्त्रियों का नाम सुख से उच्चारण करने योग्य हो, क्रूर न हो,  
 जिस के अक्षर स्पष्ट होवें और प्रीति का देने वाला और मङ्गलवाची, दीर्घ  
 स्वर जिस के अन्त में हो और आशीर्वादात्मक शब्द से युक्त हो, ऐसा रखे।  
 ( जैसे यशोदा देवी इत्यादि ) ॥ ३३ ॥ चतुर्थे मास में बालक को घर से बाहर  
 निकालने का संस्कार और छठे मास में अन्नप्राशन संस्कार करावे वा जिस  
 प्रकार कुलाचार हो उस समय करे ॥ ३४ ॥

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः। प्रथमेऽब्दे तृतीये वा  
 कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥ ३५॥ (गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्यो-  
 पनायनम्। गर्भादिकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे वि-  
 शः) ॥ ३६॥



## द्वितीयाध्याय

६५

अर्थ-ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य का चूडाकर्म धर्मानुसार प्रथम वा तीसरे वर्ष में वेद की आज्ञा से करना चाहिये ॥ ३५ ॥ (गर्भ से अष्टम वर्ष में ब्राह्मण का और गर्भ से एकादश में क्षत्रिय का और द्वादश में वैश्य का उपनयन करे ॥ ३६ ॥)

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे । राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे  
वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ ३७ ॥ (आषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री

नातिवर्तते । आद्वाविंशात्क्षत्रवन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः) ॥ ३८ ॥

अर्थ-वेदाध्ययन के अर्थज्ञानादि से बड़ा तेज ब्रह्मवर्चस कहा जाता है, उस की इच्छा करने वाले विप्र का पांचवें वर्ष में उपनयन करे और बलार्थी क्षत्रिय का छठे वर्ष और कृष्यादि कर्म की इच्छा वाले वैश्य का आठवें में उपनयन करे ॥ ३७ ॥ (सोलह वर्षपर्यन्त ब्राह्मण की सावित्री नहीं जाती और क्षत्रिय की बाईस वर्ष पर्यन्त, वैश्य की चौबीस वर्ष पर्यन्त) अर्थात् उपनयन काल की यह परमावधि है ॥ ३८ ॥

अतः ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः । सावित्रीपतिता  
ब्रात्याभवन्तर्यार्यविगर्हिताः ॥ ३९ ॥ नैतैरपूतैर्विधिवदापदापि हि  
कर्हिचित् । ब्राह्मणान्योनांश्च संबन्धानाचरेद्ब्राह्मणः सह ॥ ४० ॥

अर्थ-इस के उपरान्त ये तीनों सावित्रीपतित होजाते हैं, अपने अपने काल में उपनयन से रहित होने से इन की संज्ञा 'ब्रात्या' होती है और शिष्टों से निन्दित होते हैं ॥ ३९ ॥ इन अपवित्र ब्रात्यों के साथ जिन का प्रायश्चित्तादि विधिपूर्वक नहीं हुवा, आपत्काल में भी ब्राह्मणादि विद्या वा योनि का सम्बन्ध न करे ॥ ४० ॥

कार्णरौरववास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः । वसीरन्नानुपूर्व्येण  
शाणक्षौमाविकानि च ॥ ४१ ॥ मौञ्जी त्रिवृतसमा श्लक्षणा कार्या  
विप्रस्य मेखला । क्षत्रियस्य तु मौर्वीज्या वैश्यस्य शणतान्तवी ॥ ४२ ॥

अर्थ-रुक्मसृग, रुद्रसृग, अज, इन के चर्मों का वस्त्र ३ वर्ण के ब्रह्मचारी क्रमशः रक्खें और सन, क्षौम ( अलसी ) तथा ऊन का भी ॥ ४१ ॥ ब्राह्मण की मेखला तिलड़ी और चिकनी सुखस्पर्शवाली मूँजी की और क्षत्रिय की मूर्वा वृण से धनुष् के गुण सी और वैश्य की सन के डोरे की बनावे ॥ ४२ ॥



मुञ्जालाभे तु कर्तव्याः कुशाश्मन्तकवल्बजैः । त्रिवृता ग्रन्थिनै-  
केन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा ॥४३॥ कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्व-  
वृत्तं त्रिवृत् । शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् ॥४४॥

अर्थ-मुञ्ज के न मिलने पर कुश, अश्मन्तक, वल्बज वृक्षों की क्रम से तीनों  
वर्णों की मेखला तीन लर वाली, १ या, ३ या ५ ग्रन्थि लगाकर बनावे ॥ ४३ ॥  
कपास का जनेऊ ब्राह्मण का ऊपर को बटा हुआ और त्रिगुण (३ लर) होवे ।  
और सन के छोरे का क्षत्रिय का और वैश्य का भेड़ की ऊन का होवे ॥४४॥

ब्राह्मणो बेल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ । पीपलौदुम्बरौ  
वैश्योदण्डानर्हन्ति धर्मतः ४५ केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः  
प्रमाणतः । ललाटसंमितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः ॥४६॥

अर्थ-ब्राह्मण बेल वा पलाश के दण्ड, क्षत्रिय बट वा खदिर के तथा  
वैश्य पीपल वा गूलर के दण्ड, क्रम से सब धर्मानुसार बनावे ॥ ( इस श्लोक  
में नन्दन टीकाकार ने ब्राह्मणादि ग्रन्थों के प्रमाण देकर बिल्वादि के साथ  
ब्राह्मणादि की समानता दिखाई है । वह लिखता है कि १-असौ वा आदित्यो  
यतो जायत ततो बिल्व उदतिष्ठत स योन्यैव ब्रह्मवर्चसमवरुन्धे इति श्रुतेः=  
अर्थात् जिस कारण की प्रधानता से सूर्य बना है, उसी से बिल्व का वृक्ष भी  
उपजा है, इस लिये वह जन्म से ही ब्रह्मवर्चस का प्रभाव ( असर ) धारण  
करता है । इस कारण ब्राह्मण बेल का दण्ड धारण करे । २-तदुक्तमैतरेयब्रा-  
ह्मणे-क्षत्रं वा एतद्वनस्पतीनां यन्न्यग्रोधः । क्षत्रं वै राजन्य इति=अर्थात् ऐत-  
रेय ब्राह्मण में यह लिखा है कि बट वृक्ष वनस्पतियों में क्षत्रिय है । क्षत्रिय  
राजा है । इस लिये क्षत्रिय बट का दण्ड रखे ३-मरुतो वा एतदोजो यद-  
श्रुत्यः । मरुतो वै देवानां विशः इति श्रुतेः=अर्थात् अश्रुत्य ( पीपल ) वायु  
के बल से प्रधानता से युक्त है और वायु देवतों का वैश्य है । क्योंकि देवतों  
के हव्य पदार्थ इधर उधर छे चलता है, जैसे वैश्य लोग भोजनादि के अन्नादि  
एक देश से दूसरे देश में लेजाते हैं । इस लिये वैश्य पीपल का दण्ड बनावे ।  
इस के अतिरिक्त अन्य जिन वृक्षों वा वृक्षों के दण्ड वा मेखला का विधान  
है, उन में भी उस उस वर्ण के साथ किसी खासाविक समानता का अनु-



मान होता है, जो ब्राह्मणग्रन्थों के खोजने से मिल सकता है ॥ किन्हीं पुस्तकों में " पैलवौदुम्बरौ " भी पाठ है ) ॥ ४५ ॥ ब्राह्मण का कैशान्तिक अर्थात् शिर के बाल तक लम्बाई का दण्ड होवे और ललाट तक सत्रिय का तथा वेश्य का दण्ड नाक तक लम्बा होवे ॥ ४६ ॥

ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः । अनुद्वेगकरा नृणां सत्वचो नाग्निदूषिताः ॥ ४७ ॥ प्रतिगृह्योप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम् । प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद्वैक्षं यथाविधि ॥ ४८ ॥

अर्थ-और वे सब (दण्ड) सीधे हों, कटे न हों, देखने में सुन्दर हों तथा मनुष्यों की डरावने न हों, बरफलसहित हों और आग से जले न हों ॥ ४७ ॥ यथेष्ट दण्ड को ग्रहण करके और आदित्य के सम्मुख स्थित होकर, अग्नि की प्रदक्षिणा देकर, यथाविधि भिक्षा करे ॥ ४८ ॥

भवत्पूर्वं चरेद्वैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः । भवन्मध्यं स राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम् ॥ ४९ ॥ मातरं वा स्वसारं वामपुत्रं वा भगिनीं तिजाम् । भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत् ॥ ५० ॥

अर्थ-उपनीत ब्राह्मण भवत् शब्द को प्रथम उच्चारण करके भिक्षा करे । सत्रिय भवत् शब्द को मध्य में । वैश्य अन्त में ( अर्थात् ब्राह्मण-" भवती भिक्षां ददातु" इस प्रकार उच्चारण करे । सत्रिय "भिक्षां भवती ददातु", वैश्य "भिक्षां ददातु भवती" इस प्रकार तीनों का क्रम है) ॥ ४९ ॥ प्रथम माता से भिक्षा मांगे या मौसी या अपनी भगिनी से और जो कोई इस का अपमान न करे ॥ ५० ॥

समाहृत्य तु तद्वैक्षं यावदर्थममायया ।

निवेद्य गुरुवेऽग्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः ॥ ५१ ॥

"आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः ।

श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्युदङ्मुखः ॥ ५२ ॥

अर्थ-वह भिक्षा लाकर निष्कपट होके गुरु की तृप्तिभर देकर आप आचमन करके पूर्वोभिमुख होकर भोजन करे ॥ ५१ ॥ " आयु के हित के लिये पूर्वोभिमुख होकर, यश के अर्थ दक्षिण की ओर होकर, संपत्ति के निमित्त पश्चिम और सत्य की चाहें तो उत्तर की ओर मुख करके भोजन करे ॥ "



(पूर्वादि दिशाओं का आयु आदि के साथ कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। केवल किन्हीं टीकाकारों ने इसे काम्यवचन कहा है। यदि उन का कहना साने तो आयु आदि की कामना वाले क्रमशः पूर्वादि नियत दिशाओं में मुख करके भोजन किया करें। यह मानना होगा। ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों में यह कोई आवश्यक भी कर्त्तव्य नहीं। इस लिये हम को यह श्लोक प्रतिष्ठा प्रतीत होता है और इस से आगे एक अन्य श्लोक है जो कि उज्जैन के (आठवले) नाना साहेब के रामचन्द्रकृत टीकायुक्त पुस्तक और पूना के (जोशी) बलवन्तराव के मूल पुस्तक में पाया जाता है। तथा प्रयाग के (मुन्शी) हनुमानप्रसाद जी के मूल पुस्तक में (\*श्रुतिनोदितम् पाठभेद है। शेष २७ पुस्तकों में नहीं पाया जाता। इस से जान पड़ता है कि थोड़े समय से ही बढ़ाया गया है। तथा रामचन्द्र टीकाकार के अतिरिक्त शेष ५ में से किसी ने भी इस पर टीका नहीं की और रामचन्द्र सब से अन्तिम समय के टीकाकार हैं। इस से भी प्रतीत होता है कि मेधातिथि आदि रामचन्द्र से पुराने टीकाकारों के समय में यह श्लोक न था, जिस का पाठ इस प्रकार है:-

[ सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं स्मृति (\*श्रुति) नोदितम् ।  
नान्तरे भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः ॥ ]

इस का अर्थ यह है कि-द्विजों को (श्रुतिवा) स्मृति ने सायंप्रातः दोवार भोजन की आज्ञा दी है। बीच में भोजन न करे। इसकी विधि अग्निहोत्र के समान है ॥ यद्यपि हम को इस में कोई बुराई नहीं प्रतीत होती, परन्तु यह श्लोक नवीन समय का है और कुछ आश्चर्य नहीं कि वह पहला श्लोक जो अब सब पुस्तकों और टीकाओं में उपस्थित है, वह भी कुछ पुराने समय में मिलाया गया हो) ॥ ५२ ॥

उपस्पृश्यद्विजोनित्यमन्नमदात्समाहितः। भुक्त्वाचोपस्पृशेत्स-  
म्यगद्विःखानि च संस्पृशेत् ॥ ५३ ॥ पूजयेदशनं नित्यमदाच्चै-  
तदकुत्सयन् । दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः ॥ ५४ ॥

अर्थ-ब्राह्मणादि नित्य आचमनादि करके, एकाग्र हो, भोजन करे। भोजन करने के पश्चात् भी भले प्रकार आचमन करे और चक्षुरादि का जल से स्पर्श करे ॥ ५३ ॥ और भोजन के समय अन्न का प्रतिदिन संस्कार करे, निन्दा न



## द्वितीयाध्याय

६८

करके भोजन करे और देख के हृष्ट प्रसन्न होवे और सर्वथा प्रशंसा करे ॥५४॥

(पूजितं हाशनं नित्यं बलमूजं च यच्छति । अपूजितं तु तदुक्तमु-  
भयं नाशयेदिदम् ॥५५॥ नोच्छिष्टं कस्यचिद्दानादाश्चैव तथा-  
न्तरा । न चैवाध्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टं क्वचिद् व्रजेत् ॥५६॥)

अर्थ-क्योंकि संस्कृत अन्न-बल वीर्य को देता है और असंस्कृत, बल सामर्थ्य इन दोनों का नाश करता है (इस लिये संस्कार करके भोजन करना चाहिये) ॥५५॥ उच्छिष्ट अन्न किसी को न दे, भोजन के बीच में ठहर कर भोजन न करे, अधिक भोजन भी न करे और उच्छिष्ट कहीं गमन न करे ॥ ५६ ॥

(अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् । अपुण्यं लोकवि-  
द्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥५७॥ ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्य-  
कालमुपस्पृशेत् । कायत्रैदशिकाभ्यांवा न पित्र्येण कदाचन ॥५८॥

अर्थ-अतिभोजन करना आरोग्य, आयु तथा सुख नहीं देता और पुण्य भी नहीं होता और लोगों में निन्दा होती है । इस लिये अतिभोजन न करे ॥ ५७ ॥ विप्र सर्वदा ब्राह्म तीर्थ से आचमन करे अथवा प्राजापत्य वा देवतीर्थ से करे, परन्तु पित्र्य तीर्थ से न करे ॥ ५८ ॥

(हाथ से काम करने के वा आचमन करने के वा आहुति छोड़ने के चार [तीर्थ] उतारने के स्थान हैं । उन में ब्राह्मादि उत्तरोत्तर अच्छे हैं अर्थात् सुगमता से काम कर सकने योग्य हैं । पित्र्यतीर्थ से आचमन न करने का हेतु बेटङ्गापन है क्योंकि अगले श्लोक में तर्जनी अङ्गुलि और अंगूठे के नीचे के स्थान को पित्र्यतीर्थ कहा है । उस से आचमन करना अत्यन्त कठिन होने से वर्जित है । वह तीर्थ अग्नि में पित्र्य आहुति देने के लिये सुगम पड़ता है । अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते । कायमङ्गुलिमूलस्यैव दैवं पित्र्यं तयोरधः ॥ ५९ ॥ त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम् । खानि चैव स्पृशेदद्विरात्मानं शिर एव च ॥ ६० ॥

अर्थ-अङ्गुष्ठमूल के नीचे ( कलाई ) को ब्राह्मतीर्थ कहते हैं और कनिष्ठाङ्गुलि के मूल में कायतीर्थ और उसी के अग्रभाग में दैवतीर्थ और अङ्गुष्ठ तथा तर्जनी के मध्य में पित्र्य तीर्थ है ॥ (यथादि में आहुति आदि कामों के



विभागार्थं यह करुपना किई प्रतीत होती है । विशेष प्रयोजन कुछ नहीं जान पड़ता) ॥ ५९ ॥ प्रथम जल से तीन बार आचमन करे, अनन्तर दो बार मुख धोवे, पश्चात् इन्द्रियों, शिर और हृदय का जल से स्पर्श करे ॥ ६० ॥

अनुष्णाभिरफेनाभिरद्विस्तीर्थेन धर्मवित् । शौचेप्सुः सर्वदा चा-  
मेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः ॥ ६१ ॥ हृद्भाभिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तु  
भूमिपः । वैश्योद्विः प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः ॥ ६२ ॥

अर्थ—फेनरहित शीतल जल से पवित्र होने की इच्छा करने वाला धर्मज्ञ एकान्त में पूर्व या उत्तर को मुख करके आचमन करे ॥ ६१ ॥ ( इस पूर्वोक्त आचमन का जल) हृदय में पहुंचने से ब्राह्मण पवित्र होता है, कण्ठ में प्राप्त होने से क्षत्रिय और मुख में पहुंचने से वैश्य, तथा स्पर्श नात्र से शूद्र पवित्र होता है ॥ ६२ ॥  
उदधृतेदक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः । सर्वये प्राचीन आवीती  
निवीती कण्ठसज्जने ॥ ६३ ॥ मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं

कमण्डलुम् । अप्सु प्रास्थविनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत् ॥ ६४ ॥

अर्थ—दक्षिण हाथ को बाहर निकालने ( बायें के ऊपर जनेऊ कर लेने) पर द्विज “उपवीती” कहाता है । इस के विपरीत करने पर “प्राचीन आ-  
वीती” और जब जनेऊ कण्ठ से लगा हो तब “निवीती” कहाता है ॥ ६३ ॥  
मेखला और मृगचर्मादि तथा दण्ड, जनेऊ और कमण्डलु; इन टूटे हुएों की पानी में डाल कर और नवीम को मन्त्र पढ़ कर ग्रहण करे ॥ ६४ ॥

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ।

राजन्यवन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥ ६५ ॥

“अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः ।

संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—ब्राह्मण का केशान्त संस्कार सोलहवें वर्ष में करे और क्षत्रिय का २२ बाईसवें में तथा उस से २ अधिक ( २४ चौबीसवें वर्ष ) में वैश्य का ॥ ६५ ॥ “ यह ( जातकर्मादि ) संपूर्ण कार्य, उक्त काल और क्रम से शरीर के संस्कारार्थं स्त्रियों के अमन्त्रक करे अर्थात् स्त्रियों के इन संस्कारों में वेदोक्त मन्त्र न पड़े ॥ ६६ ॥



“वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः ।

पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥६७॥

एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः ।

उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः कर्मयोगं निबोधत ॥६८॥

अर्थ—“स्त्रियों के विवाहसम्बन्धी जो विधि है, वही केवल वेदोक्त कही है और पतिसेवा=गुरुकुलवास, गृहकृत्यादि=साधुप्राप्तर्होम है ॥” (६६ वें श्लोक का यह कहना तो ठीक है कि स्त्रियों के भी गर्भाधान से लेकर केशान्त संस्कारपर्यन्त सब संस्कार करने चाहियें, परन्तु इन के लिये किसी पृथक् विधान की आवश्यकता नहीं। क्योंकि तीनों वर्णों के जो जो संस्कार पूर्व कह आये हैं, वे सब कन्या और पुत्र दोनों ही के हैं। पुष्पिङ्ग निर्देश अवि-वक्षित है। अर्थात् वक्ता का तात्पर्य वर्णमात्र में है, चाहे कन्या हो, वा पुत्र। जैसे कोई कहे कि (योत्राऽऽगमिष्यति स मृत्युमाप्स्यति=जो यहां आयेगा वह मर जायगा) इस दशा में यद्यपि पुष्पिङ्ग का निर्देश है, परन्तु कहने वाले का तात्पर्य स्त्री पुरुष दोनों से है। अथवा वैद्यक शास्त्र में पुष्पिङ्ग करके निर्देश करते हुवे जो सामान्य विधि निषेध किये हैं, वे सब स्त्री पुरुष दोनों को समझे जाते हैं। ऐसे ही जो साधारण संस्कार हैं, वे सब स्त्री पुरुषों के एक से और एक ही विधिवाक्य से विहित समझने चाहियें और कन्याओं के विवाहसंस्कार को छोड़ कर अन्य संस्कारों में वेदमन्त्र पढ़ने का निषेध भी प्रक्षिप्त है। जहां तक हमने देखा और विचारा है, वहां तक वेदों में कहीं यह निषेध नहीं पाया जाता। इस लिये ६६।६७ श्लोक स्त्रीजाति के विद्वेषी अन्य मतों के संसर्ग से प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं। तथा ६५ वें श्लोक को ६८ वें श्लोक के साथ मिला कर पढ़िये तो ठीक सम्बन्ध चला जाता है) ॥६७॥ यह ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य का उपनयनसम्बन्धी विधि कहा। यह विधि जन्म का उत्तलाने वाला और पवित्रकारक है (अब आगे) कर्तव्य की सुनो ॥ ६८ ॥

उपनीयगुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः। आचारमग्निकार्यं च  
संध्योपासनमेव च ॥६९॥)अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो यथाशास्त्र-  
मुदङ्मुखः। ग्रहज्जलकृतोऽप्यो लघुवासाजितेन्द्रियः ॥७०॥



अर्थ-गुरु उपनयन कराकर शिष्य को प्रथम शौच, आचार, सायं प्रातः हौम तथा संध्योपासन सिखावे ॥ ६९ ॥ पढ़ने वाले शिष्य को शास्त्रविधि से आचमन करके, हाथ जोड़ कर, उत्तर मुख हो, हलका वस्त्र पहिर, जितेन्द्रिय हो, पढ़ना चाहिये ॥ ७० ॥

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा । संहृत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ॥ ७१ ॥ व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः । सव्येन सव्यः स्पृष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ॥ ७२ ॥

अर्थ-वेदाध्ययन के आरम्भ और समाप्ति के समय सदा गुरु के चरण छुवे और हाथ जोड़ के पढ़े । इस को ब्रह्माञ्जलि कहते हैं ॥ ७१ ॥ अलग २ हाथ करके गुरु के पैर छुवे, दहिने से दहिना और बांवे से बांवा ॥ ७२ ॥

अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः । अधीष्वभो इति ब्रूयाद्विरामोस्त्विति चारमेत् ॥ ७३ ॥ ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा । स्रवत्यऽनोकृतं पूर्वं पुरस्ताच्च विशीर्यति ॥ ७४ ॥

अर्थ-आलस्यरहित गुरु सर्वदा पढ़ने वाले शिष्य के प्रति प्रथम पढ़ने के समय “अधीष्वभोः” अर्थात् ‘हे शिष्य पढ़’ ऐसे कहै । पश्चात् “विरामोस्त्विति” अर्थात् ‘अब बस करो’ ऐसे कहै, तब पढ़ना बन्द करे ॥ ७३ ॥ वेद के पढ़ने के आरम्भ में सदा प्रणव ( ओ३म् ) का उच्चारण करे और अन्त में भी । यदि पूर्व में और अन्त में ओ३म् का उच्चारण न करे तो उस का पढ़ा हुआ धीरे २ नष्ट हो जाता है ॥ ७४ ॥

प्राक्कूलान्पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः । प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ओङ्कारमर्हति ॥ ७५ ॥ अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः । वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवःस्वरितीति च ॥ ७६ ॥

अर्थ-पूर्वाग्र दमों को बिछा कर उस पर बैठे और पवित्रों से मार्जनकर पवित्र होकर, तीन बार प्राणायामों से पवित्र हो, ओङ्कार के उच्चारण करने योग्य होता है ॥ ७५ ॥ ब्रह्मा ने तीनों वेदों से अकार उकार मकार और भूर्भुवःस्वः यह तीन व्याहृति सार निकाली हैं ॥ ७६ ॥



त्रिभ्यएव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत् । तदित्यूचोस्याः सावि-  
त्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥७७॥ एतदक्षरमेतां च जपन् व्या-  
हृतिपूर्विकाम् । संध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥ ७८ ॥

अर्थ-प्रजापति ब्रह्मा ने तीनों वेदों से (तत्सवितुः०) इस सावित्री ऋचा के एक एक पाद को दुहा है ॥७६॥ इस (ओङ्काररूप) अक्षर और त्रिपादयुक्त सावित्री को, तीनों व्याहृति पूर्व लगाकर, वेद का जानने वाला दोनों संध्याओं में जपता हुआ विप्र वेद पढ़ने के फल को प्राप्त होता है ॥ ७८ ॥

(सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः । महतोप्येनसो मा-  
सात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥ ७९ ॥) एतयर्चा विसंयुक्तः काले च  
क्रियया स्वया । ब्रह्मक्षत्रियविद्यो निर्गर्हणां याति साधुषु ॥ ८० ॥

अर्थ-और इस त्रिक ( अर्थात् प्रणव, व्याहृति, त्रिपादयुक्त गायत्री ) को सहस्रवार ग्राम के बाहर (नदी तीर वा अरण्य में) एक मास जपने से द्विज नहापाप से भी छूट जाता है । जैसे सर्प कंचुकी से (यह १ प्रायश्चित्त जानो । प्रायश्चित्त से पाप छूटने का एकादशाध्याय में व्याख्यान लिखेंगे) ॥ ७९ ॥ इस गायत्री के जप से रहित और सायंप्रातः स्वक्रिया ( अग्निहोत्रादि ) से रहित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्ण सज्जनों में निन्दा को पाता है ॥ ८० ॥

ओङ्कारपूर्विकास्तिस्त्रोमहाव्याहृतयोऽव्ययाः । त्रिपदा चैव  
सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥ ८१ ॥ योऽधीतेऽहन्यन्येतां स्त्रीणि  
वर्षाण्यतन्द्रितः । स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्त्तिमान् ॥ ८२ ॥

अर्थ-ओंकार से युक्त तीन अविनाशिनी महाव्याहृति और त्रिपदा गायत्री को वेद का मुख जानना ( वेद के अध्ययन के पूर्व में पढ़ी जाती हैं और ब्रह्म जो परमात्मा, उस की प्राप्ति का हेतु हैं ) ॥ ८१ ॥ जो पुरुष प्रतिदिन आलस्यरहित होकर तीन वर्ष पर्यन्त ओं, व्याहृति और गायत्री का जप करता है वह परब्रह्म को प्राप्त होता है, वायुवत् स्वतन्त्रचारी होकर खमूर्त्तिमान्=शरीरबन्धन से रहित हो जाता है ॥ ८२ ॥

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परंतपः । सावित्र्यास्तु परं नास्ति  
मौनात्सत्यं विशिष्यते ॥ ८३ ॥ क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोति-



यजतिक्रियाः । अक्षरं दुष्करं ज्ञेयं ब्रह्मचैव प्रजापतिः ॥८४॥

अर्थ-ओ३म् यह एक अक्षर परब्रह्म का वाचक है और प्राणायाम बड़ा तप है और गायत्री से श्रेष्ठ कोई मन्त्र नहीं, तथा मौन से सत्य भाषण श्रेष्ठ है ॥८३॥ सम्पूर्ण वेदविहित क्रिया (अर्थात् यज्ञयागादि) नाशवान् हैं, परन्तु कठिन से जानने योग्य प्रजापति ब्रह्म का प्रतिपादक ओ३म् अक्षर अविनाशो है ॥८४॥

विधियज्ञाज्जपयज्ञोविशिष्टोदशभिर्गुणैः । उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥८५॥ ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञ-समन्विताः । सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥८६॥

अर्थ-विधियज्ञ (वैश्वदेवादिकों) से जपयज्ञ दशगुण अधिक है और वही यदि दूसरों के श्रवण में न आवे, ऐसा जप शतगुण अधिक है । और (जिह्वा के न हिलने से) केवल मन से जो जप किया जावे, वह सहस्रगुण अधिक कहा है ॥ ८५ ॥ ये जो ४ पाकयज्ञ हैं (अर्थात् वैश्वदेव १ बलिकर्म २ नित्यग्राह्य ३ अतिथिभोजन ४), यज्ञ (पीर्णमासादि) से युक्त, ये सब, जपयज्ञ के षोडश भाग को भी नहीं पाते (अर्थात् जपयज्ञ सब से श्रेष्ठ है) ॥ ८६ ॥ जायेनैवतुसंस्थिद्येद्ब्राह्मणोनात्रसंशयः । कुर्यादन्यन्नवाकुर्यान्मैत्रोब्राह्मणउच्यते ॥८७॥ इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वप-हारिषु । संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनान् ॥ ८८ ॥

अर्थ-ब्राह्मण जप करने ही से सिद्धि को प्राप्त होता है (अर्थात् मोक्ष प्राप्त होने के योग्य होता है) और अन्य कुछ (यागादि) करे अथवा न करे वह मैत्र अर्थात् सर्वप्रिय कहा है । इसमें संशय नहीं ॥८७॥ अपनी ओर खेंचने के स्वभाव वाले विषयों में विचरने वाली इन्द्रियों के संयममें विद्वान् यत्न करे । जैसे सारथि घोड़ों के रोकने में यत्न करता है ॥ ८८ ॥

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वमनीषिणः । तानि सम्यक् प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥८९॥ श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी । पायुपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता ॥९०॥

अर्थ-पूर्व मुनियों ने जो एकादश ११ इन्द्रियें कही हैं, उन को क्रमशः ठीक २ अच्छे प्रकार कहता हूँ कि- ॥८९॥ कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और पांचवीं नाक और गुदा, शिश्न, हस्त, पाद और १० वीं वाणी कही है ॥ ९० ॥



बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः । कर्मेन्द्रियाणि प-  
ञ्चैषां पाश्चादीनि प्रचक्षते ॥६१॥ एकादशं मनोज्ञं यं स्वगुणेनो-  
भयात्मकम् । यस्मिन् जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥६२॥

अर्थ-उन में श्रोत्रादि कसशः पांच बुद्धीन्द्रिय अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय हैं  
और इन में गुदा आदि पांच को कर्मेन्द्रिय कहते हैं ॥ ६१ ॥ एकादशवां  
मन अपने गुण से दोनों (ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों) को चलाने वाला है ।  
जिस के वश होने से ये दोनों पांच २ के गण वश में हो जाते हैं ॥ ६२ ॥

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यऽसंशयम् । सन्नियम्य तु तान्येव  
ततः सिद्धिं नियच्छति ॥६३॥ न जातु कामः कामान्मा उपभोगेन  
शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मैव भूय एवाऽभिवर्धते ॥ ६४ ॥

अर्थ-इन्द्रियों के विषयों में फंसने से निःसंदेह दोष को प्राप्त होता है  
और उन्हीं के रोकने से फिर सिद्धि को प्राप्त होता है ॥ ६३ ॥ विषय भोग  
की इच्छा विषयों के भोग से कभी शान्त नहीं होती, जैसे घृत से अग्नि  
( कभी शसन नहीं होता किन्तु ) अधिक ही बढ़ता है ॥ ६४ ॥

यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्वान्यश्चैतान्केवलांस्त्यजेत् । प्रापणात्सर्व-  
कामानां परित्यागो विशिष्यते ॥६५॥ न तथैतानि शक्यन्ते  
संनियन्तुमसेवया । विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥६६॥

अर्थ-जो इन सब विषयों को भोगे और जो इन को केवल छोड़ देवे,  
( उन दोनों में ) संपूर्ण कामनाओं को भोगने से छोड़ना बड़ कर है ॥ ६५ ॥  
ये विषयासक्त इन्द्रिय विषयों के सेवन विना भी उस प्रकार नहीं जीती जा  
सकतीं, जैसे कि सर्वदा ( विषयों के दोष ) ज्ञान से ॥ ६६ ॥

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च । न विप्रदुष्टभावस्य  
सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥६७॥ श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रा-  
त्वा च योनरः । न हृष्यति ग्लायति वा सविज्ञो जितेन्द्रियः ॥६८॥

अर्थ-वेदाध्ययन, दान, यज्ञ, नियम और तप; ये दुष्टभाव वाले को कभी सिद्धि  
नहीं होते ॥६७॥ जिस पुरुष को ( निन्दा या स्तुति के ) सुनने से और ( कोसल



वा कड़ी वस्तु के) स्पर्श करने से तथा (सुन्दर वा असुन्दर वस्तु के) देखने से और (अच्छे भोजन या सामान्य) भोजन से और (सुगन्ध वा दुर्गन्ध) पदार्थ के सूँघने से हर्ष विषाद न हो, उस को जितेन्द्रिय जानना ॥ ९८ ॥

इन्द्रियाणांतुसर्वेषां यद्येकंक्षरतीन्द्रियम् । तेनास्यक्षरतिप्रज्ञा  
दृतेःपात्रादिवोदकम् ॥ ९९ ॥ वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मन-  
स्तथा । सर्वांसंसाधयेदर्थानक्षिण्वन्योगतस्तनुम् ॥ १०० ॥

अर्थ-संपूर्ण इन्द्रियों में यदि एक भी इन्द्रिय का विषय में झुकाव हो तो तत्त्वज्ञानी की बुद्धि उस से नष्ट होती है । जैसे दूति=मशक ( वा फूटे पात्र ) से ( उस का ) पानी ॥ ९९ ॥ इन्द्रियों के गणों को स्वाधीन करके और मन का भी संयम करके युक्ति से शरीर को पीड़ा न देता हुआ संपूर्ण अर्थों ( पुरुषार्थचतुष्टय ) को साधे ॥ १०० ॥

पूर्वां संध्यां जपं सितष्टेत्सावित्रीमार्कदर्शनात् । पश्चिमां तु समा-  
सीनः सम्यग्दृष्टविभावनात् ॥ १०१ ॥ पूर्वां संध्यां जपं सितष्टेन्नैशमे-  
नोव्यपोहति । पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवा कृतम् ॥ १०२ ॥

अर्थ-प्रातःकाल की सन्ध्या को गायत्री का जप करता हुआ सूर्यदर्शन होने तक स्थित होकर और सायंकाल की सन्ध्या को नक्षत्रदर्शन ठीक होने तक बैठ कर करे ॥ १०१ ॥ प्रातः सन्ध्या के जप से रात्रिभर की और सायं सन्ध्या से दिनभर की दुर्वासना का नाश होता है ॥ १०२ ॥

नतिष्ठतितुयः पूर्वां नोपास्तेयश्च पश्चिमाम् । स शूद्रवद्वहिष्कार्यं  
सर्वस्माद्विजकर्मणः ॥ १०३ ॥ अपां समीपे नित्यं नैत्यकं विधिः  
मास्थितः । सावित्रीमप्यधीयीत गरुडारण्यं समाहितः ॥ १०४ ॥

अर्थ-जो प्रातःकाल की सन्ध्या न करे और जो सायंकाल की भी न करे, वह संपूर्ण द्विजों के कर्म से शूद्रवत् वहिष्कार्य है ॥ १०३ ॥ जल के समीप एकाग्रचित्त से धन ( वा एकान्त ) में जाकर ( संध्या वन्दनादि ) नित्यकर्म और गायत्री का जप भी करे ॥ १०४ ॥

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके । नानुरोधोस्त्यनध्याये  
होममन्त्रेषु चैव हि ॥ १०५ ॥ नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि  
तत्स्मृतम् । ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥ १०६ ॥



अर्थ-शिक्षादि के पढ़ने और नित्य के स्वाध्याय और होममन्त्रों में अनध्याय के दिन भी मनाई नहीं है ॥ १०५ ॥ नित्य के कर्म में अनध्याय नहीं है क्योंकि उस को ब्रह्मयज्ञ कहा है । उस में ब्रह्माहुति का ही होम है और ( उस ) अनध्याय में भी वषट्कार ( समाप्ति सूचक ) शब्द किया जाता है ॥ १०६ ॥

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः । तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु ॥ १०७ ॥ अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधः

शर्यांगुरोर्हितम् । आसमावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनोद्विजः ॥ १०८ ॥

अर्थ-जो पुरुष एक वर्षपर्यन्त विधियुक्त नियम से पवित्र होकर स्वाध्याय पढ़ता है, उस के लिये वह ( स्वाध्याय ) दूध, दधि, घृत, मधु को वर्षाता है ॥ १०७ ॥ उपनयन किया हुआ द्विज, ब्रह्मचर्य व्रत को जब तक समावर्तन न हो, इस प्रकार करे- ( समावर्तन उस को कहते हैं, जो गुरु से सम्पूर्ण विद्या पढ़ कर घर जाने की अवधि है ) सायंप्रातर्होम, भिक्षा, भूमि पर शयन तथा गुरु का हित किया करे ॥ १०८ ॥

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदोधार्मिकः शुचिः । आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोध्याप्या दश धर्मतः ॥ १०९ ॥ नापृष्टः कस्यचिद्भूयान्न चाऽन्यायेन पृच्छतः । जानन्नपि हि मेधावी जडवत्लोक आचरेत् ॥ ११० ॥

अर्थ-आचार्यपुत्र, सेवक, ज्ञानान्तरदाता, धर्मात्मा, पवित्र, प्रामाणिक, धारणाशक्ति वाला, धन देने वाला, हितेच्छु और ज्ञाति; ये दश धर्म से पढ़ाने योग्य हैं ( अर्थात् इन को पढ़ाना फर्ज है ) ॥ १०९ ॥ बिना किसी के पूछे न बोले और अन्याय से पूछते हुवे से भी न बोले, किन्तु जान कर भी बुद्धिमान् उन लोगों में अनजान सा रहे ॥ ११० ॥

अधर्मेण च यः प्राहु यश्चाधर्मेण पृच्छति । तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति ॥ १११ ॥ धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा । तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ॥ ११२ ॥

अर्थ-क्योंकि जो अधर्म से उत्तर देता और जो अधर्म से पूछता है, उन दोनों में एक सर जाता वा द्वेषी होजाता है ॥ १११ ॥ जिस ( शिष्य के पढ़ाने ) में धर्म और अर्थ न हों और वैसे गुरु में शक्ति भी न हो, उसको विद्या न पढ़ावे । जैसे अच्छा बीज ऊपर में न बोवे (बोने से कुछ उत्पन्न नहीं होता) ॥ ११२ ॥



विद्ययैव समंकामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना । आपद्यपि हि घोरायां  
न त्वेनामिरिणे वपेत् ॥ ११३ ॥ विद्या ब्राह्मणमेत्याह शैवधिस्तेस्मि  
रक्षताम् । असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥ ११४ ॥

अर्थ-चाहे विद्या के साथ मरना पड़े, परन्तु वेदाध्यापक घोर आपत्ति  
में भी अयोग्य शिष्य को विद्या न देवे ॥ ११३ ॥ विद्या ब्राह्मण के पास आकर  
बोली कि मैं तेरी निधि हूँ, मेरी रक्षा कर, असूयकादि दोष वाले पुरुष को  
मुझे मत दे । इस प्रकार करने से मैं बलवती होऊंगी ॥ ११४ ॥

यमेव तु शुचिं विद्या नियतब्रह्मचारिणम् । तस्मै मां ब्रूहि वि-  
प्राय निधिपायाऽप्रमादिने ॥ ११५ ॥ ब्रह्मयस्त्वननुज्ञातमधीया-  
नादवाप्नुयात् । स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ॥ ११६ ॥

अर्थ-जिस को पवित्र, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी जाने और जो मुक्त निधि  
रूप की रक्षा करने वाला हो, ऐसे प्रमादरहित विद्वान् को पढ़ावो ॥ ११५ ॥  
और जो अन्य कोई पढ़ रहा हो, उस से बिना उस के पढ़ाने वाले की आज्ञा  
के सीख लेवे, वह विद्या की चोरी से युक्त नरक को प्राप्त होता है ( इस से  
ऐसा न करे ) जो आशय यहां मनु में श्लोक ११४ । ११५ और ११६ का है,  
वही आशय निरुक्त २ । ३-४ से भी प्रमाणित होता है । यथा-

नित्यं ह्यविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूयोपसन्नाय तु निर्व्रूयाद्यो वाऽलं  
विज्ञातुं स्यान्मेधाविने तपस्विने वा ॥ ३ ॥ विद्या ह व ब्राह्म-  
णमाज्जगाम गोपाय मा शैवधिष्टेहमस्मि । असूयकायानृजवे  
ऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् । य आतृणत्यावितथेन  
कर्णाविऽदुःखं कुर्वन्मृतं संप्रयच्छन् । तं मन्येत पितरं मातरं  
च तस्मै न द्रुह्येत्कृतमञ्चनाह ॥ आध्यापिता ये गुरुं नाद्रिय-  
न्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा । यथैव ते न गुरोर्भोजनी-  
यास्तथैव तान् भुनक्ति श्रुतं तत् ॥ यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं  
मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् । यस्ते न द्रुह्येत्कृतमञ्चनाह तस्मै मा  
ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥ इति, निधिःशैवधिरिति ॥ ४ ॥



भावार्थ:-विद्या ने ( अध्यापक ) ब्राह्मण से कहा कि मेरी रक्षा कर, मैं तेरा (स्वजाना) निधि हूँ । चुगली करने वाले, क्रूर और ब्रह्मचर्यरहित को मेरा उपदेश न कर, जिस से मैं बलवती रहूँ ॥ जो सत्य से दोनों काम भ्रष्टा है दुःख दूर करता और अशुभ पिलाता है, उसे साता पिता करके मानना चाहिये, उस से कभी द्वेष न करना चाहिये ॥ जो पढ़ लिख कर बुद्धिमान् हो, अपने गुरु का मन वचन वा कर्म से आदर नहीं करते, वे जिस प्रकार गुरु के भोजनीय नहीं, इसी प्रकार उन का पढ़ना सुफल नहीं ॥ किन्तु हे ब्रह्मन् ! जिस को तू शुद्ध, अग्रजादी, बुद्धिमान्, ब्रह्मचर्य से युक्त समझे और जो तुझ से कभी द्वेष न करे, उस निधि के रक्षक शिष्य को मेरा दान दे ॥ ११६ ॥

लौकिकं वैदिकं वापि तथाध्यात्मिकमेव च । आददीत यतो ज्ञानं  
तं पूर्वमभिवादयेत् ॥ ११७ ॥ सावित्रीमात्रसारोपि वरं विप्रः  
सुयन्त्रितः । नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥ ११८ ॥

अर्थ-जिस से लौकिक विद्या वा वेदोक्त कर्मकाण्ड तथा ब्रह्मविद्या पढ़े उस ( प्रतिष्ठितों के बीच बैठे हुए ) को प्रथम नमस्कार करे ( पश्चात् अन्यो को ) ॥ ११७ ॥ जो गायत्रीमात्र का जानने वाला भी जितेन्द्रिय है, वह शिष्टों में मान्य है और जो तीनों वेदों को भी पढ़ा हो परन्तु भक्ष्याभक्ष्य का विचार न रखता हो तथा संपूर्ण वस्तुओं का विक्रय करता हो वह अजितेन्द्रिय शिष्टों में माननीय नहीं है ॥ ११८ ॥

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत् । शय्यासनस्थश्चै-  
वैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥ ११९ ॥ ऊर्ध्वं प्राणाहुत्क्रामन्ति यूनः  
स्थविर आयति । प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते ॥ १२० ॥

अर्थ-जो शय्या वा आसन विद्यादि से अधिक वा गुरु के स्वीकार किये हुये हों उन पर आप बराबर न बैठे और वह (गुरु) आवे तो आप शय्या वा आसन पर बैठा हुआ भी उठ कर नमस्कार करे ॥ ११९ ॥ बड़ा आदमी उठ कर नमस्कारादि करने से स्वस्थता को प्राप्त होते हैं ( इस से अवश्य अपने से विद्यादि में अधिकों को उठ कर नमस्कार करे ) ॥ १२० ॥



अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपिसेविनः। चत्वारि तस्य वर्धन्ते  
 आयुर्विद्या यशोबलम् ॥ १२१ ॥ अभिवादात्परं विप्रोज्यायां स-  
 मभिवादयन्। असौ नामाहमस्मीति स्वं नामपरिकीर्तयेत् ॥ १२२ ॥

अर्थ-जो प्रति दिन वृद्धों की सेवा करता है और नमस्कार करने के  
 स्वभाव वाला है, उस की चार वस्तु बढ़ती हैं; आयु, विद्या, यश और  
 बल ॥ १२१ ॥ वृद्ध को नमस्कार करता हुआ विप्र, "मैं नमस्कार करता हूँ"  
 इस अभिवादनवाक्य के अन्त में "मैं असुक नाम वाला हूँ" ऐसे अपना  
 नाम कहे ॥ १२२ ॥

नामधेयस्य ये केचिदभिवादनं जानते। तान्प्राज्ञो हि मिति ब्रूयात्  
 स्त्रियः सर्वास्तथैव च ॥ १२३ ॥ भोः शब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नो  
 ऽभिवादने। नाम्नां स्वरूपभावो हि भोभावः ऋषिभिः स्मृतः ॥ १२४ ॥

अर्थ-जो कोई नामधेय के उच्चारणपूर्वक नमस्कार करना नहीं जानते,  
 उन से बुद्धिमान् ऐसा कहदे कि "मैं नमस्कार करता हूँ" और संपूर्ण मान्य  
 स्त्रियों को भी ऐसे ही कहदे ॥ १२३ ॥ अभिवाद्य के नामों के स्वरूप में "भोः"  
 यह सम्बोधन ऋषियों ने कहा है। इस से अपना नाम लेकर अन्त में "भोः"  
 शब्द कहा करे ( अर्थात् अपने से बड़े अभिवादनीय पुरुष का नाम न ले,  
 किन्तु उस के नाम की जगह "भोः" शब्द कहे ) ॥ १२४ ॥

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोभिवादने। अकारश्चास्य  
 नाम्नोन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः ॥ १२५ ॥ योन वेच्यभिवादस्य  
 विप्रः प्रत्यभिवादनम्। नाभिवादाः सविदुषा यथाशूद्रस्तथैव सः

अर्थ-नमस्कार करने पर "आयुष्मान् भव सौम्य" ऐसा ब्राह्मण से कहे।  
 नमस्कार करने वाले के नाम के अन्त के व्यञ्जन ( शर्मन् इत्यादि ) से पूर्व  
 अकार ( वा किसी स्वर ) को प्लुत करे ( इस से उस का आदर होता है )  
 ॥ १२५ ॥ ( जो ब्राह्मण नमस्कार करने पर क्या कहना चाहिये, इस को नहीं  
 जानता वह शूद्रतुल्य है, नमस्कार करने के योग्य नहीं है ॥ १२६ ॥ )

ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम्। वैश्यं क्षेमं समागम्य



शूद्रमारोग्यमेव च ॥ १२७ ॥ अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि  
यो भवेत् । भोभवत्पूर्वकं त्वेनमभिभाषेत धर्मवित् ॥ १२८ ॥

अर्थ—( नमस्कार के अनन्तर ) मिलाप होने पर ब्राह्मण से “ कुशल ”  
पूछे, क्षत्रिय से “ अनामय ”, वैश्य से “ क्षेम ” और शूद्र से “ आरोग्य ”  
ही पूछे ॥ १२७ ॥ यदि दीक्षित कनिष्ठ ( छोटा ) भी हो तथापि उस का नाम  
लेकर न बोले । ( जो कुछ बोलना हो तो ) धर्म का जानने वाला भोः  
दीक्षित ! वा आप ( भवान् ) कह कर बोले ॥ १२८ ॥

परपत्नीतु या स्त्री स्यादसंबन्धा च योनिः । तां ब्रूयाद्ववतीत्येवं  
सुभगे भगिनीति च ॥ १२९ ॥ मातुलांश्च पितृव्यांश्च शुरानृत्वि-  
जो गुरुन् । असावहमिति ब्रूयात्प्रत्युत्थाय यवीयसः ॥ १३० ॥

अर्थ—परस्त्री जो योनिसम्बन्ध ( रिश्ते ) वाली न हो, उस को ( बोलने  
के समय में ) कहे कि भवति ! सुभगे ! भगिनि ! ॥ १२९ ॥ मातुल, पितृव्य,  
श्वशुर, ऋत्विज्, गुरु; यदि ये कनिष्ठ ( छोटे ) हों तो भी इन के आने पर उठ  
कर “ असौ अहम् ” ऐसा कहे ( अर्थात् अपना नाम प्रकट करे ) ॥ १३० ॥

मातृपुत्रसा मातुलानींश्च श्वशुरपितृपुत्रसां संपूज्या गुरुपत्नीवत्  
समास्ता गुरुभार्यया ॥ १३१ ॥ भ्रातृभार्योपसंग्राह्या सवर्णा  
ऽहन्यहन्यपि विप्रोप्यतूपसंग्राह्या ज्ञातिसंबन्धियोपितः ॥ १३२ ॥

अर्थ—माता की भगिनी, मासी, सास और पितृभगिनी; ये सम्पूर्ण गुरुभार्या  
के तुल्य हैं, इस से इन का आदर सत्कार गुरुभार्यावत् करे ॥ १३१ ॥ ( ज्येष्ठ )  
भ्राता की सवर्णा भार्या से प्रति दिन नमस्कारादि करे और ज्ञातिसम्बन्धिनी  
जो स्त्री हैं ( मातृपक्ष की मातुलानी इत्यादि और पितृपक्ष की पितृव्यादि की  
स्त्रियें ) इन को परदेश से आने पर नमस्कार करे ॥ १३२ ॥

पितृभगिन्यां मातृश्रज्यायस्यांच स्वस्यपि मातृवद्वृत्तिमातिष्ठे-  
न्माताताभ्योगरीयसी ॥ १३३ ॥ दशाब्दाख्यं पौरुषं पञ्चाब्दाख्यं  
कलाभृताम् । त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां स्वल्पेनापि स्वयोनिषु ॥ १३४ ॥

अर्थ—पितृभगिनी, मातृभगिनी और अपनी ज्येष्ठा भगिनी का माता  
के समान आदर करे परन्तु माता इन से अधिकतर है ॥ १३३ ॥ एकपुरनिवा-



सियों का दश वर्ष बड़ा होने तक सख्य ( बराबरी ) होता है और यदि सङ्गीतादि कला के जानने वाले हों तो पांच वर्ष बड़ा होने तक सख्य ( बराबरी ) होता है और श्रोत्रियों में तीन वर्ष की ज्येष्ठता तक और अपने ज्ञातियों में थोड़े ही दिनों में सख्य ( बराबरी ) होता है ॥ १३४ ॥

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम् । पिता पुत्रौ विजानीयात्  
ब्राह्मणस्तुतयोः पिता ॥ १३५ ॥ वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति  
पञ्चमी । एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥ १३६ ॥

अर्थ-दश वर्ष का ब्राह्मण और सौ वर्ष का क्षत्रिय हो तो पिता पुत्र के समान जाने और ब्राह्मण उन में पिता के समान है ॥ १३५ ॥ १ वित्त=न्यायोपाजित द्रव्य, २ पितृव्यादि=बन्धु, ३ श्रौत स्मार्तादि कर्म, ४ आयु और ५ विद्या, ये पांच बड़ाई के स्थान हैं । इन में उत्तरोत्तर एक से एक अधिक है ॥ १३६ ॥

पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति चायत्रस्युः सोत्रमानार्हः  
शूद्रोऽपि दशमीं गतः १३७ चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः  
स्त्रियाः । स्नातकस्य च राज्ञश्च पत्न्या देवो वरस्य च ॥ १३८ ॥

अर्थ-तीन वर्णों ( ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ) में पूर्वोक्त पांच गुणों में से जिस में जितने अधिक हों वह उतना अधिक माननीय है और शूद्र भी सौ वर्ष का हुवा माननीय है ॥ १३७ ॥ चक्रयुक्त रथादि पर सवार हुए और ८०-१८० वर्ष के वृद्ध, रोगी, बोझ वाले, स्त्री, स्नातक, राजा और वर=जिस का विवाह हो, इन सब को मार्ग ( रास्ता ) छोड़ देवे ॥ १३८ ॥

तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ । राजस्नातकयोश्चैव  
स्नातको नृपमानभाक् ॥ १३९ ॥ उपनीय तु यः शिष्यं वेद-  
मध्यापयेद्विजः । सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ १४० ॥

अर्थ-ये सब जहां इकट्ठे हों वहां राजा और स्नातक अधिक माननीय हैं । उन में भी राजा और स्नातक एक साथ मिल जायें तो राजा स्नातक को मान ( रास्ता ) देवे ( स्नातक उस ब्रह्मचारी को कहते हैं जिस का समावर्तन हो चुका हो ) ॥ १३९ ॥ जो द्विज शिष्य का उपनयन करके कल्प और रहस्य के साथ वेद पढ़ावे उस को "आचार्य" कहते हैं ( कल्प=यज्ञविधि । रहस्य=उपनिषद् ) ॥ १४० ॥



एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः । यो ध्यापयति वृत्त्यर्थ-  
मुपाध्यायः स उच्यते ॥१४१॥ निषेकादीनि कर्माणि यः करोति  
यथाविधि । संभावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥१४२॥

अर्थ-वेद के एक देश वा वेद के अङ्ग (ज्योतिष व्याकरणादि) वृत्तिके लिये  
जो पढ़ावे, उस को "उपाध्याय" कहते हैं ॥१४१॥ जो गर्भाधानादि शास्त्रोक्त कर्म  
कराता है और जो अन्न से पोषण करता है, उस ब्राह्मण को "गुरु" कहते हैं ॥१४२॥

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानऽग्निष्टोमादिकान्मखान् । यः करोति  
वृत्तो यस्य स तस्य त्विगिहोच्यते ॥१४३॥ य आ वृणोत्यवितथं ब्रह्म-  
णाश्रवणावुभौ । स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत्कदाचन ॥१४४॥

अर्थ-(जो आहवनीय अग्नि को उत्पन्न करके कर्म किया जाता है उस को)  
अग्न्याधेय (कहते हैं) और पाकयज्ञ (वैश्वदेवादि) और अग्निष्टोमादि यज्ञों  
को वरण लेकर जो जिसे करावे उस को इस शास्त्र में उस का 'अविज' कहते हैं  
॥ १४३ ॥ जो (गुरु) सत्यविद्या वेद से दोनों कर्णों को भरता है वह माता  
पिता के तुल्य जानने योग्य है, उस से कभी द्रोह न करे ॥ १४४ ॥

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता । सहस्रं तु पितृन्मा-  
ता गौरवेणातिरिच्यते ॥१४५॥ उत्पादक ब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्म-  
दः पिता । ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥१४६॥

अर्थ-(दश १० उपाध्यायों के तुल्य गौरव (बड़ाई) एक आचार्य में और  
शत १०० आचार्यों के समान पिता में, और पिता से सहस्रगुणित माता में  
होता है ॥ १४५ ॥ उत्पन्न करने वाला और वेद का पढ़ाने वाला (ये दोनों  
पिता हैं) इन में ब्रह्म का देने वाला बड़ा है क्योंकि विप्र का ब्रह्मजन्म ही  
इस लोक तथा परलोक में शाश्वत (स्थिर फल का हेतु) है ॥ १४६ ॥

कामान्मातापिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः । संभूतिं तस्य तां वि-  
द्यादयो नावभिजायते ॥१४७॥ आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधि-  
बद्धेदपारमः । उत्पादयति सा विद्या सा सत्या साऽजराऽमरा ॥१४८॥

अतः गुणो अ पूर्ण  
सा सत्या साऽजराऽमरा



अर्थ-माता और पिता तौ कामवश होकर भी इस बालक को उत्पन्न करते हैं इससे जिस योनि में वह जाता है, उसी प्रकार उस के हस्त पादादि हो जाते हैं ॥१४७॥ परन्तु सम्पूर्ण वेद का जानने वाला आचार्य इस बालक की विधिवत् गायत्री उपदेश द्वारा जी जाति उत्पन्न करता है, वह जाति सत्य है और अजर अमर है ( क्योंकि उसी से शाश्वत ब्रह्म की प्राप्ति होती है ) ॥ १४८॥

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः । तमपोहगुरुं विद्या-  
च्छ्रुतोपक्रिययातया ॥ १४९॥ ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च  
शासिता । बालोपि विप्रो बृहस्य पिता भवति धर्मतः ॥ १५०॥

अर्थ-जो ( उपाध्याय ) जिस को अल्प वा बहुत वेदाध्ययनादि कराकर उपकार करे, उस को भी इस लोक में पढ़ाई के उपकार करने से “ गुरु ” जाने ॥ १४९॥ ब्रह्म ( वेद ) के पढ़ाने से जन्म दिया है जिस ने और स्वधर्म की शिक्षा करने वाला, ऐसा ( आयु से ) बालक भी विद्वान् पुरुष, ( आयु-मात्र से ) बृह ( मूर्ख ) का धर्म से पिता है ॥ १५० ॥

“अध्यापयामास पितृन् शिशुराङ्गिरसः कविः । पुत्रका इति होवाच-  
ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥ १५१॥ ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतम-  
न्यवः । देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥ १५२॥ ”

“ अर्थ-अङ्गिरस् मुनि के विद्वान् पुत्र ने अपने पितृव्यादि को पढ़ाया और अपने अधिक विद्या ज्ञान से उन को शिष्य जान कर-हे पुत्रकाः । अर्थात् “ हे लड़को ! ” ऐसा कहा ॥ १५१॥ वे क्रोधयुक्त होकर देवताओं से “ पुत्र ” के शब्दार्थ को पूछने गये, देवताओं ने मिल कर उन से कहा कि उस लड़के ने तुम से ठीक कहा है ॥ ”

( मनु के पश्चात् अङ्गिरस् गोत्र कवि हुआ और उस को भी लिट् लकार परीक्ष भूत से बहुत पुराना करके इन श्लोकों में कहा होने से ये दोनों श्लोक नवीन हैं ) ॥ १५२ ॥

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः । अज्ञं हि बालमि-  
त्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥ १५३॥ न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन  
न बन्धुभिः । ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योनूचानः सनोमहान् ॥ १५४॥



## द्वितीयाध्याय

८५

अर्थ-अज्ञानी ही बालक है और सन्त्र का देने वाला पिता है । इस से अज्ञ को बालक और सन्त्रदाता को पिता कहते हैं ॥ १५३ ॥ न बहुत आयु से, न श्वेत बालों से, न द्रव्य से, न नाते में बड़ाई से बड़ाई है, किन्तु जो वेदाध्ययनपूर्वक धर्म का जानने और करने वाला है वही हम ऋषियों में बड़ा है । यह धर्मव्यवस्था ऋषियों ने की है ॥ १५४ ॥

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः । वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥ १५५ ॥ न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ॥ यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ १५६ ॥

अर्थ-ब्राह्मणों को ज्ञान की अधिकता से बड़प्पन होता है और क्षत्रियों का पराक्रम से, वैश्यों का धन धान्य की समृद्धि से और शूद्रों का जन्म से ॥ १५५ ॥ शिर के केश श्वेत होने से वृद्ध नहीं होता, यदि युवा भी लिखा पढ़ा हो तो उस को देवता 'वृद्ध' जानते हैं ॥ १५६ ॥

यथा काष्ठमयोहस्तो यथा चर्ममयोमृगः । यश्च विप्रो न धीयान स्त्रियस्ते नाम बिभ्रति ॥ १५७ ॥ यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गविचाफला । यथा चाज्ञोऽफलं दानं तथा विप्रो नृचोऽफलः ॥ १५८ ॥

अर्थ-जैसे काष्ठ का हाथी और चमड़े का मृग है वैसे विना पढ़ा ब्राह्मण का पुत्र, ये तीनों नाममात्र को धारण करते हैं ॥ १५७ ॥ जैसा स्त्रियों में नपुंसक निष्फल और गौ में गौ, तथा अज्ञानी में दान निष्फल है, वैसे ही वेदरहित ब्राह्मण निष्फल है ॥ १५८ ॥

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् । वाक्चैव मधुराश्लक्षणा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥ १५९ ॥ यस्य वाङ्मनसो शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा । स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥ १६० ॥

अर्थ-प्राणियों को श्रेय अर्थात् कल्याणरूपी अर्थ की शिक्षा अहिंसा (दुःख न देकर) ही से करे और वाणी मधुर और स्पष्ट कहे, धर्म की इच्छा करने वाला ( क्रूर भाषणादि न करे ) ॥ १५९ ॥ जिस के वाणी और मन शुद्ध और ( क्रोध मिथ्याभाषणादिकों से ) सदा सुरक्षित हों, वह वेदान्त के यथार्थ सब फल को प्राप्त होता है ( मोक्षलाभ करता है ) ॥ १६० ॥



नारुन्तुदः स्यादार्तोपि न परद्रोहकर्मधोः। ययास्योद्विजते वाचा  
नालोक्यां तामुदीरयेत् ॥१६१॥ संमानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत  
विषादिव । अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥१६२॥

अर्थ-दवाव पढ़ने पर भी किसी के सम्बन्ध में न करने वाली बात न बोले। दूसरे के साथ द्रोह करने वाली बुद्धि न करे और जिस वाणी से दूसरा डरे, लोक की अहित करने वाली, ऐसी कोई बात न बोले ॥१६१॥ ब्राह्मण सम्मान से सर्वदा ( सुख नहीं माने ) विषय डरे और सर्वदा अपमान की अमृतवत् इच्छा करे ( मान अपमान से उस को दुःखादि न होवे ) ॥१६२॥

सुखं ह्यवमनतः शैते सुखं च प्रतिबुध्यते । सुखं चरति लोकेस्मि-  
न्नवमन्ता विनश्यति ॥१६३॥ अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा  
द्विजः शनैः । गुरौ वसन्संचिनुयाद्ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥१६४॥

अर्थ-दूसरे से अपमान किये जाने पर भी खेद न करता हुआ पुरुष सुख पूर्वक शयन करता है सुखपूर्वक जागता है, लोगों में सुखपूर्वक व्यवहार करता है और अपमान करने वाला ( उस पाप से ) नष्ट हो जाता है ॥१६३॥ इस क्रम से ( जातकर्म से उपनयनपर्यन्त ) संस्कार किया हुआ द्विज, गुरु के समीप वास करता हुआ, वेद के ग्रहणार्थ तप का सञ्चय करे ॥१६४॥

तपोविशेषैर्विविधैर्ब्रतैश्च विधिचोदितैः । वेदः कृतस्नोऽधिगन्त-  
व्यः सरहस्योद्विजन्मना ॥१६५॥ वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तपस्यन्  
द्विजोत्तमः । वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥१६६॥

अर्थ-विधिविहित विविध तपोविशेष ( समयनियमादि ) और ब्रतों ( गुरुसेवादि ) से सम्पूर्ण वेद उपनिषदों के सहित, द्विजन्मा=ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य को पढ़ना योग्य है ॥१६५॥ तप करना ही तो ब्राह्मण वेद ही का सदा अभ्यास करे । वेदाभ्यास ही ब्राह्मण का परम तप कहा है ॥१६६॥

आहैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः । यः स्रग्व्यपिद्विजोऽधीते  
स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ॥१६७॥ योऽनधीत्यद्विजो वेदमन्यत्र  
कुरुते श्रमम् । स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥१६८॥



## द्वितीयाध्याय

अर्थ-जो द्विज पुष्पमाला को भी धारण करके ( ब्रह्मचर्य समाप्त करके भी ) प्रतिदिन यथाशक्ति वेदाध्ययन करता है वह निश्चय नख शिख तक परम तप करता है ( अर्थात् इस से अधिक कोई तप नहीं है ) ॥१६७॥ जो द्विज वेद को विना पढ़े अन्य कार्य में अग्र करे, वह जीता हुआ ही वंश के सहित शूद्रता को प्राप्त होता है ॥ १६८ ॥

मातुरग्रेधिजननं द्वितीयं मौञ्जीबन्धने । तृतीयं यज्ञदीक्षायां  
द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥१६९॥ तत्र यद्रहजन्मास्य मौञ्जीबन्धन-  
चिह्नितम् । तत्रास्य मातासावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥१७०॥

अर्थ-श्रुति की आज्ञा से द्विज के, प्रथम माता से जन्म, दूसरे मौञ्जीबन्धन, तीसरे यज्ञ की दीक्षा में, ये तीन जन्म होते हैं ॥ १६९ ॥ इन पूर्वोक्त तीनों जन्मों में वेदग्रहणार्थ उपनयन संस्काररूप जो जन्म है, उस जन्म में उस बालक की माता सावित्री और पिता आचार्य कहाते हैं ॥ १७० ॥

वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते । न ह्यस्मिन्युज्यते कर्म किं  
चिदामौञ्जीबन्धनात् ॥१७१॥ नाभिव्याहारयेद्ब्रह्म स्वधानिनय-  
नादृते । शूद्रेण हि समस्तावदावद्वेदे न जायते ॥ १७२ ॥

अर्थ-वेद के प्रदान से आचार्य को पिता कहते हैं । उस बालक की मौञ्जीबन्धन से पूर्व कोई ( श्रौतस्मार्तादि ) क्रिया ठीक नहीं है ॥ १७१ ॥ ( मौञ्जीबन्धन से पूर्व ) वेद का उच्चारण न करावे, परन्तु मृतक संस्कार में वेदमन्त्रों का उच्चारण वर्जित नहीं है । जब तक वेद में जन्म नहीं हुआ तब तक शूद्र के तुल्य है ॥ १७२ ॥

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते । ब्रह्मणो ग्रहणं चैव  
क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥१७३॥ यदस्य विहितं चर्म यत्सूत्रं या  
च मेखला । यो दण्डो यच्च वसनं तत्तदस्य व्रतेष्वपि ॥१७४॥

अर्थ-इस बालक को ( सायं प्रातः होम करना और दिन में न सोना इत्यादि ) व्रत और क्रमपूर्वक विधि से वेद का अध्ययन, उपनयन हुवे को कहा है ( इस लिये पूर्व न करे ) ॥१७३॥ जो जिस को चर्म, सूत्र, मेखला, दण्ड और वस्त्र; ( उपनयन में ) कहा है वही उस को व्रतों में भी जानो ॥१७४॥



सेवेतेमांस्तुनियमान्ब्रह्मचारीगुरौ वसन्। सन्नियम्येन्द्रियग्रामं  
तपोवृद्धयर्थमात्मनः॥१७५॥ (नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षि-  
पितृतर्पणम् । देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च)॥१७६॥

अर्थ-ब्रह्मचारी गुरु के समीप रहता हुआ इन्द्रियों का संयम करके अपने तप की वृद्धि के लिये इन ( जो आगे वर्णित हैं ) नियमों का पालन करे ॥१७५॥ प्रतिदिन स्नान करके पवित्र होके, देव, ऋषि और पितृसंज्ञक पुरुषों का जलादिसे तर्पण करे और समिधों का आधान कर होम से देवतों का पूजन करे ॥१७६॥

वर्जयेन्मधुमांसं च गन्धं माल्यं रसान्निव्रियः। शुक्तानि यानि सर्वा-  
णि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥१७७॥ अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपान-  
च्छत्रधारणम्। कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥१७८॥

अर्थ-इन वस्तुओं को छोड़ देवे-मधु, मांस, गन्ध, माल्य, अच्छे मधुरादि रस, स्त्री ( सिरका इत्यादि ) जो सड़ी वस्तु हैं वे सब और प्राणियों की हिंसा ॥१७७॥ तैलादि का मर्दन, आंखों में अञ्जन, जूता पहनना, छत्र धारण, काम, क्रोध, लोभ, नाचना, गाना, बजाना ॥ १७८ ॥

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथा नृत्यम्। स्त्रीणां च प्रेक्षणा लम्भ-  
मुपघातं परस्य च ॥१७९॥ एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क-  
चित् । कामाद्वि स्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥१८०॥

अर्थ-जुआ, झगड़ा, दूसरे की निन्दा, झूठ, स्त्रियों के साथ देखना वा दिल्लीगी करना और दूसरे का उपघात ( न करे ) ॥१७९॥ सर्वदा एकाकी शयन करे और शुक्र ( वीर्य ) को न गिरावे क्योंकि इच्छा से शुक्र का पात करे तो अपने व्रत का नाश करता है ॥ १८० ॥

स्वप्ने सिक्ता ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रम कामतः । स्नात्वा कर्म च यि-  
त्वा त्रिः पुनर्मामित्युच्चं जपेत् १८१ उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन्मृ-  
त्तिकाकुशान् । आहरेद्यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत् ॥१८२॥

अर्थ-स्वप्न में द्विज ब्रह्मचारी का बिना इच्छा के शुक्र गिर जावे, तो स्नान कर परमात्मा का पूजन करके, तीन बार “ पुनर्मामेत्विन्द्रियम् ” इस



अचा को पड़े ॥ १८१ ॥ पानी का घड़ा, पुष्प, गोबर, सड़ी, कुशा; इन को जितना आवश्यक हो लेमावे और प्रतिदिन भिक्षा लेमावे ॥ १८२ ॥

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु । ब्रह्मचार्याहरेद्वैक्षं गृहे-  
भ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥ १८३ ॥ गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुल-  
बन्धुषु । अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ॥ १८४ ॥

अर्थ-वेद और यज्ञ से जो हीन नहीं हैं और अपने नित्यकर्म में प्रतिष्ठित हैं, ऐसी के घरों से ब्रह्मचारी प्रतिदिन नियम से भिक्षा लावे ॥ १८३ ॥ गुरु और गुरु के ज्ञाति वाले, कुल और बन्धु, इन के कुल से भिक्षा न मांगे । यदि और जगह न मिले तो ( इन में से ) पहिले पहिलों को छोड़ देवे ॥ १८४ ॥

सर्ववापिचरेद्ग्रामं पूर्वोक्तानामसंभवे । नियम्य प्रयतो वाच-  
मभिशस्तांस्तु वर्जयेत् ॥ १८५ ॥ दूरादाहृत्य समिधः संनिदध्या-

द्विहायसि । सायं प्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥ १८६ ॥

अर्थ-पूर्वोक्तों ( वेदयज्ञसहितों ) से कहीं न मिले तो चाहे और सब ग्राम से भिक्षा मांगे, परन्तु बहुत न बोल कर, और उन में भी महापातकी आदि को छोड़ दे ॥ १८५ ॥ दूर से समिधा लाकर ऊँचे पर रखे, आलस्य छोड़ कर सायं प्रातः उन से अग्नि में होम किया करे ॥ १८६ ॥

अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य स पावकम् । अनातुरः स प्ररात्र-  
मवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥ १८७ ॥ भैक्षेण वर्त्तयेन्नित्यं नैकान्नादी  
भवेद्ब्रती । भैक्षेण ब्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता ॥ १८८ ॥

अर्थ-( यदि ) विना रोगादि बाधा ब्रह्मचारी सात दिन भिक्षावृत्ति और अग्नि में समिधों से सायं प्रातर्होम न करे तो ( ब्रह्मचर्यव्रत नष्ट होता है ) उस पर अवकीर्णिव्रत ( ११ अध्यायोक्त ) प्रायश्चित्त करे ॥ १८७ ॥ ब्रह्मचारी भिक्षा करके नित्य भोजन करे और एक का अन्न भोजन न करे ( किन्तु बहुत घरों से भिक्षा मांग के भोजन करे ) क्योंकि भिक्षा समूह से जो ब्रह्मचारी की वृत्ति है वह उपवास के तुल्य ( मुनियों ने कहा ) है ॥

( १८८ के आगे ३० पुराने पुस्तकों में से ८ जगह के पुस्तकों की टीका में मूल के स्थान में ये दो श्लोक अधिक पाये जाते हैं । शेष २२ पुस्तकों में नहीं । वे ये हैं:-



[न भैक्ष्यं परपाकः स्यान्न च भैक्ष्यं प्रतिग्रहः ।

सोमपानसमं भैक्ष्यं तस्माद्भैक्ष्येण वर्तयेत् ॥

भैक्ष्यस्यागमशुद्धस्य प्रोक्षितस्य हुतस्य च ।

यांस्तस्य ग्रसते ग्रासांस्ते तस्य क्रतुभिः समाः ॥ ]

ये किसी ने भिक्षा की निन्दा वा ग्लानि देख कर बना दिये हैं । जिन का अर्थ यह है कि "भिक्षा का अन्न न तो परपाक है, न प्रतिग्रह है, किन्तु सोमपान के तुल्य है, इस लिये भिक्षा के अन्न से वृत्ति करे । भिक्षा का अन्न शास्त्र से विहित, शुद्ध, प्रोक्षित, हुत हो तो उस के जितने ग्रास खाता है उतने यज्ञों का फल खाने वाले को होता है " ॥ इस से भी जाना जाता कि समय २ पर मनु में प्रक्षेप होता रहा है ) ॥ १८८ ॥

व्रतवद्देवदैवत्ये पित्र्ये कर्मण्यथर्षिवत् । काममभ्यर्थितोऽश्ली-  
याद् व्रतमस्य न लुप्यते ॥ १८९ ॥ ब्राह्मणस्यैव कर्मैतदुपदिष्टं  
मनीषिभिः । राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्म विधीयते ॥ १९० ॥

अर्थ-परन्तु देवतोद्देश ( देवयज्ञसम्बन्धी ब्रह्मभोज ) में निमग्नित ब्रह्म-  
चारी व्रतवत् ( एक के घर भी चाहे ) भोजन करे, तौ उस का व्रत लुप्त नहीं  
होता । तथा जीवित पितृनिमित्तक श्राद्धादि में मुन्यन्तों के ऋषितुल्य भोजन  
करने से भी (व्रत भङ्ग नहीं होता) ॥ १८९ ॥ परन्तु मनीषियों ने यह कर्म ब्राह्मण  
ब्रह्मचारी को कहा है, क्षत्रिय वैश्यों को यह कर्म ऐसा नहीं है ॥ १९० ॥

चोदितो गुरुणानित्यमप्रचोदितएव वा । कुर्यादध्ययने यत्तमा-  
चार्यस्य हितेषु च ॥ १९१ ॥ शरीरं चैव वाचं च बुद्धोन्द्रियम-  
नांसि च । नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥ १९२ ॥

अर्थ-गुरु प्रतिदिन कहे वा न कहे, पढ़ने में तथा गुरु की हित सेवा में  
यत्न करे ॥ १९१ ॥ शरीर, वाणी, ज्ञानेन्द्रिय और मन का संयम कर, हाथ  
जोड़ गुरु का मुख देखता हुआ ( सामने ) रहा करे ॥ १९२ ॥

नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्साधवाचारः सुसंयतः । आस्यतामिति  
चोक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः ॥ १९३ ॥ हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्स-  
र्वदा गुरुसन्निधौ । उत्तिष्ठेत्प्रथमंचास्य चरमं चैव संविशेत् ॥ १९४ ॥



अर्थ-निरन्तर ( ओढ़ने के वस्त्र से ) दक्षिण हाथ बाहर निकाले रहे और अच्छे आचार से युक्त " बैठो " ऐसा ( गुरु ) कहें तब गुरु के सम्मुख बैठे ॥ १९३ ॥ सदा गुरु से हीन ( घटिया ) अन्न वस्त्र वेष रख कर गुरु के पास रहे, गुरु से प्रथम जागे और गुरु के पश्चात् सोवे ॥ १९४ ॥

प्रतिश्रवणसंभाषे शयानो न समाचरेत् । नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः ॥१९५॥ आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः । प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्वा वंस्तु धावतः ॥१९६॥

अर्थ-सोता हुआ या आसन पर बैठा हुआ या भोजन करता हुआ या और और सुख करके खड़ा हुआ गुरु से आज्ञा का उत्तर या संभाषण न करे ॥१९५॥ आसन पर बैठे हुवे गुरु आज्ञा देवें तो आप आसन से उठ कर और गुरु खड़े हों तो आप समीप चलके और गुरु अपनी ओर आवें तो आप भी उन की ओर जाके और गुरु चलते-चलें तो आप उन के पीछे चलता हुआ (संभाषणादि करे) ॥१९६॥

पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम् । प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ॥१९७॥ नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ । गुरोस्तु चक्षुर्विषयेन यथेष्टासनो भवेत् ॥१९८॥

अर्थ-गुरु पीछे हों तो सम्मुख होकर और दूर हों तो निकट आकर और लेटे हों तो नमस्कार करके और खड़े हों तो समीप होकर ( कहैं सो सुने ) ॥ १९७ ॥ गुरु के समीप इस ( शिष्य ) का बिछौना वा आसन उन से सदा नीचा हो और गुरु के सामने मनमानी बैठक से न रहे ॥ १९८ ॥

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् । न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ॥१९९॥ गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्तते । कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥२००॥

अर्थ-गुरु का केवल नाम परोक्ष में भी न लेवे और गुरु के चलने बोलने वा चेष्टा की नकल न करे ॥ ( १९९ के पूर्वार्ध से आगे भी एक श्लोक सुं हनुमानप्रसाद प्रयाग के पुस्तक में पाया जाता है कि—

[ परोक्षं सत्कृपापूर्वं प्रत्यक्षं न कथंचन ।

दुष्टानुचारी च गुरोरिहवाऽमुत्र चैत्यधः ॥ ]



अर्थात्-गुरु का नाम परोक्ष में लेना हो तो नाम से पूर्व " सत्कृपा " लगा कर नाम लेवे, प्रत्यक्ष में सर्वथा नहीं । गुरु का दुष्टाचारी शिष्य इस लोक और परलोक में नीचता की प्राप्ति होता है ॥ इस से भी पाया जाता है कि मनु में श्लोक प्रायः मिलाये गये हैं । क्योंकि यह श्लोक शेष २९ पुस्तकों में नहीं पाया गया ॥ १९९॥ जहां पर कोई गुरु के दोष कहता हो वा निन्दा करता हो, वहां पर कान बन्द कर लेवे या वहां से और जगह चला जावे ॥ २०० ॥

परीवादात्खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः । परिभोक्ता कृमि-  
भवति कीटो भवति मत्सरी ॥ २०१ ॥ दूरस्थो नार्चयेदेनं न क्रुद्धो ना-  
न्तिके स्त्रियाः । यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभिवादयेत् ॥ २०२ ॥

अर्थ-गुरु की निन्दा सुनने से ( सर कर ) गधा होता है और निन्दा करने से ( दूसरे जन्म में ) कुत्ता होता है और गुरु के अनुचित द्रव्य का भोक्ता शिष्य कृमि होता है और मत्सरता करने वाला कीट होता है ॥ २०१ ॥ गुरु की दूर से पूजा न करे, क्रोधयुक्त हुआ भी न करे और जब गुरु अपनी स्त्री के साथ बैठे हों तब भी । स्वयं यान वा आसन पर बैठा हुआ इन को उतर कर नमस्कार करे ॥ २०२ ॥

प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह । असंश्रवे चैव गुरोर्न कि-  
ञ्चिदपि कीर्तयेत् ॥ २०३ ॥ गोऽश्वोऽष्ट्रयानप्रासादस्त्रस्तरेषु कटेषु  
च । आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च ॥ २०४ ॥

अर्थ-जब सम्मुख शिष्य की ओर से गुरु की ओर वायु आवे वह प्रति-  
वात है, ऐसी जगह गुरु के साथ न बैठे और अनुवात ( जहां गुरु का वायु अपने ऊपर आता हो ) वहां भी न बैठे (किन्तु दायें बायें बैठे) और गुरु जो न सुन सकें तो कुछ न कहे ॥ २०३ ॥ बैल, घोड़े, ऊंट की जोती हुई गाड़ी में और मकान की छत पर, पुराल तथा चटाई और चट्टर पर या लकड़ी की बड़ी चौकियों या नाव पर गुरु के साथ शिष्य बैठ सकता है ॥ २०४ ॥

गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् । न चानिमृष्टो गुरुणा  
स्वान्गुरुनभिवादयेत् ॥ २०५ ॥ विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः  
स योनिषु । प्रतिषेधत्सु चाधर्माद्वित्तं चोपदिशत्स्वपि ॥ २०६ ॥



अर्थ-गुरु का गुरु समीप आवे, तो उस से भी गुरुवत् वर्ताव करे। गुरु के घर में रहने वाला शिष्य (गुरु के बिना कहे अपने गुरु) माता पित्रादि को नमस्कार न करे ॥२०५॥ विद्यागुरु पूर्वोक्त उपाध्यायादि और पिता आदि लोग तथा जो अधर्म से रोकने वाले और हित के उपदेश करने वाले हैं, उन में भी यही वृत्ति रखे (आचार्यवत् भक्ति रखे और नमस्कारादि प्रतिदिन विधि के अनुकूल करे) ॥ २०६ ॥

श्रेयःसु गुरुवद्वृत्तिं नित्यमेव समाचरेत्। गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोश्चैव स्वबन्धुषु ॥ २०७ ॥ बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि। अध्यापयन्गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति ॥२०८॥

अर्थ-विद्या तप से अधिकों और आर्य गुरुपुत्रों तथा गुरु के बन्धुओं में नित्य गुरु के सी वृत्ति रखे ॥२०७॥ छोटा हो वा समान आयु वाला हो वा अपना पढ़ाया हुआ हो परन्तु यज्ञ में आकर ऋत्विज् हुआ हो तब गुरुपुत्र पढ़ाता हुआ गुरु के समान पूजा पाने के योग्य है ॥ २०८ ॥

उत्सादनं च गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने। नकुर्याद्गुरुपुत्रस्य

पादयोश्चावनेजनम् ॥ २०९ ॥ गुरुवत्प्रतिपूज्याः स्युः सवर्णा

गुरुयोषितः। असवर्णास्तुसंपूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनाः ॥२१०॥

अर्थ-शरीर सलना, न्हिलाना, उच्छिष्ट (शेष स्वच्छ) भोजन करना और पैर धोना; इतनी सेवा गुरुपुत्र की न करे (अर्थात् ये गुरु ही की करनी चाहिये) ॥२०९॥ सवर्णा गुरु की स्त्रियों का गुरुवत् पूजन करे और (अपने से) सवर्णा न हों तो उठकर नमस्कार करके ही उन का सत्कार करे (विशेष न करे) ॥२१०॥

अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च। गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानां च प्रसाधनम् ॥२११॥ गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभि-

वाक्षोह पादयोः। पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता ॥२१२॥

अर्थ-उबटना लगाना, स्नान कराना, देह दबाना, बाल फूलों से गुंथना (ये सेवा) गुरुपत्नी की न करे ॥२११॥ पूर्ण २० वर्ष का (शिष्य) गुण दोष का जानने वाला युवति गुरुपत्नी को पैर छूकर नमस्कार न करे (अर्थात् दूर से भूमि पर प्रणाम करे) ॥ २१२ ॥

शिष्य के वांछित कार्या



स्त्रभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम् । अतीर्थाच्च प्रमादयन्ति  
प्रमदासु विपश्चितः ॥ २१३ ॥ अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि  
वा पुनः । प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम् ॥ २१४ ॥

अर्थ-यह स्त्रियों का स्वभाव है कि पुरुषों को दोष लगा देना, इससे पण्डित लोग  
स्त्रियों में प्रसन्न नहीं होते (बड़े सावधान रहते हैं) ॥ २१३ ॥ काम क्रोध के वश हुआ  
पुरुष विद्वान् वा मूर्ख हो, उस को बुरे मार्ग पर ले जाने की स्त्री समर्थ है ॥ २१४ ॥

मात्रा स्वस्त्रादुहित्रा वान विविक्तासनो भवेत् । बलवानिन्द्रिय-  
ग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ २१५ ॥ कामं तु गुरुपत्नीनां युवती-  
नां युवा भुवि । विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन् ॥ २१६ ॥

अर्थ-मा या अहिन या लड़की के साथ भी एकान्त स्थान में न बैठे,  
क्योंकि अतिबलवान् इन्द्रियों का गण, विद्वान् पुरुष को भी खींच सकता है  
॥ २१५ ॥ युवती गुरुपत्नी हों और आप भी युवा हो तब चाहे यथोक्त विधिसे "अमुक  
शर्माहम्" यह कहकर (पैर बिना छुये) पृथिवी पर नमस्कार करले ॥ २१६ ॥

विप्रोष्यपादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम् । गुरुदारेषु कुर्वीत सतां  
धर्ममनुस्मरन् ॥ २१७ ॥ यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिग-  
च्छति । तथा गुरुगतां विदां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ २१८ ॥

अर्थ-प्रवास से आकर पादस्पर्श करके और प्रतिदिन सत्पुरुषों के धर्म को  
स्मरण करता हुआ गुरुपत्नियों की (बिना पांव छुवे) नमस्कारमात्र करले ॥ २१७ ॥  
जैसे कोई पुरुष कुदाल (कावड़े) से भूमि खोदता हुआ पानी को पाता है,  
वैसे ही गुरु में की विद्या की सेवा करने वाला पाता है ॥ २१८ ॥

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथ वा स्याच्छिखाजटः । नैनंग्रामेऽभि-  
निस्त्रोचेत्सूर्यो नाभ्युदियात्क्वचित् ॥ २१९ ॥ तं चेदभ्युदियात्सूर्यः  
शयानं कामचारतः । निस्त्रोचेद्वाप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्विनम्

अर्थ-मुण्डित अथवा शिखा वाला वा जटायुक्त, इन तीन प्रकार में से ब्रह्म-  
चारी कोई प्रकार रखे । ग्राम में इस को कभी सूर्य अस्त वा उदित न हो  
॥ २१९ ॥ यदि ज्ञानपूर्वक शयन करते हुये को सूर्य उदय वा अज्ञान से अस्त  
हो जावे तो दिन भर (गायत्री) जप करके उपवास करे ॥ २२० ॥



सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः । प्रायश्चित्तमकुर्वाणो  
युक्तः स्यान्महतैनसा ॥ २२१ ॥ आचम्य प्रयतो नित्यमुभे  
सन्ध्ये समाहितः । शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि ॥ २२२ ॥  
यदि स्त्री यद्गवर्जः श्रेयः किञ्चित्समाचरेत् । तत्सर्वमाचरेद्दयुक्तो  
यत्र वास्य रमेन्मनः ॥ २२३ ॥ धर्मार्थावच्यते श्रेयः कामार्थो धर्म  
एव च । अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ॥ २२४ ॥

अर्थ-यदि सूर्य के उदय वा अस्तके समय सो जाय और प्रायश्चित्त न करे  
तो महापाप से युक्त होता है ॥ २२१ ॥ आचमन करके प्रतिदिन एकाग्रचित्त होकर  
दोनों सन्ध्याओं को पवित्रदेश में यथाविधि जप करता हुआ उपासना करे ॥ २२२ ॥  
जिस किसी धर्म का स्त्री वा शूद्र भी आचरण करता हो और उन में इस का चित्त  
लगे, उस को भी मन लगा कर करे ॥ २२३ ॥ धर्म अर्थ ये दो श्रेय कहाते हैं ।  
कोई काम को भी श्रेय मानते हैं और अन्यो का मत यह है कि अर्थ ही श्रेय है ।  
( अपना मत मनु बनाते हैं कि ) तीनों ( पुरुषार्थ ) त्रिवर्ग श्रेय हैं ॥ २२४ ॥

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पितामूर्तिः प्रजापतेः । माता पृथिव्या मू-  
र्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः ॥ २२५ ॥ आचार्यश्च पिता चैव माता  
भ्राता च पूर्वजः । नार्त्तनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥ २२६ ॥

अर्थ-आचार्य वेद की मूर्ति है और पिता ब्रह्मा की मूर्ति है, माता  
पृथिवी की और भ्राता आत्मा की मूर्ति है ( इस लिये किसी का अपमान  
न करे ) ॥ २२५ ॥ ब्राह्मण को विशेष करके चाहिये कि आचार्य पिता माता और  
ज्येष्ठ भ्राता, इन का अपमान स्वयं क्लेशित होने पर भी न करे ॥ २२६ ॥

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवेनृणाम् । न तस्य निष्कृतिः शक्या  
कर्तुं वर्षशतैरपि ॥ २२७ ॥ तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च  
सर्वदा । तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥ २२८ ॥

अर्थ-मनुष्यों की उत्पत्ति और पालनादि में जो क्लेश माता पिता सहते  
हैं, उस क्लेश का बदला सौ वर्ष में भी नहीं हो सकता ॥ २२७ ॥ माता पिता  
और गुरु का सर्वकाल में नित्य प्रिय करे । इन तीनों की ही प्रसन्नता होने  
पर सम्पूर्ण तप पूरा होता है ॥ २२८ ॥



तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते। न तैरभ्यननुज्ञातो धर्म-  
मन्यं समाचरेत् ॥२२९॥ त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आ-  
श्रमाः । त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥२३०॥

अर्थ-उन तीनों की शुश्रूषा परम तप कहाती है और कुछ अन्य धर्म उन की आज्ञा के बिना न करे ॥ २२९ ॥ माता पिता और गुरु ही तीनों लोक हैं और वही तीनों आश्रम हैं और वही तीनों वेद हैं और वही तीनों अग्नि हैं ॥ २३० ॥

पितावैगार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः। गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेतागरीयसी ॥२३१॥ त्रिष्वप्रमादन्वैतेषु त्रींलोकान्वि-  
जयेद्गृही । दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्विवि मोदते ॥ २३२ ॥

अर्थ-(जिन में) पिता तौ गार्हपत्याग्नि और माता दक्षिणाग्नि और गुरु आहवनीयाग्नि है, ये तीन अग्नि प्रसिद्ध तीन अग्नियों से बड़े हैं ॥२३१॥ गृहस्थ इन तीनों के विषय में प्रमाद को त्यागता हुआ (शुश्रूषा करे तो) मानों तीनों लोकों को जीते और अपने शरीर से प्रकाशमान होकर देव-ताओं के समान सुख में प्रसन्न रहे ॥ २३२ ॥

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् । गुरुशुश्रूषया त्वेवं  
ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥२३३॥ सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आ-  
दृताः । अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याऽफलाः क्रियाः ॥२३४॥

अर्थ-माता की भक्ति से मानों इस लोक को जीतता है और पिता की भक्ति से मध्य (अन्तरिक्ष) लोक को और ऐसे ही गुरु की शुश्रूषा से ब्रह्म-लोक को प्राप्त होता है ॥ २३३ ॥ जिस पुरुष ने माता पिता और गुरु का सत्कार किया, उस को सम्पूर्ण धर्म फल देते हैं और जिस के इन तीनों का सत्कार नहीं होता, उस के (श्रौत स्मार्त) कर्म सब निष्फल होते हैं ॥ २३४ ॥

यावत्त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत् । तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां  
कुर्यात्प्रियहिते रतः ॥ २३५ ॥ तेषामनुपरोधेन पारत्र्यं यदादा-  
चरेत् । तत्तन्निवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः ॥ २३६ ॥

अर्थ-इस कारण उन की प्रीति और हित में परायण होता हुआ जब तक वे जीवें तब तक चाहे और कुछ न करे, किन्तु उन की नित्य शुश्रूषा करे ॥२३५॥ माता



पिता और गुरु की आज्ञा के अनुसार जो परलोक के निमित्त कर्म करे, सो मन, वचन और कर्म से उन ही के निवेदन करदे ॥ २३६ ॥

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते। एषधर्मः परः साक्षा-  
दुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ २३७ ॥ श्रद्धाधानः शुभां विद्यामाददी-  
तावरादपि। अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥ २३८ ॥

अर्थ—साता, पिता और गुरु की शुश्रूषा से पुरुष के संपूर्ण कर्म पूरे होते हैं। इस कारण यही साक्षात् परम धर्म है और अन्य उपधर्म हैं ॥ २३७ ॥ श्रद्धायुक्त होता हुआ उत्तम विद्या शूद्र से भी ग्रहण करले और चण्डाल से भी परम धर्म ग्रहण करले और स्त्रीरत्न अपने से नीचे कुल की हो उसे भी (विवाह के निमित्त) अङ्गीकार करले ॥ २३८ ॥

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम्। अमित्रादपि सद्  
वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम् ॥ २३९ ॥ स्त्रियोरत्नान्यथो विद्या धर्मः  
शौचं सुभाषितम्। विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः

अर्थ—(विष और अमृत मिले हों तो) विष से अमृत और बालक से भी हित वचन ग्रहण करले। शत्रु से भी अच्छा कर्म और अमेध्य में से भी सुवर्णादि ग्रहण करले ॥ २३९ ॥ स्त्री, रत्न, विद्या, धर्म, शौच, अच्छे वचन और अनेक प्रकार की शिल्पविद्या सब से ग्रहण करले ॥ २४० ॥

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते। अनुव्रज्या च शुश्रूषा  
यावदध्ययनं गुरोः २४१ नाऽब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वा समात्यन्तिकं  
वसेत्। ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्क्षन् गतिमनुत्तमाम् ॥ २४२ ॥

अर्थ—आपत्तिसमय में ब्राह्मण के विना (क्षत्रिय और वैश्य से) भी पढ़ना कहा है और गुरु की आज्ञा में चलना और शुश्रूषा जब तक पढ़े तब तक करे ॥ २४१ ॥ ब्राह्मण गुरु न हो तो शिष्य सदा गुरुकुल निवास न करे। ब्राह्मण भी साङ्ग वेदों का पढ़ाने वाला न हो तो मौन की इच्छा करता हुआ शिष्य सदा गुरुकुल निवास न करे ॥ २४२ ॥

यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत् गुरोः कुले। युक्तः परिचरेदेन-  
माशरीरविमोक्षणात् ॥ २४३ ॥ आसमाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते



गुरुम् । स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सदा शाश्वतम् ॥२४४॥

अर्थ-जो गुरुकुल में सदा वास की रुचि ही हो तो सावधानी से जब तक जीवे गुरु की शुश्रूषा करता रहे और ( ब्रह्मचर्य में ) युक्त रहे ॥ २४३ ॥ जो शरीर समाप्त होने तक गुरु की शुश्रूषा करता है वह ब्राह्मण अनायास मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ २४४ ॥

न पूर्वे गुरवे किञ्चिदुपकुर्वीत धर्मवित् । स्नाह्यंस्तु गुरुणाज्ञप्तः

शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् ॥२४५॥ क्षेत्रं हिरण्यं गामश्च उत्त्रोपा-  
नहमासनम् । धान्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रीतिमावहेत् ॥२४६॥

अर्थ-धर्म का जानने वाला स्नान के अतिरिक्त कोई वस्तु गुरु से पूर्व न वर्त्ते । गुरु की आज्ञा से यथाशक्ति गुरु के लिये जलादि ला देवे ॥ २४५ ॥ पृथिवी, सुवर्ण, गौ, घोड़ा, छत्र, जूता, आसन, अन्न, शाक और वस्त्र गुरु के निमित्त प्रीतिपूर्वक निवेदित करे ॥ २४६ ॥

आचार्यं तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते । गुरुदारे सपिण्डे वा  
गुरुबहुवृत्तिमाचरेत् ॥२४७॥ एतेष्वविद्यमानेषु स्नानासनवि-  
हारवान् । प्रयुज्जानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद्देहमात्मनः ॥ २४८ ॥

अर्थ-गुरु के सरे पीछे गुरु का पुत्र गुणों से युक्त हो और गुरु की स्त्री हो और गुरु के सपिण्ड अर्थात् भ्राता आदि होवें तो उनको भी गुरु के तुल्य मानता रहे ॥२४७॥ और ये ( गुरुपुत्र, गुरु की स्त्री और गुरु के पितृव्यादि ) न होवें तो स्नानादि और होमादि करता हुआ अपने शरीर को साधे (ब्रह्म की प्राप्ति के योग्य करे ) ॥ २४८ ॥

एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमधिप्लुतः ।

स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेहाजायते पुनः ॥ २४९ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे (भृगुप्रोक्तायां संहितायां) द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

अर्थ-जो ब्राह्मण ऐसे अखण्डित ब्रह्मचर्य करता है वह ब्रह्म को प्राप्त होता है और फिर पृथिवी पर जन्म नहीं लेता ॥ २४९ ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामि-विरचिते मनुस्मृतिभाषानुवादे

द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥



346

ओ३म्

## अथ तृतीयोऽध्यायः

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवैदिकं व्रतम् । तदर्धिकं पादिकं  
वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥ १ ॥ वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि  
यथाक्रमम् । अविप्लुतब्रह्मचर्यं गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥ २ ॥

अर्थ-गुरुकुल में (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद) तीनों वेद छत्तीस वर्षपर्यन्त  
 अथवा अठारह वर्षपर्यन्त वा नव वर्षपर्यन्त पढ़े अथवा जितने काल में पढ़ने  
 की शक्ति होवे उतने ही काल तक पढ़े और ब्रह्मचर्य रखे ॥ १ ॥ क्रम से  
 तीनों वेद वा दो वेद अथवा एक ही वेद पढ़कर ब्रह्मचर्य खण्डित न करके  
 गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे ॥ २ ॥

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः । स्रग्विणं तल्पआसीन-  
 मर्हयेत्प्रथमं गवा ॥ ३ ॥ गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथा-  
 विधि । उद्बहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥ ४ ॥

अर्थ-अपने धर्म के अनुसार पिता (आचार्य) से वेदरूपी दायभाग लाते  
 हुबे लौट कर आये उस, माला से अलंकृत और शय्या पर स्थित हुबे को (पिता)  
 गोदान से पूजित करे ॥ ३ ॥ गुरु की आज्ञा से यथाविधि स्नान और समावर्तन  
 करके द्विज अपने वर्ण की शुभलक्षणों से युक्त स्त्री से विवाह करे ॥ ४ ॥

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः । साप्रशस्ताद्विजा-  
 तीनां दारकर्मणि मैथुने ॥ ५ ॥ महान्त्यपि समृद्धानि गोजावि-  
 धनधान्यतः । स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥

अर्थ-जो माता की सपिण्ड (मात पीढ़ी में) न हो और पिता के गोत्र  
 में न हो (ऐसी स्त्री) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को स्त्रीकर्म=मैथुन में श्रेष्ठ है  
 ॥ ५ ॥ यदि गौ, बकरी, भेड़, द्रव्य और अन्न से बहुत समृद्ध भी हों तौ भी  
 इन आगे कहे (दोषयुक्त) दश कुलों की कन्या से विवाह न करे ॥ ६ ॥



हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्चन्द्रोरोमशार्शसम् । क्षय्यामयाव्यप-  
 स्मारिश्चित्रिकुष्ठिकुलानि च ७ नोद्वहेत्कपिलांकन्यां नाधिकाङ्गीं  
 न रोगिणीम् । नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम् ८

अर्थ—( वे कुल ये हैं ) हीनक्रिय ( जातकर्मादिरहित ) १, पुरुषरहित २, वेदपाठरहित ३, बहुत बड़े बालों वाला ४, बवासीरयुक्त ५, क्षय व्याधि से युक्त ६, मन्ददाग्नि ७, सिरनी ८, श्वेतकुष्ठी ९, और गण्डितकुष्ठी १० ( इन दश कुलों को छोड़ देवे ) ॥ ७ ॥ कपिल रङ्ग वाली, अधिक अङ्ग वाली, रोगिणी, विना बालों वाली, बहुत बालों वाली, कठोर बोलने वाली और कांयरी कन्या से विवाह न करे ॥ ८ ॥

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् । न पक्ष्यहिप्रेष्यना-  
 म्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥ ९ ॥ अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंस-  
 वारणगामिनीम् । तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम् १०

अर्थ—नक्षत्र, वृक्ष, नदी, अन्त्यज, पहाड़, पक्षी, सर्प, शूद्र ( आदि ) नामों और भयङ्कर नामों वाली से भी न करे ॥ ९ ॥ सुन्दर अङ्गवाली, अच्छे नाम वाली, हंस और गज के सदृश गमन वाली, पतले रोमाञ्चों, बालों और दांतों और कोमल शरीर वाली से विवाह करे ॥ १० ॥

यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विज्ञायेत वा पिता ।

नोपयच्छेत्तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया ॥ ११ ॥

“सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि ।

कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशोवराः ॥ १२ ॥”

अर्थ—जिस के भाई न हों वा ( जिस के ) पिता का पता न लगे, ज्ञानवान् पुरुष ( जिस का प्रथम पुत्र अपने ज्ञान की गोद धर्म से देना पड़े उस को “पुत्रिका” कहते हैं ) “पुत्रिका” धर्म से डर कर उस से विवाह न करे ॥ ११ ॥

“ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों की स्त्री करने में प्रथम अपने वर्ण की कन्या से विवाह श्रेष्ठ है और कामाधीन विवाह करे तो क्रम से ये नीची भी श्रेष्ठ हैं ॥ १२ ॥”

“शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते ।

ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाऽग्रजन्मनः ॥ १३ ॥”



न ब्राह्मणक्षत्रिययोरापदपि हि तिष्ठतोः ।

कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपदिश्यते ॥ १४ ॥

“ अर्थ-शूद्र को शूद्र ही की कन्या से, वैश्य को वैश्य की और शूद्र की कन्या से, क्षत्रिय को शूद्र वैश्य और क्षत्रिय की कन्या से और ब्राह्मण को शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण की ( कन्या से विवाह करलेना भी बुरा नहीं है ) ॥ ” ( १२।१३ श्लोक स्वयं मनु के ही अगले १४।१५।१७।१८ और १९ वें श्लोकों से विरुद्ध हैं ) ॥ १३ ॥ ब्राह्मण क्षत्रिय को आपत्काल में रहतों को भी किसी भी दृष्टान्त में शूद्रा भार्या नहीं बताई गई है ॥ १४ ॥

हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्धहन्तो द्विजातयः ।

कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानानि शूद्रताम् ॥ १५ ॥

“ शूद्रावेदी पतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च ।

शौनकस्य सुतोत्पत्त्या तदपत्यतया भृगोः ॥ १६ ॥ ”

अर्थ-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य मोहवश अपने वर्ण से हीन वर्णस्थ स्त्री से विवाह करें तो सन्तानसमेत अपने कुल को शूद्रता को प्राप्त करते हैं ॥ १५ ॥

“ शूद्रा से विवाह करने से पतित होता है, यह अत्रि और उत्थय के पुत्र का मत है । शूद्रा से सन्तान उत्पन्न करने से पतित होता है, यह शौनक का मत है । और उस सन्तान के सन्तान होने से पतित हो, यह भृगु का वचन है ” । ( स्पष्ट है कि यह श्लोक मनु का नहीं है ) ॥ १६ ॥

शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणोयात्यधोगतिम् । जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते १७ दैवपित्र्यातिथेयानि तत्प्रधानानि यस्य तु । नाश्रन्ति पितृदेवास्तन्न च स्वर्गं स गच्छति ॥ १८ ॥

अर्थ-शूद्रा के शय्या पर आरोपण करने से ब्राह्मण नीच गति को प्राप्त होता है और उस से सन्तान उत्पन्न करके तो ब्राह्मणत्व से ही हीन हो जाता है ॥ १७ ॥ और जिस ब्राह्मण ने शूद्रा स्त्री के प्रधानत्व से होम, श्राद्ध और अतिथिभोजन कराया चाहा है, उस का अन्न पितृसंज्ञक और देवतासंज्ञक पुरुष ग्रहण नहीं करते और वह पुरुष स्वर्ग को प्राप्त नहीं होता ॥ १८ ॥



वृषलीफेनपीतस्य निःश्रासोपहतस्य च । तस्यां चैव प्रसूतस्य  
निष्कृतिर्न विधीयते ॥ १९ ॥ चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेहहिता-  
हितान् । अष्टाविमान्समासेन स्त्रीविवाहान्निबोधत ॥ २० ॥

अर्थ-शूद्रा के मुख चुम्बन करने वाले पुरुष की और उस के मुंह की  
झाफ लगने से उस पुरुष और उस से उत्पन्न सन्तान की शुद्धि नहीं होती  
॥ १९ ॥ चारों वर्णों के परलोक और इस लोक में अच्छे बुरे आठ प्रकार के  
विवाहों की संक्षेप से सुनो ॥ २० ॥

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः ।

गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ २१ ॥

“यो यस्य धर्मो वर्णस्य गुणदोषौ च यस्य यौ ।

तद्वः सर्वं प्रवक्ष्यामि प्रसवे च गुणाऽगुणान् ॥ २२ ॥”

अर्थ-ब्राह्म १ दैव २ आर्ष ३ प्राजापत्य ४ आसुर ५ गान्धर्व ६ राक्षस ७  
और आठवां पैशाच ८ अतिनिन्दित है ॥ २१ ॥ “जो ( विवाह ) जिस वर्ण  
को योग्य है और जो गुण दोष जिस में हैं, सो तुम से कहता हूं और  
सन्तान के गुण दोष भी ( कहता हूं ) ॥ २२ ॥”

“पडानुपूर्व्या विप्रस्य क्षत्रस्य चतुरो वरान् । विट्शूद्रयोस्तु ता-  
नेव विद्याद्वर्ग्यान्ऽराक्षसान् ॥ २३ ॥ चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान्प्रज्ञा  
स्तान्कवयो विदुः । राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः ॥ २४ ॥”

“अर्थ-ब्राह्मण को क्रम से ( ब्राह्म दैव आर्ष प्राजापत्य आसुर गान्धर्व )  
छः विवाह धर्म्य हैं और क्षत्रिय को ( आर्ष प्राजापत्य आसुर गान्धर्व ) चार  
विवाह श्रेष्ठ हैं । वैश्य और शूद्र को भी ये ही ( चारों ) विवाह धर्मसम्बन्धी  
हैं, परन्तु किसी को भी राक्षस विवाह योग्य नहीं ॥ २३ ॥ ब्राह्मण को ( ब्राह्म  
दैव आर्ष प्राजापत्य ) पहले चार विवाह उत्तम हैं । क्षत्रिय को राक्षस विवाह  
श्रेष्ठ है और वैश्य शूद्र को एक आसुर विवाह उत्तम है ॥ २४ ॥”

“पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ स्मृताविह । पैशाचश्चासुर-  
श्चैव न कर्त्तव्यौ कदाचन ॥ २५ ॥ पृथक्पृथग्वा मिश्रौ वा विवाहौ  
पूर्वचोदितौ । गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ ॥ २६ ॥”



“ अर्थ-पांच विवाहों में तीन धर्मसम्बन्धी और दो अधर्मसम्बन्धी हैं। पैशाच और आसुर कभी करने योग्य नहीं हैं ॥ २५ ॥ पहिले कहे हुवे न्यारे न्यारे अथवा मिलेहुवे गान्धर्व और राक्षस विवाह क्षत्रियों के धर्मसम्बन्धी कहे हैं ॥ ” ( २२ । २३ । २४ । २५ । २६ श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं । क्योंकि प्रथम ती २१ वें में जो ८ विवाह कहे हैं, उन के लक्षण क्रम से २७ वें से वर्णन किये गये हैं । इस लिये उन से ठीक सम्बन्ध मिल जाता है । दूसरे ये श्लोक स्वयं परस्परविरुद्ध हैं । क्योंकि आगे ३९ । ४० । ४१ वें श्लोकों में प्रथम के ब्राह्मादि विवाह उत्तम और पिछले ४ निन्दित बताये जायेंगे और यही उन के लक्षणों से पाया जाता है । परन्तु उस के विरुद्ध यहां २३ वें में ब्राह्मण को छः विवाह धर्मयुक्त बताये हैं । २५ वें में पैशाच और आसुर को वर्जित किया है, २३ और २४ वें में उन्हें विहित बताया है । इत्यादि बहुत विरोध हैं, जो स्पष्ट हैं ) ॥ २६ ॥ ✕

आच्छाद्य चाचयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम् । आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥ २७ ॥ यज्ञे तु वितते सम्य- गृत्विजे कर्म कुर्वते । अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ॥ २८ ॥

अर्थ-विद्यायुक्त शीलवान् वर को बुला कर वस्त्र तथा भूषणादि से सत्कृत करके कन्यादान करने को “ ब्राह्म ” विवाह कहते हैं ॥ २७ ॥ ( ज्योतिषोमादि ) यज्ञ में अच्छे प्रकार यज्ञ कराने वाले ऋत्विज् वर को भूषण पहिरा कर कन्यादान करने को “ दैव ” विवाह कहते हैं ॥ २८ ॥

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरा दादाय धर्मतः । कन्याप्रदानं विधिवदार्पो धर्मः स उच्यते ॥ २९ ॥ सहोभौ चरतं धर्ममिति वाचानुभाष्य च । कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥ ३० ॥

अर्थ-एक गौ और एक बैल अथवा दो गौ और दो बैल ( यज्ञादि के निमित्त अथवा कन्या को देने के निमित्त ) वर से लेकर शास्त्र में कहे प्रकार से कन्यादान करने को “ आर्प ” विवाह कहते हैं ( आगे ५३ वें श्लोक में कहेंगे कि यह सब का मत नहीं है और बुरा है ) ॥ २९ ॥ ‘तुम दोनों साथ धर्म के आचरण करो, कन्यादान के समय वाणी से यह प्रार्थना करके जो सत्कार-पूर्वक कन्यादान किया जाता है वह “ प्राजापत्य ” विवाह है ॥ ३० ॥



ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः । कन्याप्रदानं स्वा-  
च्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥ ३१ ॥ इच्छयान्योन्यसंयोगः कन्या-  
याश्च वरस्य च । गान्धर्वः स तु विज्ञेयो सैथुन्यः कामसंभवः ॥ ३२ ॥

अर्थ-वर के माता पिता आदि और कन्या को यथाशक्ति धन देकर जो  
इच्छापूर्वक कन्या देना है, वह " आसुर " विवाह कहा जाता है ॥ ३१ ॥  
अपनी इच्छा से कन्या और वर का मिलाप मात्र होना, यह कामियों का  
सैथुन्य " गान्धर्व विवाह " जानना चाहिये ॥ ३२ ॥

हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदन्तीं गृहात् । प्रसह्य कन्या-  
हरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ३३ ॥ सुप्रां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रो-  
पगच्छति । स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ ३४ ॥

अर्थ-विनाश करके, हस्तपादादि पर चोट मारके, मकान आदि फोड़  
के, गाली देती और रोती हुई कन्या को हठ से लेजाना " राक्षस " विवाह  
कहाता है ॥ ३३ ॥ सोती हुई और नशा पी हुई और प्रमादिनी को जहां  
मनुष्य न हों, विषय करके प्राप्त होना, यह पाप का मूल विवाहों में अधम  
८ वां " पैशाच " विवाह है ॥ ३४ ॥

अद्विरेव द्विजागृयाणां कन्यादानं विशिष्यते ।

इतरेषां तु वर्णानामितरेतरकाम्यया ॥ ३५ ॥

" यो यस्यैषां विवाहानां मनुना कीर्तितो गुणः ।

सर्वे शृणुत तं विप्राः सर्वे कीर्तयतो मम ॥ ३६ ॥ "

अर्थ ब्राह्मणों को जल से ही कन्यादान करना श्रेष्ठ है और क्षत्रियादि  
वर्णों को परस्पर की इच्छा मात्र से कन्यादान होता है (जल का नियम नहीं  
है) ॥ ३५ ॥ " इन विवाहों में जो गुण जिस विवाह का मनु ने कहा है, सो  
संपूर्ण हे ब्राह्मणो ! मुझ से सब सुनो " (यह शृगु ने ब्राह्मणों से कहा है) ॥ ३६ ॥  
दश पूर्वान्परान्वंश्यानात्मानं चैकविंशकम् । ब्राह्मीपुत्रः सुकृत  
कृन्मोचयेदेनसः पितृन् ॥ ३७ ॥ दैवोढाजः सुतश्चैव सप्त सप्त  
परावरान् । आर्षोढाजः सुतस्त्रींस्त्रीन्षट्षट्कायोढाजः सुतः ॥ ३८ ॥



अर्थ-ब्राह्मविवाह की कन्या का पुत्र, जो अच्छे कर्म करने वाला होवे तो दश पीढ़ी प्रथम ( अपने जन्म से पहिली ) और दशपीढ़ी पर ( पुत्रादि ) तथा अपने को, इस प्रकार इक्कीस को ( अपयशरूपी ) पाप से छुटाता है ॥ १७ ॥ और दैवविवाह की स्त्री का पुत्र सात पीढ़ी पहिली और सात अगली तथा ऋषिविवाह की स्त्री का पुत्र तीन पीढ़ी पहिली और तीन अगली और राजापत्य विवाह की स्त्री का पुत्र छः पीढ़ी पहिली और छः अगली और अपने को ( अपयश ) पाप से छुटाता है ॥

( ये दो श्लोक ब्राह्मादि चार विवाहों की प्रशंसा के हैं । यथार्थ में जब किसी कुल में कोई धर्मात्मा प्रतिष्ठित पुरुष उत्पन्न होता है, तो अगले पिछलों के नाम पर कोई बड़ा भी लगा हो तो उस से दब जाता है । और उत्तम विवाह उत्तम सन्तान का हेतु है ही । इस लिये ब्राह्म आदि ४ विवाहों का न्यूनाधिक उत्तमत्व दिखाया गया है ) ॥ १८ ॥

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्वैवानुपूर्वशः । ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसंमताः ॥३६॥ रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तोयशस्विनः । पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ॥४०॥

अर्थ-ब्राह्मादि चार विवाहों में ही क्रम से ऐसे पुत्र होते हैं जो ब्रह्मतेजस्वी और श्रेष्ठ मनुष्यों के प्यारे, ॥३६॥ रूपवान्, पराक्रमी, गुणवान्, धनवान्, यश वाले, पुष्कल भोग वाले, धर्मात्मा और १०० वर्ष की आयुवाले होते हैं ॥४०॥

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः । जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥४१॥ अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा । निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्जयेत् ॥४२॥

अर्थ-शेष दुष्ट विवाहों के सन्तान निर्लज्ज, झूठ बोलने वाले, ब्रह्मधर्म-द्वेषी ( यज्ञादि धर्मों के निन्दक ) उत्पन्न होते हैं ॥ ४१ ॥ अच्छे स्त्रीविवाहों से अच्छी और बुरे विवाहों की बुरी सन्तान मनुष्यों के होती है । इस कारण निन्दित विवाहों का त्याग करे ॥ ४२ ॥

“ पाणिग्रहणसंस्कारः सवर्णासूपदिश्यते । असवर्णास्वयं ज्ञेयो विधिरुद्वाहकर्मणि ॥४३॥ शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतो-  
दोवैश्यकन्यया । वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने ॥४४॥



“अर्थ-पाणिग्रहणसंस्कार अपने वर्ण की स्त्री के साथ कहा है और अपने वर्ण से दूसरे वर्ण की स्त्रियों में विवाह कर्म में यह विधि जाननी चाहिये:-॥४३॥ उत्तम वर्ण का पुरुष हीन वर्ण की कन्या से विवाह करे तो क्षत्रिय की कन्या को वाण का एक सिरा और वैश्य की कन्या को सांडे का एक सिरा और शूद्र की कन्या को कपड़े का एक सिरा पकड़ना चाहिये ॥”

( ४३ । ४४ श्लोकों में स्वयं ही कहते हैं कि यह पाणिग्रहण संस्कार नहीं है, जो असवर्णा के साथ हो । और असवर्णा के साथ विवाह करना पूर्व श्लोक ४ के विरुद्ध होने से त्याज्य भी है ) ॥ ४४ ॥

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा । पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां  
तद्व्रतोरतिकाम्यया ॥४५॥ ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः

षोडश स्मृताः । चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्भिर्गर्हितैः ॥४६॥

अर्थ-अपनी स्त्री से ( अमावास्यादि ) पर्ववर्जित दिनों में ऋतुकाल में प्रीतिपूर्वक संभोग करे ॥४५॥ स्त्रियों की स्वाभाविक ऋतुकाल की १६ रात्रि हैं, जिन में ( पहले ) चार दिन अच्छे मनुष्यों से निन्दित भी संमिलित हैं ॥४६॥

तासामाद्याश्रतस्तु निन्दितैकादशीचया । त्रयोदशी च शेषा-

स्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥४७॥ युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयु-

ग्मासुरात्रिषु । तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवेस्त्रियम् ॥४८॥

अर्थ-उन में चार प्रथम की और ११ वीं और १३ वीं ये छः रात्रि ( स्त्री भोग में ) निषिद्ध हैं और शेष दश रात्रि श्रेष्ठ हैं ॥४७॥ ( उन दशों में भी ) युग्म (छठी आठवीं इत्यादि) में पुत्र उत्पन्न होते हैं और अयुग्म ( सातवीं आदि ) रात्रियों में कन्या उत्पन्न होती हैं । इस कारण पुत्र की इच्छा वाला युग्म तिथियों में ऋतुकाल में स्त्री से संभोग करे ॥ ४८ ॥

पुमान्पुंसेऽधिकेशुक्रे स्त्रीभवरयधिकेस्त्रियाः । समेऽपुमान्पुंस्त्रि-

यौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः ॥४९॥ निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु  
स्त्रियोरात्रिषु वर्जयन् ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमेव सन् ॥५०॥

अर्थ-पुरुष का वीर्य अधिक हो तो पुत्र और स्त्री का अधिक हो तो कन्या, जो दोनों का वीर्य बराबर हो तो नपुंसक वा १ कन्या और १ पुत्र



उत्पन्न होवे । वीर्य क्षीण हो अथवा कम हो तो सन्तान नहीं होती ॥४९॥  
चार रात्रि ऋतु की, ११ वीं १३ वीं और दो पर्व की इन ८ रात्रियों की त्याग  
कर, शेष रात्रियों में जिस किसी भी आश्रम में रहता हुआ (स्त्रीसंभोग करे  
तो) ब्रह्मचारी ही है ॥ ५० ॥

नकन्यायाः पिताविद्वान्गृह्णीयाच्छुल्कमपवपि । गृह्णीच्छुल्कं हि  
लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयो ॥५१॥ स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजी-  
वन्ति बान्धवाः । नारीयानानि वस्त्रं वा ते पापाधान्त्यधोगतिम् ५२

अर्थ-ज्ञानवान् पिता कन्या का अल्प द्रव्य भी शुल्क=मूल्य ग्रहण न  
करे । यदि लोभ से मूल्य ग्रहण करे तो वह मनुष्य सन्तान का बेचने वाला  
हो ॥५१॥ स्त्रीधन (स्त्री को दिया हुआ धन) वा यान वा वस्त्र को (पति के)  
जो बान्धव ग्रहण करते हैं, वे पापी अधोगति को प्राप्त होते हैं ॥५२॥

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत् । अल्पोऽल्पयेवं महा-  
न्वापि विक्रयस्तावदेव सः ॥५३॥ यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो  
न स विक्रयः । अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम् ॥५४॥

अर्थ-आर्षविवाह में गौ के जोड़े का ग्रहण करना जो कोई कहते हैं  
सो मिथ्या है, क्योंकि बहुत मूल्य हो चाहे थोड़ा परन्तु बेचना तो है ही  
है ॥५३॥ परन्तु जिन कन्याओं का द्रव्य पित्रादि न लें, वह बेचना नहीं है,  
किन्तु कन्याओं का पूजन और केवल दया है ॥ ५४ ॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा । पूज्या भूषयितव्याश्च  
बहुकल्याणमोप्सुभिः ॥५५॥ यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र  
देवताः । यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः ॥५६॥

अर्थ-अपनी बहुत भलाई चाहें तो पिता, भाई, पति और देवर भी  
( वस्त्रालङ्कारादि से ) इन का पूजन करें ॥ ५५ ॥ क्योंकि जिस कुल में स्त्रियें  
पूजी जाती हैं, वहां देवता रमते हैं और जहां इन का पूजन नहीं होता,  
वहां सम्पूर्ण कर्म ( यज्ञादि ) निरर्थक हैं ॥ ५६ ॥

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् । न शोचन्ति तु



यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ॥५७॥ जामयोगानि गेहानि शपन्तय-  
प्रतिपूजिताः । तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥५८॥

अर्थ—जिस कुल में स्त्रियों (दुःखित हो) शोक करती हैं, वह कुल शीघ्र नाश  
को प्राप्त होजाता है और जहां ये शोक नहीं करती वह (कुल) सर्वदा बढ़ता  
है ॥ ५७ ॥ जिन घरों को अपूजित होकर स्त्रियां शाप देती हैं वे घर कृत्या  
(विषप्रयोगादि) के से मारे सब ओर से नाश को प्राप्त होजाते हैं ॥ ५८ ॥

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः । भूतिकामैर्नरै-  
र्नित्यं सत्कारेणूत्सवेषु च ॥५९॥ संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा  
भार्या तथैव च । यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ६०

अर्थ—इस लिये ऐश्वर्य की इच्छा करने वाले पुरुषों को भूषण और वस्त्र  
आदि से अच्छे कामों और विवाहादि में इन (स्त्रियों) का सदा सत्कार  
रखना उचित है ॥ ५९ ॥ जिस कुल में नित्य स्त्री से पति और पति से स्त्री  
प्रसन्न रहती है उस कुल में निश्चय कल्याण होता है ॥ ६० ॥

यदि हि स्त्री न रोचेत् पुमांसं न प्रमोदयेत् । अप्रमोदात्पुनः पुंसः  
प्रजनं न प्रवर्त्तते ॥६१॥ स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते  
कुलम् । तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥ ६२ ॥

अर्थ—यदि स्त्री शोभित न हो तो पति को प्रसन्न न करसके और पुरुष  
को प्रसन्न न होने से सन्तान नहीं चलती ॥६१॥ (स्त्री वस्त्र आभूषणादि से)  
शोभित हो तो सम्पूर्ण कुल की शोभा है और उस को मलिन होने से सम्पूर्ण  
कुल मलिन रहता है ॥ ६२ ॥

कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदाऽनऽध्ययनेन च । कुलान्यकुलतां यान्ति  
ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥६३॥ शिल्पेन व्यवहारेण शूद्रापत्यैश्च  
केवलैः । गोभिरश्वैश्च यानैश्च कृष्या राजोपसेवया ॥ ६४ ॥

अर्थ—छोटे विवाहों से, कर्म के लोप से और वेद के न पढ़ने से कुल  
नीचपन को प्राप्त होजाते हैं और ब्राह्मणों को आज्ञाभङ्ग करने से भी ॥६३॥  
शिल्प और व्यवहार से, केवल शूद्र सन्तानों से, गाय, घोड़े और सवारियों  
से, खेती और राजा की नौकरी से— ॥ ६४ ॥



अयाज्ययाजनैश्चैव नास्तिक्येन च कर्मणाम् । कुलान्याशुविन-  
श्यन्ति यानि हीनानि मन्त्रतः ॥६५॥ मन्त्रतस्तु समृद्धानि कुला-  
न्यल्पधनान्यपि । कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महदशः ॥६६॥

अर्थ-और चण्डालादि को यज्ञ कराने तथा श्रौत स्मार्त कर्मों की अप्रवृत्ति से वे कुल जो वेद के पाठ से हीन हैं, इन कामों से शीघ्र ही नाश को प्राप्त हो जाते हैं ॥ ६५ ॥ और वेदों से समृद्ध कुल, चाहे अल्प धन वाले भी हों, परन्तु बड़े कुल की गिनती में गिने जाते हैं और बड़े यश को धारण करते हैं ( अर्थात् कुल की प्रतिष्ठा वेदपाठ से है-न कि उच्च नौकरी, व्यापार, सवारी, गौ आदि आहूस्वर से ) ॥ ६६ ॥

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि । पञ्चयज्ञविधानं  
च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही ॥६७॥ पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली  
पेषण्युपस्करः । कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥६८॥

अर्थ-विवाह की अग्नि में विधिपूर्वक गृह्योक्त कर्म (सायं प्रातः होमादि) करे और पञ्चयज्ञान्तर्गत बलिवैश्वदेवादि और नित्य करने का पाक भी गृहस्थ ( उसी में ) करे ॥ ६७ ॥ ये पांच वस्तु गृहस्थ को हिंसा का मूल हैं-चूल्हा १ चक्री २ बुहारी ३ उलूखल, मूसल ४ जल का घड़ा ५; इन को अपने कामों में लाता हुआ ( पाप से ) बन्ध जाता है ॥ ६८ ॥

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः । पञ्च ऋप्ता महा-  
यज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥६९॥ अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञ-  
स्तु तर्पणम् । होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥७०॥

अर्थ-गृहस्थों के उन पापों के प्रायश्चित्तार्थं महर्षियों ने प्रतिदिन के पांच महायज्ञ रचे हैं ॥६९॥ ब्रह्मयज्ञ=पढ़ाना और पितृयज्ञ=तर्पण और देवयज्ञ=होम और भूतयज्ञ=भूतबलि और मनुष्ययज्ञ=अतिथिभोजन ( ये ५ हैं ) ॥ ७० ॥

पञ्चैतान्यो महायज्ञान् हापयति शक्तिः । स गृहेऽपि वसन्नित्यं  
सूनादोषैर्न लिप्यते ॥ ७१ ॥ देवतातिथिभृत्यानां पितृणामा-  
त्मनश्च यः । न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥७२॥



अर्थ-जो इन ५ महायज्ञों को अपनी शक्ति भर न छोड़े, वह पुरुष गृह में बसता हुआ भी हिंसा के दोषों से लिप्त नहीं होता ॥११॥ देवता, अतिथि, भृत्य, माता, पिता आदि और आत्मा इन पाँचों को अन्न न दे तो जीवता हुआ भी मरे के तुल्य है ॥ १२ ॥

अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च । ब्राह्मं हुतं प्राशितं च  
पञ्चयज्ञान्प्रचक्षते ॥७३॥ जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको  
बलिः । ब्राह्मं हुतं द्विजाग्न्यार्चा प्राशितं पितृतर्पणम् ॥७४॥

अर्थ-अहुत १ हुत २ प्रहुत ३ ब्राह्महुत ४ प्राशित ५; ये पाँच दूसरे नाम पञ्चमहायज्ञों के ( मुनि लोग ) कहते हैं ॥७३॥ अहुत=जप, हुत=होम, प्रहुत=भूतबलि, ब्राह्महुत=ब्राह्मण की पूजा, प्राशित=नित्य आहुति ( कहाता है ) ॥७४॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्देवे चैवेह कर्मणि । देवे कर्मणि युक्तो हि  
विभर्त्तोदं चराचरम् ॥७५॥ अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्य-  
मुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ ७६ ॥

अर्थ-वेदाध्ययन और अग्निहोत्र में सर्वदा युक्त रहे । जो देव=होमकर्म में युक्त है, वह चराचर का पोषण करता है । क्योंकि-॥ ७५ ॥ अग्नि में डाली आहुति आदित्य को पहुंचती है और सूर्य से वृष्टि होती है और वृष्टि से अन्न, अन्न से प्रजा होती है । ( इस से जो अग्निहोत्र करता है वह सम्पूर्ण प्रजा का पालन करता है ) ॥ ७६ ॥

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः । तथा गृहस्थमाश्रित्य  
वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥७७॥ यस्मात्त्रयोप्याश्रमिणो ज्ञानेनाक्षेण  
चान्वहम् । गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥७८॥

अर्थ-जैसे सम्पूर्ण जीव (प्राणी वायु के आश्रय से जीते हैं, वैसे गृहस्थ के आश्रय (सहारे) से सब आश्रम चलते हैं ॥७७॥ जिस कारण तीनों आश्रम वालों का ज्ञान और अन्नसे गृहस्थ ही प्रतिदिन धारण करता है इससे गृहाश्रमी बड़ा है ॥७८॥

स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता । सुखं चेहेच्छता नित्यं  
योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥७९॥ ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथि-  
यस्तथा । आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता ॥ ८० ॥



अर्थ-जो दुर्बलइन्द्रिय वालों से धारण नहीं किया जा सकता, वह (गृह-  
स्थाश्रम) इस लोक में सुख की इच्छा करने वाले तथा अन्न (सोम) सुख  
की इच्छा करने वाले को प्रयत्न से धारण करना चाहिये ॥१९॥ क्योंकि ऋषि,  
पितर, देव, अन्य जीव तथा अतिथि; ये सब कुटुम्बियों से आशा करते हैं,  
इस से इन के लिये जानते हुये को (५ यज्ञ) करने चाहिये ॥ २० ॥

स्वाध्यायेनार्चयेत्तर्पिन्होमैर्देवान्यथाविधि । पितृन्प्रादुर्द्वैश्र  
नूनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥२१॥ कुर्यादहरहः प्रादुमन्नाद्येनो-  
दकेन वा । पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥२२॥

अर्थ-स्वाध्याय से ऋषियों, होम से देवताओं, प्रादुओं से पितरों, अन्न  
से मनुष्यों तथा बलिकर्म से अन्य भूतों को सत्कृत करे ॥२१॥ पितरों से प्रीति  
चाहने वाला अन्नाद्य, दुग्ध, मूल, फल और जल से प्रतिदिन प्रादु करे ॥२२॥  
एकमद्याशयेद्विप्रं पित्रर्थे पाञ्चयज्ञिके । न चैवात्राशयेत्किञ्चि-  
द्वैश्वदेवं प्रति द्विजम् ॥२३॥ वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येणैव विधि-  
पूर्वकम् । आभ्यः कुर्याद्वैवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ॥२४॥

अर्थ-पञ्चमहायज्ञसम्बन्धी पितृयज्ञनिमित्त (साक्षात् पिता आदि न हों  
तो चाहे पितृत्वगुणयुक्त छान्दोग्य में कहे अनुसार २४ वर्ष ब्रह्मचर्य धारण  
करने वाला वसुसंज्ञक ब्रह्मचारी जिस की २८५ वै श्लोक में वसु और पितृसंज्ञा  
करेंगे, उस प्रकार के) एक ब्राह्मण को भी भोजन करादेवे। परन्तु इस वैश्वदेव  
के स्थान में किसी को भोजन न करावे ॥ २३ ॥ गृह्य अग्नि में वैश्वदेव का जो  
अन्न सिद्ध हो उस से इन देवताओं के लिये ब्राह्मणादि प्रतिदिन होम करे:- ॥२४॥  
अग्नेः सोमस्य चैवादौ तयोश्चैव समस्तयोः । विश्वेभ्यश्चैव देवे-  
भ्यो धन्वन्तरय एव च ॥२५॥ कुह्वै चैवानुमत्यै च प्रजापतय  
एव च । सह द्यावापृथिव्योश्च तथा स्विष्टकृतेऽन्ततः ॥ २६ ॥

अर्थ-(वे देवता ये हैं:-) अग्नये, सोमाय, इस से पहिले होम करे फिर  
दोनों का नाम मिला कर, फिर विश्वेभ्यो देवेभ्यः और धन्वन्तरये, - ॥ २५ ॥  
और कुह्वै, अनुमत्यै, प्रजापतये, द्यावापृथिवीभ्याम् और अन्त में स्विष्टकृते  
(इन सब के साथ "स्वाहा" अन्त में लगाकर होम करे) ॥ २६ ॥



एवंसम्यग्घविर्दुत्वा सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम् । इन्द्रान्तकाप्पतीन्दु-  
भ्यः सानुगेभ्यो बलिं हरेत् ॥ ८७ ॥ मरुद्भ्य इति तु द्वारि क्षिपे-  
दस्वद्भ्य इत्यपि । वनस्पतिभ्य इत्येवं मुसलोलूखले हरेत् ॥ ८८ ॥

अर्थ-सक्त प्रकार अच्छी विधि से होम करके, चारों दिशाओं में प्रद-  
क्षिण क्रम से सानुग इन्द्र, यम, वरुण और सोम, इन के लिये बलि दे ॥ ८७ ॥  
मरुद्भ्यः ऐसा कहकर द्वार, अद्भ्यः ऐसा कहकर जल, वनस्पतिभ्यः ऐसा कह  
कर उलूखल मुसल निमित्त बलि दे ॥ ८८ ॥

उच्छोषं केश्रियैकुर्याद्ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां तु  
वास्तुमध्ये बलिं हरेत् ॥ ८९ ॥ विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो बलिमाकाश-  
उत्क्षिपेत् । दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तंचारिभ्य एव च ॥ ९० ॥

अर्थ-वास्तु के शिरः प्रदेश द्यत में श्री के लिये, सकान के पैर=भूमि में भद्र-  
काली के लिये, ब्रह्मा और वास्तोष्पति के लिये घर के बीच में ॥ ८९ ॥ विश्वेदेवों के  
लिये आकाश में, दिवाचर प्राणी तथा रात्रिचरों के लिये भी आकाश में ॥ ९० ॥

पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वात्मभूतये ।

पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत् ॥ ९१ ॥

अर्थ-सकान के पीछे सर्वात्मभूति के लिये और शेष बलि पितरों को  
दक्षिण में देवे ॥ ९१ ॥ (८७ से ९१ तक ५ श्लोकों में वैश्वदेव बलि का विधान वारीति  
है । वैश्वदेव शब्द विश्वदेवाः से बना है, जिस का अर्थ यह है कि सब देवों वा  
प्राणी अप्राणीरूप जगत् के पदार्थों को अपने भोजन से भाग देना । क्योंकि  
श्लोक ८१ में इस का नाम भूतबलि कह आये हैं और श्लोक ६८ में गृहस्थ को  
५ हिंसा लगना कह आये हैं कि चूल्हा चक्की आदि से काम लेते हुवे गृहस्थ  
पुरुष कुछ न कुछ जगत् की हानि भी करता ही है, उसी के प्रायश्चित्तार्थ उस  
को सब जगत् के उपकाररूप वैश्वदेव बलि का विधान है । ८४ । ८५ । ८६ वें  
श्लोकों में आहुतियों का वर्णन है, वे आहुति उस २ देवता=दिव्यपदार्थ के  
उपकारार्थ दी जाती हैं । उस २ देवता (अग्नि, सोम आदि) में जो जो दिव्य  
सामर्थ्य है, वह २ दिव्य सामर्थ्य परमात्मा में सर्वोपरि है । इस लिये कोई  
आचार्य परमात्मा की प्रसन्नता के लिये इस होम को मानते हैं । और भिन्न



भिन्न देवता के पक्ष में १ अग्नि । २ सोम । ३ अग्नीषोम । ४ विश्वेदेवाः=सब देवता । ५ धन्वन्तरि=रोगनिवारक । ६ कुहू=अभावस्या से चन्द्रोदय न होने के विशेष दिन में विशेष । ७ अनुमति=पौर्णिमा में भी उक्त रीति से । ८ प्रजापति=काम । ९ द्युलोक और भूमिलोक । १० स्विष्टकृत् अग्नि; ये सब पदार्थ वायु के समान सर्वत्र फैले हुये हैं और मनुष्यादि के शरीर भी इन्हीं से बने हैं और बाह्य जगत् में जब हवन से इन की उत्तम अवस्था रहती है तब शरीरस्थ देवता, जो सूक्ष्म तत्त्व वा अंश हैं, वे भी भले प्रकार आप्यायित रहते हैं । जैसे बाहर का वायु शुद्ध पवित्र हो तो शरीरस्थ प्राणादि भी स्वस्थ रहते हैं, वैसे ही बाह्य जगत् के ये व्याप्त द्रव्य अच्छे रहें, तभी मनुष्य के भीतरी तत्त्व भी परिष्कृत रह सकते हैं । इस लिये इन मन्त्रों से होम का तात्पर्य उन २ द्रव्यों की हृष्टि पुष्टि शुद्धि आदि से है । और आगे जो बलि लिखी हैं उन २ की भी उस २ देवता=तत्त्व वा द्रव्य की हृष्टि पुष्टि और शुद्धि को निमित्त मानकर ( निमित्तार्थ में ही इन श्लोकों की सप्तमी विभक्ति है, न कि अधिकरण में, इस लिये द्वार आदि स्थानों में भाग रखना आवश्यक नहीं, किन्तु पत्तल पर रख कर पीछे श्लोक ८४ के अनुसार गृह्य अग्नि चूल्हे से निकाल कर उसमें चढ़ादे । अब यह जानना शेष रहा कि इन २ इन्द्रादि का उस २ पूर्व दिशा आदि से क्या सम्बन्ध है ? यद्यपि अपनी बुद्धि के अनुसार हम लिखते हैं और हम से पूर्वले टीकाकारों ने भी अपनी २ समझ के अनुसार लिखा है, परन्तु जितना हम लिखते हैं वा अन्यो ने लिखा है, उस से पूरा २ सन्तोष न तो हम को है और न हम यह आशा करते हैं कि अन्यो को होगा । परन्तु हम इस सम्बन्ध को यह निश्चय विश्वास करते हैं कि यह आधुनिक कल्पना नहीं है किन्तु बहुत कुछ यह सम्बन्ध वेदों में भी देखा जाता है, उदाहरण के लिये सन्ध्या में मनसा परिक्रमा के मन्त्रों को देखिये, जिन में से पूर्वोदि दिशाओं के साथ विशेष नाम एक प्रकार के क्रम से आये हैं, जो वेदों के अन्य मन्त्रों में भी उस क्रम से प्रायः पाये जाते हैं । इस लिये हम अनुमान करते हैं कि इन्द्र का पूर्व दिशा से, यम का दक्षिण से, वरुण का पश्चिम से, सोम का उत्तर से, वायु का ( द्वार में होकर आने से ) द्वार से, जल का जल से साक्षात्, वनस्पति का ( काष्ठमय वृक्षजन्य ) सूखल उलूखल से ऊपर का लक्ष्मी से, पृथ्वी का भद्रकाली-पृथ्वी से, वेदवेत्ता पुरो हतादि और गृहपति का गृहमध्य से और सब सामान्य देवताओं और दिन में तथा रात्रि में



विचरने वाले सब प्राणियों का आकाश से कुछ न कुछ विशेष सम्बन्ध है। सर्वात्मभूति का पृष्ठ से तथा पितरों का दक्षिण से भी ॥ जैसे इन्द्र वरुण यमादि तत्त्वों के विशेष नाम हैं, वैसे ही यहां बलिबैश्वदेव में पितरः पद का भी एक प्रकार के आकाशगत तत्त्वों से ही अभिप्राय है। माता पिता आदि गुरुजनों का तो पृथक् पितृयज्ञ विहित ही है ॥ “वायुकोण में जल भरा घड़ा रखना, वहीं स्नानगृह और सोरी रखना, अग्निकोण में वनस्पति शाकादि ऊखली मूसल आदि रखना, ईशान कोण में लक्ष्मी=धन, नैऋत्य में स्त्री, पुरोहितादि वेदपाठियों वा वेदपाठ और गृहपति का, मुख्यतः बीच में यज्ञशाला, विश्वे-देवाः से विशेषतः अग्नि वायु सूर्य का प्रायः आकाश, दिवाचर सब वी आदि और रात्रिचर दंश मशकादि, जो निकृष्ट सज्जिन कारण से उत्पन्न होते हैं, उन का अपने विरुद्ध शुद्ध धूम से ऊपर को उड़ने से आकाश, सब प्रकार के अन्नाद्य रखने का सकान के पृष्ठ भाग से सम्बन्ध रखना फलकता है” इत्यादि विचार भी चिन्तनीय हैं। निदान यह, सर्वभूत बलि का तात्पर्य मात्र तौ (अहरहर्बलिमित्तं) इत्यादि अथर्व १९।१।१ और (पुनन्तु विश्वा भूतानि) इत्यादि यजुः १९।३९ वेदमन्त्रों में भी पाया जाता है कि प्रतिदिन सब भूतों को बलि दे। परन्तु पूर्वोक्त दिशों के साथ का भेद और (सान्गायेन्द्राय नमः) इत्यादि मन्त्र, वेदमन्त्र नहीं हैं, किन्तु गृह्यमूत्रों और स्मृति के हैं। इस लिये यह कर्म स्मार्त वा गृह्य कहाता है और गृह्य का ही कर्त्तव्य है ॥ हम लोग बहुत काल तक वेद शास्त्रादि में ग्रहण रखते हुवे यदि यही तप करते चले जायेंगे तौ आशा है कि भविष्यत् में इन सब का पूरा २ भेद जान पड़ेगा। और सब देवता कहाने वाले दिव्य पदार्थों में जो २ ऐसा गुण है, जिस से वह २ पदार्थ (देवो दानाद्वा) इत्यादि निरुक्त के अनुसार देवता कहाता है, वह २ गुण परमात्मा में अवश्य अनन्तभाव से वर्तमान है। इस लिये उस २ देव-तावाचक शब्द से परमात्मा का ग्रहण करना तौ निर्विवाद ही है) ॥ ९१ ॥

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ।

वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि ॥ ९२ ॥

कुत्ते, पतित, चण्डाल, पापरोगी, कठवे तथा कीड़े; इन को धीरे से भूमि पर भाग डाले (जिस से मिट्टी न लगे) ॥ ९२ ॥

एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति। स गच्छति परं स्थानं



तेजोमूर्तिः पथर्जुना ॥६३॥ कृत्वैतद्वलिकर्मैवमतिथिं पूर्वमा-  
शयेत् । भिक्षां च भिक्षवे दद्याद्विधिवद्ब्रह्मचारिणे ॥ ६४ ॥

अर्थ-इस प्रकार जो ब्राह्मणादि नित्य सब प्राणियों का सत्कार करता है वह सीधे मार्ग से ज्योतीरूप परमधाम को प्राप्त होता है ॥ ६३ ॥ उक्त प्रकार से बलि कर्म करके अतिथि को प्रथम भोजन करावे और विधिवत् भिक्षा वाले ब्रह्मचारी को भिक्षा देवे ॥ ६४ ॥

यत्पुण्यफलमाप्नोति गां दत्त्वाविधिवद्गुरोः । तत्पुण्यफलमा-  
प्नोति भिक्षां दत्त्वा द्विजो गृही ॥६५॥ भिक्षामप्युदपात्रं वा सत्कृत्य  
विधिपूर्वकम् । वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत् ॥६६॥

अर्थ-जिस पुण्य का फल, गुरु को गोदान करने से (शिष्य) पाता है वही फल (ब्रह्मचारी को) भिक्षा देने से द्विज गृहस्थ पाता है ॥६५॥ भिक्षा वा जलपात्र मात्र ही विधिपूर्वक वेदतत्त्वार्थ जानने वाले ब्राह्मण को सत्कार करके देवे ॥६६॥

नश्यन्ति हव्यकव्यानि नराणामविजानताम् । भस्मीभूतेषु वि-  
प्रेषु मोहादुत्तानि दातृभिः ॥६७॥ विद्यातपःसमृद्धेषु हुतं विप्र-  
मुखाग्निषु । निस्तारयति दुर्गाच्च महतश्चैव किल्बिषात् ॥६८॥

अर्थ-जो भस्मीभूत (जैसे अङ्गार में से अग्नि निकल कर निस्तेज भस्म रहजाता है, ऐसे ही ब्रह्मवर्चसादिहीन भस्मरूप कथनमात्र के जो ब्राह्मण हैं उन) ब्राह्मणों को जो दाता लोग अज्ञान से दान करते हैं, उन के दिये हव्य कव्य सब नष्ट होजाते हैं ॥ ६७ ॥ विद्या और तप से समृद्ध विप्रों के मुखरूप अग्नि में हवन करना कठिनाई और बड़े पाप से बचाता है ॥ ६८ ॥

संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके । अन्नं चैव यथाशक्ति

सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥६९॥ शिलानप्युच्छतो नित्यं पञ्चाग्नी-  
नपि जुहूतः । सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वसन् ॥१००॥

अर्थ-आये हुवे अतिथि के लिये यथाशक्ति आसन, जल और अन्न सत्कृत करके विधिपूर्वक देवे ॥ ६९ ॥ नित्य शिल (खेत में पीछे से रहे हुवे अनाज के दानों) को बीनकर जीवन करने वाले और (आह्वनीय, गार्हपत्य, दक्षिण,



श्रौत, आवश्यक) पांच अग्नि में होम करने वाले के भी उपाजित सब पुरयों को विना पूजन किया हुआ ब्राह्मण ( अतिथि ) लेनाता है ॥ १०० ॥

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता । एतान्यपि सतां गेहे

नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ १०१ ॥ एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः

स्मृतः । अनित्यं हि स्थितोयस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥ १०२ ॥

अर्थ-( अन्न न हो तो ) तृणासन, विश्राम के लिये स्थान, जल और चौथे अफुठा बोलना; ये चार बातें तो सत्पुरुषों के कभी कम रहतीं ही नहीं ॥ १०१ ॥ एक रात्रि रहने वाला ब्राह्मण अतिथि होता है, क्योंकि नित्य नहीं रहता, इसी से अतिथि कहाता है ॥ १०२ ॥

नैकग्रामीणमतिथिं विप्रं साङ्गतिकं तथा । उपस्थितं गृहे विद्या-

द्धार्या यत्राग्नयोऽपि वा ॥ १०३ ॥ उपासते ये गृहस्थाः परपाकम-

बुद्धयः । तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ॥ १०४ ॥

अर्थ-( उसी ) एक ग्राम में रहने वाले, सहाध्यायी और भार्या तथा अग्नि से युक्त गृहस्थ में रहने वाले ( वैश्वदेव काल में ) उपस्थित विप्र को अतिथि न जाने ॥ १०३ ॥ जो निर्वृद्धि गृहस्थ ( भोजन के लालच से ) दूसरे के अन्न का सहारा देखते हैं, उस से वे मरने पर अन्नादि देने वाले के पशु होते हैं ॥ १०४ ॥

अप्रणोदोऽतिथिः सायं सूर्योदो गृहमेधिना । काले प्राप्नोस्त्व-

काले वा नास्यानश्नन् गृहे वसन् १०५ न वै स्वयं तदश्नोयादतिथिं

यन्नभोजयेत् । धन्यं यशस्य मायुष्यं स्वर्ग्यं वाऽतिथिपूजनम् १०६

अर्थ-सायंकाल में सूर्य के छिपने पर भोजन के समय अतिथि प्राप्त हो वा बेसमय ( जब कि भोजन हो चुका हो ) प्राप्त हो तो भी उस को भूखा घर में न रक्खे ( अर्थात् गृहस्थ यह न कहे कि चले जावो ) ॥ १०५ ॥ जो वस्तु अतिथि को भोजनार्थ न दे, उसे आप भी भोजन न करे । यह अतिथिपूजन धन्य=धनहितार्थ, यश, आयु तथा स्वर्ग का देने वाला है ॥ १०६ ॥

आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम् । उत्तमेषूत्तमं कुर्या-

द्भिने हीनं समे समम् ॥ १०७ ॥ वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते यदन्योऽति-



धिराव्रजेत् । तस्याप्यन्नं यथाशक्ति प्रदद्यान्न बलिं हरेत् ॥१०८॥

अर्थ-आसन और जगह तथा शय्या और अनुव्रज्या (विदाई) तथा उपासना (अरदली) ये सब; उत्तमों को उत्तम और हीनों को हीन और समों को समानता से करे ॥ १०७ ॥ वैश्वदेव के हो चुकने पर यदि दूसरा अतिथि आजावे, तो उस को भी यथाशक्ति अन्न देवे, बलिहरण=पूरी पत्तल (चाहे) न करे ॥ १०८ ॥ न भोजनार्थं स्वे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत् । भोजनार्थं हि ते शंसन्वान्ताशीत्युच्यते बुधैः ॥१०९॥ न ब्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहे राजन्य उच्यते । वैश्यशूद्रौ सखा चैव ज्ञातयो गुरुरेव च ॥११०॥

अर्थ-भोजन के लिये विप्र अपना कुल गोत्र न कहे और जो भोजन के लिये उन्हें कहे तो उस को विद्वान् लोग वान्ताशी=उगलन खाने वाला कहते हैं ( क्योंकि वह टुकड़ों के लिये बड़ों का सहारा लेता है ) ॥ १०९ ॥ ब्राह्मण के घर क्षत्रिय अतिथि नहीं होता और वैश्य, शूद्र, सखा तथा गुरु भी अतिथि नहीं समझने चाहिये ॥ ११० ॥

यदि त्वतिथिधर्मेण क्षत्रियो गृहमाव्रजेत् । भुक्तवत्सूक्तविप्रेषु कामं तमपि भोजयेत् ॥१११॥ वैश्यशूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणौ । भोजयेत्सहभृत्यैस्तावानृशंस्यं प्रयोजयन् ॥११२॥

अर्थ-यदि अतिथिधर्म से क्षत्रिय भी उक्त ब्राह्मणों के भोजन करते हुवे गृह पर आजावे तो उस को भी चाहे भोजन करा देवे ॥ १११ ॥ और यदि वैश्य शूद्र भी अतिथि होकर प्राप्त होवें तो कुटुम्ब में भृत्यों के सहित उन पर कृपा करता हुआ भोजन करा देवे ॥ ११२ ॥

इतरानपि सख्यादीन्संप्रीत्या गृहमागतान् । सत्कृत्यान्नं यथाशक्ति भोजयेत्सहभार्यया ॥११३॥ सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणी गर्भिणीः स्त्रियः । अतिथिभ्योऽग्र एवैतान् भोजयेदविचारयन् ॥११४॥

अर्थ-क्षत्रियादि के अतिरिक्त मित्रादि प्रीति करके घर आजावें तो उन को यथाशक्ति सत्कार करके भार्या के सहित भोजन करावे ॥ ११३ ॥ सुवासिनी ( जिन का अभी विवाह हुआ हो, ) कुमारी, रोगी लोग तथा गर्भवती स्त्री, इन को अतिथि के पहले ही विना विचार भोजन करा देवे ॥ ११४ ॥



अदत्त्वातु य एतेभ्यः पूर्वभुङ्क्तेऽविचक्षणः। स भुञ्जानो न जानाति

✓ अगृध्रैर्जग्धिमात्मनः ॥११५॥ भुक्तवत्स्वयं विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु  
चैव हि । भुञ्जीयातां ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती ॥११६॥

अर्थ-जो मूर्ख इन को बिना दिये पहले भोजन करता है वह नहीं जानता है कि कुत्ते और गीधों से अपना भक्षण (भरण के अनन्तर) होगा ॥११५॥ ब्राह्मण और पोष्यवर्ग ये सब भोजन कर चुकें, तत्पश्चात् बचे को (गृहस्थ) आप और स्त्री भोजन करें ॥ ११६ ॥

देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितृन्गृह्याश्च देवताः । पूजयित्वा ततः  
पश्चाद् गृहस्थः शेषभुग्भवेत् ॥११७॥ अघंसकेवलं भुङ्क्ते यः पच-  
तयात्मकारणात् । यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ॥११८॥

अर्थ-देव, ऋषि, मनुष्य, पितर और गृह्योक्त विश्वे देवाः, इन सब को सत्कृत करके पश्चात् गृहस्थ शेष अन्न का भोजन करने वाला हो ॥ ११७ ॥ जो केवल अपने लिये अन्न पकाता है, वह निरा पाप खाता है और जो यज्ञादि से शेष भोजन है, वह सज्जनों का भोजन है ॥ ११८ ॥

राजत्विक्स्नातकगुरुन्प्रियश्च शुरमातुलान् । अर्हयेन्मधुपर्केण  
परिसंवत्सरात्पुनः ॥११९॥ राजा च श्रोत्रियश्चैव यज्ञकर्म-  
ण्युपस्थितौ । मधुपर्केण संपूज्यौ न त्वयज्ञ इति स्थितिः ॥१२०॥

अर्थ-राजा, ऋत्विज्, स्नातक, गुरु, मित्र, श्वशुर, मामा; एक वर्ष के ऊपर फिर आवें तो फिर भी इन का मधुपर्क से पूजन करे ॥ ११९ ॥ राजा और स्नातक यज्ञकर्म में प्राप्त हों तो मधुपर्क से पूज्य हैं, बिना यज्ञ के नहीं ॥ १२० ॥

सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं बलिं हरेत् ।  
वैश्वदेवं हि नामैतत्सायं प्रातर्विधीयते ॥ १२१ ॥

अर्थ-सायंकाल में रसोई होने पर स्त्री बिना मन्त्र बलि करे । क्योंकि वैश्वदेव नाम कृत्य का गृहस्थ को सायं प्रातः विधान किया है ॥ १२१ ॥

“पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य विप्रश्चेन्दुक्षयेऽग्निमान् ।

पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यान्मासानुमासिकम् ॥१२२॥”



“ अर्थ-अग्निहोत्री अमावास्या में पितृयज्ञ करके “ पिण्डान्वहार्थक ”  
श्राद्ध प्रतिपाद किया करे ” ॥

( यहां श्लोक १२२ से श्लोक १६९ तक “ मृतकश्राद्ध ” का वर्णन है । हमारी  
सम्प्रति में यह सभी प्रकरण प्रक्षिप्त है । १७० में उत्तम व्रती ब्राह्मणादि की  
प्रशंसा और विरुद्धों की निन्दा का प्रकरण कहेंगे, जो मृतपितरों से सम्बद्ध  
नहीं है । इस लिये उस से १२१ वें श्लोक का ठीक सम्बन्ध मिल जाता है ।  
इन श्लोकों की प्रक्षिप्त मानने के हेतु ये भी हैं—१—इन श्लोकों के संस्कृत  
की शैली मनु के सी नहीं, किन्तु पुराणों के सी है । २—यह मासिक श्राद्ध  
का ( जो अमावास्या में है ) विधान है । जब नित्य श्राद्ध कह चुके तब  
अमावास्या भी आगई, इस लिये व्यर्थ है । ३—श्लोक १२३ में आमिष=मांस से  
इस का विधान है, जो देव ऋषि पितरों का भोजन नहीं, किन्तु “ यत्तरक्षः  
पिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम् ” (मनु ११।९५) मद्यमांसादि यक्ष राक्षसादि  
का भोजन है । कोई लोग “आमिष” पद से ‘ भोज्य वस्तु ’ का ग्रहण करते हैं  
और जीवतों का ही श्राद्ध वर्णित कहते हैं, परन्तु मेधातिथि आदि ६ टीका-  
कार आमिष=मांस ही लिखते हैं । ४—और रामचन्द्र टीकाकार ने इस के  
आगे एक यह श्लोक और लिख कर व्याख्या की है कि—

[ न निर्वपति यः श्राद्धं प्रसीतपितृको द्विजः ।

इन्दुक्षये मासि मासि प्रायश्चित्ती भवेत्तु सः ॥ ]

अर्थात् जिस द्विज के माता पिता मर गये हों और प्रतिपाद अमावास्या  
को श्राद्ध न करे वह प्रायश्चित्ती होता है ॥ इस से यह फलकता है कि यह  
प्रकरण मृतक श्राद्ध का ही है । यह श्लोक अन्य ५ टीकाकारों ने नहीं लिखा,  
न ३० पुस्तकों में से एक पुस्तक के अतिरिक्त अन्य पुस्तकों में है । इस से पाया  
जाता है कि रामचन्द्र सब से पिछले टीकाकार हैं, सन्हीं के समय में यह  
मिला हुवा था, पूर्व ५ टीकाकारों के समय में नहीं था । १२४ वें श्लोक का  
फिर यह कहना कि जिन अन्नों से जैसे और जितने ब्राह्मण भोजन कराने हैं,  
उन्हें कहेंगे, व्यर्थ है क्योंकि ११३ में मांस से जिमाना कह चुके हैं । ५—पितृ  
निमित्त में ब्राह्मणों की गिनती का विधान भी मृतकश्राद्ध का ही सूचक है ।  
६—१२७ वें में स्पष्ट ही इसे प्रेतकृत्या लिखा है । ७—१३६ वें में परिण्डत के पुत्र  
मूर्ख ब्राह्मण की उत्तमता और मूर्ख के पुत्र विद्वान् की भी निन्दा अन्याय



और पक्षपातपूर्ण है। ८-१४६ वें में एक ब्राह्मण के भोजन से ७ पुत्रप्राप्ति की असंभव वृत्ति वर्णित है। ९-१४९ वें में देव कर्म में ब्राह्मण की परीक्षा न करना अन्याय है। १०-१५० वां श्लोक स्पष्ट मनु का नहीं, अन्यकृत है। ११-१५२ वें में मांस बेचने वाले ब्राह्मण को भोजन न कराना कहा है। इस से जाना जाता है कि उस श्लोक के बनते समय ब्राह्मण मांस खाना क्या, बेचने का भी पेशा करने लगे थे। १२-१५३ से १६७ तक जिन ब्राह्मणों को श्राद्ध में वर्जित किया है उन में बहुतों के ऐसे कर्म कहे हैं जो श्राद्ध में ही क्या किसी भी कार्य में सत्कारयोग्य नहीं, किन्तु राजदण्ड के योग्य हैं) ॥ १२२ ॥

“पितॄणां मासिकं श्राद्धमन्वाहार्यं विदुर्बुधाः। तच्चाभिषेण कर्तव्यं प्रशस्तेन समंततः ॥ १२३ ॥ तत्र ये भोजनीयाः स्युर्ये च वर्ज्या द्विजोत्तमाः। यावन्तश्चैव यैश्चान्नैस्तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः १२४ द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा। भोजयेत्सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्जेत विस्तरे ॥ १२५ ॥ सत्क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मण-संपदः। पञ्चैतान्विस्तरो हन्ति तस्मान्नहेतु विस्तरम् ॥ १२६ ॥ प्रथिता प्रेतकृत्येषा पित्र्यं नाम विधुक्षयः। तस्मिन्पुक्तस्यैति नित्यं प्रेतकृत्येव लौकिकी ॥ १२७ ॥ श्रोत्रियायैव देयानि हव्य-कव्यानि दातृभिः। अर्हन्तमाय विप्राय तस्मै दत्तं महाफलम् १२८ एकैकमाप विद्वांसं दैवे पित्रये च भोजयेत्। पुष्कलं फलमाप्नोति नाऽमन्त्रज्ञान्वहूनपि ॥ १२९ ॥ दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणं वेदपारगम्। तीर्थं तद्भव्यकव्यानां प्रदाने साऽतिथिः स्मृतः ॥ १३० ॥

“अर्थ—पितरों के मासिक श्राद्ध को पण्डित अन्वाहार्य जानते हैं। उस को श्राद्धविहित सर्वथा अच्छे मांस से करे ॥ १२३ ॥ उस श्राद्ध में जो भोजन योग्य ब्राह्मण हैं और जो त्याज्य हैं और जितने और जिस अन्न से जिमाने चाहियें—यह सम्पूर्ण मैं आगे कहूंगा ॥ १२४ ॥ देवश्राद्ध में दो और पितृश्राद्ध में तीन ब्राह्मण या देवश्राद्ध में और पितृश्राद्ध में एक २ को भोजन करावे। अच्छा समृद्ध (यजमान) भी विस्तार न करे ॥ १२५ ॥ अच्छी पूजा, देश, काल, पवित्रता और श्राद्धोक्त गुण वाले ब्राह्मण; इन पाँचों को विस्तार नष्ट करता है, इस



से विस्तार न करे ॥ १२६ ॥ यह जो पितृकर्म है, सो प्रेतकृत्या विख्यात है। अमावास्या के दिन उस में युक्त होने वाला पुरुष नित्य के लौकिक श्राद्धों के फल को प्राप्त होता है ॥ १२७ ॥ देने वाले लोग श्रोत्रिय को ही हव्य और कव्य देवें और अधिक पूज्य को देवें तो बड़ा फल है ॥ १२८ ॥ देवकर्म (यज्ञादि) में और पितृकर्म (श्राद्ध) में एक ही एक ब्राह्मण को भोजन करावे तो भी बहुत फल को प्राप्त होता है और बहुत मूर्ख ब्राह्मणों के जिमाने से नहीं ॥ १२९ ॥ प्रथम ही से एक संपूर्ण वेद की शाखाओं के पढ़ने वाले ब्राह्मण की परीक्षा करले, वह हव्य कव्यों का पात्र है, देने में वह अतिथि कहा है ॥ १३० ॥ ”

“ सहस्रं हि सहस्राणामनृचां यत्र भुजते । एकस्तान्मन्त्र-  
वित्प्रतिः सर्वानर्हति धर्मतः ॥ १३१ ॥ ज्ञानोत्कृष्टाय देयानि  
कव्यानि च हवींषि च । न हि हस्तावसृग्दिग्धौ रुधिरेणैव शुध्यतः  
॥ १३२ ॥ यावतो ग्रसते ग्रासान्हव्यकव्येष्वमन्त्रवित् । तावतो  
ग्रसते प्रेत्य दीप्तान् शूलानयोगुडान् ॥ १३३ ॥ ज्ञाननिष्ठा द्विजाः  
केचित् तपोनिष्ठास्तथापरे । तपःस्वाध्यायनिष्ठाश्च कर्मनिष्ठास्तथा  
परे ॥ १३४ ॥ ज्ञाननिष्ठेषु कव्यानि प्रतिष्ठाप्यानि यत्नतः । हव्यानि  
तु यथान्यायं सर्वेष्वेव चतुर्विंशति ॥ १३५ ॥ अश्रोत्रियः पिता यस्य  
पुत्रः स्याद्वेदपारगः । अश्रोत्रियो वा पुत्रः स्यात्पिता स्याद्वेदपा-  
रगः ॥ १३६ ॥ ज्यायांसमनयोर्विद्यायस्य स्याच्छ्रोत्रियः पिता ।  
मन्त्रसंपूजनार्थं तु सत्कारमितरोऽर्हति ॥ १३७ ॥ न श्राद्धे भोज-  
येन्मित्रं धनैः कार्योऽस्य संग्रहः । नाऽरिं न मित्रं यं विद्यात्तं श्राद्धे  
भोजयेद्द्विजम् ॥ १३८ ॥ यस्य मित्रप्रधानानि श्राद्धानि च हवींषि  
च । तस्य प्रेत्य फलं नास्ति श्राद्धेषु च हविषु च ॥ १३९ ॥ यः  
संगतानि कुरुते मोहाच्छ्राद्धेन मानवः । स स्वर्गाच्च्यवते लोका-  
च्छ्राद्धमित्रो द्विजाधमः ॥ १४० ॥ संभोजनीयाभिहिता पैशाची  
दक्षिणा द्विजैः । इहैवास्ते तु सा लोके गौरन्धेवैकवश्मनि १४१



यथेरिणे बीजमुप्त्वा न वप्ता लभते फलम् । तथाऽनृचे हविर्दत्त्वा  
 न दाता लभते फलम् ॥१४२॥ दातृन्प्रतिग्रहीतृश्च कुरुते फल-  
 भागिनः । विदुषे दक्षिणां दत्त्वा विधिवत्प्रेत्य चेह च ॥१४३॥ कामं  
 श्राद्धेऽर्चयेन्मित्रं नाभिरूपमपि त्वऽरिम् । द्विपता हि हविर्भुक्तं  
 भवति प्रेत्य निष्फलम् १४४ यत्नेन भोजयेच्छ्राद्धे बह्वृचं वेद-  
 पारगम् । शाखान्तगमथाध्वर्युं छन्दोगं तु समाप्तिकम् ॥१४५॥  
 एषामन्यतमो यस्य भुज्जीत श्राद्धमर्चितः । पितॄणां तस्य तृप्तिः  
 स्याच्छाश्वती साप्तपौरुषी ॥१४६॥”

“अर्थ—जिस श्राद्ध में वेद के न जानने वाले दशलक्ष ब्राह्मण भोजन करते  
 हों, वेद का जानने वाला सन्तुष्ट हो तो वह एक वन सब के बराबर फल  
 देता है ॥ १३१ ॥ विद्या से उत्कृष्ट को हव्य और कव्य देना चाहिये । क्योंकि  
 रक्त से भरे हुवे हाथ रक्त ही से शुद्ध नहीं होते ॥१३२॥ वेद का न जानने वाला  
 जितने घास हव्य कव्य के खाता है उतने ही मरने पर जलते हुवे शूल और  
 लोह के गोले खाता है \* ॥१३३॥ कोई द्विज आत्मज्ञानपरायण होते हैं और

( \* यह भी ज्ञात हो कि श्लोक १३३ के भाष्य में मेधातिथि, जो अन्य  
 पाँचों भाष्यकारों से प्राचीन हैं, लिखते हैं कि:-

व्यासदर्शनात् भोजयितुरयं दोषः, न भोक्तुः, न पितॄणां; न तावन्मृ-  
 तानामन्यकृतेन प्रतिषेधातिक्रमेण दोषसम्बन्धो युक्तः । अकृताभ्यागमादिदो-  
 षापत्तेः । यदि हि पुत्रेण तादृशो ब्राह्मणो भोजितः कोऽपराधोऽमृतानाम् ?  
 ननु चोपकारोऽपि पुत्रकृतः पितॄणामनेन न्यायेन न प्राप्नोति ? न प्राप्नुयाद्यदि  
 तादृश्येन श्राद्धादि नोदितं स्यात् । इह तु नास्ति चोदना ॥ इत्यादि )

अर्थात् व्यासस्मृति से तौ भोजन कराने वाले को यह दोष है, न भोजन  
 करने वाले और न पितरों को । क्योंकि मरों को अन्य के किये अपराध का फल  
 युक्त नहीं है । ऐसा हो तो अकृताभ्यागम=बिना कर्म किये फलभोगादि दोष प्राप्त  
 होगा । क्योंकि पुत्र ने ऐसे ब्राह्मण को भोजन कराया, इस में मरे पितरों का  
 क्या अपराध है ? तो फिर ऐसे न्याय से तो पुत्र का किया श्राद्धरूप उपकार भी  
 पितरों को न मिलना चाहिये ? हां, जो मरों के लिये विधान किया हो तो  
 नहीं मिल सकता । परन्तु यहां तो मरों के लिये विधि नहीं है ॥ ( इत्यादि )



दूसरे तपस्तप पर होते हैं और कोई तप अध्ययनरत होते हैं और कोई यज्ञादि कर्म में तपस्तप पर होते हैं ॥१३४॥ उन में ज्ञाननिष्ठ को आहुतों में यत्नपूर्वक भोजन देवे, अन्य यज्ञों में क्रम से चारों को भी भोजन दे दे ॥१३५॥ जिस का पिता वेद न पढ़ा हो और पुत्र पढ़ा हो या जिस का पुत्र न पढ़ा हो और पिता वेद जानने वाला हो—॥१३६॥ इन में श्रेष्ठ उस को जानो, जिस का पिता श्रोत्रिय हो। परन्तु वेद-पूजन को दूसरा योग्य है ॥१३७॥ आहुत में मित्र को भोजन न करावे, धन से इस का सत्कार करे और जिस को न तो मित्र जाने, न शत्रु; ऐसे द्विज को आहुत में भोजन करावे ॥१३८॥ जिस के आहुत और हवि मुख्यतः मित्र खाते हैं उस को पारलौकिक फल न आहुतों का है, न यज्ञों का ॥ १३९ ॥ जो मनुष्य अज्ञानवश आहुतद्वारा मित्रता करता है वह अधम आहुतमित्र द्विज स्वर्गलोक से पतित होता है ॥ १४० ॥ वह दानप्रक्रिया द्विजों ने पैशाची कही है कि जिस किसी के आप ने भोजन किया है, उसी को परस्पर जिमाना, यह इसी लोक में फल देने वाली है, जैसे अन्धी गौ एक ही घर में खड़ी रहती है ( दूसरी जगह नहीं जाती ) ॥ १४१ ॥ जैसे ऊपर भूमि में बीज बोने से बोने वाला फल नहीं पाता, वैसे विना वेद पढ़े को हवि देकर देने वाला फल नहीं पाता ॥१४२॥ वेद जानने वाले ब्राह्मण को यथाशास्त्र दिया हुआ दान, दाता और प्रतिग्रहीता दोनों को इस लोक और परलोक में फल का भागी करता है ॥१४३॥ आहुत में मित्र को चाहे बैठा देवे, परन्तु शत्रु विद्वान् हो तो भी उसे न बैठावे, क्योंकि जो द्वेषभाव से भक्षण किया हवि है, वह परलोक में निष्फल होता है ॥ १४४ ॥ पूर्ण ऋग्वेदी को आहुत में भोजन करावे, उसी प्रकार सशाख यजुर्वेदी और जो सम्पूर्ण सामवेद पढ़ा है और जिस ने वेद समाप्त किया है, ऐसे ब्राह्मण को यत्नपूर्वक भोजन करावे ॥ १४५ ॥ इन में से कोई ब्राह्मण अच्छे प्रकार पूजित किया हुआ जिस के आहुत में भोजन करता है, उस के पितरों की निरन्तर सात पुरुष तक वृत्ति होती है ॥ १४६ ॥ ”

“एष वै प्रथमः कल्पः प्रदाने हव्यकव्ययोः । अनुकल्पस्त्वयं ज्ञेयः सदा सद्भिरनुष्ठितः ॥ १४७ ॥ मातामहं मातुलं च स्वस्त्रियं श्व-शुरं गुरुम् । दौहित्रं विट्पतिं बन्धुमृत्विग्याज्यौ च भोजयेत् ॥ १४८ ॥ न ब्राह्मणं परीक्षेत दैवे कर्मणि धर्मवित् । पित्रये कर्मणि तु प्राप्ते परीक्षेत प्रयत्नतः ॥ १४९ ॥ ये स्तेनपतितकृत्वा



ये च नास्तिकवृत्तयः । तान् हव्यकव्ययोर्विप्राननर्हान्मनुरब्रवीत्  
 ॥ १५० ॥ जटिलं चानधीयानं दुर्बलं कितवं तथा । याजयन्ति  
 च ये पूगांस्तांश्च श्राद्धे न भोजयेत् ॥ १५१ ॥ चिकित्सकान्देव-  
 लकान्मांसविक्रायिणस्तथा । विपणेन च जीवन्तो वर्ज्याः स्यु-  
 र्हव्यकव्ययोः ॥ १५२ ॥ प्रेष्यो ग्रामस्य राज्ञश्च कुनखी श्याव-  
 दन्तकः । प्रतिरोद्धा गुरोश्चैव त्यक्ताग्निवार्धुषिस्तथा ॥ १५३ ॥  
 यक्ष्मी च पशुपालश्च परिवेत्ता निराकृतिः । ब्रह्मद्विट् परिवित्तिश्च  
गणाभ्यन्तर एव च ॥ १५४ ॥ कुशीलवोऽवकीर्णी च वृषली-  
 पतिरेव च । पौनर्भवश्च काणश्च यस्य चोपपतिर्गृहे ॥ १५५ ॥  
भृतकाध्यापको यश्च भृतकाध्यापितस्तथा । शूद्रशिष्यो गुरुश्चैव  
वाग्दुष्टः कुण्डगोलकौ ॥ १५६ ॥ ”

“ अर्थ—हव्य और कव्य के देने में यह मुख्य कल्प कहा और इस के  
 अभाव में आगे जो कहते हैं उस को अनुकल्प जाने । वह साधुओं से सर्वदा  
 अनुष्ठान किया गया है ॥ १४९ ॥ इन १० सातामहादि को भोजन करादेवे ।  
 नाना १ सामा २ भानजा ३ ससुर ४ गुरु ५ धेवता ६ जंवाई ७ मौसी का  
 लड़का ८ ऋत्विज् ९ तथा याज्य अर्थात् यज्ञ कराने योग्य १० ॥ १४८ ॥ चाहे  
 धर्म का जानने वाला यज्ञ में भोजन के लिये ब्राह्मण की परीक्षा न करे,  
 परन्तु श्राद्ध में यज्ञपूर्वक परीक्षा करे ॥ १४९ ॥ जो चोर सहापातकी नपुंसक और  
 नास्तिक वृत्ति वाले हैं, ये विप्र मनु ने हव्य कव्य के अयोग्य कहे हैं ॥ १५० ॥  
 जटाधारी परन्तु बेपढ़ा, दुर्बल, जुवारी और बहुत चद्यापन कराने वाला,  
 इन सब को श्राद्ध में भोजन न करावे ॥ १५१ ॥ वैद्य, पुजारी, मांस का बेचने  
 वाला और वाणिज्य से जीने वाला, ये सब हव्य और कव्य में निषिद्ध हैं  
 ॥ १५२ ॥ ग्राम और राजा का हलकारा, कुनखी, काले दांत वाला, गुरु के  
 प्रतिकूल चलने वाला, अग्निहोत्र का छोड़ने वाला, डयाजजीवी, ॥ १५३ ॥  
 क्षयरोगी, वृत्ति के लिये गाय, भैंस, बकरी इत्यादि का पालने वाला,  
 परिवेत्ता, नित्यकर्मानुष्ठान से रहित, ब्राह्मण का द्वेष करने वाला, परिवित्ति  
 ( देखो १९१ ), समुदाय के द्रव्य से अपना जीवन करने वाला, ॥ १५४ ॥ कथा



की वृत्ति करने वाला, जिस का ब्रह्मचर्य नष्ट हुआ हो, शूद्रा से विवाह करने वाला, पुनर्विवाह का लड़का, जिस की स्त्री का जार हो, ॥ १५५ ॥ वेतन लेकर पढ़ाने वाला और उसी प्रकार पढ़ने वाला, जिस गुरु का शूद्र शिष्य हो, कटु बोलने वाला, कुण्ड, मेलक ( देखो १३४ ) ॥ १५६ ॥ ”

“अकारणपरित्यक्ता मातापित्रोर्गुरोस्तथा । ब्राह्मैर्यौनैश्च संबन्धैः  
संयोगं पतितैर्गतः १५७ अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी ।  
समुद्रयायी बन्दी च तैलिकः कूटकारकः १५८ पित्रा विवदमानश्च  
कितवोमद्यपस्तथा । पापरोग्यभिशस्तश्च दाम्भिको रसविक्रयी  
१५९ धनुःशराणां कर्ता च यश्चाग्रे दिधिषूपतिः । मित्रघ्नयूत  
वृत्तिश्च पुत्राचार्यस्तथैव च ॥ १६० ॥ भ्रामरी गण्डमाली च श्वि-  
त्रयऽथो पिशुनस्तथा । उन्मत्तोऽन्धश्च वज्याः स्युर्वेदनिन्दक  
एव च १६१ हस्तिगोश्वोष्ट्रदमको नक्षत्रैर्यश्च जीवति । पक्षिणां  
पोषको यश्च युद्धाचार्यस्तथैव च ॥ १६२ ॥ स्रोतसां भेदको यश्च  
तेषां चावरणे रतः । गृहसंवेशको दूतो वृक्षारोपक एव च १६३  
श्वक्रीडी श्येनजीवी च कन्यादूषक एव च । हिंस्रो वृषल-  
वृत्तिश्च गणानां चैव याजकः ॥ १६४ ॥ आचारहीनः क्लीबश्च नित्यं  
याचनकस्तथा । कृषिजीवी श्लीपदी च सद्भिर्निन्दित एव च १६५  
औरभ्रिको माहिषिकः परपूर्वापतिस्तथा । प्रेतनिर्यातकश्चैव  
वर्जनीयाः प्रयत्नतः ॥ १६६ ॥ एतान्विगर्हिताचारानपाङ्क्त्यान्  
द्विजाधमान् । द्विजातिप्रवरो विद्वानुभयत्र विवर्जयेत् ॥ १६७ ॥  
ब्राह्मणस्त्वनधीयानस्तृणाग्निरिव शाम्यति । तस्मै हव्यं न दा-  
तव्यं न हि भस्मनि हूयते ॥ १६८ ॥ अपाङ्क्तदाने यो दातुर्भव-  
त्यूर्ध्वं फलोदयः । दैवे हविषि पित्र्ये वा तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः १६९”

“ अर्थ-विना कारण माता पिता गुरु का त्यागने वाला, पतितों से  
अध्ययन और कन्यादानादि सम्बन्ध वाला, ॥ १५७ ॥ घर का जलाने वाला,



विष देने वाला, कुण्ड का अन्न खाने वाला, सोम बेचने वाला, समुद्र पार जाने वाला, राजा की स्तुति करने वाला, तेली और झूठा साक्षी, ॥ १५८ ॥ पिता से लड़ने वाला, धूर्त, मद्य पीने वाला, कुष्ठी, कलङ्की, दम्भी, रस बेचने वाला, ॥ १५९ ॥ धनुष बाण का बनाने वाला, ( बड़ी बहिन से पहले जिस छोटी का विवाह होता है वह अग्नेदिधिषू कहाती है ) अग्नेदिधिषू का पति, मित्र से द्रोह करने वाला, जूवे का रोजगार करने वाला, पुत्र से पढ़ा हुआ, ॥ १६० ॥ सिरगी वाला, गण्डमाली, श्वेत कोढ़ वाला, चुगलखोर, उन्माद रोग वाला, और अन्या; ये वर्जित हैं । और वेद की निन्दा करने वाला, ॥ १६१ ॥ हाथी बैल घोड़ा और कुंठ को सीधा चलना सिखाने वाला, ज्योतिषी, पक्षियों का पालने वाला, युद्धविद्या सिखाने वाला, ॥ १६२ ॥ नहर आदि को तोड़ने वाला, उस का बन्द करने वाला, गृह= वास्तुविद्या से जीविका करने वाला, दूत, वृत्तों का लगाने वाला, ॥ १६३ ॥ कुत्तों से खेलने वाला, बाज़खरीदने बेचने वाला, कन्या से गमन करने वाला, हिंसा करने वाला, शूद्रवृत्ति वाला, ( विनायकादि ) गणों की पूजा कराने वाला, ॥ १६४ ॥ आचार से हीन, नपुंसक, नित्य भीख मांगने वाला, खेती करने वाला, पीलिया रोग वाला और जो सत्पुरुषों से निन्दित हो, ॥ १६५ ॥ मैठा और भैंस से जीने वाला, द्वितीया विवाहिता का पति, प्रेत का घन लेने वाला; ये ( ब्राह्मण ) यत्रपूर्वक ( श्राद्ध में ) वर्जनीय हैं ॥ १६६ ॥ इन निन्दित आचार वाले और पङ्क्तिबाह्य अधर्मों को द्विजों में श्रेष्ठ विद्वान्, देव और पितृकर्मों में त्याग देवे ॥ १६७ ॥ विना पढ़ा ब्राह्मण फूस की अग्नि के समान ठण्डा हो जाता है । इस से उस ब्राह्मण को हवि न देवे, क्योंकि राख में होम नहीं किया जाता ॥ १६८ ॥ पङ्क्तिबाह्य ब्राह्मणों को देवताओं के हव्य और पितरों के कव्य देने में दाता को जो देने के ऊपर फल होता है, वह संपूर्ण में आगे कहूंगा ॥ १६९ ॥ ”

अव्रतैर्यद् द्विजैर्भुक्तं परिवेत्तादिभिस्तथा ।

अपाङ्क्तैर्यैर्यदन्यैश्च तद्वै रक्षांसि भुञ्जते ॥ १७० ॥

अर्थ-वेदव्रतरहित ब्राह्मण और ( वक्ष्यमाण ) परिवेत्ता आदि वा और कोई ( चोर इत्यादि ) पङ्क्तिबाह्यों ने जो भोजन किया, उस को राक्षसभोजन कहते हैं ॥ १७० ॥



दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते। परीवेत्ता स विज्ञेयः

परिवित्तिस्तु पूर्वजः ॥ १७१ ॥ परिवित्तिः परीवेत्ता यथा च परिविद्यते । सर्वे ते नरकां यान्ति दातृयाजकपञ्चमाः ॥ १७२ ॥

अर्थ-जो कनिष्ठ, ज्येष्ठ भ्राता के रहते उससे प्रथम विवाह और अग्निहोत्र करे, उस को " परीवेत्ता " और ज्येष्ठ को " परिवित्ति " जानो ॥ १७१ ॥ परिवित्ति और परीवेत्ता और वह कन्या तथा कन्या का देने वाला और याजक=विवाह का आचार्य, ये पाँचों सब नरक को जाते हैं ॥ १७२ ॥

भ्रातुर्मृतस्य भार्यायां योऽनुरज्येत कामतः । धर्मेणापि नियुक्तायां स ज्ञेयो दिधिषूपतिः ॥ १७३ ॥ परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ कुण्डगोलकौ । पत्यौ जीवति कुण्डस्यान्मृते भर्तारि गोलकः ॥ १७४ ॥

अर्थ-मरे भाई की भार्या से धर्मानुसार नियोग भी किया हो परन्तु उस से जो कामवश होकर प्रीति करे, उसे दिधिषूपति जानो ॥ १७३ ॥ पर स्त्री से उत्पन्न हुवे दो पुत्रों को कुण्ड और गोलक कहते हैं। पति के जीवते जो हो वह कुण्ड और मरने पर हो वह गोलक है ( १७० से यहां तक भी चिन्त्य हैं ) ॥ १७४ ॥

“ तौ तु जातौ परक्षेत्रे प्राणिनौ प्रेत्य चेह च । दत्तानि हव्यकव्यानि नाशयेते प्रदायिनाम् ॥ १७५ ॥ अपाङ्क्तयो यावतः पाङ्क्तयान् भुञ्जानाननुपश्यति । तावतां न फलं प्रेत्य दाता प्राप्नोति बालिशः ॥ १७६ ॥ वीक्ष्यान्धो न वतेः काणः षष्ठेः श्वित्रो शतस्य तु । पापरोगी सहस्रस्य दातुर्नाशयते फलम् ॥ १७७ ॥ यावतः संस्पृशेदङ्गैर्ब्राह्मणाञ्छूद्रयाजकः । तावतां न भवेदातुः फलं दानस्य पौर्तिकम् १७८ वेदविज्ञापि विप्रोऽस्य लोभात्कृत्वा प्रतिग्रहम् । विनाशं व्रजति क्षिप्रमामपात्रमिवाभ्भासि १७९ सोमविक्रयिणे विष्ठा भिषजे पूयशोणितम् । नष्टं देवलके दत्त-मऽप्रतिष्ठं तु वार्धुषौ ॥ १८० ॥

“ अर्थ-देने वाले के हव्य और कव्यों को इस लोक और परलोक में वे जो दूसरे के क्षेत्र में उत्पन्न हुवे हैं, नष्ट करते हैं ॥ ”



( श्लोक १७५ से फिर असम्बद्ध परस्परविरुद्ध स्मृतकश्राद्ध के श्लोक चले हैं । १७६-१८२ तक में पङ्क्तिवाच्याँ के भोजन करने का फल नष्ट कह कर १८३-१८६ तक पङ्क्तिपावन ब्राह्मण गिनाये हैं । जब कि पङ्क्तिपावन पङ्क्ति को पवित्र कर देता है तौ श्लोक १७७ का यह कहना वृथा है कि अन्धा ब्राह्मण अपनी दृष्टि से ९० वेदपाठियों के जिमाने के फल को नष्ट करता है, काणा ६० के, श्वेतकुष्ठी १०० के, और पापरोगी १००० के फल को नष्ट करता है । फिर भला पङ्क्तिपावनता क्या रही ? अन्ये आदि ही बलवान् रहे और अन्धा देख भी नहीं सकता, इसलिये भी १७६ वां श्लोक असम्भव दोषयुक्त है । १७९ वें में कहा है कि वेदज्ञ ब्राह्मण भी पङ्क्तिवाच्याँ के साथ लोभ से प्रतिग्रह ले तो नष्ट हो जाता है और वेदज्ञ को १८४ वें में पङ्क्तिपावन कहा है । यह परस्परविरोध है । १८७ वें में १, २ वा ३ ब्राह्मण श्राद्ध में लिखे हैं और पूर्व भी विस्तार को वर्जित किया है तो फिर ६० । ९० । १०० । १००० जब श्राद्ध में जिमाये ही नहीं जाते तब फलनाश किन का होगा ? १८८ वें में श्राद्ध जिमाने और जीमने वाले को उम दिन वेद पढ़ने का निषेध भी चिन्तनीय है । १९४ में विराट् का मनु, मनु के १० मरीच्यादि, उन के पुत्र पितर लिखे हैं । फिर मनुष्यों के स्मृत माता पिता आदि का उद्देश्य कहां रहा ? १९५ से १९७ तक भिन्न २ जातियों के सोमसदादि भिन्न २ पितर कहे हैं, तब मनुष्यजाति का सब का श्राद्ध व्यर्थ है । २०५ से २८३ तक स्मृतकश्राद्ध की विधि और उन मांसों का वर्णन है जिन से इन कल्पित पितरों की तृप्ति की कल्पना की गई है । सो जब स्मृतकश्राद्ध ही वेदविहित नहीं तब उसके विधानादि स्मृत्युक्त सभी निष्फल और दुष्फल हैं और तृतीयाध्याय के अन्तिम श्लोक २८६ में कहा है कि "यह पञ्चमहायज्ञ का विधान वर्णन किया गया" इस से भी पाया जाता है कि बीच के २८३ तक कहे स्मृतक पितरों के मासिकादि श्राद्ध प्रक्षिप्त हैं । क्योंकि पञ्चमहायज्ञ तौ गृहस्थ का नैतिक कर्म है, नैमित्तिक नहीं ) ॥१७५॥

" पङ्क्ति के अयोग्य पुरुष अपाङ्क्त्य पूर्वोक्त चौरादि, जितने भोजन करते हुवे श्रोत्रियादि को श्राद्ध में देखते हैं, उतनों का फल भोजन कराने वाला मूर्ख नहीं पाता ॥१७६॥ अन्धा देख कर दाता के ९० श्रोत्रियादि ब्राह्मणों के भोजन का फल नष्ट करता है और काणा ६० का, श्वेत कोढ़ वाला १०० का और पापरोगी १००० ब्राह्मणों के भोजन का फल नष्ट करता है ॥१७७॥ शूद्र का यज्ञ कराने वाला, अङ्गों से जितने श्राद्ध में भोजन करने वालों को



छुवे, उत्तनों के पूर्त्तसम्बन्धी आहु का फल दाता को न होगा ॥ १९८ ॥ वेद का जानने वाला भी विप्र, शूद्रयाजक के साथ लोभ से प्रतिग्रह लेकर शीघ्र नष्ट हो जाता है, जैसे कच्चा बरतन पानी में नष्ट होजाता है ॥ १९९ ॥ सोम-विक्रयी को जो हव्य कव्य देवे तो विष्टा होती है और वैद्य को देवे तो पीष रक्त और पुजारी को देने से नष्ट होता है, तथा व्याजवृत्ति को देवे तो अप्रतिष्ठित होता है ॥ १८० ॥ ”

“यत्तु वाणिजके दत्तं नेह नामुत्र तद्भवेत् । भस्मनीव हुतं हव्यं तथा पौनर्भवे द्विजे ॥ १८१ ॥ इतरेषु त्वपाङ्क्तयेषु यथो-द्विष्टेष्वसाधुषु । मेदोसृङ्मांसमज्जास्थिवदन्त्यन्नं मनीषिणः १८२ अपाङ्क्तयोपहता पङ्क्तिः पाव्यते यैर्द्विजोत्तमैः । तान्निबोधत कात्स्नर्येन द्विजाग्रयान्पङ्क्तिपावनान् ॥ १८३ ॥ अग्रयाः सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च । श्रोत्रियान्वयजाश्चैव विज्ञेयाः पङ्क्ति-पावनाः ॥ १८४ ॥ त्रिणाचिकेतः पञ्चाग्निस्त्रिसुपर्णः षडङ्गवित् । ब्रह्मदेयात्मसन्तानो ज्येष्ठसामग एव च ॥ १८५ ॥ वेदार्थवित्प्रवक्ता च ब्रह्मचारी सहस्रदः । शतायुश्चैव विज्ञेया ब्राह्मणाः पङ्क्ति-पावनाः ॥ १८६ ॥ पूर्वद्युरपरेद्युर्वा आह्वकर्मण्युपस्थिते । निमन्त्र-येत व्यवरान्सम्यग्विप्रान्यथोदितान् ॥ १८७ ॥ निमन्त्रितो द्विजः पित्रये नियतात्मा भवेत्सदा । न च छन्दांस्यधीयीत यस्य श्राद्धं च तद् भवेत् ॥ १८८ ॥ निमन्त्रितान्हि पितर उपतिष्ठन्ति तान्द्विजान् । वायुवच्चानुगच्छन्ति तथासीनानुपासते ॥ १८९ ॥ केतितस्तु यथान्यायं हव्यकव्ये द्विजोत्तमः । कथंचिदप्यतिक्रा-मन्पापः सूकरतां व्रजेत् ॥ १९० ॥ आमन्त्रितस्तु यः श्राद्धे वृषल्या सह मोदते । दातुर्यद्दुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते १९१ अक्रोधनाः शौचपराः सततं ब्रह्मचारिणः । न्यस्तशस्त्रा महा-भागाः पितरः पूर्वदेवताः ॥ १९२ ॥ यस्मादुत्पत्तिरेतेषां सर्वेषा-



मप्यशेषतः । ये च यैरुपचर्याः स्युर्नियमैस्तान्निबोधत ॥ १९३ ॥  
मनोर्हैरप्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः । तेषामृषीणां सर्वेषां  
पुत्राः पितृगणाः स्मृताः ॥ १९४ ॥ ”

“ अर्थ-कृतिये की वृत्ति करने वाले ब्राह्मण को देवे तो यहां तथा पर-  
लोक में कुछ फल नहीं, जैसे राख में ची जलाना वैसे पुनर्विवाह के लड़के  
को देवे तो राख के होमवत् व्यर्थ है ॥ १८१ ॥ और इतर अपाङ्क्तियों को  
देने में मेद रक्त मांस सज्जा हड्डी होती हैं । ऐसा विद्वान् कहते हैं ॥ १८२ ॥  
असाधुओं से अष्ट पङ्क्ति जिन द्विजोत्तमों से पवित्र होती है, उन पङ्क्तियों  
के पवित्र करने वाले सब द्विजश्रेष्ठों को बुनौं ॥ १८३ ॥ जो चारों वेदों के जानने  
वाले और वेद के संपूर्ण अङ्गों को जानने वाले, श्रोत्रिय, परंपरा से वेदाध्ययन  
जिन के होता है उन को पङ्क्तिपावन जाने ॥ १८४ ॥ कठोपनिषद् में कहे व्रत को  
त्रिणाचिकेत कहते हैं, उसको करनेवाला भी त्रिणाचिकेत कहलाता है और पूर्वोक्त  
पञ्चाग्नि वाला, वैसे ही ऋग्वेद के ब्राह्मणोक्त व्रत करने वाला त्रिषुपर्ण कहलाता  
है और छः अङ्गों का जानने वाला और ब्राह्मणविवाहिता स्त्री से उत्पन्न  
हुआ और सास के आरण्यक ( गान विशेष ) का गाने वाला, इन को  
पङ्क्तिपावन जाने ॥ १८५ ॥ वेद के अर्थ को जानने वाला और चमी का  
पढ़ाने वाला और ब्रह्मचारी और सहस्र गोदान करने वाला और सौ वर्ष  
का, इन को भी पङ्क्ति के पवित्र करने वाले जाने ॥ १८६ ॥ श्राद्ध के प्रथम  
दिन वा चमी दिन यथोक्त गुण वाले ब्राह्मणों को सत्कारपूर्वक तीन वा न्यून  
को निमन्त्रण देवे ॥ १८७ ॥ श्राद्ध में निमन्त्रित ब्राह्मण श्राद्ध के दिन नियम  
वाला होवे और वेदाध्ययन न करे । ऐसे ही श्राद्ध करने वाला भी ॥ १८८ ॥  
पितर उन निमन्त्रित ब्राह्मणों के पास आते हैं और वायुतुल्य उन के पीछे  
चलते हैं और बैठों के पास बैठे रहते हैं ॥ १८९ ॥ श्रेष्ठ ब्राह्मण हव्य कव्य में  
यथाशास्त्र निमन्त्रित किया हुआ निमन्त्रण स्वीकार करके फिर किसी प्रकार  
भोजन न करे तो उस पाप से जन्मान्तर में सूकर होवेगा ॥ १९० ॥ जो ब्राह्मण  
श्राद्ध में निमन्त्रित हुआ शूद्रा स्त्री के साथ मैथुन करे वह श्राद्ध करने वाले के  
संपूर्ण पाप को पाता है ॥ १९१ ॥ क्रोधरहित, भीतर बाहर से पवित्र, निरन्तर  
जितेन्द्रिय, हृषियार छोड़े हुवे और दयादि गुणों से युक्त पूर्व देवता पितर हैं  
॥ १९२ ॥ इन सब पितरों की जिस से उत्पत्ति है और जो पितर जिन नियमों



से पूजित होते हैं, उन नियमों को सम्पूर्णतया सुनो ॥१९३॥ स्वायम्भुव मनु  
के पुत्र मरीच्यादि हैं और उन के पुत्रों को पितृगण कहा है ॥ १९४ ॥ ”

“विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः । अग्नि-  
ष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः ॥ १९५ ॥ दैत्यदानव-  
यक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् । सुपर्णाकिन्नराणां च स्मृता बर्हि-  
षदोत्रिजाः ॥ १९६ ॥ सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हवि-  
र्भुजः । वैश्यानामाज्यपा नाम शूद्राणां तु सुकालिनः ॥ १९७ ॥  
सोमपास्तु कवेः पुत्रा हविष्मन्तोऽङ्गिरस्सुताः । पुलस्त्यस्या-  
ज्यपाः पुत्रा वसिष्ठस्य सुकालिनः ॥ १९८ ॥ अग्निदग्धानग्नि-  
दग्धान्काव्यान्वर्हिषदस्तथा । अग्निष्वात्तांश्च सोम्यांश्च विप्राणा-  
मेव निर्दिशेत् ॥ १९९ ॥ य एते तु गणा मुख्याः पितॄणां परि-  
कीर्त्तिताः । तेषामपीह विज्ञेयं पुत्रपौत्रमनन्तकम् ॥ २०० ॥ ऋ-  
षिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवाः । देवेभ्यस्तु जगत्  
सर्वं चरस्थाण्वनुपूर्वशः ॥ २०१ ॥ राजतैर्भाजनैरेषामथो वा रा-  
जतान्वितैः । वार्यपि श्रद्धया दत्तमक्षयायोपकल्पते ॥ २०२ ॥  
देवकार्याद् द्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते । दैवं हि पितृका-  
स्य पूर्वमाप्यायनं श्रुतम् ॥ २०३ ॥ तेषामारक्षभूतं तु पूर्वं दैवं  
नियोजयेत् । रक्षांसि हि विलुम्पन्ति श्राद्धमारक्षवार्जितम् २०४  
दैवाद्यन्तं तदीहेत पित्राद्यन्तं न तद्भवेत् । पित्राद्यन्तं त्वीहमानः  
क्षिप्रं नश्यति सान्वयः ॥ २०५ ॥ शुचिं देशं विविक्तं च गोम-  
येनोपलेपयेत् । दक्षिणाप्रवणं चैव प्रयत्नेनोपपादयेत् ॥ २०६ ॥  
अवकाशेषु चोक्षेषु नदीतीरेषु चैव हि । विविक्तेषु च तुष्यन्ति  
दत्तेन पितरः सदा ॥ २०७ ॥ आसनेषूपकलृप्तेषु बर्हिष्मत्सु पृथक्  
पृथक् । उपस्पृष्टोदकान्सम्यग्विप्रांस्तानुपवेशयेत् ॥ २०८ ॥



उपवेश्य तु तान्विप्रानासनेष्वजुगुप्सितान् । गन्धमाल्यैः सुरभि-  
भिरर्चयेद्देवपूर्वकम् ॥ २०९ ॥ तेषामुदकमानीय सुपवित्रांस्ति-  
लानपि । अग्नौ कुर्यादनुज्ञातो ब्राह्मणो ब्राह्मणैः सह ॥ २१० ॥”

“अर्थ-विराट् के पुत्र सोमसद् नाम वाले साध्यों के पितर हैं । मरीचि के पुत्र लोकविख्यात अग्निष्वात्त देवों के पितर हैं ॥ १९५ ॥ बर्हिषद् नाम अत्रि के पुत्र; दैत्य, दानव, यक्ष, गन्धर्व, सर्प, राक्षस, सुपर्ण और किन्नरों के पितर हैं ॥ १९६ ॥ सोमपा नाम ब्राह्मणों के और क्षत्रियों के हविर्भुज तथा वैश्यों के आज्यपा नाम और शूद्रों के सुकालिन् पितर कहे हैं ॥ १९७ ॥ भृगु के पुत्र सोमपा और अङ्गिरा के पुत्र हविष्मन्त और पुलस्त्य के पुत्र आज्यपा और वसिष्ठ के सुकालिन्; ये पितर इन ऋषियों से उत्पन्न हुवे ॥ १९८ ॥ अग्निदग्ध, अनग्निदग्ध, काव्य, बर्हिषद् और अग्निष्वात्त तथा सौर्यों को ब्राह्मणों के पितर कहा है ॥ १९९ ॥ ये इतने ती पितरों के गण मुख्य कहे हैं, परन्तु इस जगत् में उन के पुत्र पौत्र अनन्त जानने ॥ २०० ॥ ऋषियों से पितर हुवे और पितरों से देवता तथा मनुष्य हुवे और देवतों से ये सम्पूर्ण स्थावर जङ्गम क्रम से हुवे ॥ २०१ ॥ चांदी के पात्रों से या चांदी लगे पात्रों से पितरों को श्राद्ध करके दिया पानी भी अक्षय सुख का हेतु होता है ॥ २०२ ॥ (इन स्त्रियों में पाया जाता है कि सरे हुवे पिता आदि पितर नहीं हैं) द्विजातियों को देवकार्य से पितृकार्य अधिक कहा है । क्योंकि देवकार्य पितृकार्य का पूर्वाङ्ग तर्पण सुना है ॥ २०३ ॥ पितरों के रक्षा करने वाले देवताओं का श्राद्ध में प्रथम स्थापन करे, क्योंकि रक्षकरहित श्राद्ध को राक्षस नष्ट कर देते हैं ॥ २०४ ॥ श्राद्ध में प्रारम्भ और समाप्ति दोनों देवतापूर्वक करे, पित्रादि पूर्वक न करे । पित्रादिपूर्वक करने वाला शीघ्र वंशसहित नष्ट होजाता है ॥ २०५ ॥ एकान्त और पवित्र देश की गोबर से लीपे और दक्षिण की ओर को नीची वेदी प्रयत्न से बनावे ॥ २०६ ॥ खुली जगह और पवित्र देश वा नदी के तीर पर या निर्जन देश में श्राद्ध करने से पितर प्रसन्न होते हैं ॥ २०७ ॥ उस देश में कुशसहित अच्छे प्रकार अलग २ बिछाये हुवे आसनों पर स्नान आचमन किये हुवे निमन्त्रित ब्राह्मणों को बैठावे ॥ २०८ ॥ अनिन्दित ब्राह्मणों की आसन पर बैठाकर अच्छे सुगन्धित गन्धमाल्यों से देवपूर्वक पूजे (अर्थात् प्रथम देवस्थान के ब्राह्मणों की पूजकर पश्चात् पितृस्थानीय ब्राह्मणों की पूजा करे) ॥ २०९ ॥



चन ब्राह्मणों का पवित्री और तिलों से युक्त अर्घ्योदक लाकर ब्राह्मणों के साथ श्राद्ध करने वाला ब्राह्मण अग्नि में होम करे ॥ २१० ॥

“ अग्नेः सोमयमाभ्यां च कृत्वाप्यायनमादितः । हविर्दानेन विधिवत्पश्चात् संतर्पयेत्पितृन् ॥ २११ ॥ अग्न्यऽभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत् । यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मन्त्रदर्शिभिरुच्यते ॥ २१२ ॥ अक्रोधनान्सुप्रसादान्वदन्त्येतान् पुरातनान् । लोकस्याप्यायने युक्तान् श्राद्धदेवान् द्विजोत्तमान् ॥ २१३ ॥ अपसव्यमग्नौ कृत्वा सर्वमावृत्य विक्रमम् । अपसव्येन हस्तेन निर्वपेदुदकं भुवि ॥ २१४ ॥ त्रींस्तु तस्माद्विशेषात्पिण्डान्कृत्वा समाहितः । औदकेनैव विधिना निर्वपेदक्षिणामुखः ॥ २१५ ॥ न्युप्य पिण्डांस्ततस्तांस्तु प्रयतो विधिपूर्वकम् । तेषु दर्भेषु तं हस्तं निमृज्याल्लेपभागिनाम् ॥ २१६ ॥ आचम्योदकपरावृत्य त्रिरायम्य शनैरसून् । षड्ऋतूंश्चनमस्कुर्यात्पितृनेव च मन्त्रवित् ॥ २१७ ॥ उदकं निनयेच्छेषं शनैः पिण्डान्तिके पुनः । अवजिघ्रेच्च तान्पिण्डान्यथान्युप्तान्समाहितः ॥ २१८ ॥ पिण्डेभ्यस्त्वल्पिकां मात्रां समादायानुपूर्वशः । तेनैव विप्रानासीनान् विधिवत्पूर्वमाशयेत् ॥ २१९ ॥ ध्रियमाणे तु पितरि पूर्वेषामेव निर्वपेत् । विप्रवद्वापि तं श्राद्धे स्वकं पितरमाशयेत् ॥ २२० ॥ पिता यस्य निवृत्तः स्याज्जीवेच्चापि पितामहः । पितुः स नाम संकीर्त्य कीर्त्तयेत्प्रपितामहम् २२१ पितामहो वा तच्छ्राद्धं भुञ्जीतेत्यब्रवीन्मनुः । कामं वा समनुज्ञातः स्वयमेव समाचरेत् २२२ तेषां दत्त्वा तु हस्तेषु सपवित्रं तिलोदकम् । तत्पिण्डाग्रं प्रयच्छेत् स्वधैषामस्त्विति ब्रुवन् २२३ पाणिभ्यां तूपसंगृह्य स्वयमन्नस्य वर्धितम् । विप्रान्तिके पितृन्ध्यायन् शनकैरुपनिक्षिपेत् २२४ उभयोर्हस्त-



योर्भुक्तं यदन्नमुपनीयते । तद्विप्रलुम्पन्त्यसुराः सहसा दुष्टचेतसः  
२२५ गुणांश्च सूपशाकाद्यान् पयो दधि घृतं मधु । विन्यसेत्प्रयतः  
पूर्वं भूमावेव समाहितः २२६ ॥

“ अर्थ-प्रथम यथाविधि होम करके अग्नि होम यज्ञ का पर्युक्षणपूर्वक  
तर्पण करके पश्चात् पितरों को वृत्त करे ॥ २११ ॥ अग्नि के अभाव में होम  
न करे तो ब्राह्मण के हाथ पर (उक्त तीन) आहुति देदेवे क्योंकि जो अग्नि  
है वही ब्राह्मण है, ऐसा मन्त्र के जानने वाले कहते हैं ॥ २१२ ॥ क्रोधरहित  
और प्रसन्नचित्त वाले और वृद्ध तथा लोगों की वृद्धि में उद्योग करने वाले  
द्विजोत्तमों को आहुपात्र कहते हैं ॥ २१३ ॥ अपसव्य से अग्नौकरणादि होम  
और अनुष्ठानक्रम करके पश्चात् दक्षिण हाथ से भूमि पर पानी डाले ॥ २१४ ॥  
उस होमद्रव्य के शेष से तीन पिण्ड बनाके जल वाली विधि से दक्षिणमुख  
होकर स्वस्थचित्त से ( कुशों पर ) चढ़ावे ॥ २१५ ॥ विधिपूर्वक उन पिण्डों की  
( दक्षों पर ) स्थापन करके उन दक्षों के ऊपर लेपभागी पितरों की वृत्ति के  
लिये हाथ पूंछ डाले ॥ २१६ ॥ अनन्तर उत्तरमुख होकर आचमन और ३  
प्राणायाम शनैः २ करके मन्त्र का जानने वाला षट्कृतुओं और पितरों को  
भी नमस्कार करे ॥ २१७ ॥ एकाग्रचित्त वाला पिण्डदान के पात्र में जो शेष पानी  
बचा हो, उस को पिण्डों के समीप धीरे २ छोड़े । सावधान हुवा जिस क्रम  
से पिण्डों को रक्खा या उसी क्रम से सूँचे ॥ २१८ ॥ क्रम के साथ प्रत्येक पिण्ड  
से थोड़ा थोड़ा भाग लेकर विधि के साथ उन्हीं अल्प भागों को भोजन के  
समय ब्राह्मणों को प्रथम खिलावे ॥ २१९ ॥ पिता जीता हो तो बाबा आदि  
का ही आहु करे वा पिता के स्थान में अपने ( जीवते ) पिता को भोजन  
करा देवे ॥ २२० ॥ पिता जिस का मरगया हो और बाबा जीता हो, तौ पिता  
का नाम उच्चारण करके, प्रपितामह का उच्चारण ( आहु में ) करे ॥ २२१ ॥  
वा उस आहु में जीते पितामह को भोजन करावे, ऐसा मनु कहते हैं वा  
पितामह की आज्ञा पाकर जैसा चाहे वैसा करे ॥ २२२ ॥ उन ( ब्राह्मणों ) के  
हाथ में सपवित्र तिलोदक देकर पितृ पितामह प्रपितामह के साथ “ स्वधा  
अस्तु” ऐसा उच्चारण करता हुवा क्रम से वह पिण्ड का अल्प भाग देवे ॥ २२३ ॥  
परिपक्व अन्नों के पात्रों को अपने हाथों से “ वृद्धिरस्तु” कहकर पितरों का  
स्मरण करता हुवा ब्राह्मणों के समीप धीरे २ रखे ॥ २२४ ॥ ( ब्राह्मणों को )



दोनों हाथों से न लाये हुवे अन्न को अकस्मात् दुष्ट बुद्धि वाले असुर छीन खाते हैं, (इससे एक हाथ से लाकर न रखे) ॥२२५॥ चटनी दाल तरकारी इत्यादि नाना प्रकार के व्यञ्जन दूध दही घृत और मधु को पवित्र होकर तथा स्वस्थचित्त से प्रथम (पात्रसहित) भूमि पर रखे ॥ २२६ ॥

“ भक्ष्यं भोज्यं च विविधं मूलानि च फलानि च । हृद्यानि चैव मांसानि पानानि सुरभीणि च २२७ उपनीय तु तत्सर्वं शनकैः सुसमाहितः । परिवेषयेत् प्रयतो गुणान्सर्वान्प्रचोदयन् २२८ नास्त्रमापातयेज्जातु न कुप्येन्नानृतं वदेन् । न पादेन स्पृशेदन्नं न चैतदवधूनयेत् २२९ अस्त्रं गमयति प्रेतान्कोपोऽरीनऽनृतं शुनः । पादस्पर्शस्तु रक्षांसि दुष्कृतीनवधूननम् २३० यद्यद्रोचेत् विप्रेभ्यस्तत्तद्व्यादमत्सरः । ब्रह्मोद्याश्च कथाः कुर्यात्पितृणामेतदीप्सितम् २३१ स्वाध्यायं श्रावयेत्पित्रथे धर्मशास्त्राणि चैव हि । आख्यानानीतिहासांश्च पुराणान्यखिलानि च २३२ हर्षयेद् ब्राह्मणांस्तुष्टो भोजयेच्च शनैः शनैः । अन्नाद्येनासकृच्चैतान् गुणैश्च परिचोदयेत् २३३ व्रतस्थमपि दौहित्रं श्राद्धे यत्नेन भोजयेत् । कुंतपं चासने दद्यात्तिलैश्च विकिरेन्महम् २३४ त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः । त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम् २३५ अत्युष्णं सर्वमन्नं स्याद्बुद्धीरंस्ते च वाग्यताः । न च द्विजातयो ब्रूयुर्दात्रा पृष्टा हविर्गुणान् २३६ यावदुष्णं भवत्यन्नं यावदशनन्ति वाग्यताः । पितरस्तावदशनन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणाः २३७ यद्वेष्टितशिराभुङ्क्ते यद्भुङ्क्ते दक्षिणामुखः । सोपानत्कश्च यद् भुङ्क्ते तद्वै रक्षांसि भुञ्जते २३८ चण्डालश्च वराहश्च कुक्कुटः श्वा तथैव च । रजस्वला च षण्ढश्च नेक्षेरन्नशनतो द्विजान् २३९ होमे प्रदाने भोज्ये च यदेभिरभिवीक्ष्यते । दैवे



कर्मणि पित्रये वा तद्वच्छत्ययथातथम् २४० घ्राणेन सूकरो हन्ति  
पक्षवातेन कुक्कुटः। श्वा तु दृष्टिनिपातेन स्पर्शेनाऽवरवर्णजः २४१  
खञ्जो वा यदि वा काणो दातुः प्रेष्योऽपि वा भवेत्। हीनातिरिक्त-  
गात्रो वा तमप्यपनयेत्पुनः २४२ ॥

“ अर्थ-नाना प्रकार के भक्ष्य भोजन, मूल, फल और हृदय के मांस और सुगन्धियुक्त पीने के द्रव्य ॥ २२७ ॥ ये सम्पूर्ण अन्न धीरे से ब्राह्मणों के समीप लाकर पवित्रता और स्वस्थचित्त से सब के गुण कहता हुआ परोसे ॥ २२८ ॥ (आहु के समय में) रोदन और क्रोध न करे तथा झूठ न बोले और अन्न में पैर न लगावे और अन्न को न फेंके ॥ २२९ ॥ रोजे से वह अन्न प्रेतों को मिलता है और क्रोध करने से शत्रुओं को प्राप्त होता है और असत्य भाषण से कुत्तों को पहुंचता है तथा पैर लगाने से राक्षस खाते हैं और फेंका हुआ पापी पाते हैं ॥ २३० ॥ और जो २ अन्न ब्राह्मणों को अच्छा लगे वह २ देवे। सत्सरतारहित होकर ईश्वरसम्बन्धी बात करे क्योंकि पितरों की यही इष्ट है ॥ २३१ ॥ वेद धर्मशास्त्र और आख्यान तथा इतिहास पुराण इत्यादि आहु में सुनवावे ॥ २३२ ॥ प्रसन्नचित्त हुआ आप ब्राह्मणों को प्रसन्न करे और अन्न से जल्दी न करता हुआ भोजन करावे और मिष्टान्न के गुणों से ब्राह्मणों को प्रेरणा करे ॥ २३३ ॥ आहु में दीहित्र (नाती) ब्रह्मचारी हो तो भी यन्न से भोजन करावे। बैठने को नेपाली कम्बल देवे और आहु भूमि में तिल डाले ॥ २३४ ॥ आहु में तीन पवित्र हैं-नाती, कम्बल और तिल। और तीन प्रशंसा के योग्य हैं-१ क्रोध का न करना, २ पवित्रता तथा ३ जल्दी न करना ॥ २३५ ॥ बोलना बन्द करके ब्राह्मण भोजन करें। भोजनयोग्य जो पदार्थ हैं वे सब उष्ण (गरम) होने चाहियें और आहु करने वाला भोजनों का गुण पूछे तो भी विप्र न बोलें ॥ २३६ ॥ जब तक अन्न चरण है और जब तक सौन-युक्त भोजन करते हैं और जब तक भोजन के गुण नहीं कहे जाते तब तक पितर भोजन करते हैं ॥ २३७ ॥ सिर बांधे हुवे जो भोजन करता है और दक्षिणमुख जो भोजन करता है तथा जूता पहरे जो खाता है, वे सब राक्षस भोजन करते हैं (पितर नहीं) ॥ २३८ ॥ चण्डाल, सूकर, मुरगा, कुत्ता, रजस्वला स्त्री और नपुंसक, ये सब भोजन करते हुवे ब्राह्मणों को न देखें ॥ २३९ ॥ अग्निहोत्र, दान, ब्रह्मभोज, देवकर्म वा पितृकर्म में जो ये देखें तौ



वह सब निष्फल हो जाता है ॥ २४० ॥ सूकर ( उस अन्न को ) सूँघने से ( कर्म को ) निष्फल करता है । परों की हवा से मुरगा और देखने से कुत्ता और खूने से शूद्र निष्फल कर देता है ॥ २४१ ॥ जिस का पैर सारा गया हो वा काणा वा दाता का दास हो वा कम या अधिक अङ्ग वाला हो, उस को भी ( श्राद्ध के स्थान से ) हटा देवे ॥ २४२ ॥

“ ब्राह्मणं भिक्षुकं वापि भोजनार्थमुपस्थितम् । ब्राह्मणरै-  
भ्यनुज्ञातः शक्तितः प्रतिपूजयेत् ॥ २४३ ॥ सार्ववर्णिकमन्नाद्यं  
सन्नीयाश्लाघ्य वारिणा । समुत्सृजेद्भुक्तवतामग्रतो विकिरन्भुवि  
॥ २४४ ॥ असंस्कृतप्रमीतानां त्यागिनां कुलयोषिताम् । उच्छिष्टं  
भागधेयं स्यादर्भेषु विकिरश्च यः ॥ २४५ ॥ उच्छेषणं भूमिगत  
मजिह्वास्याशठस्य च । दासवर्गस्य तत्पित्र्ये भागधेयं प्रचक्षते  
॥ २४६ ॥ आसपिण्डक्रियाकर्म द्विजातेः संस्थितस्य तु । अदैवं  
भोजयेच्छ्राद्धं पिण्डमेकं तु निर्वपेत् ॥ २४७ ॥ सहपिण्डक्रियायां  
तु कृतायामस्य धर्मतः । अनयैवावृता कार्यं पिण्डनिर्वपणं सुतैः  
॥ २४८ ॥ श्राद्धं भुक्त्वा य उच्छिष्टं वृषलाय प्रयच्छति । स मूढो  
नरकं याति कालसूत्रमवाक्शिराः ॥ २४९ ॥ श्राद्धभुग्वृषलीतल्पं  
तदहयोऽधिगच्छति । तस्याः पुरीषे तं मासं पितरस्तस्य शेरते  
॥ २५० ॥ पृष्ट्वा स्वदितमित्येवं तृप्तानाचामयेत्ततः । आचान्तांश्चानु-  
जानीयादभितो रम्यतामिति ॥ २५१ ॥ स्वधास्त्वित्येव तं ब्रूयु-  
ब्राह्मणास्तदनन्तरम् । स्वधाकारः परं ह्याशीः सर्वेषु पितृकर्मसु  
॥ २५२ ॥ ततो भुक्तवतां तेषामन्नशेषं निवेदयेत् । यथा ब्रूयुस्तथा  
कुर्यादनुज्ञातस्ततो द्विजैः ॥ २५३ ॥ पित्र्ये स्वदितमित्येव वाच्यं  
गोष्ठे तु सुश्रुतम् । संपन्नमित्यभ्युदये दैवे रुचितमित्यपि ॥ २५४ ॥  
अपराहस्तथा दर्भा वास्तुसंपादनं तिलाः । सृष्टिर्मृष्टिर्द्विजाश्चाग्रयाः  
श्राद्धकर्मसु संपदः ॥ २५५ ॥ दर्भाः पवित्रं पूर्वाह्णे हविष्याणि च



सर्वशः । पवित्रं यच्च पूर्वोक्तं विज्ञेया हव्यसंपदः ॥२५६॥ मुन्य-  
न्नानि पयः सोमो मांसं यच्चानुपस्कृतम् । अक्षारलवणं चैव  
प्रकृत्या हविरुच्यते ॥ २५७ ॥ विसृज्य ब्राह्मणांस्तांस्तु नियतो  
वाग्यतः शुचिः । दक्षिणां दिशमाकाङ्क्षन्याचेतेमान्वरान् पितृन्  
॥ २५८ ॥ ”

“ अर्थ—भिक्षुक वा ब्राह्मण उस काल में भोजनार्थ प्राप्त हो तो उस का  
भी ब्राह्मणों की आज्ञा पाकर यथाशक्ति पूजन करे ( भोजन करावे या भिक्षा  
देवे ) ॥ २४३ ॥ सर्व प्रकार के भज्यादि को एकत्र करके पानी से छिड़क कर  
भोजन किये हुवे ब्राह्मणों के आगे दर्भ पर बखेरता हुआ रखे ॥ २४४ ॥  
संस्कार के अयोग्य मरे बालकों तथा त्यागियों और कुलस्त्रियों का उच्छिष्ट  
कुश पर का भाग विकिर ( २४४ में कहा ) है ॥ २४५ ॥ जो कि भूमि पर गिरा  
आहु में उच्छिष्ट है वह दासों के समुदाय का भाग है । ऐसा मनु कहते हैं ।  
परन्तु वह दाससमुदाय सीधा हो और कुटिल न हो ॥ २४६ ॥ मरे द्विजों की  
सपिण्डी तक वैश्वदेवरहित आहुत ( ब्राह्मण को ) जिमावे और एक पिण्ड  
देवे ॥ २४७ ॥ परन्तु धर्म से सपिण्डी होजाने पर पुत्रों को उक्त प्रकार से  
पिण्डप्रदान करना चाहिये ॥ २४८ ॥ जो आहुतोच्छिष्ट को भोजन करके शूद्र  
को देता है वह मूख कालमूत्र नाम नरक को जाता है, जिस का नीचे को  
शिर और ऊपर को पैर होते हैं ॥ २४९ ॥ जो आहुत को भोजन करके उस  
दिन वेश्याप्रसंग करता है उस के पितर उस स्त्री के विष्टा में उस सहीने तक  
लेटते हैं ॥ २५० ॥ तप्त ब्राह्मण को “ अच्छे भोजन हुआ ” ऐसा पूछ कर आचमन  
करावे, पश्चात् आचमन कियों को “ आराम कीजिये ” ऐसा कहे ॥ २५१ ॥ इस  
कहने के अनन्तर ब्राह्मण आहुकर्त्ता के प्रति “ स्वधा अस्तु ” ऐसा कहें ।  
क्योंकि सब आहुकर्म में स्वधा शब्द का उच्चारण परम आशीर्वाद है ॥ २५२ ॥  
स्वधा शब्द के उच्चारणाजन्तर निवेदन करे कि “ यह शेष अन्न है ” तब  
ब्राह्मण इस को जैसा कहें वैसा करे ॥ २५३ ॥ पितृआहु में “ स्वदितम् ” = खूब  
भोजन किया, ऐसा कहे और गोष्ठ आहु में “ सुश्रुतम् ” ऐसा कहे और  
अभ्युदय आहु में “ संपन्नम् ” इस प्रकार कहे और दैवआहु में “ रुचितम् ”  
ऐसा कहे ॥ २५४ ॥ दोपहर का समय, दर्भ और गोबर से लेपन, तिल और



उदारता से अन्नादि का देना और अन्न का संस्कार और पूर्वोक्त पङ्क्तिपावन ब्राह्मण; ये आहु की सम्पत्ति हैं ॥ २५५ ॥ दर्भ और पवित्र और पहला पहर और सब मुनियों के अन्न और पूर्वोक्त पवित्र; ये हव्य की सम्पत्ति जानो ॥ २५६ ॥ मुनियों के अन्न, दूध, सोसलता का रस, मांस जो पकाया नहीं गया और सैन्यव नरक की स्वभाव से हवि कहते हैं ॥ २५७ ॥ उन ब्राह्मणों को विसर्जन करके एकाग्रचित्त और पवित्र, मौनी, दक्षिण दिशा में देखता हुआ, पितरों से अपने अभिलषित ये वर मांगे कि— ॥ २५८ ॥ ”

“ दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः संततिरेव च । श्रद्धा च नो माव्यगमहहुषेयं च नोऽस्त्विति ॥ २५९ ॥ [ \* अन्नं च नो बहु भवेदतिथींश्च लभेमहि । याचितारश्च नः सन्तु मा रुम याचिष्म कश्चन ॥ श्राद्धभुक् पुनरश्नाति तदहयो द्विजाऽधमः । प्रयाति सूकरीं योनिं कृमिर्वा नात्र संशयः ] ॥ एवं निर्वपणं कृत्वा पिण्डांस्तांस्तदनन्तरम् । गां विप्रमजमग्निं वा प्राशयेदप्सु वा क्षिपेत् ॥ २६० ॥ पिण्डनिर्वपणं केचित्पुरस्तादेव कुर्वते । वयोभिः खादयन्त्यन्ये प्रक्षिपन्त्यनलेऽप्सु वा ॥ २६१ ॥ पतिव्रता धर्मपत्नी पितृपूजनतत्परा । मध्यमं तु ततः पिण्डमद्यात्सम्यक् सुतार्थिनी ॥ २६२ ॥ आयुष्मन्तं सुतं सूते यशोमेधासमन्वितम् । धनवन्तं प्रजावन्तं सार्विकं धार्मिकं तथा ॥ २६३ ॥ प्रक्षाल्य हस्तावाचम्य ज्ञातिप्रायं प्रकल्पयेत् । ज्ञातिभ्यः सत्कृतं दत्वा बान्धवानपि भोजयेत् ॥ २६४ ॥ उच्छेषणं तु तत्तिष्ठेद्यावद्विप्रा विसर्जिताः । ततो गृहबलिं कुर्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ २६५ ॥ हविर्यच्चिररात्राय यच्चानन्त्याय कल्पते । पितृभ्यो विधिवद्दत्तं तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ २६६ ॥ तिलैर्ब्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलेन वा । दत्तेन मासं तृप्यन्ति विधिवत्पितरो नृणाम् ॥ २६७ ॥ द्वौ मासौ मत्स्यमासेन त्रीन् मासान्हारिणेन तु । औरभ्रेणाथ चतुरः

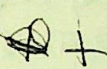


शाकुनेनाथ पञ्च वै ॥२६८॥ षण्मासाश्छागमांसेन पार्षतेन च  
सप्त वै । अष्टावेणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु ॥ २६९ ॥ दश-  
मासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः । दशकूर्मयोस्तु मांसेन  
मासानेकादशैव तु ॥ २७० ॥ ”

“ अर्थ—हमारे कुल में देने वाले, वेद और पुत्र पौत्रादि बढ़ें और अहु  
हमारे कुल से न हटें और धनादि बहुत होवे ॥

[ \* हमारे अन्न बहुत होवे, हम अतिथियों को भी पावें, हम से मांगने  
वाले हों और हम किसी से न मांगें ॥ जो ब्राह्मणाऽधम आहु भोजन करके  
उस दिन दूसरी बार भोजन करता है वह सूकर वा कीड़े की योगि पाता  
है । इस में संशय नहीं ॥ ] ( ये दो श्लोक तो बहुत ही थोड़े दिनों से मिलाये  
गये हैं क्योंकि इन में पहला श्लोक पुराने लिखे ३० में से ७ पुस्तकों में है २३  
में नहीं तथा राघवानन्द और रामचन्द्र इन दो ने ही इस पर टीका किया  
है, औरों ने नहीं । और दूसरा श्लोक ३० में केवल १ लिखित पुस्तक में ही मिलता  
है, शेष २९ में नहीं । इस पर टीका भी किसी ने नहीं की है ) ॥ २५९ ॥ उक्त प्रकार से  
पिण्डदान करके उन पिण्डों को गाय, ब्राह्मण, बकरा वा अग्नि को खिलावे  
वा पानी में डाल देवे ॥ २६० ॥ कोई ब्राह्मण भोजन के अनन्तर पिण्डदान करते  
हैं और कोई पक्षियों को पिण्ड खिलाते हैं और दूसरे अग्नि वा पानी में  
डालते हैं ॥ २६१ ॥ सजातीय विवाहिता, पवित्रतर्धम की करने वाली, आहु में  
अहु रखने वाली, लड़के की बछ्छा करने वाली स्त्री उन ३ में से विधियुक्त  
बीच के पिण्ड का भक्षण करे ॥ २६२ ॥ ( उस पिण्डभक्षण से ) दीर्घायु, कीर्ति और  
यश धारण करने वाला, भाग्यवान्, सन्तति वाला, सर्वगुणी, धर्मात्मा पुत्र  
उत्पन्न करती है ॥ २६३ ॥ हाथों को धोकर, आचमन करके जाति वालों को  
भोजन करावे । सत्कारपूर्वक जाति वालों को अन्न देकर, भाइयों को भी  
भोजन करावे ॥ २६४ ॥ वह ब्राह्मणों का उच्छिष्ट अन्न, ब्राह्मणों के विसर्जन तक  
रहे, उस के अनन्तर वैश्वदेव करे । यह धर्म की व्यवस्था है ॥ २६५ ॥ जो हवि  
पितरों को यथाविधि दिया हुआ बहुत कालपर्यन्त और अनन्त तृप्ति देता है  
वह सम्पूर्ण आगे कहते हैं:—॥ २६६ ॥ तिल, धान्य, यव, उड़द, जल, मूल और  
फल विधिवत् देने से मनुष्यों के पितर एक मास पर्यन्त तृप्त होते हैं ॥ २६७ ॥



मछली के मांस से दो महीने तक और हरिण के मांस से तीन महीने, मेंढा के मांस से चार महीने, पक्षियों के मांस से पांच महीने ( तृप्तरहते हैं, क्या अब भी मृतकश्राद्ध की प्रतिष्ठा न मानियेगा ? ) ॥२६८॥ और बकरे के मांस से छः महीने, चित्र मृग के मांस से सात महीने, एण मृग के मांस से आठ महीने और रुक् मृग के मांस से नौ महीने ॥२६९॥ सूकर और भैंसे के मांस से दश महीने तृप्तरहते हैं और शशा तथा कलवे के मांस से ग्यारह महीने ( तृप्ति रहती है ) ॥ २७० ॥ \* 

“ संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन च । वार्धीणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥ २७१ ॥ कालशाकं महाशल्काः खड्गलोहामिषं मधु । आनन्त्यायैव कल्पन्ते मुन्यन्नानि च सर्वशः २७२ यत्किञ्चिन्मधुना मिश्रं प्रदद्यात्तु त्रयोदशीम् । तदप्यक्षयमेव स्याद्वर्षासु च मघासु च २७३ अपि नः स कुले जायाद्यो नो दद्यात् त्रयोदशीम् । पायसं मधुसर्पिभ्यां प्राक्छाये कुञ्जरस्य च ॥ २७४ ॥ यद्यददाति विधिवत्सम्यक्श्रद्धासमन्वितः । तत्तत्पितृणां भवति परत्रानन्तमक्षयम् ॥ २७५ ॥ कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्जयित्वा चतुर्दशीम् । श्राद्धे प्रशस्तास्तिथयो यथैता न तथेतराः ॥ २७६ ॥ युक्षु कुर्वन् दिनक्षेपु सर्वान्कामान्समश्नुते । अयुक्षु तु पितृन्सर्वान्प्रजां प्राप्नोति पुष्कलाम् ॥ २७७ ॥ यथाचैवापरः पक्षः पूर्वपक्षाद्विशिष्यते । तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्णादपराह्णे विशिष्यते ॥ २७८ ॥ प्राचीनावीतिना सम्यगपसव्यमतन्द्रिणा । पित्रयमानिधनात्कार्यं विधिवद्भर्पाणिना २७९ रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत राक्षसी कीर्तिता हि सा । सन्ध्योऽहमयोश्चैव सूर्ये चैवाचिरोदिते २८० अनेन विधिना श्राद्धं त्रिरब्दस्येह निर्वपेत् । हेमन्त ग्रीष्मवर्षासु पाश्र्वयज्ञिकमन्वहम् ॥ २८१ ॥ न पैतृयज्ञियो होमो लौकिकेऽनौ विधीयते । न दर्शेन विना श्राद्धमाहिताग्नेर्द्विजन्मनः ”



“अर्थ-गाय के दूध वा उस की खीर से १ वर्ष पर्यन्त और वार्ध्री ऋष ( लम्बे कान वाले बकरे ) के मांस से बारह वर्ष तृप्ति रहती है ॥ २७१ ॥ कालशाक, सहाशक ( सहस्रियों के भेद हैं ) और गेंडा, लाल बकरा, मधु और संपूर्ण सुन्नियों के कल, ये अनन्त तृप्ति देते हैं ॥ २७२ ॥ वर्षाकाल की मधायुक्त त्रयोदशी में श्राद्धनिमित्त ( ब्राह्मण को ) जो कुछ मधुयुक्त देवे, उस से अक्षय तृप्ति होती है ॥ २७३ ॥ इस प्रकार का कोई हमारे कुल में हो, जो हम की चतुर्दशी में दूध मधु घृत से युक्त भोजन देवे या हस्ती की पूर्व दिशा की छाया में देवे ( यह पितर आशा करते हैं ) ॥ २७४ ॥ अच्छे श्राद्धयुक्त जो कुछ विधिपूर्वक पितरों को देता है वह परलोक में पितरों की अक्षय तृप्ति के लिये होता है ॥ २७५ ॥ कृष्णपक्ष में दशमी से लेकर चतुर्दशी छोड़ कर ये तिथि श्राद्ध में जैसी प्रशस्त हैं वैसी और नहीं ॥ २७६ ॥ युग्मतिथि और युग्म नक्षत्रों में श्राद्ध करने वाला संपूर्ण इष्ट पदार्थों को प्राप्त होता है । अयुग्म तिथि और अयुग्म नक्षत्रों में श्राद्ध करने वाला पुत्रादि सन्तति को पाता है ॥ २७७ ॥ जैसे शुक्लपक्ष से कृष्णपक्ष श्राद्धादि करने में अधिक फल का देने वाला है, वैसे ही पहिले पहर से दूसरे पहर में अधिक फल होता है ॥ २७८ ॥ दहिने कन्धे पर यज्ञोपवीत करके, आलस्यरहित हो, दर्भ हाथ में लेकर अपसव्य हो, शास्त्रानुसार सब पितृसम्बन्धी कर्म मृत्युपर्यन्त करे ॥ २७९ ॥ रात्रि में श्राद्ध न करे । उस ( रात्रि ) को राक्षसी कहा है और दोनों संध्याओं तथा सूर्योदय से ( उः घड़ी वा ) षोड़ा दिन चढ़े तक समय में भी श्राद्ध न करे ॥ २८० ॥ इस विधि से एक वर्ष में तीन बार श्राद्ध करे-हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा में । और पञ्चयज्ञान्तर्गत श्राद्ध को प्रतिदिन करे ॥ २८१ ॥ श्राद्धसम्बन्धी होम लौकिक अग्नि में नहीं कहा है और आहिताग्नि ब्राह्मणादि को अमावास्या से अतिरिक्त तिथि में श्राद्ध नहीं कहा है ॥ २८२ ॥ ”

“ यदेव तर्पयत्यग्निः पितृन्स्नात्वा द्विजोत्तमः ।

तेनैव कृत्स्नमाप्नोति पितृयज्ञक्रियाफलम् २८३ ”

“ अर्थ-जो द्विज स्नान करके जल से ही पितृतर्पण करता है, उसी से संपूर्ण नित्यश्राद्ध का फल पाता है ॥ २८३ ॥ ”

वसून्वदन्ति तु पितृन् रुद्रांश्चैव पितामहान् ।

प्रपितामहांश्चादित्यान्श्रुतिरेषा सनातनी ॥ २८४ ॥



पितर=वसुओं और पितामह=रुद्रों और प्रपितामह=आदित्यों को कहते हैं। यह सनातन से सुनते हैं ॥ ( इस विषय में छान्दोग्य उपनिषद् ३।१२ में भी लिखा है सो देखने योग्य है—

पुरुषोवाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिर्वर्षाणि तत् प्रातः सवनं, चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री, गायत्रं प्रातःसवनं, तदस्य वसवोऽन्वायन्ताः, प्राणा वाव वसव एते हीदंशुं सर्वं वासयन्ति १ अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनंशुं सवनं, चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप्, त्रैष्टुभं माध्यन्दिनंशुं सवनं, तदस्य रुद्रा अन्वायन्ताः, प्राणा वाव रुद्रा एते हीदंशुं सर्वं रोदयन्ति ३ अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तत्तृतीयसवनमष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती, जागतं तृतीयसवनं, तदस्यादित्या अन्वायन्ताः, प्राणा वावादित्या एते हीदंशुं सर्वमाददते ॥ ५ ॥

भावार्थ—यह है कि मनुष्य भी एक यज्ञ है। जैसे यज्ञ के प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन और सायंसवन वा तृतीयसवन, ये ३ सवन होते हैं, ऐसे ही मनुष्यदेहयात्रा रूप यज्ञ के २४।४४।४८ वर्ष ३ सवन हैं। गायत्री के २४ अक्षर हैं। प्रातःसवन का भी गायत्री छन्द है, उस में इस के प्राण वसु-संज्ञक होते हैं। ४४ अक्षर का त्रिष्टुप्छन्द है और माध्यन्दिन सवन का भी त्रिष्टुप्छन्द है। उस में इस के प्राण रुद्र-संज्ञक होते हैं। और ४८ अक्षर का जगती छन्द है और तृतीयसवन का भी जगती छन्द है। उस में इस के प्राण आदित्य-संज्ञक होते हैं ( निदान २४ वर्ष तक ब्रह्मचर्यव्रतधारी के प्राण वसु, ४४ वर्ष वाले के रुद्र और ४८ वाले के आदित्य कहाते हैं। ये ब्रह्मचारी यज्ञस्वरूप हैं और क्रम से पिता पितामह और प्रपितामह के समान सत्करणीय हैं ) ॥ २८४ ॥

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वामृतभोजनः। विघसोभुक्तशेषंतु यज्ञशेषं तथामृतम् ॥ २८५ ॥ एतद्वोऽभिहितं सर्वं विधानं पाञ्च-यज्ञिकम्। द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयतामिति ॥ २८६ ॥



अर्थ - सर्वदा विघ्न भोजन करने वाला वा अमृत भोजन करने वाला होवे । ( ब्राह्मणादिकों के ) भोजन के शेष को विघ्न कहते हैं और यज्ञ-शेष को अमृत कहते हैं ॥ २८५ ॥ यह पञ्चयज्ञानुष्ठान की सब विधि तुम से कही । अब द्विजों में मुख्य ब्राह्मण की वृत्ति सुनो ॥ २८६ ॥ +

इति मानवे धर्मशास्त्रे ( भृगुप्रोक्तायां संहितायां )

तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

Keshav Das



4th chapter

ओ३म्

## अथ चतुर्थोऽध्यायः

चतुर्थमायुषोभागमुषित्वाऽऽद्यं गुरौद्विजः। द्वितीयमायुषोभागं  
कृतदारो गृहे वसेत् ॥१॥ अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा  
पुनः । या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥ २ ॥

अर्थ-आयु के प्रथम चौथाई भाग ( १०० वर्ष प्रमाण से चौथाई पच्चीस  
वर्ष ) द्विज गुरुकुल में निवास करके आयु के द्वितीय भाग में गृहस्थाश्रम को  
धारण करे ॥ १ ॥ जिस वृत्ति में जीवों को पीड़ा न हो वा अल्प पीड़ा हो,  
ऐसी वृत्ति को धारण करके आपत्तिरहित काल में विप्र निर्वाह करे ॥ २ ॥  
यात्रामात्रप्रसिद्धयर्थं स्वैःकर्मभिरगर्हितैः । अक्लेशेन शरीरस्य  
कुर्वीत धनसञ्चयम् ॥३॥ ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन  
वा । सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ॥ ४ ॥

अर्थ-प्राणरक्षण, शास्त्रानुसार कुटुम्बपोषण और नित्यकर्मानुष्ठान मात्र  
के लिये अपने अनिन्दित कर्मों से तथा शरीर में क्लेश न करके धनसञ्चय  
करे ॥ ३ ॥ ऋत-अमृत वा मृत-प्रमृत से वा सत्य-अनृत से जीवन करे  
परन्तु कुत्ते की वृत्ति से कभी नहीं ॥ ४ ॥

ऋतमुच्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् । मृतं तु याचितं भैक्षं  
प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥५॥ सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि  
जीव्यते । सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥६॥

अर्थ-उच्छ और शिल को ऋत, न मांगने की वृत्ति को अमृत और मांगी हुई  
भिक्षा को मृत तथा कृषि को प्रमृत जानना चाहिये ॥५॥ इन से वा सत्यानृत=  
वाणिज्यवृत्ति से जीवे । और सेवा कुत्ते की वृत्ति कही है इस से उसे वर्जित करे ॥६॥  
कुशूलधान्यकीवा स्यात्कुम्भीधान्यकएव वा । अहैहिकीवापि  
भवेदश्वस्तनिकएव वा ॥७॥ चतुर्णामपि चैतेषां द्विजानां गृह-  
मेधिनाम् । ज्यायान्परः परोज्ञेयो धर्मतोलोकजित्तमः ॥८॥



अर्थ-कोठार में धान्य का संचय करने वाला हो, या चड़े भर अन्न संचय वाला हो, या दिनत्रय के निर्वाहमात्र का संचय करने वाला हो, या कल को भी न रखने वाला हो ॥ ( ७ वें के आगे ३० से से केवल एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक पाया जाता है -

सद्यः प्रक्षालिको वा स्यान्माससञ्चयिकोपि वा ।

षण्मासनिचयोवापि समानिचय एव वा ॥ १ ॥

अर्थात् तुरन्त हाथ धो डालने वाला, वा एक मास वा छः मास वा १ वर्ष के लिये धान्यादि संचय करने वाला होवे ॥ १ ॥

यथार्थ में मनु के लेखानुसार गुण कर्म स्वभावयुक्त ब्राह्मण हों और तदनुसार ही उन की जीविका का भार क्षत्रिय वैश्यों पर रहे तो संचय की ब्राह्मणों की कुछ आवश्यकता नहीं है ) ॥७॥ उन चार गृहस्थ द्विजों में एक से दूसरा, फिर तीसरा, इस क्रम से श्रेष्ठ ( अर्थात् जितना जिस के कम संग्रह हो उतना वह श्रेष्ठ है ) धर्म से लोक का अत्यन्त जीतने वाला समझना चाहिये ॥ ८ ॥

षट्कर्मैकोभवत्येषां त्रिभिरन्यः प्रवर्त्तते । द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसन्नेन जीवति ॥ ९ ॥ वर्त्तयंश्च शिलोञ्छाभ्यामग्निहोत्र परायणः । इष्टीः पार्वीयनान्तीयाः केवलानिर्वपेत्सदा ॥ १० ॥

अर्थ-इन में कोई गृहस्थ षट्कर्मों से जीता है ( ऋत, अयाचित, भिक्षा, कृषि, वाणिज्य और कुसीद से ) और कोई तीन कर्मों से जीता है ( याजन, अध्यापन, प्रतिग्रह ) और कोई दो ( याजन और अध्यापन ) से और कोई एक ( पढ़ाने ) ही से ॥ ९ ॥ शिलोञ्छों से जीवन करता हुआ केवल सदा अग्निहोत्र और पर्व तथा अयन के अन्त में इष्टि=यज्ञ करे ॥ १० ॥

न लोकवृत्तं वर्त्तत वृत्तिहेतोः कथञ्चन । अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद्ब्राह्मणजीविकाम् ॥ ११ ॥ संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत् । संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥ १२ ॥

अर्थ-जीविका के लिये लोकवृत्त ( नाटकादि ) कभी न करे किन्तु असत्य और दम्भादि से रहित पवित्र जीविका, जो कि ब्राह्मण की कही है, करे ॥ ११ ॥ सुखार्थी संतोष से रह कर स्वस्थचित्त रहे, क्योंकि संतोष ही सुख का कारण है और वृणा दुःख का हेतु है ॥ १२ ॥



अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु स्नातको द्विजः । स्वर्ग्यायुष्य  
यशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत् ॥ १३ ॥ वेदोदितं स्वकं कर्म  
नित्यंकुर्यादतन्द्रितः । तद्विकुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्

अर्थ-इन में कोई सी वृत्ति से निर्वाह करता हुआ स्नातक द्विज, स्वर्ग  
आयु और यश के देने वाले इन व्रतों का धारण करे:-॥१३॥ अपना वेदोक्त  
कर्म नित्य आलस्यरहित होकर यथाशक्ति करे क्योंकि उस को करता हुआ  
निश्चय परम गति ( मोक्ष ) को प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

नेहेतार्थान्प्रसंगेन न विरुद्धेन कर्मणा । न विद्यमानेष्वर्थेषु  
नात्थामपि यतस्ततः ॥ १५ ॥ इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत  
कामतः । अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्त्तयेत् ॥ १६ ॥

अर्थ-गाने बजाने आदि से और शास्त्रविरुद्ध किसी कर्म से द्रव्योपार्जन न  
करे । द्रव्य होने पर भी न करे और कष्ट में भी इधर उधर से ( पतितों से )  
द्रव्यों का उपार्जन न करे ॥ ( ९ प्राचीन लिखित पुस्तकों में उत्तरार्ध इस  
प्रकार है कि-न कल्पमानेवर्थेषु नान्त्यादपि यतस्ततः ) ॥ १५ ॥ सम्पूर्ण  
इन्द्रियों के अर्थों ( शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध ) में इच्छा से न फंसे । इन की  
बहुत आसक्ति को मन से हटा देवे ( मेधातिथि के भाष्य में-सन्निवर्त्तयेत्=  
सन्निवेशयेत् । पाठ है ) ॥ १६ ॥

सर्वान्परित्यजेदर्थान्स्वाध्यायस्य विरोधिनः । यथा तथा ध्याप-  
यंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ १७ ॥ वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुत-  
स्याभिजनस्य च । वेषवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन्विचरेदिह ॥ १८ ॥

अर्थ-वेदाध्ययन के विरोधी जितने अर्थ हैं, सब को छोड़ देवे । जैसे  
बने वैसे वेदाध्यापन से निर्वाह करे, यही उस की कृतकृत्यता है ॥१७॥ आयु,  
क्रिया, धन, विद्या और कुल, इन के अनुरूप वेष वाणी और समस्त से आच-  
रण करता हुआ इस जगत् में रहे ॥ १८ ॥

बुद्धिबुद्धिकराण्यां च धन्यानि च हितानि च । नित्यं शास्त्राण्य-  
वेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥ १९ ॥ यथायथा हि पुरुषः शास्त्रं  
समधिगच्छति । तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते २०



अर्थ-शीघ्र बुद्धि के बढ़ाने वाले, धन के संचय कराने वाले और शरीर को सुख देने वाले शास्त्रों को और वेद के अर्थ जताने वाले शास्त्रों को भी नित्य देखे ॥ १९ ॥ जैसे २ सनुष्य अच्छे प्रकार शास्त्र का अभ्यास करता है, वैसे २ शास्त्र को जानता जाता है और इस को विज्ञान रुचता जाता है ॥

( ३० में से १ पुस्तक में यह श्लोक अधिक पाया जाता है कि —

शास्त्रस्य पारङ्गत्वा तु भूयोभूयस्तदभ्यसेत् ।

तच्छास्त्रं शवलं कुर्यान्न चाधीत्य त्यजेत्पुनः ॥ १ ॥

अर्थात् शास्त्र के पार को प्राप्त हो कर भी वार २ अभ्यास करता रहे । उस शास्त्र को उज्ज्वल करे, न कि पढ़ कर फिर छोड़ दे ) ॥ २० ॥

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा । नृयज्ञं पितृयज्ञं च  
यथाशक्ति न हापयेत् ॥ २१ ॥ एतानेके महायज्ञान्यज्ञशास्त्र-  
विदो जनाः । अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति ॥ २२ ॥

अर्थ-स्वाध्यायादि पञ्चयज्ञों को यथाशक्ति कभी न छोड़े ॥ २१ ॥ कोई यज्ञशास्त्र के जानने वाले पुरुष इन पञ्चमहायज्ञों को ( ब्रह्मयज्ञ के अभ्यास से ) बाह्य चेष्टा से निरन्तर रहित हुए पञ्चज्ञानेन्द्रियों में ही संयम करते हैं ॥ २२ ॥ वाच्येके जुह्वति प्राणं प्राणे वाचं च सर्वदा । वाचि प्राणे च पश्यन्तो यज्ञनिर्वृत्तिमक्षयाम् ॥ २३ ॥ ज्ञानेनैवापरे विप्राय जन्त्ये-  
तैर्मखैः सदा । ज्ञानमूलां क्रियामेषां पश्यन्तो ज्ञानचक्षुषा ॥ २४ ॥

अर्थ-कोई वाणी का प्राण में और प्राण का वाणी में हवन करते हैं और इन्हीं में यज्ञ की अक्षय फलसिद्धि देखते हैं ( अर्थात् प्राणायाम और मौन धारण करते हैं ) ॥ २३ ॥ ज्ञानचक्षु से इन क्रियाओं को ज्ञानमूलक जानने वाले दूसरे विप्र इन यज्ञों को ज्ञान से ही करते हैं ॥ २४ ॥

अग्निहोत्रं च जहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा ।

दर्शनं चार्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि ॥ २५ ॥

“ सस्यान्ते नवसस्येष्टया तथर्त्वंन्ते द्विजोऽध्वरैः ।

पशुना त्वयनस्यादौ समान्ते सौमिकैर्मखैः ॥ २६ ॥”



अर्थ-दिन और रात्रि के आदि में नित्य अग्निहोत्र करे और अर्धमास के अन्त में अमावास्या और पूर्णिमा में क्रमशः वर्शेष्टि और पौर्णमास यजन करे ॥ २५ ॥ “नवीन अन्न की उत्पत्ति में नवीन धान्य से नवसस्येष्टि करे, ऋतुओं के अन्त में अध्वर याग करे और अयन के आदि में पशु से याग करे और वर्ष के अन्त में सोमयाग करे ॥ मेधातिथि के भाष्य में पाठभेद भी है-पशुना ह्यनस्यादौ । इस से भी यह नवीन प्रक्षेप संशयित होता है ) ॥ २६ ॥

“नानिष्ठा नवसस्येष्ट्या पशुना चाग्निमान्द्विजः । नवान्नसद्यान्मांसं वा दीर्घमायुर्जिजीविषुः २७ नवेनाऽनर्चिता ह्यस्य पशुहव्येन चाग्नयः । प्राणानेवाऽत्तुमिच्छन्ति नवान्नमिषगर्हिणः २८ ॥

“ अर्थ-अग्निहोत्री ब्राह्मणादि दीर्घ आयु की इच्छा करने वाला नवीन अन्न से इष्टि किये बिना नवान्न भक्षण न करे और पशुयाग किये बिना मांस भक्षण न करे ॥ २७ ॥ नवीन अन्न और पशु से यजन किये बिना अग्नि इन के प्राणों को खाने की इच्छा करते हैं, क्योंकि अग्नि नवीन अन्न और मांस के अत्यन्त अभिलाष वाले हैं ॥ ” ( इस प्रसङ्ग में पशुयाग का अर्थ पशु के घृतादि से यज्ञार्थ लेकर कोई लोग २६ वें का समाधान करते हैं, परन्तु आगे २७ वें के अर्थवाद में मांस का वर्णन आने से स्पष्ट जान पड़ता है कि यह लीला हिंसकों की है । यज्ञ देवकार्य है और मनु एकादशाध्याय में मांस को दैवभोजन नहीं, किन्तु राक्षसी वा पैशाच भोजन कहेंगे । इस लिये ये श्लोक हमारी सम्मति में मनु के विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं ) ॥ २८ ॥

आसनाशनशय्याभिरद्धिर्मूलफलेन वा । नास्यकश्चिद्वसेदुगेहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः ॥ २९ ॥ पापगिह्नो विकर्मस्थान्बडाल व्रतिकाच्छठान् । हैतुकान्वकवृत्तींश्च बाहुमात्रेणापिनार्चयेत् ३०

अर्थ-आसन भोजन शय्या जल मूल वा फल से यथाशक्ति बिना पूजन किया कोई अतिथि इस ( गृहस्थ ) के घर में न रहे ॥ २९ ॥ परन्तु पापगिही और निषिद्ध कर्म करने वालों, बिडालव्रत वालों, शठों, वेद में श्रद्धा न रखने वालों और बकवृत्ति वालों को वाणीमात्र से भी न पूजे ॥ ३० ॥

वेदविद्याव्रतस्नाताऽश्रोत्रियान्गृहमेधिनः । पूजयेद्व्यकथ्येन



विपरीतांश्च वर्जयेत् ॥ ३१ ॥ शक्तिोऽपचमानेभ्यो दातव्यं  
गृहमेधिना । संविभागश्च भूतेभ्यः कर्तव्योऽनुपरोधतः ॥ ३२ ॥

अर्थ-वेदविद्या की समाप्ति करने वाले और व्रत को सम्पूर्ण करने वाले  
तथा श्रोत्रिय गृहस्थों को हव्य कव्य से पूजित करे और इन से विपरीतों को  
नहीं ॥ ३१ ॥ गृहस्थ यथाशक्ति पाक न करने वाले ( संन्यासी वा ब्रह्मचारी )  
को भिक्षा देवे और सम्पूर्ण जीवों को बिना रुकावट के जलादि भाग देवे ॥ ३२ ॥

राजनीधनमन्विच्छेत्संसीदन्स्नातकः क्षुधा । याज्यान्तेवासि-  
नोर्वापि न त्वन्यत इति स्थितिः ॥ ३३ ॥ न सीदेत्स्नातको विप्रः  
क्षुधाऽशक्तः कथंचन । न जीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति ॥ ३४ ॥

अर्थ-क्षुधा से पीड़ित स्नातक राजा से और यजमान वा शिष्य से द्रव्य  
की इच्छा करे, अन्य से न मांगे । इस प्रकार की शास्त्रमर्यादा है ॥ ३३ ॥  
स्नातक ब्राह्मण क्षुधा से पीड़ित कभी न रहे और धन पास होने पर पुराना  
भैला वस्त्र न रखे ॥ ३४ ॥

ऋषकेशनखश्चमश्रुदान्तः शुक्राम्बरः शुचिः । स्वाध्याये चैव युक्तः  
स्यान्नित्यमात्महितेषु च ॥ ३५ ॥ वैणवीं धारयेदष्टिं सोदकं  
च कमण्डलुम् । यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले ॥ ३६ ॥

अर्थ-केश, नख, दाढ़ी मुँहासे हुवे ( ऐसी हजामत बनवाया करे )  
और इन्द्रियों का दमन करने वाला, श्वेतवस्त्रधारी और पवित्र रहे और  
नित्य वेष्टा ठ तथा आत्मा का हित किया करे ॥ (यह प्राचीनकालीन रहन  
सहन ( एटीकेट ) है, जो मनु ने अपने समय में नियमबद्ध किया था । इस  
में से जो जो बातें धर्माधर्म में कारण हैं, वे वे ग्राह्य अग्राह्य हैं । शेष देश  
काल की रीति नीति मात्र थीं जो बहुत सी अब आवश्यक नहीं रहनीं ) ॥ ३५ ॥  
बांस की छड़ी, जल भरा लोटा, यज्ञोपवीत, वेदपुस्तक और अच्छे सोने के  
दो कुण्डल धारण करे ॥ ३६ ॥

नेक्षेतोदान्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन । नोपसृष्टं न  
प्रारिस्थं न मध्यं न भसोगतम् ॥ ३७ ॥ न लङ्घयेद्वत्सतन्त्रीं न प्रधा-  
वेच्च वर्षति । न चोदके निरीक्षेत स्वं रूपमिति धारणा ॥ ३८ ॥



अर्थ-उदय और अस्त होते हुवे सूर्य को कभी न देखे, ग्रहों से मिलने पर और जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब और बीच आकाश में भी सूर्य को न देखे ( इस से दृष्टि की हानि होती है ) ॥ ३७ ॥ और बछड़े के बंधे होते उस के रस्से को न लांचे, पानी बंधते में न दौड़े, अपना स्वरूप पानी में न देखे । ऐसा नियम है ॥ ३८ ॥

मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम् । प्रदक्षिणानि कुर्वीत  
प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥ ३९ ॥ नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रिय-  
मार्तवदर्शने । समानशयने चैव न शयीत तथा सह ॥ ४० ॥

अर्थ-मिट्टी के टीलों, गौवों, यज्ञशालाओं, ब्राह्मणों, घृत और मधु के समूहों, चौराहों और बड़े प्रसिद्ध २ वनस्पतियों को दक्षिण ओर करके जावे ॥ ३९ ॥ कामार्त पुरुष भी रजस्वला स्त्री के पास न जावे और उस के साथ बराबर बिठौने पर भी न सोवे ॥ ४० ॥

रजसाभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः । प्रज्ञा तेजो बलं  
चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते ॥ ४१ ॥ तां विवर्जयतस्तस्य रजसा  
समभिप्लुताम् । प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्धते ॥ ४२ ॥

अर्थ-रजस्वला स्त्री के पास जाने वाले पुरुष की प्रज्ञा, तेज, बल, आंख तथा आयु नष्ट होती है ॥ ४१ ॥ उसी ( रजस्वला ) के पास न जाने वाले की प्रज्ञा, तेज, बल, आंख की दृष्टि और आयु बढ़ती है ( ४ पुस्तकों में-प्रज्ञा लक्ष्मीर्यशश्चक्षुः, पाठ है ) ॥ ४२ ॥

नाश्लीयाद्धार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाश्रयतीम् । क्षुवर्तीजृम्भमा-  
णां वा नचासीनां यथासुखम् ॥ ४३ ॥ नाञ्जयन्तींस्वकेनेत्रे नचाभ्य-  
क्तामनावृताम् । नपश्येत्प्रसवन्तीं च तेजस्कामोद्विजोत्तमः ॥ ४४ ॥

अर्थ-तेज चाहने वाला भार्या के साथ भोजन न करे, इस को भोजन करते हुए भी न देखे तथा झींकती, जंभाई लेती हुई और आराम से बैठी हुई को भी न देखे ( इस से लज्जाभङ्ग का भय है ) ॥ ४३ ॥ अपने नेत्रों में अञ्जन करती हुई, बिना कपड़ों नङ्गी तैलादि लगाती हुई, बच्चा जन्मती हुई को तेज की इच्छा करने वाला ब्राह्मणादि न देखे ॥ ( चार पुस्तकों



और रामचन्द्र के टीके में ४४ से आगे यह श्लोक अधिक पाया जाता है:—

उपेत्य स्नातको विद्वान्नेक्षेत्रग्नानां परस्त्रियम् ।

सरहस्यं च संवादं परस्त्रीषु विवर्जयेत् ॥

अर्थात् स्नातक विद्वान् पराई नग्न स्त्री के समीप न जावे और न देखे और परस्त्रियों में एकान्तसंवाद वर्जित करे ) ॥ ४४ ॥

नान्नमदादेकवासा न नग्नु स्नानमाचरेत् । न मूत्रं पथि कुर्वीत

न भस्मनि न गोव्रजे ॥ ४५ ॥ न फालकृष्टे न जले न चित्यां  
न च पर्वते । न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन ॥ ४६ ॥

अर्थ—एक वस्त्र पहन कर भोजन न करे, नङ्गा स्नान न करे, मार्ग में, गी के खरक में, ॥ ४५ ॥ खेत तथा जल में, चिता और पर्वत में, पुराने टूटे देवस्थान=यज्ञशाला में और बस्ती में कभी मूत्र न करे ॥ ४६ ॥

न ससत्त्वेषु गर्तेषु न गच्छन्नापि च स्थितः । न नदीतीरमासाद्य

न च पर्वतमस्तके ॥ ४७ ॥ वाय्वग्निविप्रमादित्यमपः पश्यंस्त-  
थैव गाः । न कदाचन कुर्वीत विण्मूत्रस्य विसर्जनम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—रहते हुवे जानवरों के बिलों में, चलते हुवे, खड़े हुवे, नदी के किनारे, पर्वत की चोटी पर, ॥ ४७ ॥ वायु, अग्नि, विप्र, सूर्य, जल और गीवों को देखता हुआ कभी मल मूत्र त्याग न करे ॥ ४८ ॥

तिरस्कृत्योच्चरेत्काष्ठलोष्टपत्रतृणादिना । नियम्य प्रयतो वाचं

संवीताङ्गोऽवगुण्ठितः ॥ ४९ ॥ मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं दिवा कुर्यादु-  
दङ्मुखः । दक्षिणाभिमुखो रात्रौ संध्ययोश्च यथा दिवा ॥ ५० ॥

अर्थ—लकड़ी, ढेला, पत्ता, घास आदिसे छिपकर दिशा फिरे, बोले नहीं, शरीर पर कपड़ा ओढ़ लेवे और गंठ कर बैठे ॥ ४९ ॥ दिन और दोनों संध्याओं में उत्तर की ओर मुख करके और रात को दक्षिण मुख होकर मल मूत्र त्याग किया करे ॥ ५० ॥

छायायामन्धकारे वा रात्रावहनिवा द्विजः । यथासुखमुखः कु-  
र्यात्प्राणवाधाभयेषु च ॥ ५१ ॥ प्रत्यग्निं प्रतिसूर्यं च प्रतिसोमोद-  
कद्विजान् । प्रति गां प्रति वातं च प्रज्ञा नश्यति मेहसः ॥ ५२ ॥



## चतुर्थाध्याय

१५३

अर्थ-छाया, अन्यकार, रात्रि वा दिन में ( जिस में दिशा का ज्ञान न हो ) वा ( व्याघ्रादिकों से ) प्राण के भय में जैसे चाहे वैसे मुख करके मल मूत्र त्याग ले ॥ ५१ ॥ अग्नि, सूर्य, चन्द्र, जल, ब्राह्मणादि, गौ और वायु इन के सम्मुख मूत्र करने वाले की प्रज्ञा नष्ट होती है ॥ ५२ ॥

( जैसे स्वच्छ वस्त्र पर थोड़ी भी मलिनता बहुत प्रतीत होती है । वा अति स्वच्छ वस्त्र धारण करने वाले थोड़ा भी छींटा पहनाने से वस्त्र को मलिन और न पहरने योग्य समझते हैं । परन्तु साधारण लोग उतने मैले वस्त्रादि को मैला ही नहीं समझते । इसी प्रकार धर्मशास्त्र के अनुसार चलने वाले लोगों को ही उस के विपरीत चलने की हानि वा ग्लानि प्रतीत हो सकती हैं, सब को नहीं । और जो लोग जिस प्रकार से सदा रहन सहन करते हैं उस से नई वा बिरुद्ध वा भिन्न रीति से करने में उन्हें ही कष्ट होता है । अन्यो को नहीं । जैसे अंग्रेजी पाट ( पाखाने ) पर इस देश वालों को कष्ट होता है । मल मूत्रादि करने में जहां २ किसी की कोई भी हानि हो वहां २ न करे, जो २ स्थान वा ढंग धर्मशास्त्र में यहां बतलाये हैं, वे उपलक्षणमान हैं । इस से अन्यत्र भी हानि देखे तो न करे । और इन स्थानों में भी करने से लाभ और न करने से हानि हो तो, इस सर्वादा को चाहे न माने । यही विचार ५१ वें श्लोक का मुख्य करके है ॥ ब्राह्मणादि के सामने मूत्रादि करने से उन का अपमान और अपने में धृष्टतादि दोषोत्पत्ति, तथा वायु आदि की परीक्षा करते, एक काल में दो कामों के करने से विघ्न और शीघ्र का ठीक २ न होना, बवासीर और मूत्रकृच्छ्रादि रोगों की वृद्धि भी संभव है । इत्यादि स्वयं विचारते रहना चाहिये ) ॥ ५३ ॥ ✕

नाग्निंमुखेनोपधमेक्ष्यग्नानिक्षेतचस्त्रियम् । नामेध्यं प्रक्षिपेदग्नौ

न च पादौ प्रतापयेत् ॥ ५३ ॥ अधस्तान्नीपदध्याञ्च न चैनम-  
मिलङ्घयेत् । नचैनं पादतः कुर्यान् प्राणाबाधमाचरेत् ॥ ५४ ॥

अर्थ-आग को मुख से न फूँके और नङ्गी स्त्री को न देखे, मल मूत्र आग में न डाले और पैरों को आग पर न तपावे ॥ ५३ ॥ ( चारपाई के ) नीचे आग न धरे और इस ( आग ) को न लांघे और पैरों को आग पर न रखे और जीवों को पीड़ा होने वाला कर्म न करे ॥ ५४ ॥

नाश्लीयात्संधिवेलायां न गच्छेन्नापि संविशेत् । न चैव प्रलिखेद्



भूमिं नात्मनो पहरेत्सजम् ॥ ५५ ॥ नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा  
समुत्सृजेत् । अमेध्यलिप्रमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा ॥ ५६ ॥

अर्थ-संध्याकाल में भोजन न करे और कहीं न जावे और न जमीन  
पर लकीर खींचे और पहनी हुई माला को न निकाले ॥ ५५ ॥ मूत्र, मल, थूक  
वा मलमूत्रयुक्त वस्तु, रक्त और विष भी जल में न डाले ॥ ५६ ॥

नैकः स्वपेच्छून्यगेहे श्रेयांसं न प्रबोधयेत् । नोदक्ययाभिभाषेत  
यज्ञं गच्छेन्न च । ऽवृतः ॥ ५७ ॥ अग्न्यागारे गवां गोष्ठे ब्राह्मणानां  
च सन्निधौ । स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिमुद्वरेत् ॥ ५८ ॥

अर्थ-सूने मकान में अकेला न सोवे, अपने से बड़े को ( सोते हुवे ) न  
जगावे, राजस्वला से न बोले और विना वरण किये यज्ञ में न जावे ॥

( ५७ वें के आगे ३ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है:—

एकः स्वादु न भुञ्जीत स्वार्थमेको न चिन्तयेत् ।

एको न गच्छेदध्वानं नैकः सुप्लेषु जागृयात् ॥ १ ॥

अर्थात् अकेला स्वादुपदार्थ न खावे, न अकेला स्वार्थ की चिन्ता करे । अकेला  
दीर्घयात्रा न करे, सब के सोते हुए अकेला न जागे ) ॥ ५७ ॥ यज्ञशाला, गोशाला  
तथा ब्राह्मणों के समीप, वेद के पढ़ने और भोजन में दहिना हाथ उठावे ॥ ५८ ॥

नावारयेद्वा धयन्तीं न चाचक्षीत कस्यचित् । न दिवीन्द्रायुधं  
दृष्ट्वा कस्यचिद्दर्शयेद्बुधः ॥ ५९ ॥ नाधार्मिके वसेद्ग्रामे न व्या-  
धिबहुले भृशम् । नैकः प्रपद्ये नाध्वानं न चिरं पर्वते वसेत् ॥ ६० ॥

अर्थ-( जल ) पीती गाय को न हांके और न दूसरे को बतावे, आकाश  
में इन्द्रधनुष देखकर किसी को न दिखावे ( आंख की हानि है ) ॥ ५९ ॥  
अधर्मी ग्राम और जहां बहुत बीमारी हो वहां न रहे, अकेला मार्ग न चले  
और पर्वत पर बहुत काल निवास न करे ॥ ६० ॥

न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधार्मिकजनावृते । न पाषण्डिगणाक्रा-  
न्तेनोपसृष्टेऽन्त्यजैर्नृभिः ॥ ६१ ॥ न भुञ्जीतोदधृतस्नेहं नातिसौहि-  
द्व्यमाचरेत् । नातिप्रगे नातिसायं न सायंप्रातराशितः ॥ ६२ ॥



अर्थ-शूद्रों के राज्य में निवास न करे, न अधार्मिक पुरुषों से घेरे हुए और न पाषण्डियों के वास किये हुवे तथा चाण्डालों से भरे हुए देश में भी न बसे ॥६१॥ जिस की चिकनाई निकाल ली हो उस की न खावे (जैसे खल) । अतिवृष्टि न करे, उदय तथा अस्तकाल के समीप भोजन न करे, प्रातःकाल अतिवृष्ट हुआ सायंकाल में भोजन न करे ॥ ६२ ॥

न कुर्वीत वृथाचेष्टां न वार्यञ्जलिना पिबेत् । नोत्सङ्गे भक्षयेद्द्वक्ष्या-  
न जातु स्यात्कुतूहली ॥६३॥ न नृत्येदथवा गायेन्न वादित्राणि  
वादयेत् । नारुफोटयेन्न च क्ष्वेडेन्न च रक्तो विरावयेत् ॥ ६४ ॥

अर्थ-निष्फल कर्म न करे, अञ्जली से पानी न पीवे । ( मोदकादि ) भक्ष्य को गोद में रख कर भोजन न करे और कमी व्यर्थ बातें न करे ॥ ६३ ॥ न नाचे, न गान करे, बाजों को न बजावे, ताली न बजावे और तुतलाकर न बोले और बहुत प्रसन्न होकर ( गधे का सा ) कुशब्द न करे ॥ ६४ ॥

न पादौ धावयेत्कांस्ये कदाचिदपि भाजने । न भिन्नभाण्डे भु-  
ञ्जीत न भावप्रतिदूषिते ॥ ६५ ॥ उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्न  
धारयेत् । उपव्रीतमलङ्कारं स्रजं करकमेव च ॥ ६६ ॥

अर्थ-कांस्य के वर्तन में कमी पैर न धुवावे, फूटे वर्तन में भोजन न करे और विरोध वाले के घर भी भोजन न करे ॥ ६५ ॥ जूता, कपड़ा, यज्ञोपवीत, अलङ्कार, पुष्पमाला और कमण्डलु दूसरे के ओढ़े पहरे वर्त्ते हुवे धारण न करे ॥ ६६ ॥

नाविनीतैर्ब्रजैर्दुर्गैर्न च क्षुद्रयाधिपीडितैः । न भिन्नशृङ्गाक्षिखुरै-  
र्न बालधिविरूपितैः ॥ ६७ ॥ विनीतैस्तु ब्रजेन्नित्यमाशुगैर्ल-  
क्षणान्वितैः । वर्णरूपोपसंपन्नैः प्रतोदेनातुदम्भशम् ॥ ६८ ॥

अर्थ-क्षुधा व्याधि से पीडित, अशिक्षित तथा मींग और आंख और खुर से खण्डित घोड़ों वा बैलों की सवारी न करे । लांडे बैलों से यात्रा न करे ॥ ६७ ॥ और शिक्षित तथा अच्छे प्रकार शीघ्र चलने वाले शुभ लक्षणयुक्त, वर्णरूप सहित (अस्त्रादि से) प्रतोद (कोड़े) से निरन्तर न चुभाता हुआ यात्रा न करे ॥ ६८ ॥



बालातपःप्रेतधूमोवर्ज्यंभिन्नंतथासनम् । न छिन्द्यान्नखलोमानि  
दन्तैर्नोत्पाटयेन्नखान् ॥६९॥ न मृत्लोष्टंचमृद्गीयान्नच्छिन्द्यात्क-  
रजैस्तृणम् । न कर्म निष्फलं कुर्यान्नायत्यामसुखोदयम् ॥७०॥

अर्थ-उदय काल का घान और जलते मुर्दे का धुआं और टूटा आसन  
त्याज्य हैं और रोस वा नखों को न उखाड़े तथा दांतों से नखों को न चपाड़े  
( दो पुस्तकों में ६९ वें के बीच में यह अर्थ श्लोक अधिक पाया जाता है:-

[ श्रीकामो वर्जयेन्नित्यं मृण्मये चैव भोजनम् । ]

अर्थात् शोभा का इच्छुक मिट्टी के पात्र में न खाया करे ) ॥६९॥ मिट्टी  
के ढेले को न ससला करे और नखों से तृणों को न काटा करे और व्यर्थ  
काम न करे और आगामी काल में दुःख का देने वाला काम न करे ॥७०॥

लोष्टमर्दीतृणच्छेदीनखखादीच योनरः । स विनाशं व्रजत्याशु  
सूचकोऽशुचिरेव च ॥७१॥ न विगर्ह्य कथां कुर्याद् बहिर्मात्यं  
न धारयेत् । गवां च यानं पृष्टेन सर्वथैव विगर्हितम् ॥७२॥

अर्थ-ढेले का ससलने वाला, तृण का छेदने वाला और नखों के चवाने के  
अश्यास वाला मनुष्य शीघ्र नाश को प्राप्त हो जाता है और खल तथा अपवित्र  
भी ॥७१॥ चट्टण्डिता से बात न करे, माला को बाहर धारण न करे और  
बैल की पीठ पर सवारी न करे, वह सर्वथा ही निन्दित है ॥७२॥

अद्वारेण च नातीयाद् ग्रामं वा वेश्म वा वृतम् । रात्रौ च वृक्षमू-  
लानि दूरतः परिवर्जयेत् ॥७३॥ नाक्षैः क्रीडेत्कदाचित्तु स्वयं नी-  
पानहौ हरेत् । शयनस्थो न भुञ्जीत न पाणिस्थं न चासने ॥७४॥

अर्थ-घिरे हुवे नगर या मकान में बिना दरवाजे के भी न जावे  
( अर्थात् दरवाजे से जावे, दीवार कूद कर न जावे ) और रात को वृक्ष के  
नीचे न रहे ॥७३॥ कभी जुवा न खेले, अपने जूतों को हाथ से उठाकर  
न ले चले, शय्या पर वा हाथ में लेकर वा आसन पर रख कर न ( किन्तु  
पात्र में रख कर ) खावे ॥७४॥

सर्वं च तिलसंघट्टं नाद्यादस्तमिते रवौ । न च नम्रः शयीतेह



नचोच्छिष्टः कचिद्व्रजेत् ॥७५॥ आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु  
संविशेत् । आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥ ७६ ॥

अर्थ-सूर्य के अस्त होने पर तिलयुक्त सब पदार्थों का भोजन न करे  
और नङ्गा न सोवे और जूँटे संह कहीं न जावे ॥ ७५ ॥ गीले पैर भोजन  
करे और गीले पैर सोवे नहीं । क्योंकि गीले पैर भोजन करने वाला दीर्घायु  
होता है ॥ ७६ ॥

अचक्षुर्विषयं दुर्गं न प्रपद्येत कर्हिचित् । न विण्मूत्रमुदीक्षेत  
न बाहुभ्यां नदीं तरेत् ॥७७॥ अधितिष्ठेन्न केशास्तु न भस्मास्थि-  
कपालिकाः । न कार्पासास्थि न तुषान्दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥७८॥

अर्थ-आंखों से जो दुर्ग नहीं देखा वहां कभी न जावे और मलमूल को  
न देखे और बाहु से नदी को न तिरे ॥ ७७ ॥ बहुत दिन जीने की इच्छा वाला  
केश भस्म हड्डी खपरों के टुकड़े कपास की सींग और भूसे पर न चढ़े ॥ ७८ ॥

न संवसेच्च पतितैर्न चण्डालैर्न पुष्कसैः ।

न मूर्खैर्न अलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः ॥ ७९ ॥

अर्थ-पतितों के साथ न रहे । चण्डालों के साथ तथा निषाद से शूद्रों  
में उत्पन्न हुवे पुष्कसों के साथ भी न रहे और मूर्ख तथा धनगर्वित और  
अन्त्यज और निषादस्त्री में चण्डाल से उत्पन्न हुवों के साथ भी न रहे ॥  
( ७९ वें से आगे यह श्लोक १ पुस्तक में अधिक पाया जाता है कि—

[ न कृतघ्नैर्न द्युक्तैर्न महापातकान्वितैः ।

न दस्युभिर्नाशुचिभिर्नाऽमित्रैश्च कदाचन ॥ ]

अर्थात् कृतघ्न, आलसी, उद्योगहीन, महापातकी, दस्यु, अपवित्र और  
शत्रुओं के साथ कभी वास न करे ) ॥ ७९ ॥

“ न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम् ।

न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत् ८० ”

“ शूद्र को बुद्धि और उच्छिष्ट और हविष्कृत अर्थात् होमशेष का भाग  
न दे । और उस को धर्म उपदेश न करे और व्रत भी न बतावे ॥ ( एक  
पुस्तक में अर्थ श्लोक अधिक है कि—



[अन्तरा ब्राह्मणं कृत्वा प्रायश्चित्तं समादिशेत् ।

अर्थात् शूद्र को प्रायश्चित्त बताना हो तो ब्राह्मण की बीच में करले ॥ ८० ॥

“ यो ह्यस्य धर्ममाचष्टे यश्चैवादिशति व्रतम् ।

सोऽसंवृतं नाम तमः सह तेनैव मज्जति ८१ ”

न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनः शिरः ।

न स्पृशेच्चैतदुच्छिष्टो न च स्नायाद्विना ततः ॥ ८२ ॥

“ अर्थ-जो इस ( शूद्र ) को धर्मोपदेश और प्रायश्चित्त का उपदेश करे वह उस शूद्र के साथ “ असंवृताख्य ” बड़े अन्धकार वाले नरक में गिरता है ॥ ” ( दशमाध्याय १२६ । १२७ में शूद्र के विषय में ( न धर्मात्प्रतिषेधनम् । धर्मेऽसंवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः ) कहा है जिस से शूद्रों का भी धर्मात्मा धर्मज्ञ सदाचारी होना पाया जाता है । और विना उपदेश धर्म-ज्ञान असम्भव है । इस लिये ये ८० । ८१ श्लोक किसी शूद्रद्वेषी के मिलाये प्रतीत होते हैं, जो कि उक्त दशमाध्याय से विरुद्ध हैं और आगे २१ नरक श्लोक ८८ । ८९ । ९० में गिनाये हैं, उन में “ असंवृत ” नाम का कोई नरक भी नहीं है और इसी के समीप उक्त १॥ श्लोक सब पुस्तकों में नहीं है । इस से भी प्रक्षिप्तता का संशय होता है ) ॥ ८१ ॥ दोनों हाथों से एक साथ अपना शिर न खुजावे और झूठे हाथों शिर को न छुवे और विना शिर पर पानी डाले स्नान करे ॥ ८२ ॥

केशग्रहान्प्रहारांश्च शिरस्येतान्विवर्जयेत् । शिरःस्नातश्च तैलेन

नाङ्गं किञ्चिदपि स्पृशेत् ॥ ८३ ॥ न राज्ञः प्रतिगृह्णीयादराजन्य-

प्रसूतितः । सूनाचक्रध्वजवतां वेषेणैव च जीवताम् ॥ ८४ ॥

दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमोऽध्वजः । दशध्वजसमोऽवेशो

दशवेषसमो नृपः ॥ ८५ ॥ दशसूनासहस्राणि योवाहयति

सौनिकः । तेन तुल्यः स्मृतो राजा घोरस्तस्य प्रतिग्रहः ॥ ८६ ॥

यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्त्तिनः । स पर्यायेण

यातीमान्नरकानेकविंशतिम् ॥ ८७ ॥ तामिस्रमन्यतामिस्रं



महारौरवरौरवौ । नरकं कालसूत्रं च महानरकमेव च ॥ ८८ ॥  
 संजीवनं महावीचिं तपनं संप्रतापनम् । संघातं च सकाकोलं  
 कुड्मलं प्रतिमूर्त्तिकम् ॥ ८९ ॥ लोहशङ्कुमृजीषं च पन्थानं  
 शाल्मलीं नदीम् । असिपत्रवनं चैव लोहदारकमेव च ॥ ९० ॥  
 एतद्विदन्तो विद्वांसो ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः । न राज्ञः प्रति-  
 गृह्णन्ति प्रेत्य श्रेयोऽभिकाङ्क्षिणः ॥ ९१ ॥

अर्थ-केश का पकड़ना और मारना, ये दो काम सिर में न करे। सिर में तेल लगाकर अन्य किसी अङ्ग को न छुवे ॥ ८८ ॥ विना क्षत्रिय से उत्पन्न राजा से दान न लेवे। सूना ( जीवों के मारने की जगह ), गाढ़ी आदि, तथा कलालपन से वृत्ति करने वालों और बहुरूपियों के भी ( धन को ग्रहण न करे ) ॥ ८९ ॥ दश सूना वाले के बराबर एक गाढ़ी वाला है और इन दस के बराबर एक कलाल और दश कलाल के समान एक वेष वाला, दस वेष वालों के बराबर एक उक्त अधर्मी राजा ( अर्थात् उत्तरोत्तर अधिक निषिद्ध हैं ) ॥ ९० ॥ दस हजार जीवों को मारने का अधिष्ठाता सैनिक कहाता है, उक्त राजा उस के बराबर कहा है। इसलिये इस का प्रतिग्रह घोर है ( अतएव न ले ) ॥ ९१ ॥ जो कृपण और शास्त्र का उल्लङ्घन करने वाले राजा का प्रतिग्रह लेता है, वह क्रम से इन इक्कीस नरकों को जाता है ॥ ८९ ॥ तामिस्र १ अन्धतामिश्र २ महारौरव ३ रौरव ४ नरक ५ कालसूत्र ६ महानरक ७ ॥ ८८ ॥ संजीवन ८ महावीचि ९ तपन १० संप्रतापन ११ संघात १२ सकाकोल १३ कुड्मल १४ प्रतिमूर्त्तिक १५ ॥ ८९ ॥ लोहशङ्कु १६ ऋजीष १७ पन्थान १८ शाल्मली नदी १९ असिपत्रवन २० और लोहदारक २१ ( ये इक्कीस नरकों=योनिविशेषों वा देशविशेषों के नाम हैं ) ॥ ९० ॥ यह प्रतिग्रह नाना प्रकार के नरकों का हेतु है, ऐसा जानने वाले विद्वान् वेद के जानने वाले और परलोक में कल्याण की इच्छा करने वाले ब्रह्मवादी ब्राह्मण ऐसे राजा का प्रतिग्रह नहीं लेते ॥

( ८४ से ९१ तक ८ श्लोक भी प्रक्षिप्त से जान पड़ते हैं। एक तो इन की संस्कृत शैली मनु के सी नहीं। दूसरे ८५ वें श्लोक का पाठ २४ पुस्तकों में तो यही मिलता है जैसा मूल में छपा है परन्तु ६ पुस्तकों में—( दशध्वजसमावेश्या दशवेश्यासमोन्मत्तः ) पाठभेद है। तीसरे राजा और पहियोंदार गाढ़ी



से जीविका करने वाले वैश्य, इन को खटीकों और कलालों तथा वेश्याओं के समान समझना और इस से भी नीच समझना चिन्त्य है । और ८९ वें श्लोक के “ प्रतिमूर्त्तिक ” नरक का नाम ८ पुराने लिखे पुस्तकों में “ पूति-मृत्तिक ” पाया जाता है । जिस से भिन्न २ पुस्तकों में भिन्न पाठ भी संशय का हेतु है । इन तथा अन्य हेतुओं से हमने पहले तीन बार के एडिशन ( छापों ) में प्रक्षिप्त लिखा था परन्तु अब चौथीबार इस लिये प्रक्षिप्त नहीं रक्खा कि स्वामी दयानन्द सर० ने भी संस्कारविधि गृहाग्रस प्र० में श्लोक ८५ माना है और नरक योनियों के नाम प्रायः मनु के माननीय श्लोकों में भी आये हैं, अतः हम ने अब मान लिया है परन्तु ऊपर लिखे कारणों से संदेहयुक्त अब भी हैं ॥ ८१ ॥

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्माथी चानुचिन्तयेत् ।

कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेव च ॥ ८२ ॥

अर्थ-प्रातः दो घड़ी रात से उठे और धर्म अर्थ का चिन्तन करे । उन के उपार्जन के शरीरक्लेशों को समझे और वेदतत्त्वार्थ को भी सोचे ॥ ८२ ॥

उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचःसमाहितः । पूर्वा सन्ध्यां ज-  
पंस्तिष्ठेत्स्वकाले चापरां चिरम् ॥ ८३ ॥ ऋषयो दीर्घसंध्यात्वा-  
दीर्घमायुरवाप्नुयुः । प्रज्ञायशश्च कीर्त्तिंच ब्रह्मवर्चसमेव च ॥ ८४ ॥

अर्थ-फिर उठ कर दिशा जङ्गल होकर पवित्र हो एकाग्रचित्त से पूर्व सन्ध्या में बहुत काल पर्यन्त जप करता रहे और दूसरी सन्ध्या को भी अपने काल में देर तक करे ॥ ८३ ॥ क्योंकि ऋषि लोग दीर्घ सन्ध्या के अनुष्ठान से दीर्घ आयु, प्रज्ञा, यश, कीर्त्ति तथा ब्रह्मतेज को भी पासकते हैं ॥ ८४ ॥

आवण्यांप्रीष्ठपदांवाऽप्युपाकृत्य यथाविधियुक्तश्छन्दांस्यधी-  
यीतमासान्विप्रोऽर्धपञ्चमान् ॥ ८५ ॥ पुष्ये तु छन्दसां कुर्याद्विहि-  
रुत्सर्जनं द्विजः । माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्ने प्रथमेऽहनि ॥ ८६ ॥

अर्थ-ब्राह्मणादि आवणी वा भाद्रपदी पौर्णिमा को उपाकर्म करके साढ़ेचार मास में उद्युक्त होकर वेदाध्ययन करे ॥ ८५ ॥ पुष्यनक्षत्र वाली पौर्णिमा ( पौषी ) में या माघ शुक्ला के प्रथम दिन के पूर्वाह्न में वेद का “ उत्सर्जन ” कर्म ( ग्राम के ) बाहर जाकर करे ॥ ८६ ॥



यथाशास्त्रंतु कृत्वैवमुत्सर्गं छन्दसां बहिः । विरमेत्पक्षिणीं रात्रिं  
तदेवैकमहर्निशम् ॥६७॥ अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः  
पठेत् । वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु संपठेत् ॥ ६८ ॥

अर्थ-शास्त्र के अनुसार ( ग्राम के ) बाहर वेदों का उत्सर्जन कर्म करके  
दो दिन और १ बीच की रात्रि भर अनध्याय करे वा उसी दिन और रात्रि  
का अनध्याय करे ॥ ६७ ॥ उत्सर्जन अनध्याय के उपरान्त शुक्लपक्ष में नियम  
पूर्वक वेद और कृष्णपक्ष में वेदों के सम्पूर्ण अङ्गों को पढ़ा करे ॥ ६८ ॥

नाविरुपष्टमधीयीत न शूद्रजनसन्निधौ । न निशान्ते परिश्रान्तो  
ब्रह्माधीत्यपुनः स्वपेत् ॥६९॥ यथोदितेन विधिना नित्यं छन्द-  
स्कृतं पठेत् । ब्रह्म छन्दस्कृतं चैव द्विजो युक्तो ह्यनापदि ॥१००॥

अर्थ-अरुपष्ट न पड़े और शूद्रों के पास बैठ कर न पढ़ा करे और प्रज्ञात  
काल पढ़ कर थका हुआ फिर शयन न करे ॥ ६९ ॥ यथोक्त विधि से नित्य  
गायत्र्यादि छन्दों से युक्त मन्त्र पढ़े और द्विजसात्र अनापत्तिकाल में साधा-  
रण वेदपाठ और छन्दोयुक्त मन्त्र नियमपूर्वक पढ़ा करे ॥ १०० ॥

इमान्नित्यमनध्यायानधीयानो विवर्जयेत् । अध्यापनं च कुर्वाणः  
शिष्याणां विधिपूर्वकम् ॥१०१॥ कर्णश्रवेऽनिले रात्रौ दिवा  
पांसुसमूहने । एतौ वर्षास्वनध्यायावध्यायज्ञाः प्रचक्षते ॥१०२॥

अर्थ-इन आगे कहे अनध्यायों को सर्वदा यथोक्तविधि से पढ़ने वाला  
और शिष्यों को पढ़ाने वाला ( शुरु ) छोड़ देवे ॥ १०१ ॥ रात्रि में कान में  
शब्द करने वाले वायु के चलते हुवे और दिन में गर्द उड़ाने वाले वायु के  
चलते हुवे, ये वर्षाऋतु में दो अनध्याय स्वाध्यापन (मुनि) कहते हैं ॥ १०२ ॥

“ विद्युस्तनितवर्षेषु महोल्कानां च संभवे ।

आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत् १०३

एतांस्त्वभ्युदितान् विद्यादादा प्रादुष्कृताग्निषु ।

तदा विद्यादनध्यायमनृतौ चाभ्यदर्शने ॥ १०४ ॥



अर्थ—“बिजली गरजते हुवे वर्षा में और उल्काओं के गिरने में अनध्याय उस समय तक करे जिस समय तक ये उत्पात वा वर्षा होते रहें। ऐसा मनु कहते हैं ॥ ( यह श्लोक भी स्पष्ट मनुप्रोक्त नहीं है तथा १०५-१०६ से पुनरुक्त भी है ) ॥ १०३ ॥ ” इन विद्युदादि की अग्निहोत्र के होमसमय उत्पन्न होते जाने तो न पढ़े और उसी समय में बिना वर्षाऋतु के बादल दीखे तो भी अनध्याय करे ॥ १०४ ॥

निर्घाते भूमिचलने ज्योतिषां चोपसर्जने। एतानाकालिकान्वि-  
द्यादनध्यायानृतावपि ॥ १०५ ॥ प्रादुष्कृतेष्वग्निपुतु विद्युत्स्तनित  
निःस्वने । सज्योतिः स्यादनध्यायः शेषे रात्रौ यथादित्रा ॥ १०६ ॥

अर्थ—अन्तरिक्ष में उत्पातशब्द होने और भूकम्प और सूर्यादिकों के उप-  
द्रव में जिन ऋतुओं में भूकम्पादि हुवा करते हों उन में भी जब तक उपद्रव  
रहे तब तक अनध्याय करे ॥ १०५ ॥ होमार्थ अग्नि प्रकट होने के समय बादल  
में बिजली का शब्द हो तो दिन भर का अनध्याय करे और शेष समयों  
या रात्रि में पूर्वोक्त दिन के समान “ आकालिक ” अनध्याय करे ॥ १०६ ॥

नित्यानध्यायएव स्याद् ग्रामेषु नगरेषु च । धर्मनैपुण्यकामानां  
पूतिगन्धे च सर्वदा ॥ १०७ ॥ अन्तर्गतशवे ग्रामे वृषलस्य च  
सन्निधौ । अनध्यायोरुदयमाने समवाये जनस्य च ॥ १०८ ॥

अर्थ—धर्म की अतिशय इच्छा वालों को ग्राम वा नगर में सर्वदा अन-  
ध्याय है ( किन्तु एकान्त कङ्गल में पढ़ना उत्तम है ) और दुर्गन्ध में कभी  
पढ़ना नहीं चाहिये ॥ १०७ ॥ जिस में मुरा पड़ा हो ऐसे छोटे ग्राम में और  
अधर्मी के पास और रोने तथा झीड़ में न पढ़े ॥ १०८ ॥

“उदके मध्यरात्रे च विण्मूत्रस्य विसर्जने । उच्छिष्टः श्राद्धभुक्चैव  
मनसाऽपि न चिन्तयेत् ॥ १०९ ॥ प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोद्दि-  
ष्टस्य केतनम् । त्रयहं न कीर्तयेद् ब्रह्म राज्ञो राहोश्च सूतके ॥ ११० ॥”

अर्थ—“जल और मध्यरात्रि में और मलमूत्र करने के समय और भोज-  
नादि करके जूँटे सुंह और श्राद्ध में भोजन करके वेद की मन से भी याद न  
करे ॥ १०९ ॥ विद्वान् ब्राह्मण एकोद्दिष्टश्राद्ध का निमन्त्रण ग्रहण करके तीन



दिन वेद का अध्ययन न करे और राजा के ( पुत्रजन्मादि के ) सूतक तथा राहु के सूतक में तीन दिन अनध्याय करे ॥ ११० ॥ ”

“ यावदेकानुदिष्टस्य गन्धो लेपश्च तिष्ठति । विप्रस्य विदुषो देहे तावद् ब्रह्म न कीर्तयेत् ॥ १११ ॥ शयानः प्रौढपादश्च कृत्वा चैवावसक्तिकाम् । नाधीयीतामिषं जग्ध्वा सूतकान्नायमेव च ॥ ११२ ॥ ”

अर्थ-“ जब तक एकोद्दिष्ट का देह में गन्ध और लेप रहता है, विद्वान् ब्राह्मण तब तक वेद न पढ़े ॥ १११ ॥ उठा हुआ और पैरों को कंचा किये बैठने में दोनों पैरों को भीतर की ओर मोड़े हुवे, मांस तथा सूतकियों का अन्न भोजन करके भी न पढ़े ” ॥ ११२ ॥

नीहारे वाणशब्दे च संध्ययोरेव चोभयोः ।

अमावास्याचतुर्दश्योः पौर्णमास्यष्टकासु च ॥ ११३ ॥

“ अमावास्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी ।

ब्रह्माऽष्टकापौर्णमास्यौ तस्मात्ताः परिवर्जयेत् ॥ ११४ ॥ ”

अर्थ कुहर में और वाणों के शब्द में तथा दोनों संध्याओं में, अमावास्या तथा चतुर्दशी और पूर्णमासी और हेमन्तशिशिर की कृष्णा अष्टमी में न पढ़े ॥ ११३ ॥ “ क्योंकि अमावास्या ( को पढ़ने में ) गुरु को नष्ट करती है और चतुर्दशी शिष्य को और वेद को अष्टमी पौर्णमासी नष्ट करती हैं ॥ ११४ ॥ ”

पांसुवर्षे दिशादाहे गोमायुविरुते तथा । श्वखरोष्ट्रे च रुवति पङ्क्तौ च न पठेद् द्विजः ॥ ११५ ॥ नाधीयीत श्मशानान्ते ग्रामान्ते गोब्रजेऽपि वा ।

“ वसित्वा मैथुनं वासः श्राद्धिकं प्रतिग्रह्य च ॥ ११६ ॥ ”

अर्थ-धूल वर्षने और दिशाओं के जलने और सियारों के चिल्लाने और कुत्ता, ऊँट, गधे के शब्द करने और पङ्क्तियों में द्विज वेद न पढ़ा करे ॥ ११५ ॥ श्मशान और ग्राम के समीप तथा गोशाला में न पढ़े “ और मैथुन समय के वस्त्रों को पहन कर और श्राद्धान्न को भोजन करके न पढ़े ॥ ११६ ॥

“ प्राणि वा यदि वाऽप्राणि यत्किंचिच्छ्राद्धिकं भवेत् ।

तदालभ्याप्यनध्यायः पाण्यास्यो हि द्विजः स्मृतः ॥ ११७ ॥ ”



चौरैरुपप्लुते ग्रामे संप्रमे चाग्निकारिते ।

आकालिकमनध्यायं विद्यात्सर्वाद्भुतेषु च ॥ ११८ ॥

अर्थ - 'श्राद्धसम्बन्धी पशु वा शाकादि को हाथ से काट कर बनार कर न पड़े । क्योंकि ब्राह्मण "पात्रयास्य" (अर्थात् हाथ ही है मुख जिस का) कहा है ॥ ११७ ॥ " चौरों के उपद्रव में, ग्राम में और सकान इत्यादि जलते समय में पूर्वोक्त आकालिक अनाध्याय जाने और संपूर्ण अद्भुत कर्मों के होने में भी ॥ ११८ ॥

उपाकर्मणिचोत्सर्गे त्रिरात्रक्षेपणं स्मृतम् । अष्टकासुत्वहोरात्र  
मृत्वन्तासु च रात्रिषु ॥ ११९ ॥ नाधीयीताश्वमारूढो न वृक्षं न  
च हस्तिनम् । न नावं न खरं नोष्ट्रं नैरिणस्थोन यानगः ॥ १२० ॥

अर्थ - उपाकर्म और उत्सर्ग में तीन रात्रि अनध्याय कहा है । अष्टकाओं में एक दिन रात्रि और ऋतु के अन्त की १ रात्रि में अनध्याय करे ॥ ११९ ॥ घोड़े पर बैठा हुआ और वृक्ष पर चढ़ा हुआ न पड़े और हाथी, नाव, गधा, कंट और ऊपर भूमि और गाड़ी आदि पर भी बैठ कर न पड़े ॥ १२० ॥

न विवादे न कलहे न सेनायां न सङ्गरे । न भुक्तमात्रे नाजीर्णे  
न वमित्वा न सूतके ॥ १२१ ॥ अतिथिं चाऽननुज्ञाप्य मारुते वाति  
वा भृशम् । रुधिरे च ख्रुते गात्राच्छस्त्रेण च परिक्षते ॥ १२२ ॥

अर्थ - विवाद में, झगड़े में, सेना में, लड़ाई में, तत्काल भोजन करके, अजीर्ण में, वमन करके और सूतक में न पड़े ॥ १२१ ॥ अतिथि की आज्ञा बिना वा वायु के बहुत प्रचण्ड चलने और शस्त्र से वा फोड़े से शरीर का रक्त निकलते ( न पड़े ) ॥ १२२ ॥

सामध्वनावृग्यजुषी नाधीयीत कदाचन ।

वेदस्याधीत्य वाप्यन्तमारण्यकमधीत्य च ॥ १२३ ॥

"ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्वेदस्तु मानुषः ।

सामवेदः स्मृतः पितृयस्तस्मात्तस्याऽशुचिध्वनिः ॥ १२४ ॥ "

अर्थ - साम की ध्वनि में ऋग्वेद और यजुर्वेद कभी न पड़े और वेदान्त वा वेद के भारण्यक को पढ़ कर ( तत्काल ) वेद न पड़े ॥ १२३ ॥ " ऋग्वेद



देवताओं का है, यजुर्वेद मनुष्यसम्बन्धी और पितृसम्बन्धी साम है। इस कारण उस की ध्वनि अशुचि है ॥ [ऋग्यजुः साम के पाठ से पढ़ने वाला जान सक्ता है कि उन में देव मनुष्य और पितरों का इस क्रम से वर्णन नहीं है जैसा इस श्लोक में बताया जाता है इस लिये यह वेदविरुद्ध है ] ॥ १२४ ॥

एतद्विदन्तो विद्वांसस्त्रयीनिष्कर्षमन्वहम् । क्रमतः पूर्वमभ्यस्य पश्चाद्वेदमधीयते ॥ १२५ ॥ पशुमण्डूकमार्जारश्चसर्पनकुला-  
खुभिः । अन्तरागमने विद्यादनध्यायमहर्निशम् ॥ १२६ ॥

अर्थ—इस प्रकार जानने वाले विद्वान् प्रतिदिन गायत्री, ओ३म् और व्याहृति; इस वेद के सार को क्रमपूर्वक प्रथम जप कर पश्चात् वेद को पढ़ते हैं ॥ १२५ ॥ बैल इत्यादि पशु, मेंढक, बिल्ली, कुत्ता, सांप, नेवला, चूहा, ये पढ़ते समय ( गुरु शिष्य के ) बीच में होकर निकल जावें तो दिन रात्रि अनध्याय करे ॥ ( पशु आदि सदा मनुष्यों से डरते हैं और बैठे मनुष्यों के बीच में को नहीं निकलते हैं और जब निकलते हैं तो कुछ उपद्रव और अपवित्रता होजाती है इत्यादि कारण हैं । और अगले श्लोक में मनु जी ने सब अनध्यायों को दो बातों के अन्तर्गत कर दिया है अर्थात् एक तो जब २ पढ़ने के स्थान में कोई बाह्य विघ्न हो, दूसरे जब २ आत्मा में व्यग्रता आजावे ) ॥ १२६ ॥

द्वावेववर्जयेन्नित्यमनध्यायौप्रयत्नतः । स्वाध्यायभूमिंचाशुद्धा-  
मात्मानं चाशुचिं द्विजः ॥ १२७ ॥ अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमा-  
सीं चतुर्दशीम् । ब्रह्मचारीभवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातकोद्विजः ॥ १२८ ॥

अर्थ—( वस्तुतः ) दो ही अनध्याय सर्वदा यत्नपूर्वक छोड़े । एक पढ़ने की अशुद्ध जगह और दूसरे आप पढ़ने वाला द्विज अपवित्र हो, तब ( अर्थात् अच्छे स्थान में और आप पवित्र होकर पढ़े ) [ अनध्याय प्रकरण समाप्त हुआ ] ॥ १२७ ॥ अमावास्या अष्टमी पौर्णमासी और चतुर्दशी इन तिथियों में पूर्वोक्त स्नातक द्विज, ऋतुकाल में भी भार्या के पास न जावे ॥ १२८ ॥

नस्नानमाचरेद्भुक्त्वा नातुरोनमहानिशि । नवासोभिः सहाजसं  
नाऽविज्ञाते जलाशये ॥ १२९ ॥ देवतानां गुरोरीज्ञः स्नातकाचार्य-  
योस्तथा । नाक्रामेत्कामतश्छायां बभ्रणोदीक्षितस्य च ॥ १३० ॥



अर्थ-भोजन करके, रोग में, मध्यरात्र में, कपड़ों के साथ, और जहां पानी गहरा हो और विदित न हो ऐसे जलाशय में स्नान न करे ॥ १२९ ॥  
 देव=प्रसिद्ध २ विद्वानों और गुरु, राजा, स्नातक, आचार्य, कपिल, दीक्षित, इन की छाया इच्छा से न लांचे ( इस से इन का अन्यादर होता है ) ॥ १३० ॥

“मध्यंदिनेऽधरात्रे वा श्राद्धं भुक्त्वा च सामिषम् ।

सन्ध्ययोरुभयोश्चैव न सेवेत चतुष्पथम् ॥ १३१ ॥

उद्धर्तनमपस्त्रानं विण्मूत्रे रक्तमेव च ।

श्लेष्मनिष्ठयतवान्तानि नाधितिष्ठेत्तु कामतः ॥ १३२ ॥

“ अर्थ-दोपहर दिन, आधी रात्री और श्राद्ध में समांस भोजन करके और दोनों सन्ध्याओं में चौराहे पर अधिक काल तक न रहे ॥ ”

( १०९ । ११० । १११ । ११२ । ११३ । ११४ । आधा ११६ । ११७ । १२४ ।

१३१ वें श्लोक प्रसिद्ध हैं, क्योंकि जल में पढ़ना किसी को इष्ट ही नहीं । मध्यरात्रि शयनार्थ है ही । विष्ठा मूत्र के त्याग समय सभी काम पूर्व निषिद्ध कर आये फिर मला वेदपाठ का निषेध कहाँ रह गया ? झूठे मुंह कहीं जाना तक निषिद्ध है, फिर वेदाध्ययन कैसा ? सांस और मृतकश्राद्ध निषिद्ध और वेदवाच्य है, ये सर्वदा ही निन्दित हैं, स्वाध्याय में क्या ? सांसभक्षण ब्रह्मचारी को विशेषतः और सामान्यतः सब ही को प्रथम निषिद्ध कर आये हैं और करेंगे, फिर सांस खाकर वेद न पढ़े, यह कथन कैसा निरङ्कुश है । अमावास्यादि का पाठ पर्व होने से ही वर्जित है । परन्तु गुरु शिष्य वा विद्या की हानि और नाश लिखना अनर्गल है ॥ ब्रह्मचारी को मैथुन ही अप्राप्त है, फिर मैथुन के वस्त्र धारे हुत्रे वेदपाठ निषेध की क्या आवश्यकता है ॥ प्राणिवध वर्जित है, तब वेदपाठी को उस की आशङ्का ही क्या है १२४ वें में ऋग्वेद को देव, यजुः को मालुष, साम को पित्र्य बताना सकल वैदिक सिद्धान्त के विरुद्ध है । न ३ वेदों में इन ३ की कोई विशेषता पाई जाती है ॥ १३१ वें में सांस और श्राद्धभोजी का अनध्याय प्रक्षेपक से भी पुनरुक्त है । १११ में नन्दन टीकाकार ने ( गन्धोलेपश्च=स्नेहोगन्धश्च ) व्याख्यात किया है । यह पाठभेद भी प्रक्षिप्तता के संशय को दूर करता है ॥ १३१ ॥ उबटन के मैल की पीठी, स्नान का पानी, मल, मूत्र, रक्त, कफ, पीक और वमन; इन के ऊपर जान कर खड़ा न होवे ॥ १३२ ॥



वैरिणं नोपसेवेत सहायं चैव वैरिणः । अधार्मिकं तस्करं  
 च परस्यैव च योषितम् ॥ १३३ ॥ न हीदृशमनायुष्यं लोके  
 किञ्चन विद्यते । यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥ १३४ ॥

अर्थ-शत्रु और उस के सहायक से और अधर्मी, चोर तथा पराई स्त्री से  
 सेल न रखे ॥ १३३ ॥ इस प्रकार का आयु क्षय करने वाला संसार में कोई कर्म नहीं  
 है, जैसा ( मनुष्य की आयु घटाने वाला ) दूसरे की स्त्री का सेवन है ॥ १३४ ॥

क्षत्रियं चैव सर्पं च ब्राह्मणं च बहुश्रुतम् । नावमन्येत वै भूषणः  
 कृशानपि कदाचन ॥ १३५ ॥ एतत्त्रयं हि पुरुषं निर्दहेदवमा-  
 नितम् । तस्मादेतत्त्रयं नित्यं नावमन्येत बुद्धिमान् ॥ १३६ ॥

अर्थ-(धर्मादि से) वृद्धि चाहने वाला-क्षत्रिय, सर्प और बहुश्रुत ब्राह्मण  
 दुबले भी हों तौ भी इन का अपमान न करे ॥ १३५ ॥ ये तीन अपमान  
 करने से अपमान करने वाले को भस्म कर देते हैं, इस से बुद्धिमान् इन का  
 अपमान करे ॥ १३६ ॥

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः । आमृत्योः प्रियमन्वि-  
 च्छेन्नैनानां मन्येत दुर्लभाम् ॥ १३७ ॥ सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्  
 सत्यमप्रियम् । प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ १३८ ॥

अर्थ यत्न करने से द्रव्य न मिले तौ भी अपने को अभागी कह कर अपना  
 अपमान न करे, किन्तु मरने तक सम्पत्ति के लिये यत्न करे, इस को दुर्लभ  
 न जाने ॥ १३७ ॥ सच बोले, प्रिय बोले और जो प्रिय न हो ऐसा सच न  
 बोले ( मौन रहे ) और असत्य प्रिय भी न बोले; यह सनातन धर्म है ॥ १३८ ॥

भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत् । शुष्कवैरं विवादं च  
 न कुर्यात्केनचित्सह ॥ १३९ ॥ नातिकल्पं नातिसायं नातिमध्यं-  
 दिने स्थिते । नाऽज्ञातेन समं गच्छेन्नैको न वृषलैः सह ॥ १४० ॥

अर्थ-भद्र भद्र ( अच्छा बहुत अच्छा ) कहे या केवल " अच्छा " ही  
 कहे, किन्तु निष्प्रयोजन वैर वा झगड़ा किसी से न करे ॥ १३९ ॥ सबरे उषःकाल  
 और प्रदोष समय में तथा दोपहर दिन को और अनजान के साथ तथा अकेला  
 और शूद्रों के साथ मार्ग न चले ॥ १४० ॥



हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान्विद्याहीनान्वयोधिकान्। रूपद्रव्यविही-  
नांश्च जातिहीनांश्चनाक्षिपेत् ॥ १४१ ॥ न स्पृशेत्पाणिनोच्छिष्टोविप्रो  
गोब्राह्मणानलान्। न चापि पश्येदशुचिः सुस्थोज्योतिर्गणान्दिवि

अर्थ-अङ्गहीन, अधिक अङ्ग वाले, सूखे, बृद्ध, कुरूप तथा द्रव्यहीन और  
जाति से हीन को लाना न दे ॥ १४१ ॥ भोजन करके जूठे हाथ से इन्द्रियों,  
ब्राह्मणों और अग्नि का स्पर्श न करे। व्याधिरहित पुरुष अपवित्र हुवा  
आकाश में सूर्यादि को न देखे ॥ १४२ ॥

स्पृष्टैतानशुचिर्नित्यमग्निः प्राणानुपस्पृशेत्। गात्राणि चैव स-  
र्वाणि नाभिं पाणितलेन तु ॥ १४३ ॥ अनातुरः स्वानि खानि न स्पृशे-  
दनिमित्ततः। रोमाणि च रहस्यानि सर्वाण्येव विवर्जयेत् ॥ १४४ ॥

अर्थ-यदि अपवित्र हुवा पुरुष भूल से इन इन्द्रियादि का स्पर्श करले  
तो आवमन कर हाथ से जल लेकर चक्षुरादि का स्पर्श करे और सम्पूर्ण गात्र  
तथा नाभि को स्पर्श (करना रूप प्रापश्चित्त) करे ॥ १४३ ॥ स्वस्थ मनुष्य  
अपने इन्द्रियों और सब गुप्त बालों को बिना निमित्त न छुवे ॥ १४४ ॥

मङ्गलाचारयुक्तः स्यात्प्रयतात्मा जितेन्द्रियः। जपेच्च जुहुयाच्चैव  
नित्यमग्निमतन्द्रितः ॥ १४५ ॥ मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यं च  
प्रयतात्मनाम्। जपतां जुहुतां चैव विनिपातो न विद्यते ॥ १४६ ॥

अर्थ-शुभाचारयुक्त, शुचि तथा जितेन्द्रिय रहे। सर्वदा आलस्यरहित हो  
कर जप और अग्निहोम करे ॥ १४५ ॥ शुभ आचारयुक्त और सर्वदा पवित्र रहने  
वाले और जप तथा होम करने वालों को उपद्रव (रोगादि) नहीं होता ॥ १४६ ॥

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः। तं ह्यस्याहुः परं धर्म-  
मुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ १४७ ॥ वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव  
च। अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥ १४८ ॥

अर्थ-सर्वदा आलस्यरहित होकर यथावसर वेद ही को पढ़े क्योंकि यह  
इस का परमधर्म कहा है और दूसरा धर्म इस से नीचे है ॥ १४७ ॥ निरन्तर  
वेदाभ्यास करने, शुचि रहने, तप करने और जीवों के साथ द्रोह न करने से  
(अपने) पूर्व जन्म की जान जाता है ॥ १४८ ॥



पौर्विकीं संस्मरञ्जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः । ब्रह्माभ्यासेन चाजस्र  
मनन्तं सुखमश्नुते ॥ १४९ ॥ सावित्राञ्छान्तिहोमांश्च कुर्यात्  
पर्वसु नित्यशः । पितृंश्चैवाष्टकास्वर्चन्नित्यमन्त्राष्टकासु च ॥ १५०

अर्थ—पूर्व जन्म को स्मरण करता हुआ पुनः नित्य वेद ही का अभ्यास करता है, उस वेदाभ्यास से अनन्त सुख (सौख्य) को भोगता है ॥ १४९ ॥ सविता देवता के मन्त्रों और शान्तिपाठ से सर्वदा अमावास्या तथा पौर्णमासी आदि पर्वों में होम करे और हेमन्त शिशिर ऋतु की कृष्ण अष्टमी और नवमियों में यथाविधि पितरों का (विशेष) पूजन करे ॥ (नन्दन टीकाकार ने “सावित्रान्=सावित्र्या” पाठ की व्याख्या की है । जिस प्रकार नित्य भी गुरु का सत्कार करते ही हैं परन्तु आषाढ़ी गुरुपूर्णिमा में विशेष गुरुपूजन की रीति है इसी प्रकार माता पिता आदि के नित्य सत्कार के अतिरिक्त हेमन्त और शिशिर की कृष्णपक्ष की ४ अष्टमी और ४ नवमियों में पितृपूजा का विशेष उत्सव जानो ॥ १५० ॥

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम् । उच्छिष्टान्ननिषेकं च  
दूरादेव समाचरेत् ॥ १५१ ॥ मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावन-  
मञ्जनम् । पूर्वाह्ण एव कुर्यात् देवतानां च पूजनम् ॥ १५२ ॥

अर्थ—गृह से मल मूत्र और पैर धोना और जूठन का त्याग भी दूर ही करे ॥ १५१ ॥ मल का त्याग, शरीरशुद्धि, स्नान, दन्तधावन, अञ्जन और देवतों के लिये होम, ये कर्म प्रथम ग्रहर में करे ॥ १५२ ॥

दैवतान्यभिगच्छेत्तु धार्मिकाश्चद्विजोत्तमान् । ईश्वरं चैव रक्षार्थं  
गुरुनेव च पर्वसु ॥ १५३ ॥ अभिवादयेद्वृद्धांश्च ददाच्चैवासनं  
स्वकम् । कृतान्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्विधात् ॥ १५४ ॥

अर्थ—यज्ञशालाओं, धार्मिक ब्राह्मणों और गुरुओं के मिलने वा ईश्वर की उपासना को अपनी रक्षा के लिये पर्वों में जावे ॥ १५३ ॥ (घर में आये) वृद्धों को नमस्कार करे और बैठने के लिये अपना आसन देवे और हाथ जोड़ कर उन के पास रहे और चलते हुओं के पीछे २ (थोड़ी दूर) चले ॥ १५४ ॥

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ् निबद्धं स्वेषु कर्मसु । धर्ममूलं निषेवेत



सदाचारमतन्द्दितः ॥ १५५ ॥ आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्स-  
ताः प्रजाः । आचारादुनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ १५६ ॥

अर्थ-वेद और स्मृति में कहा हुआ और अपने कर्मों में नियम से बांधा हुआ और धर्म का मूल जो सदाचार है, उसको आलस्यरहित होकर सेवन करे ॥ १५५ ॥ आचार से आयु, इच्छित (पुत्र पौत्रादि) सन्तति तथा अक्षय धन प्राप्त होता है और आचार अशुभ लक्षण को नष्ट करता है ॥ १५६ ॥

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः । दुःखभागी च सततं  
व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥ १५७ ॥ सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचार-  
वान्नरः । श्रद्धधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ १५८ ॥

अर्थ-दुष्ट आचरण करने वाला पुरुष लोक में निन्दित, दुःख का भागी, निरन्तर रोगी रहता तथा अल्पायु भी होता है ॥ १५७ ॥ साधुओं के आचार करने वाला, श्रद्धायुक्त और दूसरे के दोषों को न कहने वाला पुरुष चाहे सम्पूर्ण अन्य शुभ लक्षणों से रहित भी हो, तो भी सौ वर्ष जीता है (तात्पर्य बड़ी आयु से है) ॥ १५८ ॥

यदात्परवशं कर्म तत्तदात्मेन वर्जयेत् । यदादात्मवशं तु स्या-  
त्तत्तत्सेवेत यत्नतः ॥ १५९ ॥ सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं  
सुखम् । एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ १६० ॥

अर्थ-जो २ कर्म दूसरे के अधीन हैं, उन २ को यत्न से छोड़ देवे और जो २ अपने अधीन हैं, उन को यत्न से करे ॥ १५९ ॥ दूसरे के अधीन होना ही संपूर्ण दुःख है और स्वाधीनता ही संपूर्ण सुख है । यह सुख दुःख का संक्षिप्त लक्षण जाने ॥ १६० ॥

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोन्तरात्मनः । तत्प्रयत्नेन  
कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ॥ १६१ ॥ आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं  
मातरं गुरुम् । न हिंस्याद्वाह्यणान् गाश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः ॥ १६२ ॥

अर्थ-जिस कर्म के करने से इस (कर्म करने वाले पुरुष) का अन्तरात्मा प्रसन्न होवे, वह कर्म यत्नपूर्वक करे और इस के विपरीत कर्मों को छोड़ दे



॥ १६१ ॥ आचार्य, वेद की व्याख्या करने वाला, पिता, माता, गुरु, ब्राह्मण, गौ और संपूर्ण तपस्वी; इन को न मारे ( अन्य प्राणियों की अपेक्षा ये अधिक उपकारक होने से विशेष हैं ) ॥ १६२ ॥

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम् । द्वेषं दम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत् ॥ १६३ ॥ परस्य दण्डं नोद च छेत् क्रुद्धो नैव निपातयेत् । अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शिष्यार्थं ताडयेत्तौ ॥ १६४ ॥

अर्थ—नास्तिकता और वेद की निन्दा तथा देवतों की निन्दा, वैर, दम्भ, अभिमान, क्रोध, और तेजी छोड़ दे ॥ १६३ ॥ दूसरे के मारने को क्रोधयुक्त हुआ दण्ड न उठावे और ( दूसरे के ऊपर ) लाठी न फेंके, परन्तु पुत्र और शिष्य को छोड़ कर, क्योंकि इन को तो शिक्षा के लिये ताड़ना करे ही ॥ १६४ ॥

ब्राह्मणायावगुर्यैव द्विजातिर्वधकाम्यया । शतं वर्षाणि तामिस्त्रे नरके परिवर्तते ॥ १६५ ॥ ताडयित्वा तृणेनापि संरम्भान्मति- पूर्वकम् । एकविंशतिमाजातीः पापयोनिषु जायते ॥ १६६ ॥

अर्थ—प्राणघात के विचार से ब्राह्मण को दण्डादि उठाने ही से द्विजाति सौ वर्ष तामिस्त्र=अन्यनरक में फिराया जाता है ॥ १६५ ॥ क्रोध से तृणद्वारा भी बुद्धिपूर्वक मारने से ११ पापयोनियों में जन्मता है ॥ १६६ ॥

अयुध्यमानस्योत्पाद ब्राह्मणस्यासृग्द्वतः । दुःखं सुमहदाप्नोति प्रेत्याऽप्राज्ञतया नरः ॥ १६७ ॥ शोणितं यावत् पांसून्संगृह्णाति महीतलात् । तावतोऽवदानमुत्रान्यैः शोणितोत्पादकोऽदयते ॥ १६८ ॥

अर्थ—न लड़ने वाले ब्राह्मण के शरीर से अज्ञान से रक्त निकाल कर मनुष्य मर कर जन्मान्तर में बड़ा दुःख पाता है ॥ १६७ ॥ ( शस्त्रादि के मारने से निकला हुआ ब्राह्मण के शरीर का ) रुधिर, जितने पृथिवी के धूल के अणुओं को शोषता है, उतने वर्ष पर्यन्त मारने वाला अन्यों ( कुत्ते आदि ) से मरकर जन्मान्तर में खाया जाता है ॥ १६८ ॥

न कदाचिद् द्विजेतस्माद्विद्वानवगुरेदपि । न ताडयेत्तृणेनापि न गात्रात्स्नावथेदसृक् ॥ १६९ ॥ अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् । हिंसारतश्च योनित्यं नेहाऽसौ सुखमेधते ॥ १७० ॥



अर्थ-इस लिये द्विज के मारने को कभी लाठी भी न उठावे और न तृणादि से मारे और न शरीर से रक्त निकाले ॥१६८॥ अधर्म करने वाला और जिस के असत्य ही धन है और जो नित्य हिंसा करने में रत रहता है, वह इस लोक में सुखपूर्वक नहीं बढ़ता ॥ १७० ॥

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् । अधार्मिकाणां पा-  
पानामाशु पश्यन्विपर्ययम् ॥१७१॥ नाधर्मश्चरितो लोके सदाः  
फलति गौरिव । शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥१७२॥

अर्थ-अधर्म करने वाले पापियों को शीघ्र विपर्यय अर्थात् चलटा फल देखता हुआ धर्म करने से पीड़ित होता हो तो भी मन को अधर्म में न लगावे ॥ १७१ ॥ इस लोक में अधर्म किया हुआ उसी समय में नहीं फलता, जैसे पृथिवी वा गौ (उसी समय फल नहीं देती) परन्तु धीरे २ फैलता हुआ अधर्म करने वाले की जड़ें काट देता है ॥ १७२ ॥

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत् पुत्रेषु नष्टेषु । नत्वेव तु कृतो  
ऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ॥ १७३ ॥ अधर्मैर्नैधते तावत्ततो  
भद्राणि पश्यति । ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥१७४॥

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा । शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण  
वाग्वाहूदरसंयतः ॥१७५॥ परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्म-  
वर्जितौ । धर्मं चाप्यसुखोदकं लोकविक्रुष्टमेव च ॥ १७६ ॥

अर्थ-किया हुआ अधर्म करने वाले को निष्फल नहीं होता, किन्तु यदि तत्काल देह धनादि का नाश नहीं भी करे तो उस के पुत्र में सफल होता है । यदि पुत्र में न हो तो पौत्र में सफल होता है ॥ १७३ ॥ अधर्म से पहिले तो बढ़ता है, फिर कल्याणों को देखता है ( अर्थात् नौकर चाकर गाय घोड़ा इत्यादि से सुख भी पाता है) और शत्रुओं को भी जीतता है परन्तु फिर ( पाप के परिपाकसमय ) मूलसहित नष्ट हो जाता है ॥ १७४ ॥ सत्य, धर्म, सदाचार और शौच में सर्वदा प्रीति करे और धर्म से शिष्यों की शिक्षा देवे और वाणी बाहु उदर इन का संयम करे ( अर्थात् सत्यभाषण, दूसरे को पीड़ा न देना और न्यायोपार्जित अन्न का भोजन, ऐसे तीनों का संयम



करे ) ॥ १९५ ॥ धर्मरहित जो अर्थ और काम हों उन को त्याग दे ( जैसे चोरी से द्रव्योपार्जन और परस्त्री से गमन ) और उत्तर काल में दुःख का देने वाला और जिस में लोगों को क्लेश हो ऐसा धर्म भी न करे ( जैसे पुत्र पौत्रादि के रहते सर्वस्व दान और पुण्य कर्म की सहायतार्थ भी किसी को अत्यन्त सताना ) ॥ १९६ ॥

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलोऽनृजुः । न स्याद्वाक्चपलश्चैव  
न परद्रोहकर्मधीः ॥ १७७ ॥ येनास्य पितरो याता येन याताः पि-  
तामहाः । तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्नरिष्यते ॥ १७८ ॥

अर्थ-निष्प्रयोजन हाथ पैर वाखी से चञ्चलता न करे, कुटिल न होवे और दूसरे को बुराई की बुद्धि (नीयत) न करे ॥ १७९ ॥ जिस मार्ग से इस के पिता पिता-मह चलते रहे हैं उसी सन्मार्ग को चले, उस में चलते की बुराई नहीं होती १९८

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः । बालवृद्धातुरैर्वैद्यै  
र्क्षातिसंघान्धिवान्धवैः ॥ १७९ ॥ मातापितृभ्यां यामीभिर्भ्रात्रा  
पुत्रेण भार्यया । दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥ १८० ॥

अर्थ-ऋत्विज्, पुरोहित, आचार्य, माता, अतिथि, भिक्षुकादि, बाल, वृद्ध, रोगी, वैद्य, चाचा इत्यादि, साला इत्यादि और मा के पिता=नाना मामा आदि, ॥ १७९ ॥ मा, बाप, बहन या पुत्रवधू आदि, भ्राता, पुत्र, स्त्री लड़की और नौकरों से झगडा न करे ॥ १८० ॥

एतैर्विवादान्संत्यज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते । एभिर्जितैश्च जयति  
सर्वान्लोकानिमान्गृही ॥ १८१ ॥ आचार्यो ब्रह्मलोकेशः प्रजापत्ये  
पिताप्रभुः । अतिथिस्त्विन्द्रलोकेशो देवलोकस्य च त्विजः ॥ १८२ ॥

अर्थ-गृहस्थ इन ( ऋत्विजादि ) के साथ विवाद को छोड़कर सब टंटों से छूटा रहता है और इन के जीतने से इन सब संसारस्थ लोगों को जीत लेता है ( किन्तु जो घर में ही लड़ता है वह बाहर हारे ही गा ) ॥ १८१ ॥  
“ आचार्य ” ब्रह्म=वेदलोक का स्वामी है ( उस के सन्तुष्ट होने से वेद प्राप्त होता है ) ऐसे ही प्रजापति लोक का “ पिता ” स्वामी है और “ अतिथि ” इन्द्रलोक का प्रभु है । देवलोक के प्रभु “ ऋत्विज् ” हैं । इन्हीं के अनुग्रह से



इन की प्राप्ति होती है ॥ ( पिता उत्पादक होने से प्रजा का पति है । इन्द्र-  
तत्त्वसम्बन्धिनी बुद्धि का उपदेशक होने से अतिथि इन्द्रलोकेश कहा । ऋत्विज्  
यज्ञ कराकर वायु आदि देवलोक की सदऽवस्था करते हैं ) ॥ १८२ ॥

जामयोऽप्सरसांलोकेवैश्वदेवस्यवान्यवाः । सम्बन्धिनीह्यपांलोके  
पृथिव्यामातृमातुलौ ॥ १८३ ॥ आकाशेशास्तुविज्ञेयाबालवृद्धकृ-  
शातुराः । भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा भार्या पुत्रः स्वका तनः ॥ १८४ ॥

अर्थ—भगिनी और पुत्रवधू आदि अप्सरा लोक की स्वामिनी हैं । और  
वैश्वदेवलोक के बन्धव और जललोक के सम्बन्धी लोग और भूलोक के मा  
और मामा स्वामी है ( इन सब की कृपा से इन की प्राप्ति होती है ) ॥ १८३ ॥  
और बालक, वृद्ध, कृश, आतुर ये आकाश के स्वामी ( निराधार ) हैं । और  
ज्येष्ठ भ्राता पिता के तुल्य है । भार्या और पुत्र अपने शरीर के तुल्य हैं  
( इस से इन से विवाद करना उचित नहीं ) ॥ १८४ ॥

छायास्वोदासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम् । तस्मादेतैरधिक्षिप्तः  
सहेताऽसंज्वरः सदा ॥ १८५ ॥ प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसंगं तत्र  
वर्जयेत् । प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति ॥ १८६ ॥

अर्थ—दासवर्ग अपनी छाया के तुल्य हैं और कन्या परमकृपापात्र है । इस  
से इन से कुछ बुरा कहा गया भी सर्वदा सहलेवे, बुरा न माने ( यदि इस धर्म  
पर चलें तो आज कल की सुकहमेंबाजी द्वारा क्यों सत्यानाश हो । पुत्रवधू  
आदि देववधू=उत्तमाङ्गनाओं के तुल्य होने से अप्सराओं के तुल्य घर की  
शोभा है । बान्धव लोग विश्वेदेवों के समान सर्वतः सुखदायक और सहायक  
हैं । साले आदि कामसुखदायक होने से जल के गुण शान्ति के दाता हैं ।  
माता मामा आदि मातृपक्ष के पृथिवी के तुल्य उत्पत्ति की भूमि हैं ) ॥ १८५ ॥  
प्रतिग्रह लेने को समर्थ होने पर भी उस में फंसा=भासक्त न होवे क्योंकि  
प्रतिग्रह लेने से वेदसम्बन्धी तेज शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥ १८६ ॥

न द्रव्याणामविज्ञाय विधिंधर्म्यं प्रतिग्रहे । प्राज्ञः प्रतिग्रहं कुर्या-  
दवसीदन्नपि क्षुधा ॥ १८७ ॥ हिरण्यं भूमिमश्वं गामन्नं वासस्ति-  
लान्घृतम् । प्रतिगृह्णन् विद्वांस्तु भस्मीभवति दारुवत् ॥ १८८ ॥



अर्थ प्रतिग्रह में द्रव्यों की धर्मयुक्तविधि की न जानकर, सुधा से पीड़ित हुवा भी बुद्धिमान् प्रतिग्रह न लेवे ॥ १८७ ॥ अविद्वान्=वेदादि का न जानने वाला, सुवर्ण भूमि घोड़े गाय अन्न वस्त्र तिल घृतादि का प्रतिग्रहण करता हुवा, अग्निसंयोग से लकड़ी सा जलजाता है ॥ १८८ ॥

हिरण्यमायुरन्नं च भूर्गौश्चाप्योपतस्तनुम् । अश्वश्चक्षुस्त्वचं वासो घृतं तेजस्तिलाः प्रजाः ॥ १८९ ॥ अतः पारस्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः । अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति ॥ १९० ॥

अर्थ-सुवर्ण और अन्न आयु को जलाते हैं । भूमि और गाय शरीर को जलाती हैं । अश्व आंख को, वस्त्र त्वचा को, घृत तेज को, और तिल प्रजा को जलाते हैं ( अर्थात् इन के प्रतिग्रह को मूर्ख ले तो ये २ नष्ट होते हैं । सुवर्ण और भोजन का दान अज्ञानी को भोगासक्त करके आयु नष्ट कराता है । भूमि और गोदान अज्ञानी के मुफ्त के आकर देह क्षीण करते हैं क्योंकि वह मिथ्याहार विहार करता है । घोड़ा और आंख दोनों इन्द्र-तत्त्वप्रधान हैं । वस्त्र और त्वचा शरीर को ढांपते हैं । घृत वृथादान से मिला हुवा तेज नहीं बढ़ाता, किन्तु मिथ्याप्रयुक्त हुवा तेज का नाश करता है । तिल मिथ्याप्रयुक्त हो वीर्य को बिगाड़ कर सन्तति में बाधक होते हैं ) ॥ १८९ ॥ तप से शून्य और वेदादि जिस के पठित नहीं, ऐसा प्रतिग्रह लेने की इच्छा करने वाला द्विज, पानी में पत्थर की नाव के समान उस प्रतिग्रह के साथ ही डूब जाता है ॥ १९० ॥ तस्मादविद्वान्विभियाद्यस्मात्तस्मात्प्रतिग्रहात् । स्वल्पकेनाप्यऽविद्वान्हि पङ्के गौरिव सीदति ॥ १९१ ॥ न वार्यपि प्रयच्छेत्तु बैडालव्रतिके द्विजे । न बकव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित् ॥ १९२ ॥

अर्थ-इस लिये मूर्ख ऐसे वैसे प्रतिग्रह से डरे । घोड़े प्रतिग्रह में भी मूर्ख ऐसे फंस जाता है जैसे कीचड़ में गौ ॥ १९१ ॥ धर्म का जानने वाला, पूर्वोक्त बैडालव्रत वाले तथा बकव्रत वाले और वेद के न जानने वाले विप्र वा द्विज नामधारी को जल भी न देवे ॥ १९२ ॥

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम् । दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥ १९३ ॥ यथाप्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन् । तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ॥ १९४ ॥



अर्थ न्यायोपार्जित भी धन इन तीनों को दिया हुआ देने वाल और लेने वाले को परलोक में अनर्थ का हेतु होता है ॥१९३॥ जैसे पत्थर की नाव से तरता हुआ नीचे की डूबता है वैसे ही लेने और देने वाले दोनों अज्ञानी डूबते हैं ॥ ( दाता को इस कारण पाप है कि सूर्खों को देकर सूर्खसंख्या की वृद्धि करता है और लेने वाला सूर्ख जगत् का उपकार नहीं कर सकता ) ॥१९४॥

धर्मध्वजी सदा लुब्धश्छायाकोलोकदम्भकः । बैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसन्धकः ॥ १९५ ॥ अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः । शठो मिथ्य विनीतश्च बकव्रतचरो द्विजः ॥ १९६ ॥

अर्थ—(जो लोगों में प्रसिद्धि के लिये धर्म करता है और आप भी कहता है वा दूसरों से प्रख्यात कराता है वह ) धर्मध्वजी और परधन की इच्छा वाला और छली तथा लोगों में दम्भ फैलाने वाला, हिंसकस्वभाव वाला, सब को बहकाकर भड़काने वाला, बिलाव के सा व्रत धारण करने वाला ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य—बैडालव्रतिक मनुष्य जानिये ॥ ( इस से आगे चार पुस्तकों में यह श्लोक अधिक मिलता है:—

[ यस्य धर्मध्वजो नित्यं सुरध्वज इवोच्छ्रितः ।

प्रच्छिन्नानि च पापानि बैडालं नाम तद्व्रतम् ॥ ]

जिस के धर्म का झण्डा तो देवध्वजा सा ऊंचा फहरावे, परन्तु पाप छिपे हुवे रहें । इस व्रत को “ बैडाल ” कहते हैं ) ॥ १९५ ॥ नीचे दृष्टि रखने वाले, कर्महीन स्वार्थसाधन में तत्पर, शठ और झूठा विनय करने वाले ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य को “ बकव्रती ” जानो ॥ १९६ ॥

ये बकव्रतिनो विप्रा ये च मार्जारलिङ्गिनः । ते पतन्त्यन्धतामिस्त्रे तेन पापेन कर्मणा ॥ १९७ ॥ न धर्मस्यापदेशेन पापं कृत्वा व्रतं चरेत् । व्रतेन पापं प्रच्छाद्य कुर्वन् स्त्रीशूद्रदम्भनम् ॥ १९८ ॥

अर्थ—जो विप्र बकव्रत और मार्जारव्रत वाले हैं वे उस पाप से अन्धता-मिस्त्र में गिरते हैं ॥ १९७ ॥ पाप करके धर्म के बहाने ( निष ) से व्रत न करे । ( जैसा कि ) व्रत से पाप को छिपा कर, स्त्री और शूद्रों=सूर्खों को बहकाता हुआ ( लोभी रहा करता है ) ॥ १९८ ॥



प्रेत्येह चेदृशा विप्रा गर्ह्यन्ते ब्रह्मवादिभिः । छद्मनाचरितं यच्च  
 व्रतं रक्षांसि गच्छति ॥१९६॥ अलिङ्गी लिङ्गिवेषेण योवृत्तिमुप-  
 जीवति । स लिङ्गिनां हरत्येनस्तिर्यग्घोनौ च जायते ॥२००॥

अर्थ-परलोक तथा इस लोक में ऐसे विप्र ब्रह्मवादियों से निन्दित हैं और  
 छल से किया हुआ व्रत राजसों को पहुंचता है ॥ १९६ ॥ जो अब्रह्मचारी  
 आदि ब्रह्मचारी आदि का वेष धारण करके भिक्षा मांगता है, वह ब्रह्मचारी  
 आदि के पाप को आप लेता और कुक्कुरादि योनि में जन्म पाता है ॥२००॥

परकीयनिपानेषु न स्नायाच्च कदाचन । निपानकर्तुः स्नात्वा तु  
 दुष्कृतांशेन लिप्यते ॥२०१॥ यानशय्यासनान्यस्य कूपोद्यान-  
 गृहाणि च । अदत्तान्युपभुञ्जान एनसः स्यात्तुरीयभाक् ॥२०२॥

अर्थ-( यदि बनाने वाले ने परोपकारार्थ न बनाया हो तो ) दूसरे के  
 पोखर ( हौज़ ) में कभी स्नान न करे । उस में स्नान करने से पोखर वाले  
 का बुरा अंश लग जाता है ( इस का तात्पर्य यह है कि जो किसी ने नित्य  
 अपने स्नान के निमित्त पोखर ( हौज़ ) बना रक्खा है, उस में कुछ ती नित्य  
 एक ही मनुष्य के स्नानयोग्य थोड़े जल में उस के शारीरिक विकार सञ्चित  
 रहते हैं, वे अन्य को स्नान करने से लग जाते हैं, कुछ उस के साथ झगड़ा,  
 लड़ाई, टगटा होना भी संभव है । इस के आगे एक यह श्लोक १ पुस्तकों  
 में अधिक भी पाया जाता है:-

[ सप्तोद्धृत्य ततः पिण्डान्कामं स्नायाच्च पश्च वा ।

उदपानात्स्वयंग्राहाद्वहिः स्नात्वा न दुष्यति ॥ ]

यदि उस पोखर से ७ वा ५ ( गारे के ) पिण्ड निकाल देवे तो स्वयं-  
 ग्राह पोखर से बाहर चाहे स्नान करले, दोष नहीं ) ॥ २०१ ॥ सवारी,  
 शय्या, आसन, कुवा, बागीचा, घर; ये बिना दिये भोग करने वाला उस  
 के स्वामी के चौथाई पाप का भागी होता है ॥ २०२ ॥

नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरसु च । स्नानं समाचरेन्नित्यं  
 गर्त्तप्रस्रवणेषु च ॥ २०३ ॥ यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान्  
 बुधः । यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन् ॥ २०४ ॥



अर्थ—नदी या देव ( कुदरती ) सरोवर या तालाब या सर या गड्ढे या झरने में सर्वदा स्नान किया करे ॥२०३॥ विद्वान् सर्वदा यमों का सेवन करे न कि केवल नियमों का ॥ ( हिंसा न करना, सत्यभाषण, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह; ये ५ यम हैं । शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान; ये ५ नियम हैं । इन में नियमों से यमों को प्रधानता है ) जो यमों को न करता हुआ केवल नियमों को करता है वह गिर जाता है ॥

( इन से आगे निम्नलिखित चार श्लोकों में से १ श्लोक १४ पुस्तकों में, दूसरा ४ पुस्तकों में, तीसरा ११ पुस्तकों में, और चौथा ४ पुस्तकों में अधिक पाया जाता है—

[आनृशंस्यं क्षमा सत्यमहिंसा दममस्पृहा । ध्यानं प्रसादो माधुर्यमार्जवं च यमा दश ॥ १ ॥ अहिंसा सत्यवचनं ब्रह्मचर्यमकल्पता । अस्तेयमिति पञ्चैते यमाश्चोपव्रतानि च ॥ २ ॥ शौचमिज्या तपोदानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहौ । व्रतोपवासौ मौनं च स्नानं च नियमा दश ॥ ३ ॥ अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहार लाघवम् । अप्रमादश्च नियमाः पञ्चैवोपव्रतानि च ॥ ४ ॥ ]

आनृशंस्य, क्षमा, सत्य, अहिंसा, दम, अस्पृहा, ध्यान, प्रसन्नता, सधुरता और सरलता; ये दश यम हैं ॥ १ ॥ अहिंसा, सत्यवचन, ब्रह्मचर्य, वनावट न करना, चोरीत्याग; ये ५ यम और उपव्रत भी कहाते हैं ॥ २ ॥ शौच, यज्ञ, तप, दान, स्वाध्याय, उपस्थेन्द्रिय का निग्रह, व्रत, उपवास, मौन, स्नान; ये १० नियम हैं ॥ ३ ॥ क्रोध न करना, गुरु की सेवा, शौच, हलका भोजन, प्रमाद न करना; ये ५ नियम और उपव्रत भी कहाते हैं ॥ ४ ॥ ) ॥ २०४ ॥

नाश्रोत्रियतते यज्ञे ग्रामयाजिकृते तथा । स्थिया क्लीबेन च हते भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित् ॥ २०५ ॥ अश्लीलमेतत्साधूनां यत्र जुहुत्यमी हविः । प्रसीपमेतद्देवानां तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ २०६ ॥

अर्थ—जिस यज्ञ में आचार्य वेदपाठी न हो और जिस में समस्त ग्राम भर ( बिना विवेक ) का अध्वर्यु तथा स्त्री वा नपुंसक होता हो, ऐसे यज्ञ में ब्राह्मण कभी भोजन न करे ॥ २०५ ॥ जिस यज्ञ में पूर्वोक्त होता आदि



काम करते हैं वह सज्जनों को बुरा लगने वाला और विद्वानों को अप्रिय है । इस से उस में भोजन न करे ॥ २०६ ॥

मत्तक्रुद्धातुराणां च न भुञ्जीत कदाचन । केशकीटावपन्नं च

पदास्पृष्टं च कामतः ॥ २०७ ॥ भूणघ्नावेक्षितं चैव संस्पृष्टं चाप्यु-  
दक्ष्यया । पतत्रिणावलीढं च शुना संस्पृष्टमेव च ॥ २०८ ॥

अर्थ-उन्मत्त, कोधी, रोगी का अन्न तथा केश वा कीड़ों ( के मिलने ) से दुष्ट हुआ, और इच्छा से पैर लगाया अन्न कभी भोजन न करे ॥ २०७ ॥ भूण-  
हत्वारों का देखा हुआ, रजस्वला का छुवा हुआ, कौवे आदि पक्षियों का चाटा हुआ और कुत्ते का छुवा हुआ भी ( अन्न भोजन न करे ) ॥ २०८ ॥

गवाचान्नमुपाघ्रातं घुष्टान्नं च विशेषतः । गणान्नं गणिकान्नं  
च विदुषां च जुगुप्सितम् ॥ २०९ ॥ स्तेनगायकयोश्चान्नं तक्षणो  
वार्धुषिकस्य च । दीक्षितस्य कदर्यस्य बटुस्य निगडस्य च २१०

अर्थ-गौ का सूँघा हुआ और विशेष छोटा ( घिचोला ) हुआ अथवा  
“कोई है ? जो ले और खावे” ऐसे पुकार के दिया हुआ और समुदाय का अन्न तथा वैश्या का अन्न और विद्वानों का निन्दित; ( ऐसे अन्न का भी भोजन न करे ) ॥ २०९ ॥ चोर, गवैया, तक्षवृत्ति=बढई, वृद्धि=व्याज का उपजीवन करने वाले, रुपण तथा बंधुवे का ( अन्न भोजन न करे ) ॥ २१० ॥

अभिषस्तस्य षण्ढस्य पुंश्चल्या दाम्भिकस्य च । शुक्तं पर्युषितं  
चैव शूद्रस्योच्छिष्टमेव च ॥ २११ ॥ चिकित्सकस्य मृगयोः क्रूरस्यो-  
च्छिष्टभोजिनः । उग्रान्नं सूतिकान्नं च पर्याचान्तमनिर्दशम् २१२

अर्थ-लोगों में पातकों से प्रसिद्ध हुबे का, नपुंसक का, व्यभिचारिणी का, दम्भी का और खमीर वाला खटा सड़ा बासी तथा शूद्र का भोजन करके बचा हुआ अन्न, ( भोजन न करे ) ॥ २११ ॥ वैद्य, शिकारी, क्रूर (बदमिजाज), जूठन खाने वाले, उग्रस्वभाव और सूतिका का, एक के अपमान में दूसरा भोजन करे वह और सूतकनिवृत्ति न हुबे का अन्न (न भोजन करे) ॥ २१२ ॥

अनर्चितं वृथा मांसमवीरायाश्च योषितः । द्विषदन्नं नगर्यन्नं



पतितान्नमवक्षुतम् ॥ २१३ ॥ पिशुनानृतिनोश्चान्नं क्रतुविक्र-  
यिणस्तथा । शैलूपतुन्नवायान्नं कृतघ्नस्यान्नमेव च ॥ २१४ ॥

अर्थ-विना सत्कार के दिया हुआ, वृथा अन्न, गांस, जिस स्त्री के पति पुत्र न हों उस का, शत्रु का, ग्रामाधिपति का, जाति से निकाले का और छींका हुआ अन्न ॥ (३ पुस्तकों में नगर्घनं=कदर्यान्नं पाठ है। यही अच्छा भी प्रतीत होता है) ॥ २१३ ॥ चुगलखोर, झूठी गवाही देने वाले और यज्ञ बेचने वाले, नट, सौचिक=दर्जी और कृतघ्न का अन्न (न भोजन करे) ॥ २१४ ॥

कर्मारस्य निषादस्य रङ्गावतारकस्य च । सुवर्णकर्तुर्वैणस्य शस्त्र-  
विक्रयिणस्तथा ॥ २१५ ॥ श्रवतां शौण्डिकानां च चैलनिर्ण-  
जकस्य च । रज्जुकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपतिर्गृहे ॥ २१६ ॥

अर्थ-लोहार, निषाद, तमाशा करने वाले, सुनार, वांस का काम बनाने वाले, शस्त्र बेचने वाले ॥ २१५ ॥ और कुत्ते पालने वाले, कलाल, धोबी, रंगरेज़, निर्दयी और जिस के मकान में जार हो (अर्थात् जिसकी स्त्री व्यभिचारिणी हो) उस का (अन्न भोजन न करे) ॥ २१६ ॥

मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितानां च सर्वशः । अनिर्दशं च  
प्रेतान्नमतुष्टिकरमेव च ॥ २१७ ॥ राजान्नं तेजआदत्ते शूद्रान्नं  
ब्रह्मवर्चसम् । आयुःसुवर्णकारान्नं यशश्चर्मावकर्तिनः ॥ २१८ ॥

अर्थ-जो (घर में) स्त्री के जार को (जानकर) सहन करते हैं उन का और जो सब प्रकार स्त्री के अधीन हैं उन का, दशाह के भीतर जो सूतकान्न है वह और तृप्ति का न करने वाला अन्न (भोजन न करे) ॥ २१७ ॥ राजा का अन्न तेज को और शूद्र का अन्न ब्रह्मसम्बन्धी तेज को, स्वर्णकार का अन्न आयु को और चमार का अन्न यश को लेजाता है ॥ २१८ ॥

कारुकान्नं प्रजां हन्ति बलं निर्णजकस्य च । गणान्नं गणिकान्नं च  
लोकेभ्यः परिकृन्तति ॥ २१९ ॥ पूयं चिकित्सकस्यान्नं पुंश्चल्यास्त्व-  
न्नमिन्द्रियम् । विष्टा वार्धुषिकस्यान्नं शस्त्रविक्रयिणो मलम् ॥ २२० ॥

अर्थ-बढ़ई का अन्न सन्तति का नाश करता है । धोबी का बलनाश और सनुदाय तथा गणिका का अन्न लोकों का नाश करता है (अप्रतिष्ठित है)



॥ २१९ ॥ वैद्य का अन्न पीप के समान है और वेश्या का अन्न इन्द्रियसम है तथा व्याजवृद्धिजीवी का अन्न विष्टा और शूद्र बेचने वाले का अन्न ( शरीर के ) मेल के समान है ॥ २२० ॥

यएतेऽन्ये त्वभोज्यान्नाः क्रमशः परिकीर्त्तिताः । तेषां त्वगस्थिरो-  
माणि वदन्त्यन्नं मनीषिणः ॥ २२१ ॥ भुक्तातोऽन्यतमस्यान्नममत्या  
क्षपणं त्र्यहम् । मत्याभुक्ता चरेत्कृच्छ्रं रेतो विण्मूत्रमेव च ॥ २२२ ॥

अर्थ-ये और दूसरे कि जिन के अन्न क्रम से भोजन करने योग्य नहीं, उन के अन्न को मनीषी लोग त्वचा हड्डी रोम के समान कहते हैं ॥ (इस से आगे दो पुस्तकों में यह श्लोक अधिक पाया जाता है:-

[ अमृतं ब्राह्मणस्यान्नं क्षत्रियान्नं पयः स्मृतम् ।

वैश्यान्नमन्नमित्याहुः शूद्रस्य रुधिरं स्मृतम् ॥ ]

ब्राह्मण का अन्न अमृत, क्षत्रिय का दूध, वैश्य का अन्न=अन्न और शूद्र का रुधिर के समान है ॥ इसी से हम को यह भी शङ्का होती है कि अन्य श्लोक भी जो भिन्न २ अन्नों को भिन्न २ निन्दनीय उपमा देते हैं, कदाचित् पीछे ही से निन्दार्थवाद के लिये बढ़ाये गये हों । परन्तु आशय कुछ बुरा नहीं ) ॥ २२१ ॥ इनमें से किसी का अन्न बिना जाने भोजन करे तो तीन दिन उपवास प्रायश्चित्त करे और जान कर भोजन करे तो कच्छ व्रत करे । ऐसे ही बिना जाने वीर्य मल मूत्र के प्रक्षण में भी ( कच्छ व्रत करे ) ॥ २२२ ॥

नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्नं विद्वानऽश्राद्धिनोद्विजः । आददीताममे-  
वास्मादवृत्तावेकरात्रिकम् ॥ २२३ ॥ श्रोत्रियस्य कदर्यस्य वदान्यस्य  
च वार्धुषेः । मीमांसितबोभयं देवाः सममन्नमकल्पयन् ॥ २२४ ॥

अर्थ-विद्वान् ब्राह्मण, श्रद्धा से शून्य शूद्र का पक्वान्न भोजन न करे, परन्तु बिना लिये काम न चले तो कच्चा अन्न एक दिन के निर्वाह मात्र ले लेवे ( नन्दन टीकाकार ने " अश्राद्धिनः " पाठ माना है और उत्तम भी यही है । तथा सब से प्राचीन भाष्यकार मेधातिथि ने भी इस पाठान्तर का वर्णन किया है । और अगले श्लोक में भी श्रद्धा की प्रधानता का वर्णन है । सर्वज्ञ नारायण भाष्यकार भी श्रद्धा अर्थ करते हैं । नन्दन टीकाकार यह भी



कहते हैं कि " श्रद्धारहित शूद्र का पक्वान्न न खावे, इस कहने से श्रद्धालु शूद्र का पक्वान्न ग्राह्य समझना चाहिये " ॥ इस से आगे एक श्लोक १ पुस्तक में और रामवन्दन की टीका में, जो सब से नवीन है, पाया जाता है:-

[ चन्द्रसूर्यग्रहे नाद्यादद्यात्स्नात्वा तु मुक्तयोः ।

अमुक्तयोरगतयोरयाच्चैव परेऽहनि ॥ ]

चन्द्र सूर्य के ग्रहण में भोजन न करे । जब ग्रहण होकर ( चन्द्र और सूर्य ) मुक्त हो जावें तब स्नान करके भोजन करे । यदि बिना मुक्त हुवे छिप जावें तो अगले दिन भोजन करे ॥ यह लीला ग्रहण में भोजन न करने की चाल को पुष्ट करने के लिये की गई जान पड़ती है ) ॥ २२३ ॥ कृपण श्रोत्रिय और वृद्धिजीवी दाता; इन दोनों के गुण दोषों को विचार कर देवता लोग दोनों के अन्तों को समान कहते थे ॥ इस पर-[ देखो संबन्ध पृ० १४४ पं० २३ ]

( २०५ से २२४ तक जिन जिन के अन्न अभक्ष्य कहे हैं, उन में कारणों से दोष हैं । कहीं तो अन्न में दोष की सम्भावना है । कहीं अन्न वाले की वृत्ति वा जीविका निन्दित है । कहीं उसका अन्न खाने में आने ऊपर उसका दबाव रहना अनुचित है । कुछ कुछ अत्युक्ति भी है । कई जगह नवीन श्लोक भी मिलाये गये हैं, जो सब पुस्तकों में नहीं पाये जाते । कहीं २ उसका अन्न खाने से अपने गौरव=बड़प्पन का नाश है । कहीं अवेदवित् के कराये वेदविरुद्ध यज्ञ की निन्दार्थ ही उस यज्ञ का अन्न वर्जित है । कहीं कच्चे अन्न में न्यून विकार और पके में अधिक विकार वा संसर्गदोष लगना कारण है । कहीं अपनी उच्चता की रक्षामात्र ही तात्पर्य है । और जो २ यहां गिनाये हैं, उन के अतिरिक्त भी जहां २ हानि का कारण उपस्थित हो वहां २ का अन्न त्याज्य और जो त्याज्य गिनाये हैं उन में हानि की संभावना न हो तो ग्राह्य समझना चाहिये । कारण को प्रधान समझना बुद्धिमानों का काम है । यह भोजन ( न्योता जीमने ) का बहुत प्रपञ्च इस लिये कहा है कि जो पुरुष अत्यन्त शुद्ध पवित्र धर्मात्मा आत्मा की उन्नति का चाहने वाला द्विजोत्तम है, उसे सूक्ष्म से सूक्ष्म भी कोई बुराई न लगने पावे । राजा के अन्नत्याग का तात्पर्य अपने से अति अधिक प्रभुता रखने वाले मात्र के अन्न का त्याग है । उस के भोजन करने से अपना सहत्त्व घटता है । सहत्त्व और तेज के घटने से धर्म कर्म का उत्साह भी कम हो



## चतुर्थोऽध्याय

१८३

जाता है। शूद्र के अन्न से नीचपन आकर उत्तमता घटती है। सुवर्ण की चोरी महापातक है और सुनार प्रायः उसे कर सकते हैं, इस से उस का अन्न दुराचारप्रवर्तक होने से आयु का नाशक है। बड़ई प्रायः हरे वृक्षों को भी लोभ से काटते हैं। उन के अन्न से सन्तति पर प्रभाव पड़ना सम्भव है। घोड़ी कपड़े के ... .. सम्राट और देण्या से वृषाऽऽगत ... .. की लो- मिनी मकखी उड़ती ... .. कित्सक चीर फाड़ करने वा ... .. ला वृद्धि ही प्रतिक्षण शोचत ... .. ता है। इत्यादि कारण स्वयं ... .. दान्यस्य तान्प्रजापतिराहै ... ..

हतमश्रुयेतरत्

तन्द्रितः। श्रुदा

अर्थ-ब्रह्मा उ

सम मत करो। क्यों

रूपण श्रोत्रिय का

यज्ञादि और कूपत

र्जित धनों से श्रुदा

दानधर्म निषे

पात्रमासाद श

ऽनसूयया। उ

अर्थ-आनन्द

और कूपतडागादि

...

...

...

...

...

...

224

Acc. No. 7344

Class No.

Book No.

Author

Title

कुल्लू राम स्वामी

मनु स्मृति

Due on

Borrower's Name

Returned on

20 DEC 2005

26 SEP 2007

31 MAR 2010

2055/31 4 MAR 2011

( २२७ से आगे केवल एक पुस्तक में ये दो श्लोक अधिक पाये गये हैं:-

[ पात्रभूतो हि यो विप्रः प्रतिगृह्य प्रतिग्रहम् । असत्सु विनि-  
युज्जीत तस्मै देयं न किञ्चन ॥ संचयं कुरुते यस्तु प्रतिगृह्य  
समन्ततः । धर्मार्थं नोपयुङ्क्ते च न तं तस्करमर्चयेत् ॥ ]



[ चन्द्रसूयग्रहे नाद्यादद्यात्स्नात्वा तु मुक्तयोः ।

अमुक्तयोरगतयोरव्याच्चैव परेऽहनि ॥ ]

को पुष्ट कर  
वृद्धिजीवी  
के अन्तों के

[illegible]

न करने की चाल  
कपण श्रोत्रिय और  
देवता लोग दोनों  
[ १४४ पं० २३ ]

( २७५ )  
 से दोष हैं  
 वृत्ति वा ज  
 का दबाव  
 श्लोक भी  
 उस का अ  
 के कराये  
 कच्चे अन्न  
 कारण है ।  
 यहां गिना  
 हो वहां २  
 संभावना  
 बुद्धिमानों  
 लिये कहा  
 का चाहने  
 पावे । राज

, उन में कारणों  
 हीं अन्न वाले की  
 आने ऊपर उस  
 कई जगह नवीन  
 ताते । कहीं २ उस  
 । कहीं अवेदवित्  
 वर्जित है । कहीं  
 संसर्गदोष लगना  
 है । और जो २  
 कारण उपस्थित  
 उन में हानि की  
 प्रधान समझना  
 बहुत प्रयत्न इस  
 आत्मा की उन्नति  
 ई बुराई न लगने  
 धेक प्रभता रखने

वाले मात्र के अन्न का त्याग है। उस के भोजन करने से अपना सहत्व घटता है। सहत्व और तेज के घटने से धर्म कर्म का उत्साह भी कम हो



जाता है। शूद्र के अन्न से नीचपन आकर उत्तमता घटती है। सुवर्ण की चोरी महापातक है और सुनार प्रायः उसे कर सकते हैं, इस से उस का अन्न दुराचारप्रवर्तक होने से आयु का नाशक है। बड़ई प्रायः हरे वृत्तों को भी लोभ से काटते हैं। उन के अन्न से सन्तति पर प्रभाव पड़ना सम्भव है। घोड़ी कपड़े के और अपने बल का घटाने वाला है। समुदाय और देश्या से वृषाऽऽगत धन बहुत मिलना संभव है, उस से जैसे शहद की लोमिनी मकखी उड़ती नहीं, सर रहती है, वैसे फंसना सम्भव है। चिकित्सक घीर फाड़ करने वाले वैद्य की वृत्ति निर्धृण होजाती है। घ्याज वाला वृद्धि ही प्रतिक्षण शोचता है। शस्त्र बेचने वाला एक क्रूर जीविका करता है। इत्यादि कारण स्वयं विचारणीय हैं) ॥ २२४ ॥

तान्प्रजापतिराहैत्य माकृध्वंविषमंसमम्। श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत् ॥ २२५ ॥ श्रद्धयेष्टं च पूतं च नित्यं कुर्याद- तन्द्रितः। श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः ॥ २२६ ॥

अर्थ-ब्रह्मा उन देवतों के पास आकर बोले कि तुम लोग विषम को सम मत करो। क्योंकि वृद्धिजीवी दाता का अन्न श्रद्धा से पवित्र होता है और कृपण श्रोत्रिय का अश्रद्धा से अपवित्र (सम नहीं) हत है ॥ २२५ ॥ श्रद्धा से यज्ञादि और कूपतडागादि को आलस्यरहित होकर सर्वदा बनवावे। न्याया-र्जित धनों से श्रद्धा से किये हुवे ये कर्म अक्षय फल देते हैं ॥ २२६ ॥

दानधर्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्तिकम्। परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः ॥ २२७ ॥ यत्किंचिदपि दातव्यं याचितेना-ऽनसूयया। उत्पत्स्यते हि तत्पात्रं यत्तारयति सर्वतः ॥ २२८ ॥

अर्थ-आनन्द से युक्त होकर योग्य पात्र को पाकर यथाशक्ति यज्ञादि और कूपतडागादि दानधर्मों को सदा करे ॥

( २२७ से आगे केवल एक पुस्तक में ये दो श्लोक अधिक पाये गये हैं:-

[ पात्रभूतो हि यो विप्रः प्रतिगृह्य प्रतिग्रहम्। असत्सु विनि-युज्जीत तस्मै देयं न किञ्चन ॥ संचयं कुरुते यस्तु प्रतिगृह्य समन्ततः। धर्मार्थं नोपयुङ्क्ते च न तं तस्करमर्चयेत् ॥ ]



जो ब्राह्मण दानपात्र बना हुआ प्रतिग्रह लेकर बुरे कामों में लगाता हो उसे कुछ न दे ॥ जो चारों ओर से प्रतिग्रह लेकर धनसञ्चय करे परन्तु धर्म के कामों में न लगावे, उस तस्कर को न पूजे ॥ २२७ ॥ दोषन लगाकर कोई अपने से कुछ मांगे तो यथाशक्ति कुछ न कुछ देवे ही, क्योंकि देने वाले को वह पात्र भी कभी मिलजावेगा जो कि सब से तार देगा ॥ २२८ ॥

वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षयमन्नदः । तिलप्रदः प्रजामिष्टां दीपदश्चक्षुरुत्तमम् ॥ २२९ ॥ भूमिदोभूमिमाप्नोति दीर्घमायुर्हिरण्यदः । गृहदोऽग्न्याणि वेश्मानि रूप्यदोरूपमुत्तमम् ॥ २३० ॥

अर्थ—जल देने वाला तृप्ति, अन्न का देने वाला अक्षय सुख, तिल का देने वाला यथेष्ट सन्तति और दीपक देने वाला अच्छी आंख पाता है ॥ २२९ ॥ भूमि देने वाला भूमि, सोना देने वाला दीर्घायु, घर देने वाला अच्छे सहल और चांदी देने वाला अच्छा रूप पाता है ॥ ( एक पुस्तक में भूमिमाप्नोति=सर्वमाप्नोति पाठ है ) ॥ २३० ॥

वासोदश्चन्द्रसालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः । अनडुदुःश्रियं पुष्टां गोदोब्रध्नस्यविष्टपम् ॥ २३१ ॥ यानशय्याप्रदोभार्यामैश्वर्यमभयप्रदः । धान्यदःशश्वतं सौख्यं ब्रह्मदोब्रह्मसार्ष्टिताम् ॥ २३२ ॥

अर्थ—वस्त्र देने वाला चन्द्रसमान लोक=शरीर पाता है । घोड़े का देने वाला अश्व बालों की जगह पाता है । बैल का देने वाला बहुत सम्पत्ति और गौ देने वाला सूर्य के तुल्य प्रकाश को पाता है ॥ ( एक पुस्तक में अश्विसालोक्यं=सूर्यसालोक्यं पाठ है ) २३१ ॥ सवारी और शय्या का देने वाला भार्या, अभय का देने वाला राज्य, धान्य देने वाला निरन्तर सुख और वेद देने वाला ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ २३२ ॥

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते । वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥ २३३ ॥ येन येन तु भावेन यदादानं प्रयच्छति । तत्तत्तेनैव भावेन प्राप्नोति प्रतिपूजितः ॥ २३४ ॥

अर्थ—जल अन्न गौ भूमि वस्त्र तिल सुवर्ण और घृत; इन सब दानों से ब्रह्मदान ( वेद का पढ़ाना ) अधिक है ॥ २३३ ॥ जिस जिस भाव से जो जो दान देता है उसी २ भाव से दिया हुआ सत्कारपूर्वक पाता है ॥ २३४ ॥



योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव च । तावुभौ गच्छतः स्वर्गं  
नरकं तु विपर्यये ॥ २३५ ॥ न विस्मयेत तपसा वदेदिष्टा च  
नानृतम् । नार्तोऽप्यपवदेद्विप्रान्न दत्त्वा परिकीर्तयेत् ॥ २३६ ॥

अर्थ-जो सत्कारपूर्वक दान लेता है और जो सत्कारपूर्वक देता है, वे दोनों स्वर्ग में जाते हैं और उस के विपरीत करने वाले दोनों नरक में जाते हैं ॥ २३५ ॥

( २२९ से २३५ तक दान का साहाय्य है । जल प्रत्यक्ष तृप्तिका हेतु है । अन्नभोजन से जैसा सुख मिलना प्रसिद्ध है वैसा अन्य पदार्थ से नहीं । तिलों में सन्तानोत्पादन का प्रभाव है । जब स्त्रियों का रज रुक जाता है या सन्तानोत्पत्ति में बाधा होती है तब वैद्य तिलप्रधान भोजन बताते हैं । जैसे गाली देने वाले गाली खाते हैं, वैसे जो अन्यो के लिये भलाई करेगा वह पामात्मा की व्यवस्था से वैसे ही भलाई पावेगा । सोने के वर्क खाने से आयु बढ़ना वैद्यक का भी मत है । जैसे पृथिवी को किसान बीज देते हैं, पृथिवी उन्हें बीज देती है । कूप लोगों को जल देता है तो उस का जल बढ़ता है । चन्द्रमा का रूप सौन्दर्य उपसा में भी लिया जाता है । वस्त्र की श्वेतता प्रशंसनीय है और चन्द्रमा की भी । बैल-कृष्यादि से वैश्य की लक्ष्मी बढ़ाने वाले हैं । दान के परिमाणानुसार फल का परिमाण वा देश काल वस्तु श्रद्धा आदि के अनुसार फल की न्यूनाधिकता माननी ही पड़ेगी ) ॥ २३५ ॥ तप करके आश्चर्य न करे ( कि मेरा तप बहुत है ) और यज्ञ करके असत्य न बोले (कि मैंने यह किया और वह किया), और पीडित होने पर भी विप्रों की निन्दा न करे और दान देकर चारों ओर ( लोगों से ) कहता न फिरे ॥ २३६ ॥

यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात् । आयुर्विप्रापवादेन  
दानं च परिकीर्तनात् ॥ २३७ ॥ धर्मं शनैः संचिनुयाद्वल्मीक-  
मिव पुत्तिकाः । परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यऽपीडयन् ॥ २३८ ॥

अर्थ-असत्यभाषण से यज्ञ नष्ट होता है, विस्मय से तप तथा ब्राह्मणों की निन्दा से आयु और चारों ओर कहने से दान घटता है ॥ २३७ ॥ परलोक के हित के लिये सम्पूर्ण जीवों को पीड़ा न देता हुआ, धीरे धीरे धर्म को सञ्चित करे, जैसे दीमक बंसी को बनाती हैं ॥ २३८ ॥



नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः । न पुत्रदारं न  
ज्ञातिधर्मस्तिष्ठति केवलः ॥ २३९ ॥ एकः प्रजायते जन्तुरेकएव  
प्रलीयते । एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेकएव च दुष्कृतम् ॥ २४० ॥

अर्थ-परलोक में सहाय के लिये मा बाप नहीं रहते, न पुत्र, न स्त्री । केवल  
एक धर्म रहता है ॥ २३९ ॥ अकेला ही जीव उत्पन्न होता है और अकेला ही  
मरता है । अकेला ही सुकृत को और अकेला ही दुष्कृत को भोगता है ॥ २४० ॥

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ । विमुखा बान्धवा  
यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥ २४१ ॥ तस्माद्दुर्मं सहायार्थं नित्यं  
संचिनुयाच्छनैः । धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥ २४२ ॥

अर्थ-लकड़ी और ढेला सा मृतक शरीर को भूमि पर छोड़ कर बान्धव  
पीछे लौट जाते हैं । ( उस मरे के पीछे कोई नहीं जाता ) धर्म उस के पीछे  
जाता है ॥ २४१ ॥ इस कारण धर्म को सहाय के लिये सर्वदा धीरे २ सञ्चित करे,  
क्योंकि धर्म ही की सहायता से अति कठिन दुःख से तरता है ॥ २४२ ॥

धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्बिषम् । परलोकं नयत्याशु  
भास्वन्तं स्वशरीरिणम् ॥ २४३ ॥ उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं संबन्धाना-  
चरेत्सह । निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत् ॥ २४४ ॥

अर्थ-तप से नष्ट हुआ है पाप जिस का ऐसे धर्मपरायण प्रकाशयुक्त मुक्त  
स्वरूप पुरुष को ( धर्म ) शीघ्र मोक्षधान को लेजाता है ॥ २४३ ॥ कुल को उन्नत  
करने की इच्छा करने वाला सर्वदा अच्छे २ पुरुषों के साथ ( कन्यादानादि )  
संबन्ध करे और अधम २ मनुष्यों के साथ छोड़ देवे ( न करे ) ॥ २४४ ॥

उत्तमानुत्तमान्गच्छन्हीनान्हीनांश्च वर्जयन् । ब्राह्मणः श्रेष्ठता-  
मेति प्रत्यवायेन शूद्रताम् ॥ २४५ ॥ दृढकारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारै  
रसंवसन् । अहिंसी दमदानाभ्यां जयेत्स्वर्गं तथाव्रतः ॥ २४६ ॥

अर्थ-( क्योंकि ) उत्तम पुरुषों से संबन्ध करने और हीनों के त्याग से  
ब्राह्मण श्रेष्ठता को पाता है । नीचसंबन्धों से नीचता को ( प्राप्त होजाता है )  
॥ २४५ ॥ दृढ़ वृत्ति वाला, निष्ठुरतारहित, शीत उष्णादि का सहन करने वाला,



कूर आचरण वाले पुरुषों का सहवास छोड़ता हुआ हिंसारहित पुरुष दम= इन्द्रियसंयम और दान से स्वर्ग को जीतता है ॥ २४६ ॥

“एधोदकं मूलफलमन्नमभ्युद्यतं च यत् । सर्वतः प्रतिगृहीयान् मध्वथाभयदक्षिणाम् ॥२४७॥ आहताभ्युद्यतां भिक्षां पुरस्ताद-  
ऽप्रचोदिताम् । मेने प्रजापतिग्राह्यामपि दुष्कृतकर्मणः ॥२४८॥”

“अर्थ—इन्धन, जल, मूल, फल, अन्न और अन्नयदक्षिणा; ये बिना सांगे प्राप्त हों तौ सब से ग्रहण करले ॥२४७॥ ले आई और सामने रखी, लेने वाले ने पूर्व न सांगी हुई भिक्षा पापकारी से भी ग्रहण करे, यह ब्रह्मा ने माना है ॥२४८॥”

“नाश्नन्ति पितरस्तस्य दशवर्षाणि पञ्च च । न च हव्यं वहत्य-  
ग्निर्यस्तामभ्यवमन्यते ॥२४९॥ [चिकित्सककृतघ्नानां शिल्पकर्तुश्च  
वार्धुषः । षण्ठस्य कुलटायाश्च उद्यतामपि वर्जयेत् ॥ न विद्य-  
मानमेवैवं प्रतिग्राह्यं विजानता । विकल्पाविद्यमाने तु धर्महीनः  
प्रकीर्तितः ॥ ] शय्यां गृहान्कुशान्गन्धानपः पुष्पं मणीन्दधि ।  
धानामत्स्यान्पयोमांसं शाकं चैव न निर्नुदेत् ॥ २५० ॥”

“अर्थ—उस के किये आहु में पितर पन्द्रह १५ वर्ष भोजन नहीं करते और अग्नि उस के हवि को ग्रहण नहीं करता जो कि अयाचित भिक्षा का अप-  
मान करता है ॥ २४९ ॥”

[वैद्य, कृतघ्न, शिल्पी, व्याजजीवी, नपुंसक और वेश्या का प्रतिग्रह बिना सांगे मिलने पर भी न ले । यह प्रतिग्रह जान बूझ कर अपने पास होते हुवे न ले, परन्तु न होते हुवे लेने में विकल्प करने से धर्महीन हो जाता है ॥ इन दोनों श्लोकों पर सब से पिछले रामचन्द्र टीकाकार की टीका है । मेधा-  
तिथि आदि अन्य ५ की नहीं । इन से नूतन काल में ही इन का मिलाया जाना पाया जाता है । पिछले अगले श्लोकों से सम्बन्ध ऐसा मिलाया है कि कोई जानने न पावे । इन दो में से पहला श्लोक ११ पुस्तकों में पाया जाता है और दो पुस्तकों में कुछ २ पाठान्तर से पाया जाता है तथा दूसरा श्लोक केवल एक पुस्तक में ही मिलता है ] ॥ २४९ ॥

“शय्या घर कुशा गन्ध जल पुष्प मणि दधि धाना मत्स्य दूध मांस और शाक; इन का प्रत्याख्यान न करे ( कोई देवे तो न लौटावे ) ॥ २५० ॥”



“ गुरुभृत्यांश्चेज्जिहीर्षन्नर्चिष्यन्देवतातिथीन् । सर्वतःप्रतिगृही-  
 यान्न तु तृप्येत्स्वयं ततः ॥ २५१ ॥ गुरुषु त्वभ्यतीतेषु विना वा तैर्गृहे  
 वसन् । आत्मनो वृत्तिमन्विच्छन्गृहीयात्साधुतः सदा ” ॥ २५२ ॥

“अर्थ-गुरु और भृत्य भार्यादि क्षुधा से पीड़ित हों तो इन की वृत्ति और देवता अतिथि के पूजन के लिये सब से ग्रहण करले, परन्तु आप उस में से भोजन न करे ॥ २५१ ॥ किन्तु माता पिता के मरने पर वा उन के विना घर में रहता हुआ अपनी वृत्ति की इच्छा करता हुआ सदा साधु से ही ग्रहण करे” ॥ २५२ ॥

“आर्थिकः कुलमित्रं च गोपालोदासनापितौ ।

एते शूद्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत् ॥ २५३ ॥”

अर्थ-“ आधी साफे की खेती आदि करने वाला और कुलमित्र और गोपाल तथा दास और नापित; ये शूद्रों में भोज्यान्ना हैं ( अर्थात् इन का अन्न भोजनयोग्य है ) और जो अपने को निवेदन करे ( उस का भी अन्न भोजनयोग्य है ॥ २५३ ॥ ”

( सब का जल पीना विना मांगे मिलने पर भी अपेय है । और इस २४९ वें में तौ मूल फल अन्न सभी विना मांगे स्वयं कोई कहे कि “लीजिये” तौ गड़प करना विधान करके पिछली कही सारी शुद्धि पर पानी फेर दिया। २४८ वें में दुष्कृतकर्मा की भी अयाचित भिक्षा का ग्रहण अनुचित है । प्रथम तौ अयाचित का नाम भिक्षा रखना ही अनर्गल है और श्लोक बनाने वाले को अपने हृदय में भी घृणा और त्याज्य होने का सन्देह है, उसी को दबाता हुआ कहता है कि “इसको प्रजापति ने ग्राह्य माना है” अर्थात् मेरा कहना तुम न मानो तौ प्रजापति की अनुमति तौ माननी ही चाहिये । धन्य ! । २४९ में कहा है कि जो अयाचित भिक्षा का अनादर करता है, उस के पितर और अग्नि १५ वर्ष तक कव्य हव्य नहीं खाते हैं । मरे पितरों की दशा तौ श्लोक बनाने वाले जाने, परन्तु जीते पितर और अग्नि तौ खाते प्रत्यक्ष दीखते हैं । तथा मनु ने ही जब कि दान लेने से न लेने को उत्तम लिखा है कि ( प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागोविशिष्यते ) वा ( प्रतिग्रहः प्रत्यवरः ) दान लेना हलका लुब्ध काम है, तौ न लेने वाले की ऐसा भ्रष्ट बताना कि उस का हव्य अग्नि भी नहीं ग्रहण करता, कैसे अन्धेर की बात



है । २५० में पाठभेद भी है । ३ पुस्तकों में ( मणीन्=फलम् ) पाठ है और इस श्लोक बनाने वाले का जी मछली को ऐसा ललच गया कि प्रक्षिप्त श्लोकों में ही अध्याय ५ श्लोक १५ में मछली को खाना सर्वभक्षीपना होने से वर्ज्य बतावेंगे, उसे भी भूल गया । वा इस प्रक्षिप्तों का कर्त्ता भी एक पुरुष नहीं, किन्तु अनेकों ने भिन्न २ समयों में ये श्लोक मिलाये हैं और चोर को सुध भी नहीं रहती कि आगे पीछे क्या है । २५१ में सब प्रतिग्रह माता पिता आदि तथा देवता अतिथि की पूजार्थ ग्राह्य कर दिया । भला जो अपना पेट नहीं भर सकता, न अपने माता पिता का, उस के अतिथि क्यों आने लगा है । स्नातक विप्र की वृत्तियों का वर्णन करते हुवे खेती वाणिज्यादि जब उस का कर्म ही नहीं तब २५३ वें का यह कहना कि आधा साफ़ा खेती व्यापारादि में जिन का हो इत्यादि शूद्रों का अन्न भी भक्ष्य है, असङ्गत है और खेती वैश्यकर्म है, शूद्रकर्म नहीं ( २४९ के आगे जो दो श्लोक सब पुस्तकों में भी नहीं मिलते, वे भी अपने साथियों के प्रक्षिप्त होने के संशय को दृढ़ करते हैं और २४६ वा २५४ से सम्बन्ध भी नहीं बिगड़ता । इत्यादि कारणों से हमारी सम्मति में २४७ से २५३ तक ७ श्लोक प्रक्षिप्त हैं ) ॥ २५३ ४

यादृशोऽस्य भवेदात्मा यादृशं च चिकीर्षितम् ।

यथा चोपचरेदेनं तथात्मानं निवेदयेत् ॥ २५४ ॥

अर्थ-जैसा इस का आत्मा हो और इस को करना हो और जैसे इस की कोई सेवा करे वैसा ही अपने को निवेदन करे ॥ २५४ ॥

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते । स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः ॥ २५५ ॥ वाच्यर्थानियताः सर्वे वाङ्-मूलावाग्विनिःसृताः । तांतुयः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥ २५६ ॥

अर्थ-जो अपने को और कुछ बताता है और है कुछ और, वह लोगों में बड़ा पाप करने वाला आत्मा का चुराने वाला चोर है ॥ २५५ ॥ सम्पूर्ण अर्थ वाणी में बन्दे हैं और सब का मूल वाणी ही है और सब वाणी से निकले हैं, उस वाणी को जो चुरावे वह मनुष्य सम्पूर्ण चोरियों का करने वाला है ॥ २५६ ॥

महर्षिपितृदेवानां गत्वाऽऽनृण्यं यथाविधि । पुत्रे सर्वं समाजज्य वसेन्मध्यस्थमाश्रितः ॥ २५७ ॥ एकाकी चिन्तयेन्नित्यं विविक्ते



हितमात्मनः । एकाकीचिन्तयानोहि परं श्रेयोधिगच्छति ॥ २५८ ॥

अर्थ-ऋषि पितर देवता इन का ऋण देकर और यथाविधि पुत्र को कुटुम्ब भार सौंप कर, समदर्शी होकर रहे ॥ २५७ ॥ निर्जन स्थान में अकेला आत्मा का हित चिन्तन करे क्योंकि अकेला ध्यान करता हुआ परम श्रेय ( मोक्ष ) पाता है ॥ २५८ ॥

एषोदिता गृहस्थस्य वृत्तिर्विप्रस्यशाश्वती । स्नानकव्रतकल्पश्च सत्त्ववृद्धिकरः शुभः ॥ २५९ ॥ अनेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन्वेदशास्त्रवित् । व्यपेतकल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते ॥ २६० ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे ( भृगुप्रोक्तायां संहितायां )

चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अर्थ-यह गृहस्थ ब्राह्मण की सनातन वृत्ति और स्नातक का व्रत और कल्प जो शुभ गुण की वृद्धि करता है, कहा ॥ २५९ ॥ वेद शास्त्र का जानने वाला विप्र इस शास्त्रोक्त आचार से नित्यकर्मानुष्ठान करता हुआ पाप को नष्ट कर ब्रह्मलोक में बड़ाई को पाता है ॥ २६० ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे

चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥



ओ३म्

## अथ पञ्चमोऽध्यायः

“श्रुत्वैतानृपयो धर्मान्स्नातकस्य यथोदितान् । इदमूचुर्महात्मान-  
मनलप्रभवं भृगुम् ॥ १ ॥ एवं यथोक्तं विप्राणां स्वधर्ममनु-  
तिष्ठताम् । कथं मृत्युः प्रभवति वेदशास्त्रविदां प्रभो ! ॥ २ ॥”

“अर्थ—ऋषि लोग स्नातक के यथोक्त धर्म सुन कर महात्मा अग्निवंशी भृगु के प्रति यह वचन बोले ॥ १ ॥ ( कि ) हे प्रभु ! जो ब्राह्मण स्वधर्म करते और वेदशास्त्र के जानने वाले हैं, ऐसे विप्रों की ( अकाल ) मृत्यु कैसे हो जाती है ? ॥ २ ॥”

“स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः ।

श्रूयतां येन दोषेण मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ ३ ॥”

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् ।

आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ ४ ॥

“अर्थ—मनुवंशी भृगु जी उन महर्षियों के प्रति बोले कि सुनिये—जिस दोष से मृत्यु ( अकाल में ) विप्रों को मारना चाहता है” ॥ ( इन श्लोकों से यह स्पष्ट पाया जाता है कि इन का कर्त्ता मनु नहीं है, न भृगु । किन्तु किसी ने “विप्राञ्जिघांसति” इन चतुर्थ श्लोक में आये पदों की सङ्गति मिलाकर ये श्लोक बना दिये हैं ) ॥ ३ ॥ वेदों के अनभ्यास और आचार के छोड़ने तथा सत्कर्माँ में आलस्य करने और अन्न के दोष से ( अकाल ) मृत्यु विप्रों को मारना चाहता है ( आगे अन्नदोष बताते हैं:- ) ॥ ४ ॥

लशुनं गृञ्जनं\* चैव पलाण्डुं कवकानि च । अभक्ष्याणि द्विजा-  
तीनाममेध्यप्रभवाणि च ॥ ५ ॥ लोहितान्वृक्षनिर्यासान्वृश्चन-  
प्रभवांस्तथा । शैलुं गव्यं च पेयूषं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ६ ॥

अर्थ—लहसन, \* शलगम, पियाज, कुरुरमुत्ता और जो सैले में उत्पन्न हों, द्विजातियों को अभक्ष्य हैं ॥



\* साधारणतया गृञ्जन को ३ अर्थों में लेते हैं। १-गाजर २-शलजम वा शलगम ३-लहसन, परन्तु मुख्य करके गृञ्जन का अर्थ शलगम ही जान पड़ता है। जैसा कि धन्वन्तरि निघण्टु करवीरादि ४ वर्ग अङ्क १० में-

गृञ्जनं शिखिमूलं च यवनेष्टं च वर्तुलम् ।

ग्रन्थिमूलं शिखाकन्दं कन्दं डिण्डीरमोदकम् ॥

गृञ्जनं कटुकोष्णं च दुर्गन्धं गुल्मनाशनम् ।

रुच्यं च दीपनं हृद्यं कफवातरुजापहम् ॥

गृञ्जन जिस के मूल पर शिखा है, जो यवनों का इष्ट (पसन्द) है, गोला है, जो गांठदार मूल है, शिखा कन्द, कन्द डिण्डीरमोदक जिस के नामान्तर हैं, वह गृञ्जन कटु गर्म दुर्गन्ध है और गुल्मरोगनाशक है। रुचि, अग्नि और हृदय को बढ़ाने वाला, वात कफ रोगों का नाशक है ॥ इस से शलगम का अर्थ पाया जाता है क्योंकि ये गुण जिन में विशेष कर यवनेष्टता, कटुता, दुर्गन्ध, वातकफनाशकता, उष्णता, गोला होना, गांठ होना, ऐसे लक्षण हैं, जो गाजर से नहीं मिलते, शलगम से ही मिलते हैं ॥ गृञ्जन से लहसन के ग्रहण में प्रमाण-

महाकन्दो रसोनोऽन्यो गृञ्जनो दीर्घपत्रकः ।

धन्वन्तरि निघण्टु करवीरादि ४ वर्ग-इस में लम्बे पत्ते वाले रसोन (लहसन) को भी गृञ्जन कहा है ॥ गृञ्जन का अर्थ गाजर होने में प्रमाण-

गाजर के नाम और गुण उक्त ग्रन्थ के उक्त पते पर-

गर्जरं पिङ्गलं मूलं पीतकं मूलकं तथा ।

स्वादुमूलं सुपीतं च नागरं पीतमूलकम् ॥

गर्जरं मधुरं रुच्यं किञ्चित्कटु कफावहम् ।

आधमानकृमिशूलघ्नं दाहपित्ततृषापहम् ॥

इस में गर्जर के बदले ३ पाठ पाये जाते हैं। १-गृञ्जन २-गृज्जर ३-गर्जर। यही गाजर है क्योंकि इस का पीला होना, कफकारक होना, स्वादुमूल होना, मधुर होना, दाह पित्त तृषा का शान्त करने वाला होना; ऐसे गुण हैं जो गाजर में पाये जाते हैं ॥



अब गृज्जन का अर्थ गाजर लेने में केवल १ पाठान्तर का सहारा है, अन्य कुछ नहीं, फिर कलकत्ते के छपे बड़े कोष शब्दकल्पद्रुम में जो राधाकान्त देव बहादुर ने प्रकाशित किया है उस में भी गृज्जन का अर्थ शलगम है। यथा—

गृज्जनम्—क्री० । मूलविशेषः । ( विषदिग्धपशोर्मांसम्, इति मेदिनी ) शलगम इति ख्यातः । यवनेष्टम् । शिखा-  
कन्दम् । कन्दम् । कटुत्वम् । उष्णत्वम् । कफवातरोगगुल्म-  
नाशित्वम् । रुच्यं, दीपनं, हृद्यं, दुर्गन्धम् ॥

इत्यादि से भी पाया जाता है कि स्पष्ट शलगम ही गाजर है । मेदिनी कोषकार गृज्जन का अर्थ जहर ( विष ) में सना पशुमांस कहते हैं । तथा अन्यत्र यह भी बुनते हैं कि—

गोलोम्यां गृज्जनं प्रोक्तं लशुने वृत्तमूलके ।

अर्थात् गोलोमी ओषधि का नाम गृज्जन है और गोल आकार मूल लशुन के अर्थ में भी गृज्जन शब्द है ॥ अमरकोष २ । ४ । १४८ में—

लशुनं गृज्जनारिष्टमहाकन्दरसोनकाः ।

कहा है, जिस से लशुन शब्द का पर्याय गृज्जन पाया जाता है । उसी की महेश्वरकृत अमरविवेकनाम्नी टीका में कहा है कि—

लशुनगृज्जनयोराकृतिभेदेऽपि रसैक्यादऽभेद इति बहवो मन्यन्ते ।

लशुन और गृज्जन के आकार ( सूरत शकल ) में भेद होने पर भी रस ( स्वादु ) एक सा होने से यहां अमरकोष में दोनों को एक ( अमिन्न ) कहा है, ऐसा बहुतों का मत है ॥

वैदिक निघण्टु में गृज्जन शब्द पाया ही नहीं जाता ॥ उणादि कोष में भी इस शब्द का पता नहीं मिलता ॥

बहुपक्ष और बहुत गुणों के मेल से गृज्जन का अर्थ शलगम पाया जाता है । यदि यवनेष्ट आदि विशेषणों वा किन्हीं ऐतिहासिक प्रमाणों से यह भी पाया जाय कि शलगम का आगमन भारत में यवनराज्यारम्भ में हुआ, तब भी गृज्जन का अर्थ गोलोमी हो वा अन्य हो, गाजर नहीं समझ पड़ता ॥

उक्त मनु के श्लोक में लशुन शब्द पृथक् पठित है, अतः गृज्जन का अर्थ लशुन भी नहीं ले सकते क्योंकि वैद्यक शास्त्र का मत है कि—



तुल्याभिधानानि तु यानि शिष्टैर्द्रव्याणि योगे विनिवेशितानि ।  
अर्थाधिकारागमसंप्रदायैर्विभज्य तर्केण च तानि युज्यात् ॥

अर्थात् शिष्टों के प्रयुक्त अनेकार्थवाचक एक शब्द के प्रयोग में अर्थ, अधिकार=प्रकरण, शास्त्र के संप्रदाय और तर्क से विभाग करके काम में लावे ॥

सो यहां लघुन शब्द के भिन्न प्रयोग से और ब्रह्मचर्य के प्रकरण से ब्रह्मचर्यनाशक शलगम का अर्थ ही गृह्यन शब्द से ग्राह्य है वा गोलोमी का, किन्तु गाजर का नहीं ॥ ५ ॥ रक्तवर्ण वृक्षों के गोंद और वृक्षों के छेदने से जो रस निकलता है वह तथा लिसोड़ा=लभेड़ा और नवीन व्याई हुई गाय का दूध ( पेंवसी ) यत्र से छोड़ देवे ॥ ६ ॥

“वृथा कसरसंयावं पायसापूपमेव च ।

अनुपाकृतमांसानि देवान्नानि हवींषि च ॥ ७ ॥”

अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा ।

आविकं संधिनीक्षीरं विवतसायाश्च गोः पयः ॥ ८ ॥

अर्थ—“ ( तिल चावल मिलाकर पकाया ) कसरसंयाव, लपसी वा खीर तथा मालपूभा, ये सब वृथा पकान ( अर्थात् विना वैश्वदेव ) और बलि विना मांस और हवन के पुरोडाशों को ( न भक्षण करे ) ” ॥

( जब कि बलिवैश्वदेवादि न करके भोजनमात्र ही पूर्व निषिद्ध कर आये तब तिल, चावल, लपसी, पूड़े, मांस, हव्य आदिके गिनाने की क्या आवश्यकता है ? क्या अन्य वस्तु खाने पकाने में वैश्वदेवादि आवश्यक नहीं ? यह मांसाहारियों की लीला प्रक्षिप्त है । एक पुस्तक में “पूपमेव च=पूपशकुली” पाठभेद भी है ) ॥ ७ ॥ १० दिन तक प्रसूता गौ का दूध, जंटनी का, घोड़ी आदि एक खुरवाली का और भेड़ का, ऋतुमती का तथा जिस का बच्चा मर गया हो उस गौ का दूध ( छोड़ देवे ॥ इससे आगे १ पुस्तक में यह श्लोक अधिक पाया जाता है:—

[ क्षीराणि यान्यभक्ष्याणि तद्विकाराशने बुधः ।

सप्तरात्रव्रतं कुर्यात्प्रयत्नेन समाहितः ॥ ]

जो दूध अभक्ष्य हैं उन की बनी वस्तु खालेबे तौ जानने पर एकाग्रता से यत्रपूर्वक ७ रात्रि का व्रत करे ) ॥ ८ ॥



आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं विना । स्त्रीक्षीरं चैव  
वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि ॥९॥ दधि भक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वं च  
दधिसंभवम् । यानि चैवाभिपूयन्ते पुष्पमूलफलैः शुभैः ॥ १० ॥

अर्थ-भैंस को छोड़ कर, वन में रहने वाले सब मृगों का दुग्ध और निज  
स्त्री का दुग्ध तथा बहुत समय के खटे हुये सब पदार्थ भी न खावे पीवे ॥९॥  
खटे हुये द्रव्यों में दही और मट्ठा और जो दही में बने पकौड़ी आदि तथा  
उत्तम पुष्प मूल फलके संधान से जो पदार्थ (अचार आदि) बनते हैं, वे  
संक्षण योग्य हैं ॥

(इन अभक्ष्यों में कोई दुर्गन्धियुक्त, कोई शलगम आदि कामोत्तेजक होकर  
विषयी बना केवल वीर्यनाशक, कोई तमोगुणी बुद्धिनाशक हैं। और यदि कहीं  
स्नेच्छादि अभक्ष्यभक्षियों की दीर्घ आयु और फलादि शुद्ध सात्त्विकादि खाने  
वालों की भी अल्प आयु देखते हैं, वह अन्य कारणों से हो ही सकती है) ॥१०॥  
“क्रव्यादाञ्छकुनान्सर्वास्तथा ग्रामनिवासिनः । अनिर्दिष्टांश्चैक-  
शफांष्टिद्विभं च विवर्जयेत् ॥ ११ ॥ कलविङ्गं प्लवं हंसं चक्राङ्गं ग्राम-  
कुक्कुटम् । सारसं रज्जुवालं च दात्यूहं शुकसारिके ॥ १२ ॥”

“अर्थ कच्चे मांस के खाने वाले सब जानवरों, ग्राम के रहने वालों, न  
बताये हुये एक खुर वालों तथा गर्दभ और टिड्डी को छोड़ देवे ॥ ११ ॥  
चिड़िया, परेव, हंस, चकवा, ग्राम का मुरगा, सारस, बड़ी गुट्टी वाला जल-  
काक, पपीहा, तोता, मैना ॥ १२ ॥”

“प्रतुदाञ्जालपादांश्च कोपष्टिनखविष्किरान् । निमज्जतश्च  
मत्स्यादान् सौनं वल्लूरमेव च ॥ १३ ॥ बकं चैव बलाकां च काकोलं  
खजरीटकम् । मत्स्यादान्विड्वराहांश्च मत्स्यानेव च सर्वशः ॥ १४ ॥”

“अर्थ-चोंच से फाड़ कर खाने वाले, जिन के पैरों में जाल सा हो  
(बाज इत्यादि) चील्ह और जो नखों से फाड़ कर खाते हैं तथा पानी में डूब  
कर जो मछलियों को खाते हैं और सौन=मारने के स्थान का मांस और  
शुष्क मांस ॥ १३ ॥ बगुला और बत्तक, करेववा, खज्जन (मीमला) और मछली  
के खाने वाले तथा विष्ठाभक्ती सूकर और संपूर्ण मछली को (न खावे) ॥ १४ ॥



“यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद उच्यते। मत्स्यादः सर्वमांसाद-  
स्तस्मान्मत्स्यान्विवर्जयेत् ॥ १५ ॥ पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौ  
हव्यकव्ययोः। राजीवान्सिंहतुण्डांश्च सशलकांश्चैव सर्वशः ॥ १६ ॥”

“अर्थ—जो जिस का मांस खाता है वह उस मांस का खाने वाला कहाता है (मछली सब का मांस खाती है) इस को जो खावे वह सब का खाने वाला कहालाता है, इस से मछली को न खावे ॥ १५ ॥ पाठा और रोहू ये दो मछली हव्य कव्य में ली गयीं हैं, इस से भक्षणयोग्य हैं और राजीव, सिंह-  
तुण्डा और सब मोटी खाल वाली मछली, ( ये भी भक्षणयोग्य हैं ) ॥ १६ ॥”

“न भक्षयेदेकचरानज्ञातांश्च मृगद्विजान्। भक्षयेष्वपि समुद्दिष्टान्  
सर्वान्पञ्चनखांस्तथा ॥ १७ ॥ श्वाविधं शल्यकं गोधां खड्गकूर्मशशां-  
स्तथा । भक्ष्यान्पञ्चनखेष्वहुरनुष्टुंभैकतोदतः ॥ १८ ॥”

“अर्थ—अकेले चरने वाले ( सर्पादि ) और मृगपक्षी जो जाने नहीं गये हैं और जो भक्ष्यों में भी कहे हों वे पञ्चनख सब भक्ष्य नहीं (जैसे वानरादि) ॥ १७ ॥ श्वाविध=सेह, शल्यक, गोधा, खड्ग, कडवा, शशा; ये पांच नख वालों में भक्षण योग्य हैं, ऊंट को छोड़ कर एक और दांत वाले भी ॥ १८ ॥”

“छत्राकं विड्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम् । पलाण्डुं गृजनं चैव  
मत्या जग्ध्वा पतेद् द्विजः ॥ १९ ॥ अमत्यैतानि षड् जग्ध्वा कृच्छ्रं  
सान्तपनं चरेत् । यतिचान्द्रायणं वापि शेषेषूपवसेदहः ॥ २० ॥”

अर्थ—“छत्राक और ग्रामसूकर, लशुन, ग्राम का मुर्गा, पियाज, शलगम; ये सब बुद्धिपूर्वक जो द्विज भक्षण करे वह पतित होवे ॥ १९ ॥ इन छः को जो बुद्धि-  
पूर्वक भक्षण करे तो ( एकादशाध्याय में कहे ) सान्तपन वा यतिचान्द्रायण  
प्रायश्चित्त करे और इन से शेष का भक्षण करले तो एक दिन उपवास करे ॥ २० ॥”

“संवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः । अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं  
ज्ञातस्य तु विशेषतः ॥ २१ ॥ यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृग-  
पक्षिणः । भृत्यानां चैव वृत्त्यर्थमगस्त्योह्याचरत्पुरा ॥ २२ ॥”

“अर्थ—कभी बिना जाने निषिद्ध का भक्षण कर लिया हो इस लिये द्विज  
१ वर्ष में १ कृच्छ्रव्रत कर लिया करे और जान बूझ कर किया हो तो विशेष



करके ॥ २१ ॥ यज्ञ और पोष्य वर्ग की तृप्ति के लिये ब्राह्मण भक्ष्य मृग पक्षियों को मारें । क्योंकि पूर्व अगस्त्य मुनि ने भी किया है ॥ २२ ॥ ”

“ बभूवुर्हि पुरोडाशा भक्ष्याणां मृगपक्षिणाम् ।

पुराणेष्वपि यज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषु च ” ॥ २३ ॥

यत्किञ्चित्स्नेहसंयुक्तं भक्ष्यं भोज्यमगर्हितम् ।

तत्पर्युषितमप्याद्य हविःशेषं च यद्ववेत् ॥ २४ ॥

अर्थ—“ क्योंकि प्राचीन ऋषियों और ब्राह्मण क्षत्रियों के यज्ञों में भक्ष्य मृग पक्षियों के पुरोडाश हुआ करते थे ” ( ११ से २३ वें तक १३ श्लोक मांसाहारियों ने अन्य मांसों की परिशेष से भक्ष्यता सिद्ध करने की मिलाये हैं । इस में कुछ भी संशय नहीं । १० वें श्लोक में बासी सड़े खड़े खनीरी पदार्थों का वर्णन है, फिर २४ वें में भी बासी रक्खे हुये पदार्थों का ही वर्णन है । इस से उस का सम्बन्ध निर्भ्रम है । लगुन छत्राक पलाण्डु शृङ्गन का निषेध ५ वें में कर आये फिर १९ वें में लिखना प्रसाद है । २२ वें में यह जोर लगाना कि यज्ञार्थ ब्राह्मणों को उत्तम मृग पक्षी वध्य हैं, पहिले अगस्त्य मुनि ने भी मारे थे, स्पष्ट जतलाता है कि यह अगस्त्य की पौराणिक कथा के भी बनने से पीछे किसी ने मिलाये हैं । २३ वें में प्राचीन ऋषियों के भी यज्ञों में भक्ष्य मृग पक्षियों के मांस से पुरोडाश बनाये गये थे । यह कहना सिद्ध करता है कि श्लोक बनाने वाला अपने समय में मांस को अभक्ष्य प्रसिद्ध जान कर प्राचीन साक्षी देने की कल्पना करता है । और “ बभूवुः ” इस परोक्षभूत क्रिया से जतलाता है कि यह बात बहुत पुरानी है जो आंखों से देखी नहीं है । भला स्वायंभुव मनु से पूर्व परोक्षभूत कौन लोग ऋषि थे ? और अगस्त्य कहां था ? ) ॥ २३ ॥ जो कुछ भक्ष्य या भोज्य निन्दित नहीं है, वह बासी होने पर भी घृतादियुक्त हो तो भक्षण करले और जो शेष चरु हवन से बचा है उसे भी ( अर्थात् पुरोडाश बिना घृतादि लगा भी भक्षण करले ) ॥ २४ ॥

चिरस्थितमपि त्वादमस्नेहाक्तं द्विजातिभिः ।

यवगोधूमजं सर्वं पयसश्चैव विक्रिया ॥ २५ ॥

“ एतदुक्तं द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमशेषतः ।

मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणवर्जने ॥ २६ ॥ ”



अर्थ-बहुत काल की भी जी या गेहूं की घृतरहित और दूध की ( पिठाई आदि ) बनी वस्तु ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य भक्षण करलें ॥ २५ ॥ “ यह द्विजा-तियों का निःशेष भक्षयाऽभक्ष्य कहा, इस के उपरान्त मांस के भक्षण और त्याग की विधि कहेंगे ” ॥ ( जब निःशेष भक्षयाऽभक्ष्य कह चुके और मांस भी प्रक्षिप्त श्लोकों में बता चुके फिर दुबारा उस का प्रस्ताव प्रनाद और धिगई है । अतः आगे के श्लोक भी ४२ तक प्रक्षिप्त हैं ) ॥ २६ ॥

“प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया । यथाविधि नियु-  
क्तस्तु प्राणानामेव चात्यये ॥ २७ ॥ प्राणस्यान्नमिदं सर्वं प्रजापति-  
रऽकल्पयत् । स्थावरं जङ्गमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम् ॥ २८ ॥ ”

अर्थ-“ ब्राह्मणों की कामना मांस भक्षण की हो तो यज्ञ में प्रोक्षणविधि से शुद्ध करके भक्षण करे और प्राणरक्षा के हेतु विधि के नियम से ॥ २७ ॥ प्राण का यह संपूर्ण अन्न प्रजापति ने बनाया है । स्थावर और जङ्गम संपूर्ण प्राण का भोजन है ” ॥ २८ ॥

“चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः । अहस्ताश्च सहस्तानां  
शूराणां चैव भीरवः ॥ २९ ॥ नात्ता दुष्यत्यदन्नाद्यान्प्राणिनोऽह-  
न्यहन्यपि । धात्रैव सृष्टा ह्याद्याश्च प्राणिनोऽत्तारएव च ॥ ३० ॥ ”

“ अर्थ-चर जीवों के अचर ( घास आदि ) और दंष्ट्रियों के अदंष्ट्र ( व्याघ्रादि के हरिणादि ) और हाथ वालों के बिना हाथ वाले ( मनुष्यों के मछली आदि ) और शूरों के डरपोकने, ऐसे एक का एक भोजन बनाया है ॥ २९ ॥ भक्षणयोग्यों को भक्षण करते हुवे खाने वाले को दोष नहीं लगता क्योंकि विधाता ने ही भोजन और भोजन करने वालों को उत्पन्न किया है ” ( यूँ तो चोरों और धनों को भी विधाता ने ही बनाया है । तो क्या चोरी पाप नहीं ? ) ॥ ३० ॥

“यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येषदैवोविधिःस्मृतः । अतोऽन्यथाप्रवृत्तिस्तु  
राक्षसोविधिरुच्यते ॥ ३१ ॥ कृत्वा स्वयं वाप्युत्पाद्य परोपकृत-  
मेव वा । देवान्पितृन्श्चार्चयित्वा खादन्मांसं न दुष्यति ॥ ३२ ॥ ”

“ अर्थ-यज्ञ के निमित्त मांस भक्षण करना देवविधि है और इस के सिवाय मांसभक्षण राक्षसविधि कही है ॥ ३१ ॥ सोल लेकर अथवा आप ही



मार कर या दूसरे किसी ने लाकर दिया हो उस को देवता और पितरों को चढ़ा कर खाने से दोष नहीं ॥ ( ४ पुस्तकों में " परोपहतम् " पाठ है । मनु ती ११ वें अध्याय में इसे पिशाचादि का भक्ष्य कहेंगे ) ॥ ३२ ॥

“नाद्यादविधिना मांसं विधिज्ञोऽनापदि द्विजः । जग्ध्वा ह्यविधिना मांसं प्रेत्य तैरद्यतेऽवशः ॥ ३३ ॥ न तादृशं भवत्येनो मृगहन्तुर्धनार्थिनः । यादृशं भवति प्रेत्य वृथामांसानि खादतः ॥ ३४ ॥”

“अर्थ—अनापत्ति में विधि का जानने वाला द्विज विना विधि के मांस भक्षण न करे क्योंकि विना विधि के जो मांस भक्षण करता है उस के मरने पर जिन का मांस उस ने खाया है उसे वे खाते हैं ॥ ३३ ॥ रोजगार के लिये जो पशु मारते हैं, उनको वैसा पाप नहीं होता जैसा कि विना देवपितरों को चढ़ाये मांसभक्षण करने वाले को पाप होता है ॥ ३४ ॥”

“नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः । स प्रेत्य पशुतां याति संभवानेकविंशतिम् ॥ ३५ ॥ असंस्कृतान्पशून्मन्त्रैर्नाद्याद्विप्रः कदाचन । मन्त्रैस्तु संस्कृतानद्याच्छाश्वतं विधिमास्थितः ॥ ३६ ॥”

“अर्थ—मधुपर्क या श्राद्ध में विधि से नियुक्त हुआ जो मांसभक्षण न करे वह मरके इक्कीस बार पशुयोनि में जन्म लेता है ( इस धिंगई को तौ देखो कि खाने वाले को दोष न मानना तौ एक ओर रहा, न खावे तौ २१ जन्म तक पशु बने । क्या इस से भी मांसभक्षी वासमार्गियों का प्रक्षेप नहीं जान पड़ता ? ) ॥ ३५ ॥ मन्त्रों से जिन का संस्कार नहीं हुआ, उन पशुओं को विप्र कभी भक्षण न करे और शाश्वत वेद की विधि से यागादिकों में संस्कृत किये हुए पशुओं को भक्षण करे ( किसी वेदानुकूल यज्ञ में पशुवध विहित धर्म नहीं, श्रौतसूत्रों में जो कुछ है, वह भी इन्हीं वासमार्गियों की लीला है ) ॥ ३६ ॥

“कुर्याद् घृतपशुं संगे कुर्यात्पिष्टपशुं तथा । न त्वेव तु वृथा हन्तुं प्रशुमिच्छेत्कदाचन ॥ ३७ ॥ यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वोह मारणम् । वृथापशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि ॥ ३८ ॥”

“अर्थ—खाने की इच्छा ही हो तौ घृत का पशु वा पिष्ट (मैदा) का पशु बनाकर यथाविधि खावे परन्तु विना देवता के उद्देश पशु मारने की इच्छा



न करे (धन्य !!! आटा वा घृत को भी पशु के आकार बनाकर रुचता है !!! इसी से कोई २ गुप्त वाममार्गी बाह्यभीरु यज्ञ में भी आटे वा घृत के पशु बनाया करते थे, यह प्रसिद्ध है ) ॥३७॥ विना देवता के उद्देश जो पशु मारता है वह मरने पर जितने पशु के रोम हैं उतने ही जन्मों तक अन्यो से मारा जाता है ( हमारी सम्मति में तो देवतों का नाम न लेकर खाने वाले पापी इतने बढ़िया कलङ्की नहीं हैं, जितने ये हैं । ५ पुस्तकों में “कृत्वेह” पाठ भेद है) ॥३८॥

“यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा । यज्ञस्य भूतयै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥३९॥ ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यश्चः पक्षिणस्तथा । यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः ॥ ४० ॥ ”

“ अर्थ-ब्रह्मा ने स्वयं ही सब यज्ञ की सिद्धि वृद्धि के अर्थ पशु बनाये हैं इस लिये यज्ञ में पशुवध वध नहीं है ( ८ पुस्तकों में “ यज्ञोऽस्य ” पाठ है ) ॥ ३९ ॥ ओषधि, पशु, वृक्ष, कूर्मादि और पक्षी; यज्ञ के अर्थ मारे जावें तो उत्तम योनि को प्राप्त होते हैं ॥ ४० ॥ ”

“मधुपर्कं च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि । अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥४१॥ एवमर्थेषु पशून् हिंसन्वेदतत्त्वार्थविद्विजः । आत्मानं च पशुं चैव गमयत्युत्तमां गतिम् ॥ ४२ ॥ ”

“ अर्थ-मधुपर्क, यज्ञ और श्राद्ध तथा देवकर्म; इन में ही पशुवध करे, अन्यत्र नहीं करे “ यह मनु ने कहा है ” ( जी हां, आप के भी हृदय में सन्देह है कि कदाचित् कोई इस को मनुवाक्य न समझे । चोर की डाढ़ी में तिनका ) ॥ ४१ ॥ वेद का तत्त्वार्थ जानने वाला द्विज इन्हीं मधुपर्कादि में पशुहिंसा करता हुआ आप और पशु दोनों को उत्तम गति प्राप्त कराता है ॥ ( तो पहले अपने पुत्रादि को भेट चढ़ाकर उत्तम गति क्यों न दिखाई जावे? २६ से ४२ तक १७ श्लोक निकाल कर २५ वें से ४३ वें को गिलाकर पढ़िये तो प्रकरण ठीक मिलजाता है । और इस सांस की विधि को मनु में मिलाने वाले ने ऐसी अधिकता से मिलाया है कि एक ही बात ( श्राद्धादि न करके सांस न खावे ) को अनेक बार पिष्टपेषण करता ही जाता है । यह सांसभक्षण किसी कर्म में मनु का संमत नहीं है, इस का निषेध मनु ने स्वयं इसी अध्याय के ४३ वें से ५५ वें तक १३ श्लोकों में बड़े बलपूर्वक किया है और



घोरैवार इस की बुराई, घिनौनापन, दूषितता एवं पापता सब बतलाई हैं। वे बुराईयें यज्ञ में कैसे दूर हो सकती हैं। और मनु जब मांस की राससादि का भोजन मानते हैं, तो देवकार्य में कैसे ग्राह्य हो सकता है। ये श्लोक अवश्य प्रक्षिप्त हैं जैसा कि महाभारत मोक्षधर्मपर्व में कहा है कि—

सर्वकर्मस्वहिंसां हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत् ।

कामकाराद्विहिंसन्ति बहिर्वेद्यां पशून्मराः ॥

धर्मात्मा मनु ने सब कर्मों (वैश्वदेवादि) में अहिंसा ही कही थी परन्तु अपनी इच्छा से शास्त्रबाह्य यज्ञवेदी पर लोग पशुओं को मारते हैं ॥४२॥

गृहे गुरावरण्ये वा निवसन्नात्मवान्द्विजः । नावेदविहितां हिंसामापदापि समाचरेत् ॥४३॥ या वेदविहिता हिंसा नियता-स्मिंश्चराचरे । अहिंसामैव तां विद्याद्वेदादुर्माहिनिर्वभौ ॥४४॥

अर्थ—गृहस्थाश्रम वा ब्रह्मचर्याश्रम वा वानप्रस्थाश्रम में रहता हुआ जितेन्द्रिय द्विज, अशास्त्रोक्त हिंसा आपत्काल में भी न करे ॥४३॥ इस जगत् में जो वेदविहित हिंसा चराचर में नियत है उसको अहिंसा ही जाने, (हिंसक मनुष्यों वा सिंह सर्पादि के दण्ड से तात्पर्य है, इसी को अगले श्लोक में अहिंसकों के निषेध से स्पष्ट किया है) क्योंकि वेद से धर्म का ही प्रकाश हुवा है ॥ ४४ ॥

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया । स जीवंश्च मृत-श्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥४५॥ योऽन्यनवधक्लेशान्प्राणिनां न चिकीर्षति । स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥४६॥

अर्थ—जो, अहिंसक प्राणियों को अपने सुख की इच्छा से मारता है, वह पुरुष इस लोक में जीवता और परलोक में मरकर सुख नहीं पाता ॥४५॥ जो पुरुष प्राणियों को बांधने वा मारने के क्लेश देना नहीं चाहता, वह सब के हित की इच्छा करने वाला अनन्त सुख को प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

यदध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च । तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किंचन ॥४७॥ नाऽकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांससमुत्प-दते क्वचित् । न च प्राणिबधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥४८॥



अर्थ-वह जो कुछ शोचता है, जो कुछ करता है और जिस में धृति बांधता है, वह सब उसे सहज में प्राप्त होजाता है, जो कि किसी को नहीं मारता ॥४७॥ प्राणियों की हिंसा किये बिना मांस कभी उत्पन्न नहीं हो सका और प्राणियों का वध स्वर्ग का देने वाला नहीं, अतः मांस को वर्ज देवे ॥४८॥ समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम् । प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥४९॥ न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत् । स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीडयते ॥५०॥

अर्थ-मांस की (घिनौने शुक्र शोणित से) उत्पत्ति और प्राणियों के वध और बन्धन ( क्रूरकर्मों ) की देखकर सब प्रकार के मांसभक्षण से बचे ॥४९॥ जो विधि छोड़ कर पिशाचवत् मांसभक्षण नहीं करता वह लोगों में प्यारा होता और रोगों से कभी पीड़ित नहीं होता ( इस से मांसभक्षण रोगकारक भी समझना चाहिये और प्रत्यक्ष जब से मांसभक्षणादि दुराचार कैले हैं, तब से रोग भी अधिक देखे जाते हैं ) ॥ ५० ॥

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।

संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥ ५१ ॥

“स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।

अनभ्यर्च्य पितृन् देवांस्ततोऽन्यो नास्त्यपुण्यकृत् ” ॥ ५२ ॥

अर्थ-१-जिस की सम्मति से मारते हैं २-जो अङ्गों को काट कर अलग अलग करता है ३-मारने वाला ४-खरीदने वाला ५-बेचने वाला ६-पकाने वाला, ७-परोसने वाला, तथा ८-खाने वाला; ये ८ सब घातक हैं ॥ ५१ ॥

“देव और पितरों के पूजन बिना जो पराये मांस से अपना मांस बढ़ाने की इच्छा करता है, उस से बढ़कर कोई पाप करने वाला नहीं ॥ ५२ ॥ ”

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः । मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥ ५३ ॥ फलमूलाशनैर्मैर्धैर्मुन्यन्नानां च भोजनैः । न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात् ॥ ५४ ॥

अर्थ-जो सौ वर्ष तक प्रतिवर्ष अश्वमेधयज्ञ करता है और जो जन्म-पर्यन्त मांस भक्षण नहीं करता, दोनों को पुण्यफल समान है ॥ ५३ ॥



( ५३ वें से आगे ३ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक देखा गया है:-

[ सदा यजति यज्ञेन सदा दानानि यच्छति ।

स तपस्वी सदा विप्रो यश्च मांसं विवर्जयेत् ॥ ]

अर्थात् जो ब्राह्मण मांस नहीं खाता वह मानो सदा यज्ञ करता है और दान देता है, वह तपस्वी है ) ॥ ५३ ॥ पवित्र फल मूल के भोजन और मुनियों के अन्न खाने से वह फल नहीं, जो मांस के छोड़ने से प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥

मांसं भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहादुम्यहम् ।

एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ५५ ॥

“ न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।

प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ ५६ ॥ ”

अर्थ-इस लोक में जिस का मांस मैं खाता हूं परलोक में ( मांस सः ) वह मुझे खावगा । विद्वान् लोग यह मांस का मांसत्व कहते हैं ॥ ५५ ॥ “ मांसभक्षण और मद्यपान तथा मैथुन में मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, इस लिये इन में दोष नहीं और इन को छोड़ देवे तो बड़ा पुण्य है ” ॥ ( स्वाभाविक बच्चे को तो मांस से चिन होती है । तथा यह श्लोक निषेध के प्रकरण में अनुचित भी स्पष्ट है । कोई लोग खेंचातानी से कई अर्थ करते हैं परन्तु वे अक्षरार्थ और ध्वन्यर्थ से बाहर हैं ॥ यद्यपि ये १३ श्लोक ४३ से ५५ तक मांसभक्षणनिषेधविषयक धर्मशास्त्र के सिद्धान्तानुकूल होने से हम को सभी मान्य हैं, परन्तु इन में से ५३ । ५४ । ५५ वें श्लोकों की शैली नवीन सी है और ऐसा सन्देह होता है कि ये श्लोक तब मांसनिषेधार्थ मिलाये गये हैं जब कि मांसविधान के श्लोके मिलाये जा चुके थे ) ॥ ५६ ॥

प्रेतशुद्धिं प्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धिं तथैव च । चतुर्णामपि वर्णानां यथावदनुपूर्वशः ॥ ५७ ॥ दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूडे च संस्थिते । अशुद्धा बान्धवाः सर्वे सूतके च तथोच्यते ॥ ५८ ॥

अर्थ-अब चारों वर्णों की यथावत् क्रम से प्रेतशुद्धि और द्रव्यशुद्धि आगे कहूंगा ॥ ५७ ॥ दांत निकलने पर ही वा दांत निकलने के अनन्तर और चूहाकर्म होने पर मरने से सब बान्धवों को अशुद्धि और सूतक लगता है ॥ ५८ ॥



दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते । अर्वावसंचयनाद-  
स्थनां त्र्यहमेकाहमेव च ॥ ५९ ॥ सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे  
विनिवर्तते । समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने ॥ ६० ॥

अर्थ-सपिण्डों में मृतक का आशौच दश दिन रहता है, किन्हीं को  
अस्थिसञ्चयन तक, किन्हीं को ३ दिन और किन्हीं को १ दिन ही (इस में ज्ञान  
और आचार की न्यूनाधिकता ही कारण है । जो गुणों से जितना हीन हो  
सतना ही उसे मृतक अधिक होता है । जैसे १ । २ । ३ दिन बढ़ाये हैं और  
सर्वगुणों से रहित हो तो १० दिन आशौच होता है ) ॥ ५९ ॥ सातवीं पीढ़ी में  
सपिण्डता का सम्बन्ध छूट जाता है और कुल में उत्पन्न हुयों के नाम जन्म  
और स्मरण न रहें तब समानोदकता छूट जाती है ॥ ६० ॥

यथेदं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते ।

जननेऽप्येवमेव स्यान्निपुणं शुद्धिमिच्छताम् ॥ ६१ ॥

अर्थ-जैसा मरने में सपिण्डों को यह आशौच कहा है, वैसे ही पुत्रादि उत्पन्न  
होने में भी अच्छी शुद्धता की इच्छा करने वालों को (आशौच) होता है ॥

( ६१ वें से आगे ४ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है:-

[ उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते ।

दानं प्रतिग्रहो यज्ञः स्वाध्यायश्च निवर्तते ॥ ]

जन्म और मृत्यु दोनों में १० दिन तक कुल का अन्न भोजन नहीं किया  
जाता । देना, लेना, यज्ञ और स्वाध्याय रुके रहते हैं ॥ इस प्रकरण में  
सपिण्ड शब्द से किसी को मृतकग्राह्य का भ्रम न हो, किन्तु शरीर का नाम  
पिण्ड है । सात पीढ़ी तक पूर्वज के वीर्य से थोड़ा बहुत प्रभाव सन्तानों में  
चलता है, इस के पश्चात् श्लोक ६० के अनुसार सपिण्डता नहीं रहती ।  
और जो जिस को जब तक जानता रहे कि अमुकनामा पुरुष हमारे वंश में  
था, उस की सन्तान तब तक आपस में श्लोक ६० के उत्तरार्धानुसार समा-  
नोदक होती हैं ) ॥ ६१ ॥

सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस्तु मृतकम् ।

मृतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥ ६२ ॥



अर्थ—मृतनिमित्त आशौच सब सपिण्डों को और जन्मनिमित्त आशौच माता पिता को ही रहता है । उस में भी पिता स्नान करने से शुद्ध होजाता है, माता को ही सूतक रहता है ॥

( ६२ वें से आगे भी ४ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक प्रक्षिप्त है:-

[ सत्रधर्मप्रवृत्तस्य दानधर्मफलैषिणः ।

त्रेताधर्मापरोधार्थमारण्यस्यैतदुच्यते ॥ ]

जो ज्ञानयज्ञ में प्रवृत्त है और दान धर्म का फल चाहता है, त्रेतायुग के धर्म ( ज्ञान ) के अनुरोधार्थ उस वानप्रस्थ के लिये यह विधान है ॥ इस पर सब से अन्तिम रामचन्द्र ने भाष्य किया है । अन्य किसी ने नहीं ) ॥ ६२ ॥

“ निरस्य तु पुमान् शुक्रमुपस्पृश्यैव शुद्ध्यति ।

वैजिकादभिसंबन्धादनुरुन्ध्यादऽयं व्यहम् ॥ ६३ ॥ ”

अह्ना चैकेन रात्र्या च त्रिरात्रैरेव च त्रिभिः ।

शवस्पृशोविशुध्यन्ति त्र्यहादुदकदायिनः ॥ ६४ ॥

अर्थ—“पुरुष अपना वीर्य निकाल कर स्नानमात्र से शुद्ध होता है और पराई भार्या में पुत्र उत्पन्न करने से तीन दिन आशौच रहता है ” ॥

(६३ वां श्लोक भी प्रक्षिप्त जान पड़ता है । एक तो सूतक मृतक के बीच में वीर्य निकालने की अशुद्धि का वर्णन मनु की उस प्रतिज्ञा के विरुद्ध है जो ५९ वें श्लोक में की गई है । दूसरे परस्त्रीप्रसङ्ग वा उस के सन्तानोत्पादन रूप पाप पर केवल ३ दिन का प्रायश्चित्त मात्र भी सब धर्मशास्त्र के प्रतिकूल और अन्याय है ॥ किसी पुस्तक में ६३ से आगे भी यह श्लोक अधिक है:-

[ जननेप्येवमेव स्यान्मातापित्रोस्तु सूतकम् ।

सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥

जन्म में भी ऐसे ही माता पिता को सूतक लगता है कि माता को ही सूतक और पिता स्नान करके शुद्ध है) ॥६३॥ सूतक के स्पर्श करने वाले १ और ३ गुणा ३= ९=१० दिन रात में शुद्ध होते हैं और (सरते समय कण्ठ में) पानी देने वाले (वा अस्थिसञ्चयन में चिता पर जल छिड़कने वाले) तीसरे दिन शुद्ध होते हैं ॥६४॥

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन् । प्रेतहारैः समं तत्र



दशरात्रेण शुद्ध्यति ॥६५॥ रात्रिभिर्मासतुल्याभिर्गर्भस्त्रावे वि-  
शुद्ध्यति । रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला ॥६६॥

अर्थ—मृत गुप्त की अन्त्येष्टि करता हुआ शिष्य, प्रेत=मुर्दा उठाने वालों  
के साथ दशवें दिन शुद्ध होता है ॥६५॥ जितने मास का गर्भस्त्राव हो उतने  
दिन में स्त्री शुद्ध होती है । और रजस्वला स्त्री जिस दिन रज की निवृत्ति  
हो उस दिन स्नान करके शुद्ध होती है ॥ ६६ ॥

नृणामकृतचूडानां विशुद्धिर्नैशिकी स्मृता ।

निर्वृत्तचूडकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥ ६७ ॥

अर्थ जिन बालकों का चूडाकर्म नहीं हुआ, उन के मरने से एक दिन  
में और जिन का चूडाकर्म हो गया है उन के मरने से तीन दिन में शुद्धि  
होती है ॥ ( ६७ वें से आगे ३ श्लोक और भी १ पुस्तक में प्रक्षिप्त मिलते हैं:—

[प्राक्संस्कारप्रमीतानां वर्णानामविशेषतः । त्रिरात्रात्तुभवेच्छुद्धिः  
कन्यास्वहोविधीयते ॥१॥ अदन्तजन्मनः सद्य आचूडान्नैशिकी  
स्मृता ॥ त्रिरात्रमाव्रतादेशादशरात्रमतः परम् ॥ २ ॥ परपूर्वासुभार्यासु  
पुत्रेषु प्रकृतेषु च । मातामहे त्रिरात्रंतु एकाहं त्वऽसपिण्डतः ॥ ३ ॥ ]

सब वर्णों के बच्चे जो संस्कार से पूर्व मर गये हों उन की ३ दिन में  
शुद्धि होती है और कन्याओं की एक दिन में ॥ १ ॥ जिस के दांत न जमें हों  
उस की तत्काल और फिर चूडाकर्म तक आयु वाले की एक रात्रि भर  
और फिर उपनयन संस्कार तक आयु वाले की ३ रात्रि और उस के पश्चात् १०  
रात्रि की अशुद्धि है ॥ २ ॥ जो स्त्री प्रथम किसी अन्य की थीं उन की और  
उन में जन्मे पुत्रों की और नाना की अशुद्धि ३ रात्रि तक है । असपिण्ड  
गोत्रियों की एक दिन है ॥ ३ ॥ ) ॥ ६७ ॥

ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं निदध्युर्बान्धवा बहिः ।

अलंकृत्य शुचौ भूमावस्थिसञ्चयनादृते ॥ ६८ ॥

अर्थ—जिस की आयु के पूरे दो वर्ष न हुवे हों ऐसे मृत बालक को  
बान्धव लोग ग्रामादि के बाहर शुद्ध भूमि में स्वच्छ करके दबा देंगे । विना  
अस्थिसञ्चयन के ( अर्थात् दाह और अस्थिसञ्चयन विना ही ) ॥ ६८ ॥



नास्यकार्योग्निसंस्कारो न च कार्योदकक्रिया । अरण्येकाष्टव-  
त्यक्ता क्षपेयुस्त्रयहमेव च ॥६९॥ नात्रिवर्षस्य कर्तव्या बान्ध-  
वैरुदकक्रिया । जातदन्तस्य वा कुर्युर्नाग्नि वापि कृते सति ॥७०॥

अर्थ-इस (पूर्वोक्त बच्चे) का अग्निसंस्कार न करे, इस की उदकक्रिया (अस्थिसञ्चयनादि) भी न करे, किन्तु जङ्गल में काष्ठवत् दक्षा देवे और तीन दिन आशौच रखे ॥ ६९ ॥ जिस के तीन वर्ष पूरे न हुवे हों, उस बालक की बान्धव उदकक्रिया न करें, अथवा जिस के दांत ही उत्पन्न हुवे हों वा नास-  
करण ही हुषा हो उस को दाहादि संस्कार करें तो अच्छा है (यह दूसरा प्रज्ञ है) ॥ ७० ॥

सब्रह्मचारिण्येकाहमतीते क्षपणं स्मृतम् ।

जन्मन्येकोदकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥ ७१ ॥

“स्त्रीणामसंस्कृतानां तु त्र्यहाच्छुद्ध्यन्ति बान्धवाः ।

यथोक्तेनैव कल्पेन शुद्ध्यन्ति तु सनाभयः ॥७२॥”

अर्थ-सहाध्यायी के सरने में एक दिन आशौच कहा है और समानो-  
दकों के पुत्रादि जन्मे तो तीन दिन में शुद्धि चाहि है ॥७१॥ “जिन स्त्रियों का संस्कार नहीं हुआ उन के सरने में उन के बान्धव और उन के सनाभि भी तीसरे दिन शुद्ध होते हैं” ॥ (७२ वें से आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है, जो कि ६७ वें के आगे दिखाये ३ अधिक श्लोकों में से तीसरे प्रक्षिप्त के सा आशय रखता है, परन्तु चतुर्थ पाद उस के ठीक विरुद्ध है:—

[ परपूर्वासु पुत्रेषु सूतके मृतकेषु च ।

मातामहे त्रिरात्रं स्यादेकाहं तु सपिण्डने ]

पूर्वली पराई स्त्रियों में, पुत्रों में, उन के जन्म तथा मृत्यु और नाना के मृतक में ३ दिन में शुद्धि होती है परन्तु सपिण्डों में १ रात्रि में ही ) ॥ ७२ ॥

“अक्षारलवणान्नाः स्युर्निमज्जेयुश्च ते त्रयहम् ।

मांसाशनं च नाश्नीयुः शयीरंश्च पृथक् क्षितौ ॥७३॥”

अर्थ-क्षार लवणरहित अन्न का भोजन करें और तीन दिन स्नान करें और मांस भक्षण न करें और भूमि पर अकेले सोवें । (७३ वें से अगला श्लोक



तो एक ही पुस्तक में मिलता है, सब में नहीं। परन्तु १२ वां और १३ वां भी प्रक्षिप्त जान पड़ता है। क्योंकि असंस्कृत स्त्रियों का आशौच जब पुरुषों के समान है तो पृथग्विधान व्यर्थ है। और जो लोग सगाई मात्र का अर्थ करते हैं सो धर्मशास्त्रों में सगाई कोई संस्कार १६ संस्कारों में से नहीं है। १३ वें में ३ दिन स्नानविधान कहना असंगत है क्योंकि आशौच १० दिन और स्नान ३ दिन कैसा? जब कि त्रिना सूतक मृतक भी नित्य शरीरशुद्धि कर्त्तव्य है ॥ मांस का निषेध भी व्यर्थ है, जब कि सब काल में ही मांस निषिद्ध है। ५१ वें श्लोक से यह प्रेतशुद्धि का वर्णन आरम्भ हुआ है, जिस के साथ ३ कहीं जन्मशुद्धि को भी कहते जाते हैं। यथार्थ में जन्म और मृत्यु दो संसार में बड़ी घटना हैं। इन से बढ़ कर कोई घटना नहीं। जिन में एक हर्ष और दूसरी शोक का कारण सर्वसाधारण के लिये होती है। जन्म समय १० मास का रुका मल जिस घर में निकलता है और वायु तथा अन्य घर के पदार्थों पर अपना प्रभाव डालता है, कुटुम्बी लोग तो हानि लाभ के साथी साक्षी हैं, उन्हें संसर्ग से बचना कठिन है, परन्तु अन्य वर्ण पास पड़ीसी आदि को स्वाभाविक रीति पर कुछ दिन अवश्य उस घर के पदार्थों से होती है। इस लिये अपवित्रता के परिमाण से न्यूनाधिक यथासंभव सूतक लगाया गया है। ऐसे ही सूतक भी। अग्नि सूर्य काल वायु आदि पदार्थ उस अशुद्धि को क्रम से घटाते हैं (देखो १०५) और लीपने पोतने धोने सांजने आदि से भी क्रमपूर्वक शुद्धि होती है। इस लिये जितना २ सम्बन्ध समीप है वा जितना २ जिस २ वर्ण आश्रम आदि के विचार से जिस को अधिक संसर्ग संभव देखा, उस २ को अधिक सूतक मृतक का आशौच विधान किया है। सूतक आशौच में मरने वाले की आयु की न्यूनाधिकता से बान्धवादि के संसर्ग में भी न्यूनाधिकता देख कर आशौच की न्यूनाधिकता कथन की गई है। एक बात अधिक विचारणीय है कि दो वर्ष से न्यून आयु वाले बच्चों का गाढ़ना क्यों कहा, जब कि दाहसंस्कार वेदोक्त है। इस में एक पक्ष यह भी १० वें श्लोक में किया है कि जिस का नामकरण हो गया वा जिस के दान्त निकल आये, उस के दाहादि संस्कार करने चाहियें ॥ यथार्थ में दाह करने का तात्पर्य यही है कि मरने वाले देही ने संसारयात्रा में मलसंसर्ग से शरीर पर बहुत बड़ी मलिनता संग्रह कर ली है। वह मलिनता अन्य जीवते प्राणियों की वायु में परिणत हो २ कर दीर्घ काल तक रोगादि का हेतु न हो। परन्तु संसार के सभी कार्य



आरम्भ काल में " नहीं " के समीप रहते हैं । ऐसे ही गर्भस्थिति से नामकरण तक उस मलिनता का संग्रह उस के शरीर में बहुत कम होता है । कहीं न कहीं मर्यादा रखनी ही पड़ती कि यहां से आगे दाहसंस्कार द्वारा निवारण करने योग्य मलिनता का आरम्भ है । इस से पूर्व सूक्ष्म रूप पृथिवीस्थ अग्नि ही उसे भस्म करने में समर्थ समझा गया । और जन्मते बच्चे को दाह विधान करते तब भी यह शङ्का रह ही जाती कि गर्भपात वा गर्भस्त्राव का दाह क्यों न करना चाहिये । इस से आगे वीर्यपात मात्र के दाह की भी आशङ्का होती । इस लिये शास्त्रकार ने दाह की योग्यता की अवधि नियत करके मर्यादा स्थापित करदी है । विशेष स्वयं बुद्धिमान् विचार सकते हैं । मृत्यु में शोक भी एक प्रकार की भीतरी मलिनता, आशौच का कारण है ॥ ७३ ॥

सन्निधावेष वै कल्पः शावाशौचस्य कीर्तितः ।

असन्निधावयं ज्ञेयो विधिःसंयन्धिवान्यवैः ॥ ७४ ॥

अर्थ-यह समीप रहने में मृतसम्बन्धी आशौच का विधान कहा और विदेश रहने में उस के सम्बन्धी बान्धव आगे कहे अनुसार आशौच विधान जानें ॥ ७४ ॥

विगतं तु विदेशस्थं शृणुयादोह्यनिर्दशम् ।

यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेत् ॥ ७५ ॥

अर्थ-विदेश में मरा हो और १० दिन पूरे न हुवे हों तो सुनने पर जितने दिन १० दिन में शेष हों उतने दिन आशौच रहे ॥

( ७५ वें के आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है :-

[ मासत्रये त्रिरात्रं स्यात्पणमासे पक्षिणी तथा ।

अहस्तु नवमादवागूर्ध्वं स्नानेन शुध्यति ॥ ]

तीन मास बीतने पर सुने ती ३ रात्रि तक आशौच और छः मास बीतने पर १॥ दिन और ९ वें मास के भीतर १ दिन तथा इस के पश्चात् स्नान मात्र से शुद्ध होता है ) ॥ ७५ ॥

अतिक्रान्ते दशाहे च त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ।

संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्ट्वैवापो विशुध्यति ॥ ७६ ॥



अर्थ-और दश दिन व्यतीत होने के अनन्तर सुने तो तीन दिन आशौच रहै, परन्तु एक वर्ष बीत गया हो तो स्नान करने से ही शुद्ध हो जाता है ॥७६॥

निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च। सवासा जलमाप्नुत्य शुद्धो भवति मानवः ॥७७॥ बाले देशान्तरस्थे च पृथक्पिण्डे च संस्थिते। सवासा जलमाप्नुत्य सदाएव विशुध्यति ॥७८॥

अर्थ-दश दिन होजाने पर ज्ञातिमरण या पुत्र का जन्म सुन कर मनुष्य सचैल स्नान करके शुद्ध होता है ॥७७॥ सगोत्र बालक देशान्तरस्थ तथा अस-पिण्ड का मरण (सुन के) सचैल स्नान करने से उसी समय शुद्ध हो जाता है ॥७८॥ अन्तर्दशाहे स्यातांचेतपुनर्मरणजन्मनी। तावत्स्यादशुचिर्विप्रो यावत्तत्स्यादनिर्दशम् ॥७९॥ त्रिरात्रमाहुराशौचमाचार्यसंस्थिते सति। तस्य पुत्रे च पत्न्यां च दिवारात्रमिति स्थितिः ॥८०॥

अर्थ-दशाह के बीच में यदि पुनः किसी के मरने वा उत्पन्न होने से आशौच होजावे तो विप्र तब तक शुद्ध न होगा जब तक कि उस के दश दिन पूरे न होजावें ॥७९॥ आचार्य के मरने में शिष्य को तीन दिन आशौच रहता है और आचार्य के लहके या स्त्री के मरने में एक दिन ॥ ८० ॥

श्रोत्रिये तूपसंपन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्। मातुले पक्षिणीं रात्रिं शिष्यत्विग्वान्धवेषु च ॥८१॥ प्रेते राजनि सज्योतिर्यस्य स्याद्विषये स्थितः। अश्रोत्रिये त्वहःकृत्स्नमनूचाने तथा गुरौ ॥८२॥

अर्थ-श्रोत्रिय के मरने में तीन दिन और मामा, शिष्य, ऋत्विक् और बान्धवों के मरने में डेढ़ दिन आशौच रहता है ॥ ८१ ॥ जो जिस के राज्य में रहता हो उस राजा के मरने में सूर्यास्त तक आशौच रहे और जो श्रोत्रिय न हो तो सारा दिन और जिसने पूर्ण वेदाध्ययन किया हो वा गुरु हो उस का भी ॥८२॥

शुध्येद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः।

वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुध्यति ॥ ८३ ॥

अर्थ-ब्राह्मण १० दिन में, क्षत्रिय १२ दिन में, वैश्य १५ दिन में और शूद्र एक मास में शुद्ध होता है ॥ ( ८३ से आगे दो पुस्तकों में पहले दो श्लोक और अन्य २ पुस्तकों में चार श्लोक, जो नीचे लिखे हैं, अधिक हैं:-



[ क्षत्रविट्शूद्रदायादाः स्युश्चेद्विप्रस्य बान्धवाः । तेषामशौचं विप्रस्य दशाहाच्छुद्धिरिष्यते ॥१॥ राजन्यवैश्ययोश्चैवं हीनयो-  
निषु बन्धुषु । स्वमेव शौचं कुर्वीत विशुद्ध्यर्थमिति स्थितिः ॥२॥  
विप्रः शुद्धयेदशाहेन जन्महानौ स्वयोनिषु । षड्भिस्त्रिभिर-  
ऽयैकेन क्षत्रविट्शूद्रयोनिषु ॥३॥ सर्वे चोत्तमवर्णास्तु शौचं कुर्यु-  
रतन्द्रिताः । तद्वर्णं विधित्प्रेन स्वं तु शौचं स्वयोनिषु ॥४॥ ]

हम ३ । १३ श्लोक को प्रक्षिप्त बताया है, जिस में ब्राह्मणादि को अपने से नीचे वर्णों की कन्या लेने का विधान है । यहां इन ४ श्लोकों में उन्हीं नीचे विवाह के सम्बन्धियों का मृतक आशौच बताया जाता है । परन्तु ये श्लोक केवल चार पुस्तकों में हैं, सब में नहीं । इस लिये यह तो स्पष्ट ही है कि ये प्रक्षिप्त हैं और यह भी निश्चय होता है कि ३ । १३ भी ठीक प्रक्षिप्त था । यदि मनुप्रोक्त होता तो यहां आशौच प्रकरण में उसका आशौच विधान भी सब पुस्तकों में होता ॥

अर्थ-यदि क्षत्रिय वैश्य शूद्र ब्राह्मण के दायाद बान्धव हों, तो उन के आशौच में ब्राह्मण की १० दिन में शुद्धि चाहि है ॥ १ ॥ इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य को भी अपने से हीन योनि सम्बन्धियों की मृत्यु में अपने वर्णानुसार शुद्धि के लिये शौच करना चाहिये । यह नियम है ॥ २ ॥ ब्राह्मण अपने वर्णस्थ सम्बन्धियों के जन्म वा मृत्यु में १० दिन में, क्षत्रियवर्णस्थ सम्बन्धियों के जन्म वा मृत्यु में ६ दिन में, वैश्यसम्बन्धियों के ३ दिन में और शूद्रसम्बन्धियों के जन्मादि में १ दिन में शुद्ध होता है ॥ ३ ॥ सब उत्तम वर्ण निरालस्य होकर उस २ वर्णस्थ सम्बन्धियों का उस २ वर्णानुसार और स्ववर्णस्थों का स्ववर्णानुसार आशौच मानें ॥ ४ ॥ ) ॥ ८३ ॥

न वर्धयेदघाहानि प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रियाः ।

न च तत्कर्म कुर्वाणः सनाभ्योऽप्यशुचिर्भवेत् ॥ ८४ ॥

अर्थ-मरणाऽशौच के दिन न बढ़ावे और अग्निहोत्रादि क्रिया का विघात न करे । उस कर्म के करते हुवे सनाभि भी अशुचि नहीं है ॥ ८४ ॥

दिवाकीर्तिमुदक्यांच पतितंसूतिकांतथा । शवं तत्स्पृष्टिनं चैव



स्पृष्टा स्नानेन शुद्ध्यति ॥ ८५ ॥ आचम्य प्रयतो नित्यं जपेदशु-  
चिदर्शने । सौरान्मन्त्रान्यथोत्साहं पावमानीश्रुशक्तितः ॥ ८६ ॥

अर्थ-चण्डाल, रजस्वला, पतित, प्रसूता, तथा शव और शव के स्पर्श करने  
वाले को छूने पर स्नान से शुद्ध होता है ॥ ८५ ॥ आचमन करके शुद्ध हुषा मनुष्य  
चण्डालादिके अशुचिदर्शन होने पर सौरमन्त्र (उदुत्यं जातवेदसम्, इत्यादि) और  
पवमान देवता वाले मन्त्रों को शक्ति और उत्साह के अनुसार जपे ॥ ८६ ॥

नारं स्पृष्ट्वा स्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुद्ध्यति । आचम्यैव तु  
निःस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा ॥ ८७ ॥ आदिष्टी नोदकंकुर्या  
दाव्रतस्य समापनात् । समाप्ते तूदकंकृत्वा त्रिरात्रेणैव शुद्ध्यति ॥ ८८ ॥

अर्थ-मनुष्य की स्नेहयुक्त अस्थि छूने से विप्र स्नान करके शुद्ध हो जाता  
है और जिस में चिकनाई न हो उस के स्पर्श करने से आचमन ही से वा  
गौ=भूमि के स्पर्श से या सूर्य के दर्शन से पवित्र होता है ॥ (यहां दो पुस्तकों  
में "गां स्पृष्ट्वा वीक्ष्य वा रविम्" पाठभेद है । और मेधातिथि आदि छहों  
भाष्यकार "आलभन" का अर्थ "स्पर्श" करते हैं ) ॥ ८७ ॥ ब्रह्मचारी व्रत  
की समाप्ति पर्यन्त प्रेतोदक न करे । समाप्ति के अनन्तर प्रेतोदक करे ही  
त्रिरात्र से ही शुद्ध हो जाता है ) ॥ ८८ ॥

वृथा संकरजातानां प्रव्रज्या सुचतिष्ठताम् । आत्मनस्त्यागिनां  
चैव निवर्ततोदकक्रिया ॥ ८९ ॥ पाषण्डमाश्रितानां च चरन्तीनां  
च कामतः । गर्भभर्तृद्रुहां चैव सुरापीनां च योषिताम् ॥ ९० ॥

अर्थ-वृथा वर्णसङ्करों, संन्यासियों और आत्मघातियों की उदकक्रिया  
आवश्यक नहीं ॥ ८९ ॥ पाषण्डियों, स्वैरिणियों और गर्भपात, पतिघात  
सुरापान करने वाली स्त्रियों की ( उदकक्रिया न करे ) ॥ ९० ॥

आचार्यं स्वमुपाध्यायं पितरं मातरं गुरुम् । निर्हृत्य तु व्रती  
प्रेतान्न व्रतेन वियुज्यते ॥ ९१ ॥ दक्षिणेन मृतं शूद्रं पुरद्वारेण  
निर्हरेत् । पश्चिमोत्तरपूर्वेस्तु यथायोगं द्विजन्मनः ॥ ९२ ॥

अर्थ-अपने आचार्य, उपाध्याय, पिता, माता तथा गुरु के प्रेतकृत्य करने से  
ब्रह्मचारी का व्रत भङ्ग नहीं होता ॥ ९१ ॥ शूद्र के मुर्दे नगर के दक्षिण द्वार से



और वैश्य के पश्चिम, क्षत्रिय के उत्तर और ब्राह्मण के पूर्व से निकाले ॥९२॥

नराज्ञामघदोषोऽस्ति व्रतिनानंचक्षत्रिणाम् । ऐन्द्रस्थानमुपा-

सीना ब्रह्मभूताहि ते सदा ॥९३॥ राज्ञोमाहात्मिके स्थाने सदाः

शौचं विधीयते । प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चात्र कारणम् ॥९४॥

अर्थ-राजा और ब्रह्मचारी वा चान्द्रायणादि व्रत करने वाले और यज्ञ करने वालों को आशौच नहीं लगता । क्योंकि ये इन्द्र के पद पर बैठे हुवे और सदा निष्पाप हैं ॥ (इन्द्र पद शुद्ध स्थान का नाम है, जैसा कि "इन्द्र शुद्धो न आगहि" इत्यादि । और "इन्द्र शुद्धो हि नो रयिम्" इत्यादि सामवेद उत्तरार्चिक १२।३।२।३ में लिखा है) ॥९३॥ साहात्मिक राजपद में स्थित राजा को उसी समय पवित्र कहा है (अर्थात् राज्य से भ्रष्ट क्षत्रियों को सदाः शुद्धि नहीं है) प्रजा की रक्षार्थ न्यायासन पर बैठना इस में कारण है ॥ ९४ ॥

डिम्बाहवहतानांच विद्युतापार्थिवेन च । गोब्राह्मणस्य चैवार्थे यस्य चेच्छतिपार्थिवः ॥९५॥ सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्यत्योर्यमस्य च । अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः ॥९६॥

अर्थ-विना शस्त्र की लड़ाई में और बिजली से तथा राजाज्ञा=फांसी से और गौ ब्राह्मण की रक्षा के लिये मरे हुवे का और जिस को राजा अपने कार्य के लिये चाहे उस का (तत्काल शौच कहा है) ॥९५॥ चन्द्र, अग्नि, सूर्य, वायु, इन्द्र, कुबेर, वरुण और यम, इन आठ लोकपालों का शरीर राजा धारण करता है (अर्थात् राजा में लोकपालनार्थ ये आठ गुण रहते हैं, जो दिव्य हैं) ॥९६॥

लोकेशाधिष्ठितो राजा नास्याशौचं विधीयते । शौचाशौचं हि मर्त्यानां लोकेशप्रभवाप्ययम् ॥९७॥ उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य च । सदाः संतिष्ठते यज्ञस्तथाशौचमिति स्थितिः ९८

अर्थ-इन्द्रादि ८ लोकपालों के स्थान पर रहता है इस लिये राजा को आशौच नहीं कहा । क्योंकि मनुष्यों का शौच और आशौच लोकपालों से उत्पन्न और नष्ट होता है ॥ ९७ ॥ संग्राम में उद्यत शस्त्रों से क्षत्रधर्म से (ढेला लकड़ी से नहीं किन्तु) सामने लड़ाई में मरे का यज्ञ उसी समय समाप्त होता है और शौच भी तत्काल हो जाता है ॥ ९८ ॥



विप्रः शुद्धप्रत्यपः स्पृष्ट्वा क्षत्रियोवाहनायुधम् । वैश्यः प्रतोदं  
रश्मीन्वा यष्टिं शूद्रः कृतक्रियः ॥९९॥ एतद्वाऽभिहितं शौचं सपि-  
ण्डेषु द्विजोत्तमाः । असपिण्डेषु सर्वेषु प्रेतशुद्धिं निबोधत ॥१००॥

अर्थ-प्रेतक्रिया करके ब्राह्मण जल को स्पर्श कर, क्षत्रिय शस्त्र और वाह-  
नादि को तथा वैश्य हांकने के दण्डे या लगाम को और शूद्र लाठी को छूके शुद्ध  
होता है ( अर्थात् आशौच समाप्ति के दिन इन २ को ये २ वस्तु छूनी चाहियें,  
यह रीति है ) ॥ ९९ ॥ हे द्विजश्रेष्ठो ! यह सपिण्डों में आशौच विधान तुम  
से कहा और असपिण्डों में प्रेतशुद्धि का विधान ( आगे ) सुनो ॥ १०० ॥

असपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो निर्हत्य बन्धुवत् । विशुद्धप्रतित्रिरात्रेण  
मातुराप्तांश्च बान्धवान् ॥१०१॥ यदन्नमत्ति तेषां तु दशाहेनैव  
शुध्यति । अनदन्नन्नमह्वैश्च न चेत्तस्मिन्गृहे वसेत् ॥ १०२ ॥

अर्थ-यदि ब्राह्मण असपिण्ड मृत द्विज का स्नेह से बन्धु के समान अन्त्ये-  
ष्ट्यादि कर्म करे और माता के सम्बन्ध वाले बान्धवों के दाहादि करे तो  
तीन दिन में शुद्ध होता है ॥ १०१ ॥ जो दाहादि करने वाला विप्र मृतक के  
सपिण्डों का अन्न खाता हो तो १० दिन में और जो उन का अन्न न खाता  
हो और उस घर में भी न रहता हो तो एक दिन में शुद्ध होजाता है ॥१०२॥

अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव चास्नात्वासचैलः स्पृष्ट्वाग्निं  
घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥१०३॥ न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु मृते शूद्रेण  
नाययेत् । अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंस्पर्शदूषिता ॥१०४॥

अर्थ-स्वजाति वा अन्य जाति के मृते के पीछे जान झूक कर जाने से सचैल  
स्नान, अग्निस्पर्श और घृत को खाकर शुद्ध होता है ॥ १०३ ॥ सजातियों  
के रहते हुये ब्राह्मण के मृते को शूद्र से दाहार्थ न लिवा जावे । क्योंकि शूद्र  
के स्पर्श से दूषित आहुति ( संसार को ) सुख देने वाली न होगी ॥ १०४ ॥

ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपाञ्जनमावायुः कर्मार्ककालौ  
च शुद्धेः कर्तृणि देहिनाम् ॥१०५॥ सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं  
परं रमृतम् । योऽर्थे शुचिर्हिस शुचिर्नमृद्वारिशुचिः शुचिः ॥१०६॥



अर्थ-मनुष्यों को ये ज्ञानादि शुद्ध करने वाले हैं-ज्ञान, तप, अग्नि, आहार, मृत्तिका, मन, पानी, लीपना, वायु, यज्ञादि, सूर्य और काल (इसी से आशौच और शौच के हेतु समझ लेने चाहियें) ॥१०५॥ इन सब शौचों में अर्थशौच (अन्याय करके दूसरे का धन न लेने की इच्छारूप शौच) सब से श्रेष्ठ कहा है। यदि अर्थ शौच नहीं तो मृत्तिकादि से कुछ शुद्धि नहीं होती, जो अर्थ में शुद्ध है वही शुद्ध है ॥ १०६ ॥

क्षान्त्याशुध्यन्तिविद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः। प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसावेदवित्तमाः ॥१०७॥ मृत्तोयैःशुध्यते शोध्यं नदी वेगेनशुध्यति। रजसास्त्रीमनोदुष्टा संन्यासेन द्विजोत्तमः ॥१०८॥

अर्थ-क्षमा से विद्वान् शुद्ध होते हैं। जो यज्ञादि क्रिया नहीं कर सकते वे दान से, गुप्त पाप वाले जप से और उत्तम वेद के जानने वाले तप से (शुद्ध होते हैं) ॥ १०७ ॥ मलयुक्त अशुद्ध वस्तु मृत्तिका और जल से शुद्ध होती है। नदी वेग से शुद्ध होती है। मन से दूषित स्त्री रजस्वला होनेपर और ब्राह्मण त्याग से (शुद्ध होता है) ॥ १०८ ॥

अद्विर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति। विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेनशुद्ध्यति ॥१०९॥ शौचस्य वः प्रोक्तः शारीर-स्यविनिर्णयः। नानाविधानां द्रव्याणां शुद्धेः शृणुत निर्णयम् ॥११०॥

अर्थ-पानी से शरीर शुद्ध होते हैं। मन सत्य बोलने से शुद्ध होता है। सूक्ष्म लिङ्ग शरीर से युक्त जीवात्मा विद्या और तप से (शुद्ध होता है) ज्ञान से बुद्धि शुद्ध होती है ॥ १०९ ॥ यह तुम से शरीरशुद्धि का निर्णय कहा। अब नानाप्रकार के द्रव्यों की शुद्धि का निर्णय सुनो ॥ ११० ॥

तैजसानां मणीनां च सर्वस्याश्ममयस्य च। भस्मनाद्विर्मृदा चैव शुद्धिरुक्तामनीषिभिः ॥१११॥ निर्लेपं काञ्चनं भाण्डमद्विरेव विशुद्ध्यति। अवजमश्ममयं चैव राजतं चानुपस्कृतम् ॥११२॥

अर्थ-सुवर्णादि और हीरा आदि मणियों और संपूर्ण पाषाणमय पदार्थों की राख मिट्टी और पानी से मनीषियों ने शुद्धि कही है ॥ १११ ॥ सौने का वर्तन जिसमें उच्छिष्ट न लगा हो और शङ्ख सीती आदि जलज और पत्थर के



वर्तन तथा चांदी के जिन पर नक्षत्र न हो वे केवल जल से शुद्ध होते हैं ॥ ११२ ॥

अपामग्नेश्चसंयोगाद्द्वैमंरौप्यंचनिर्वभौ । तस्मात्तयोःस्वयोन्यैव  
निर्णेको गुणवत्तरः ॥ ११३ ॥ ताम्रायःकांस्यरैत्यानां त्रपुणःसी-  
कसस्यच । शौचं यथार्हं कर्तव्यं क्षारास्त्रोदकवारिभिः ॥ ११४ ॥

अर्थ—जल और अग्नि के संयोग से चांदी सौना उत्पन्न हुआ है, इस लिये  
इन का शोधन अपनी योनि=पानी और अग्नि से ही बहुत उत्तम है ॥ ११३ ॥  
तांबा, लोहा, कांसी, पीतल, लाख और सीसे के वर्तनों को खार खट्टे पानी और  
केवल पानी से जिस में जो उचित हो उस से उस का शोधन करे ॥ ११४ ॥

द्रवाणांचैव सर्वेषां शुद्धिराप्लवनं स्मृतम् । प्रोक्षणं संहतानां च  
दारवाणां च तक्षणम् ॥ ११५ ॥ मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना  
यज्ञकर्मणि । चमसानां ग्रहाणां च शुद्धिःप्रक्षालनेन तु ॥ ११६ ॥

अर्थ—द्रवों को पिघला कर छान लेने से और जमे हुएों की प्रोक्षण से  
और लकड़ियों के वर्तनादि की छीलने से शुद्धि होती है ॥ ११५ ॥ परन्तु यज्ञ-  
कर्म में यज्ञपात्रों की हाथ से मार्जन द्वारा और चमसों तथा यज्ञों=संडसी  
वा चिमटों की धोने से शुद्धि होती है ॥ ११६ ॥

चरूणां सुवस्त्रवाणां च शुद्धिरुष्णेनवारिणा । स्फ्यशूर्पशकटानां  
च मुसलोलूखलस्य च ॥ ११७ ॥ अद्विस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धा-  
न्यवाससाम् । प्रक्षालनेन त्वल्पानामद्विःशौचं विधीयते ॥ ११८ ॥

अर्थ—यज्ञपात्र—चरु, सूत्र, सुव, स्फ्य, शूर्प, शकट, ओखली और मूसल  
की शुद्धि गरम पानी से होती है ॥ ११७ ॥ बहुत धान्यों और कपड़ों की  
शुद्धि पानी के प्रोक्षण से और ढोड़े हों तो धोने से कही है ॥ (इस से आगे  
दो पुस्तकों में एक श्लोक अधिक पाया जाता है:—

[ त्र्यहकृतशौचानां तु वायसी शुद्धिरिष्यते ।

पर्युक्षणाद्वपनाद्वा मलिनामतिधावनात् ॥ ]

३ दिन में जिन की शुद्धि कही है उन मृत बालकों के वस्त्र उन की  
आयु के अनुसार शुद्ध होते हैं—किन्हीं की छिड़कने, किन्हीं की धूप देने  
और किन्हीं मैले वस्त्रों की अत्यन्त धुलाने से शुद्ध जानो ॥ ११८ ॥



चैलवच्चर्मणां शुद्धिर्वैदलानां तथैव च । शाकमूलफलानां च  
 धान्यवच्चुद्धिरिष्यते ॥११९॥ कौशेयाविक्रयोरूपैः कुतपाना-  
 मरिष्टकैः । श्रीफलैरंशुपहानां क्षौमाणां गौरसर्षपैः ॥१२०॥

अर्थ-चमड़ों और चटाइयों की शुद्धि वस्त्रवत् होती है और शाक मूल फलों  
 की शुद्धि धान्य के समान चाही गई है ॥११९॥ रेशमी और ऊनी कपड़ों की (शुद्धि)  
 रेह वा सुनहरी मिट्टी से और नैपाल के कम्बलों की रीठों से तथा शणादि घास  
 के कपड़ों की बेल से और छालटी वस्त्रों की श्वेत सरसों से शुद्धि होती है ॥१२०॥

क्षौमवच्छुद्ध्यष्टङ्गाणामस्थिदन्तमयस्य च । शुद्धिर्विजानताकार्या  
 गोमूत्रेणोदकेन वा ॥१२१॥ प्रोक्षणात्तृणकाष्ठं च पलालं चैव  
 शुद्ध्यति । मार्जनोपाञ्जनैर्वैश्वं पुनःपाकेन मृण्मयम् ॥१२२॥

अर्थ-शङ्ख, शृङ्ग, हड्डी और दन्त के पात्रादि की शुद्धि शास्त्र का जानने  
 वाला पुरुष पानी या गोमूत्र से करे या जैसे छालटी की होती है ॥१२१॥  
 घास और फूस प्रोक्षण से और घर सार्जन तथा लीपने से और मिट्टी का  
 वर्तन पुनः आग में देने से शुद्ध होता है ॥१२२॥

मद्यैर्मूत्रैः पुरीषैर्वा ष्ठीवनैः पूयशोणितैः । संस्पृष्टं नैव शुद्ध्येत  
 पुनःपाकेन मृण्मयम् ॥१२३॥ संमार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोत्ते-  
 खनेन च । गवां च परिवासेन भूमिः शुद्ध्यति पञ्चभिः ॥१२४॥

अर्थ-परन्तु मदिरा, मूत्र, मल, मूक, रास और रक्त से दूषित हुवा मृत्तिका  
 का पात्र पुनः अग्नि में पकाने से भी शुद्ध नहीं होता ॥१२३॥ सार्जन, लीपने,  
 छिड़कने, छीलने और गौ के वास करने; इन पांचों से भूमि शुद्ध होती है ॥१२४॥

पक्षिजग्धं गवा घ्रातमवधूतमवक्षुतम् । दूषितं केशकीटैश्च  
 मृत्प्रक्षेपेण शुद्ध्यति ॥१२५॥ यावन्नापैत्यमेध्याक्ताद्गन्धो लेपश्च  
 तत्कृतः । तावन्मृद्धारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु ॥१२६॥

अर्थ-पक्षी ने खाया हो और गाय ने सूँचा हो वा पैर से कुचला हो  
 तथा जिसके ऊपर छींक दिया हो और जो कीड़ों तथा केशों से दूषित हुवा  
 हो वह (स्थान) मृत्तिका डालने से शुद्ध होता है ॥१२५॥ अमेध्य (विषादि)



के लेप से समस्त द्रव्यशुद्धियों में जब तक उस का गन्ध और लेप रहे तब तक पानी और मिट्टी से उस को धोवे ॥ १२६ ॥

त्रोणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन् । अदृष्टमद्विनि-  
र्णितं यच्च वाचा प्रशस्यते ॥ १२७ ॥ आपः शुद्धाभूमिगता वैतरण्यं  
यासु गोर्भवेत् । अव्याप्ताश्चेदमेध्येन गन्धवर्णरसान्विताः ॥ १२८ ॥

अर्थ—देवतों ने ब्राह्मणों के तीन पदार्थ पवित्र कहे हैं । एक अदृष्ट, दूसरा जो पानी से धोलिया हो, तीसरे ( ब्राह्मण की ) घाणी से जो प्रशंसित हो ॥ १२७ ॥ जिस पानी में गाय की प्यास निवृत्त हो सके और अमेध्ययुक्त न हो तथा गन्ध वर्ण रस से ठीक हो, ऐसा पानी भूमि में शुद्ध है ॥ १२८ ॥

नित्यं शुद्धः कारुहस्तः पण्ये यच्च प्रसारितम् ।

ब्रह्मचारिगतं भैक्षं नित्यं मेध्यमिति स्थितिः ॥ १२९ ॥

“ नित्यमास्यं शुचि स्त्रीणां शकुनिः फलपातने ।

प्रस्रवे च शुचिर्वत्सः श्वा मृगग्रहणे शुचिः ॥ १३० ॥ ”

अर्थ—कारीगरों का हाथ और दुकान में बेचने को जो रक्खा है वह और ब्रह्मचारी की भिक्षा; ये सर्वदा पवित्र हैं । यह शास्त्र की सर्वादा है ॥ १२९ ॥  
“ स्त्रियों का मुख सर्वदा पवित्र माना जाता है तथा पक्षी फल गिराने में और बछड़े का मुख दोहन के समय और कुत्ते का मुंह शिकार पकड़ने के समय पवित्र माना जाता है ” ( यह कानी, स्वार्थी और मांसभक्षियों का प्रक्षेप धर्मशास्त्र से विरुद्ध त्याज्य है ) ॥ १३० ॥

“ श्वभिर्हतस्य यन्मांसं शुचि तन्मनुरब्रवीत् ।

क्रव्याद्विश्व हतस्यान्यैश्चण्डालाद्यैश्च दस्युभिः ॥ १३१ ॥ ”

अर्थ—“कुत्तों से मारे हुए का जो मांस है वह पवित्र है । ऐसा मनु ने कहा है और दूसरे व्याघ्र चील आदि, चण्डाल आदि वा दस्युओं के मारे का मांस भी पवित्र है” । (यह भी पूर्व श्लोक के समान प्रक्षिप्त है । “मनुरब्रवीत्” से भी यही कृतकता है ) ॥ १३१ ॥ के आगे ४ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है और इस पर अन्तिम भाष्यकार रामचन्द्र का भाष्य है । अन्यो का नहीं:—



✓ [ शुचिरग्निः शुचिर्वायुः प्रवृत्तोहि वहिश्चरः ।

जलं शुचि विविक्तस्थं पन्थाः संचरणे शुचिः ॥ ]

अग्नि शुद्ध है और वायु बाहर बहता हुआ शुद्ध है । एकान्त देश का जल और चलते हुये मार्ग शुद्ध है ॥ १११ ॥

✓ ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः ।

यान्यधस्तान्यमेध्यानि देहाच्चैव मलाश्च्युताः ॥११२॥

अर्थ-नाभि के ऊपर जो वन्धियां हैं वे पवित्र और जो नाभि से नीचे हैं वे अपवित्र हैं और देह से निकले मल अशुद्ध हैं ॥ ११२ ॥

✓ मक्षिका विप्रुषश्छाया गौरश्चः सूर्यरश्मयः । रजोभूर्वायुरग्निश्च स्पर्शं मेध्यानि निर्दिशेत् ॥११३॥ विण्मूत्रोत्सर्गशुद्धयर्थं मृदा-  
र्थादेयमर्थवत् । दैहिकानां मलानां च शुद्धिषु द्वादशस्वपि ॥११४॥

अर्थ-मक्षिका और उड़ते हुये छोटे जलबिन्दु और छाया, गाय, घोड़ा, सूर्य की किरण, धूलि, मूत्रि, पवन और अग्नि; इन सब को स्पर्श में पवित्र समझे ॥११३॥ मलमूत्र के त्याग और देह के बारहों मलों की शुद्धि के लिये उतनी सृष्टिका और जल छेवे जितने से दुर्गन्धादि मिटसके ॥ ११४ ॥

✓ वसाशुक्रममृद्मज्जामूत्रविट्प्राणकर्णविट् । श्लेष्माश्रुदूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः ॥११५॥ एका लिङ्गे गुदे तिस्रस्तथैकत्र करे दश । उभयोः सप्त दातव्या मृदः शुद्धिमभीप्सता ॥११६॥

अर्थ-चरबी=वसा, घीर्य, रक्त, मज्जा, मूत्र, विट्, नाक का मेल, कान का मेल, कफ, आंसू, आंख की कीचड़ और पसीना; ये मनुष्यों के १२ मल हैं ॥११५॥ शुद्धि को चाहने वाला मूत्र की जगह एक बार, गुदा में तीन बार, घायें हाथ में दश बार तथा दोनों हाथों में सात बार मिट्टी लगावे ( दो पुस्तकों में- " तथा वामकरे दश " पाठ है ) ॥ ११६ ॥

✓ एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् । त्रिगुणं स्याद्वनस्था-  
नां यतीनां तु चतुर्गुणम् ॥११७॥ कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा खान्याचा-  
न्त उपस्पृशेत् । वेदमध्येष्यमाणश्च अन्नमश्नश्च सर्वदा ॥ ११८ ॥



अर्थ—यह शुद्धि गृहस्थों की है। ब्रह्मचारियों की इस से दूनी और वानप्रस्थों की त्रिगुनी तथा यतियों की चौगुनी है ॥१३७॥ मल मूत्र करने के पश्चात् शुद्ध होकर आचमन करे और चक्षुरादि का जल से स्पर्श करे। वेद पढ़ने के पूर्व समय तथा भोजन के समय सदा आचमन करे ॥ १३८ ॥

त्रिराचामेदपःपूर्वेद्विःप्रमृज्यात्ततोमुखम्। शारीरं शौचमिच्छन् हि स्त्रीशूद्रस्तु सकृत् सकृत् ॥१३९॥ शूद्राणां मासिकं कार्यं वपनं न्यायवर्तिनाम्। वैश्यवच्छौचकल्पश्च द्विजोच्छिष्टं च भोजनम् ॥१४०॥

अर्थ—शरीर के पवित्र करने की इच्छावाला भोजनोत्तर तीन बार आचमन करे, फिर दो बार मुख धोवे और शूद्र तथा स्त्री एक बार ॥१३९॥ न्याय पर चलने वाले शूद्रों का मुण्डन सहीने भर में कराना और सूतकादि में वैश्य के तुल्य शौचविधि तथा द्विजों के भोजन से शेष भोजन है ॥ १४० ॥

नोच्छिष्टं कुर्वते मुख्या विप्रोऽङ्गे पतन्ति याः।

न श्मश्रूणि गतान्यास्यान् दन्तान्तरधिष्ठितम् ॥ १४१ ॥

अर्थ—मुख से निकले जो धूक के छींटे शरीर पर गिरते हैं वे और मुख में गई हुई मूँछें और दांत के भीतर रहने वाला अन्न झूटा नहीं कहाता ॥ १४१ ॥ ( इस से आगे एक पुस्तक में दो श्लोक अधिक हैं:—

[ अजाश्वं मुखतो मेध्यां गावो मेध्याश्च पृष्ठतः।

ब्राह्मणाः पादतो मेध्याः स्त्रियो मेध्याश्च सर्वतः ॥

गौरमेध्या मुखे प्रोक्ता अजा मेध्या ततः स्मृता।

गोः पुरीषं च मूत्रं च मेध्यमित्यब्रवीन्मनुः ॥ ]

बकरी, घोड़े मुख से पवित्र हैं। गौ पीठ से पवित्र है। ब्राह्मण पांव से पवित्र हैं और स्त्रियां सब ओर से पवित्र है ॥ गौ का मुख अपवित्र है, परन्तु बकरी का मुख पवित्र है और गौ का गोबर पवित्र है। यह मनु ने कहा है ) ॥

स्पृशन्ति बिन्दवः पादौ यआचामयतः परान्।

भौमिकैस्ते समा ज्ञेया न तैरप्रयतो भवेत् ॥ १४२ ॥



अर्थ-दूसरे के आचमन को जल देने वाले के पैरों पर जो विन्दु (भूमि से छूट कर) पड़ते हैं उन को भूमि के जलविन्दु समान जाने । उन से अशुद्ध नहीं होता ॥१४२॥ ( इस से आगे भी एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:-

[ दन्तवदन्तलग्नेषु जिह्वास्पर्शेषु चेन्न तु ।

परिच्युतेषु तत्स्थानान्निगिरन्नेव तच्छुचिः ]

दान्तों में घुसा अन्न दान्तों के तुल्य शुद्ध है, परन्तु जीभ से न लगता हो और वह अन्न दान्तों से छूटने पर निगलने में ही शुद्ध है ) ॥

उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथञ्चन । अनिधायैव तद्द्रव्य-  
माचान्तःशुचितामियात् ॥१४३॥ वान्तो विरक्तः स्नात्वा तु घृतप्रा-  
शनमाचरेत् । आचामेदेव भुक्त्वान्नं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ॥१४४॥

अर्थ-उच्छिष्ट पुरुष से कोई द्रव्य हस्त में लिये हुबे छू गया हो तो उस द्रव्य को जलग किये बिना ही आचमन करके शुद्ध हो जाता है ॥ १४३ ॥ वसन तथा दस्त जिसे हुबा हो वह स्नान करके ( षोड़ा ) घृत खावे और भोजन करके वसन किया हो तो आचमन करके ही और मैथुन वाला स्नान से ( शुद्ध होता है ॥ १४४ ॥ वें से आगे ४ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है:-

[ अनृतौ तु मृदा शौचं कार्यं मूत्रपुरीषवत् ।

ऋतौ तु गर्भशङ्कित्वात्स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ]

ऋतु से भिन्न काल में मैथुन करने वाले को मिट्टी से शौच करना चाहिये, जैसे मल मूत्र करने से आकर करते हैं, परन्तु ऋतु में गर्भ की शङ्कायुक्त होने से स्नान करना कहा है ) ॥ १४४ ॥

सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च निष्ठीव्योक्तानृतानि च । पीत्वा पोऽप्ये-  
ष्यमाणश्च आचामेत्प्रयतोऽपिसन् ॥१४५॥ एष शौचविधिः कृत्स्नो  
द्रव्यशुद्धिस्तथैव च । उक्तो वः सर्ववर्णानां स्त्रीणां धर्मान्निबोधत ॥१४६॥

अर्थ-सोकर, छींक कर, भोजन करके, थूक कर, ( मूल से ) झूठ बोल कर और पानी पीकर और पढ़ने के पूर्व समय में शुद्ध हुआ भी आचमन करे ॥ १४५ ॥ यह संपूर्ण शौचविधि और सब कर्मों की द्रव्यशुद्धि तुम से कही । अब स्त्रियों के धर्म सुनो- ॥ १४६ ॥



बालयावायुवत्या वा वृद्धयावापियोषिता। न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं  
किञ्चित्कार्यं गृहेऽपि ॥ १४७ ॥ बाल्येऽपितुर्वशेतिष्ठेत्पाणिग्रा-  
हस्य यौवने । पुत्राणां भर्तारि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥ १४८ ॥

अर्थ-बालक या वृद्ध या युवति भी स्त्री स्वतन्त्रता से कोई काम घरों  
में भी न करे ॥ १४७ ॥ बाल्य अवस्था में पिता के, यौवन में पति के और  
पति मरने पर पुत्रों के अधीन रहे । स्त्री कभी स्वतन्त्र न रहे । ( कहीं २  
" पितुर्गृहे " पाठ है ) ॥ १४८ ॥

पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि नेच्छेद्विरहमात्मनः । एषां हि विरहेण स्त्री  
गर्ह्य कुर्यादुभे कुले ॥ १४९ ॥ सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु  
दक्षया । सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ १५० ॥

अर्थ-पिता, भर्ता, पुत्र, इन से अलग होना न चाहे क्योंकि इन से अलग  
होने से स्त्री दोनों कुलों को निन्दित करती है ॥ १४९ ॥ सर्वदा प्रसन्नचित्त और  
घर के कामों में चतुर तथा घर के वर्तन भाँडे ठीक करके रखे और व्यय  
करने में स्त्री सर्वदा हाथ सकोड़े रहे ॥ १५० ॥

यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता चानुमते पितुः । तं शुश्रूषेत जीवन्तं  
संस्थितं च न लङ्घयेत् ॥ १५१ ॥ मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासां  
प्रजापतेः । प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम् ॥ १५२ ॥

अर्थ-पिता या पिता की अनुमति से भाई जिस ( स्वयंवृत पति ) को  
इसे देवे उस की जीवते की सेवा करे और मरने पर वयभिचारादि न करे ॥ १५१ ॥  
इन का जो स्वस्त्ययन और प्राजापत्य होम विवाह में किया जाता है वह  
मङ्गलार्थ है, कन्यादान ( पति के ) स्वामी होने का कारण है ॥ १५२ ॥

अनृतावृतुकाले च मन्त्रसंस्कारकृत्पतिः । सुखस्य नित्यं दातेह  
परलोके च योषितः ॥ १५३ ॥ विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परि-  
वर्जितः । उपचर्यः स्त्रिया साधव्या सततं देववत्पतिः ॥ १५४ ॥

अर्थ-मन्त्र संस्कार (विवाह) करने वाला पति ऋतु और अनृतु में सदा  
सुख देने वाला है, उस की सेवा से यहां और परलोक में भी सुख प्राप्त होता



है ॥ १५३ ॥ पति शील-रहित कानी तथा विद्यादि गुणों से रहित भी हो तथापि अच्छी स्त्री को देववत् आराधन योग्य है ॥

( १५४ के आगे भी ३ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है:-

[ दानप्रभृति या तु श्यायावदायुः पतिव्रता ।

भर्तृलोकं न त्यजति यथैवारुन्धती तथा ॥ ]

जो स्त्री पिता आदि ने जब कन्यादान किया उस समय से सारी आयु पतिव्रता रहती है वह अरुन्धती ( तारे ) के समान भर्तृलोक को नहीं त्यागती ) ॥

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम् ।

पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गं महीयते ॥ १५५ ॥

अर्थ-स्त्रियों का अलग कोई यज्ञ नहीं है, न व्रत, न उपवास, केवल एक पति की शुश्रूषा से स्वर्ग में पूज्या होजाती है ॥ ( इस के आगे का एक श्लोक ३ पुस्तकों में मिलता है:-

[ पत्यौ जीवति या तु स्त्री उपवासं व्रतं चरेत् ।

आयुष्यं बाधते भर्तुर्नरकं चैव गच्छति ॥ ]

जो स्त्री पति के जीवते भूखी रहने वाला व्रत करती है, वह पति की आयु को बाधा पहुंचाती और नरक को जाती है ) ॥ १५५ ॥

पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा ।

पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेतिकज्जिदप्रियम् ॥ १५६ ॥

अर्थ-पतिलोक की इच्छा करने वाली स्त्री जीवित वा मृत पति को अप्रिय कोई कर्म न करे ॥ १५६ ॥

कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः । नतुनामापि गृह्णीयात्  
पत्योप्रेते परस्य तु ॥ १५७ ॥ आसीतामरणात्क्षान्ता नियताब्रह्म-  
चारिणी । यो धर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तममम् ॥ १५८ ॥

अर्थ-चाहे तौ स्त्री पवित्र पुष्प, मूल, फलों से देह को कश करदे, परन्तु पति के मरने पर परपुरुष का ( व्यभिचार की इच्छा से ) नाम भी न लेवे ॥ १५७ ॥



( चाहे तो ) क्षमायुक्त, नियम वाली और पवित्र एकपतिधर्म की इच्छा करने वाली और मैथुन की इच्छा न करती हुई मरणपर्यन्त रहे ॥ १५८ ॥

अनेकानिसहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम्। दिवंगतानि विप्राणा मकृत्वा कुलसंततिम् ॥ १५९ ॥ मृते भर्तारि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता । स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥ १६० ॥

अर्थ—कुमार ब्रह्मचारी ब्राह्मणों के कई हजार समुदाय बिना पुत्रोत्पादन किये स्वर्ग को गये ॥ १५९ ॥ इसी प्रकार साध्वी स्त्री पति के मरने पर ब्रह्मचर्य में रहे तो अपुत्रा भी स्वर्ग को जाती है, जैसे वे ब्रह्मचारी ॥ १६० ॥

अपत्यलोभादा तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते । सहनिन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते ॥ १६१ ॥ नान्योत्पन्ना प्रजास्तीह न चाप्यन्य-परिग्रहे । न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्वर्तोपदिश्यते ॥ १६२ ॥

अर्थ—पुत्र के लोभ से जो स्त्री परपुरुष से सम्बन्ध करती है, वह यहां निन्दा को पाती है और पतिलोक से भी वञ्चित रहती है ( मेधातिथि ने “परलोकात्” पाठ माना है ) ॥ १६१ ॥ दूसरे पुरुष से ( व्यभिचार की ) उत्पन्न हुई सन्तान-शास्त्र से उसकी नहीं है और न दूसरी स्त्री में उत्पन्न करने वाले की है और न कहीं साध्वी स्त्रियों का दूसरा ( विवाहित ) पति कहा है ॥ १६२ ॥

पतिं हित्वा पकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते । निन्द्यैव सा भवेत्लोके परपूर्वति चोच्यते ॥ १६३ ॥ व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम् । शृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगेऽपि पीड्यते ॥ १६४ ॥

अर्थ—जो अपने न्यूनगुण पति को छोड़कर श्रेष्ठ का सेवन करती है वह लोगों में निन्दनीया होती है और उसको ‘दो पति की स्त्री है’ ऐसा कहते हैं ॥ १६३ ॥ परपुरुष के भोग से स्त्री, लोगों में निन्दा और मरने पर स्यार की योनि को प्राप्त होती है और कुष्ठादि पापरोगों से पीड़ित होती है ॥ १६४ ॥

पतियानाभिचरति मनोवाग्देहसंयता । सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥ १६५ ॥ अनेन नारीवृत्तेन मनोवाग्देह-संयता । इहाग्र्यां कीर्तिमाप्नोति पतिलोकं परत्र च ॥ १६६ ॥



अर्थ-मन वाणी देह से जो पति को दुःखित नहीं करती, वह पतिलोक को प्राप्त होती है और अच्छे पुरुष उस को साध्वी कहते हैं ॥ १६५ ॥ इस धर्म से मन वाणी और देह का संयम करने वाली स्त्री यहां श्रेष्ठ कीर्ति और परलोक में पतिलोक को प्राप्त होती है ॥ १६६ ॥

एवंवृत्तांसवर्णा स्त्रीं द्विजातिःपूर्वमारिणीम् । दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मवित् ॥ १६७ ॥ भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्वाग्नीनन्त्यकर्मणि । पुनर्दारक्रियां कुर्यात्पुनराधानमेव च ॥ १६८ ॥

अर्थ-ऐसी सवर्णा स्त्री (पति से) पूर्व मर जावे तो धर्मज्ञ द्विज उसे स्मार्त्ताग्नि और यज्ञपात्रों के सहित दाह देवे ॥ १६७ ॥ पूर्व मरी स्त्री को अन्त्येष्टि में अग्नि देकर गृहस्थाश्रम के निमित्त पुनः विवाह करे तो फिर अग्निहोत्र लेवे ॥ १६८ ॥

अनेन विधिना नित्यं पञ्चमज्ञान्न हापयेत् ।

द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ १६९ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे ( भृगुप्रोक्तायां संहितायां )

पञ्चमीध्यायः ॥ ५ ॥

अर्थ- इस विधि से विवाह करने वाला पुरुष आयु का दूसरा भाग गृहस्थाश्रम में व्यतीत करे और पञ्चमहायज्ञों का त्याग न करे ॥

( यद्यपि पुरुषों के साथ ही स्त्रियों का भी सामान्य धर्म कहा गया सम्भ्रान्ता चाहिये परन्तु १४७ से अध्यायसमाप्ति तक स्त्री का जो विशेष धर्म है उस का वर्णन है । इस में १४७ । १४८ वें श्लोकों का तात्पर्य नवमाध्याय में भी आवेगा, इस लिये पुनरुक्त से हैं । १५४ वें में पुरुष का अनुचित ( हिमायत ) पक्षपात है । १५७ से १६१ तक स्त्री को विधवा होने पर ब्रह्मचर्य से रहने की उत्तमता का वर्णन है । नियोगादि करना उस से घटिया पक्ष है । १६३ । १६४ में जो परपुरुषसङ्ग की निन्दा है, वह व्यभिचार की निन्दा है । जिस से पाप-रोग उपदंशादि प्रत्यक्ष होते देखे जाते हैं । १६२ में अन्य से उत्पन्न सन्तान की सन्तान न मानना व्यभिचार की सन्तान के विषय में है । नियमपूर्वक विधिवत् नियुक्तों की सन्तति तो सन्तति ही है । १६८ में स्त्री मरने पर पुन-



विवाह का विधान आवश्यक नहीं है किन्तु उस का भाव यह है कि यदि पुरुष अक्षयवीर्य होने से पुनर्विवाह का अधिकारी हो और विवाह करना चाहे तो कर सकता है परन्तु फिर से अग्निहोत्र लेना होगा ॥ इस में ऊपर लिखे अनुसार दो श्लोक इस प्रकरण में ऐसे भी हैं जो सब पुस्तकों में नहीं पाये जाते और यह भी संशय है कि पुनरुक्तादि उक्त दोषों वाले श्लोक भी स्त्रियों की अत्यन्त परतन्त्रता के पक्षपाती लोगों ने कदाचित् बढ़ाये हों क्योंकि १५९ । १६० श्लोकों में तो बहुत ही नवीनता झलकती है ) ॥ १६९ ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे

पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥



ओ३म्

## अथ षष्ठोऽध्यायः

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः ।

वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥ १ ॥

अर्थ-स्नातक द्विज ऐसे यथाविधि गृहस्थाश्रम में रह कर नियमपूर्वक जितेन्द्रियता से वन में निवास करे ॥ ( एक पुस्तक और रामचन्द्र की टीका में इस से आगे यह श्लोक अधिक है:-

[ अतः परं प्रवक्ष्यामि धर्मं वैखानसाश्रमम् ।

वन्यमूलफलानां च विधिं ग्रहणमोक्षणे ]

इस से आगे धानप्रस्थाश्रमी का धर्म और वन के मूल तथा फलों के लेने और त्यागने का विधान कहूंगा ) ॥ १ ॥

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ।

अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ २ ॥

अर्थ-गृहस्थ जब अपने देह की त्वचा को ढीली, शिर के बाल श्वेत और सन्तान की भी सन्तान को देख ले तब वन का आश्रय करे ॥ २ ॥

संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वंचैव परिच्छदम् । पुत्रेषु भार्यानिक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥ ३ ॥ अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्नि-परिच्छदम् । ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥ ४ ॥

अर्थ-ग्राम का भोजन ( दाल चावल पकानादि ) और गाय घोड़ा शय्या इत्यादि को त्याग, स्त्री को पुत्रों के पास छोड़ या साथ लेकर ही वन को गमन करे ॥ ३ ॥ अग्निहोत्र और उस के पात्र स्तुव इत्यादि का ग्रहण कर ग्राम से निकल कर इन्द्रियों को स्वाधीन करता हुआ वन में निवास करे ॥ ४ ॥

मुन्यन्नैर्विविधैर्मध्यैः शाकमूलफलेन वा । एतानेव महायज्ञान् निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥ ५ ॥ वसीत चर्म चीरं वा सायं स्नायात् प्रगे तथा । जटाश्च बिभृयान्नित्यं शमश्रुलोमनखानि च ॥ ६ ॥



अर्थ-नाना प्रकार के मुनियों के पवित्र अन्न वा शाक मूल फलों से ही ये महायज्ञ करे ॥ ५ ॥ भृगों का चर्म या वृक्षों के वल्कलों को पहिने । प्रातः सायं दोनों समय स्नान करे । जटा और श्रमश्रु तथा नख और रीम सर्वदा धारण करे ॥ ६ ॥

यद्वक्षं स्यात्ततोदद्याद् बलिं भिक्षां च शक्तितः । अम्मूलफल-  
भिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान् ॥ ७ ॥ स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्या-  
द्दान्तोमैत्रः समाहितः । दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुक्रमकः

अर्थ-( अपने ) भोजन में से यथाशक्ति बलि और भिक्षा देवे और आश्रम में आये हुओं का जल, मूल और फल की भिक्षा से सत्कार करे ॥ ७ ॥ प्रतिदिन वेदाध्ययन करे, इन्द्रियों का दमन और सब का उपकार करने वाला तथा मन को स्वाधीन रखने वाला हो और नित्य देता रहे, लेवे नहीं । सम्पूर्ण जीवों पर दया करने वाला हो ॥ ८ ॥

वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि । दर्शमस्कन्दयन्पर्व  
पौर्णमासं च योगतः ॥ ९ ॥ ऋक्षेष्टयाग्रायणं चैव चातुर्मास्यानि  
चाहरेत् । उत्तरायणं च क्रमशो दक्षस्यायनमेव च ॥ १० ॥

अर्थ-( गार्हपत्य कुण्ड में की अग्नि को आहवनीय दक्षिणाग्नि में मिलाने का नाम वितान है ) उस में वैतानिक अग्निहोत्र यथाविधि करे और समय पर दर्श पौर्णमास इष्टियों को न छूटने दे ॥ ९ ॥ ऋक्षेष्टि और आग्रायणेष्टि तथा चातुर्मास्य और उत्तरायण दक्षिणायन में भी विहित ( श्रौतकर्म ) करे ( मेधातिथि ने-दर्शेष्टयाग्रहणम् । पाठ माना है । तथा दो पुस्तकों में दक्षिणायनमेव च और १ पुस्तकों में दक्षस्यायनमेव च । पाठ है ) ॥ १० ॥

वासन्तशारदैर्मध्यैर्मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः । पुरोडाशांश्चरुंश्चैव  
विधिवन्निर्वपेत्पृथक् ॥ ११ ॥ देवताभ्यस्तु तद्गधुत्वा वन्यं मेध्य-  
तरं हविः । शेषमात्मनि युज्जीत लवणं च स्वयंकृतम् ॥ १२ ॥

अर्थ-अपने हाथ से लाये हुवे वसन्त और शरद् में उत्पन्न हुए पवित्र मुनियों के अन्नों से पुरोडाश और चरु बनाकर विधिवत् होम करे ॥ ११ ॥ वन का उत्पन्न हुआ अति पवित्र हवि होम करने से शेष अपना बनाया अन्न लवण मिला कर भोजन करे ॥ १२ ॥



स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि चामेध्यवृक्षोद्भवान्यदा-  
 तस्नेहांश्च फलसंभवान् ॥ १३ ॥ वर्जयेन्मधु मांसं च भौमानि  
 कवकानि च। भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च ॥ १४ ॥

अर्थ-भूमि वा जल में उत्पन्न हुवे शाकों और पवित्र वृक्षों के पुष्प  
 मूल फलों तथा फलों से उत्पन्न स्नेहों=तैलों का भोजन करे ॥ १३ ॥ मद्य मांस  
 और भूमि के कुकुरमुत्तों और भूतृण ( मालवा में प्रसिद्ध है ) तथा सहोंजना  
 और श्लेष्मातकफल=लिसौड़ों को न खावे ॥ १४ ॥

त्यजेदाश्वयुजे मांसि मुन्यन्नं पूर्वसंचितम्। जीर्णानि चैव वासांसि  
 शाकमूलफलानि च ॥ १५ ॥ न फालकृष्टमश्लीयादुत्सृष्टमपि  
 केनचित्। न ग्रामजातान्यार्तीऽपि मूलानि च फलानि च ॥ १६ ॥

अर्थ-आश्विन के महीने में संचय किया हुआ पहिला मुन्यन्न और पुराने  
 कपड़े तथा बासी शाक मूल फल त्याग देवे ॥ १५ ॥ खेतों के धान्यादि का  
 चाहे किसी ने छोड़ भी दिये हों, न भोजन करे और ग्राम में होने वाले  
 मूल और फल पीड़ित हुआ भी न खावे ॥ १६ ॥

अग्निपक्वाशनोवा स्यात्कालपक्वभुगेव वा। अश्मकुटोभवेद्वापि  
 दन्तोलूखलिकोऽपि वा ॥ १७ ॥ सदाः प्रक्षालकोवा स्यान्माससं-  
 चयिकोऽपि वा। षण्मासनिचयोवा स्यात्समानिचयएव वा ॥ १८ ॥

अर्थ-अग्नि का पका या समय से पके हुए फल ही या पत्थरों से कूटा  
 हुआ या दांतों ही से चबाया हुआ खावे ॥ १७ ॥ एक वार के भोजन मात्र का  
 संचय करने वाला वा महीने भर का, वा छः महीने का, वा वर्ष दिन के  
 निर्वाहयोग्य का संचय करने वाला हो ॥ १८ ॥

नक्तवान्नं समश्लीयाद्विवावाहृत्यशक्तितः। चतुर्थकालिकोवा स्यात्  
 स्याद्वाप्यष्टमकालिकः ॥ १९ ॥ चान्द्रायणविधानैर्वा शुक्लकृष्णे  
 च वर्तयेत्। पक्षान्तयोर्वाप्यश्लीयादवागूं कथितां सकृत् ॥ २० ॥

अर्थ-अपने सामर्थ्य के अनुसार रात्रि में वा दिन में अन्न लाकर एक वार  
 खावे वा एक दिन उपवास करके दूसरे दिन सायंकाल को भोजन करे वा तीन



दिनरात्रि उपवास करके चौथे दिन की रात्रि को भोजन करे ॥१९॥ वा चान्द्रायण के विधान से शुक्ल कृष्ण पक्ष में ग्रास घटावे बढ़ावे वा पौर्णमासी अमावस्या में पकी यवागू ( लपसी ) का एक बार भोजन करे ॥

( २० वें से आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक मिलता है:-

[ यतः पत्रं समादद्यान्न ततः पुष्पमाहरेत् ।

यतः पुष्पं समादद्यान्न ततः फलमाहरेत् ॥ ]

जिस(वृक्ष)से पत्ते ले, उस से फूल न ले, जिस से फूल ले उस से फल न ले ) ॥२०॥

पुष्पमूलफलैर्वापि केशलैर्वर्तयेत्सदा । कालपक्वैः स्वयं शीर्णै-

र्वैखानसमते स्थितः ॥२१॥ भूमौ विपरिवर्तत तिष्ठेद्वा प्रपदै-

र्दिनम् । स्थानासनाभ्यां विहरेत्सवनेषूपयन्तपः ॥ २२ ॥

अर्थ-अथवा पुष्प, मूल, फल जो काल पाकर पकें और आप ही गिरें उन से वानप्रस्थाश्रम में रहने वाला निर्वाह करे ॥ २१ ॥ भूमि में बैठा करे वा दिन भर खड़ा रहे । स्थान और आसन पर घूमें और सायं, प्रातः, मध्याह्न में त्रिकाल स्नान करे ॥ २२ ॥

ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद्वर्षास्वभावकाशिकः । आर्द्रवासास्तु

हेमन्ते क्रमशो वर्धयन्तपः ॥ २३ ॥ उपस्पृशंस्त्रिषवणं पित-

न्देवांश्च तर्पयेत् । तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद्देहमात्मनः ॥२४॥

अर्थ-ग्रीष्म में पञ्चाग्निसाधन करे ( चारों ओर अग्नि रक्खे, ऊपर से सूर्य ) और वर्षा काल में बादल का आश्रय करे और हेमन्त में भीगे कपड़ों से रहे । इस प्रकार क्रम से ( सहिष्णुता ) तप को बढ़ावे ॥ २३ ॥ त्रिकाल स्नान करके देवों और पितरों का तर्पण करे और उग्रतर तप करके अपने शरीर को सुखावे ॥ २४ ॥

अग्नीनात्मनि वैतानान्समारोप्य यथाविधि । अनग्निरनिकेतः

स्यान्मुनिर्मूलफलाशनः ॥ २५ ॥ अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी

धराशयः । शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥ २६ ॥

अर्थ-अग्नियों को ( वैखानस शास्त्र के ) विधान से आत्मा में समारोपित करके मुनिव्रत वाला फल मूल का भोजन किया करे । अग्नि और



मिक्षित=स्थान भी न रखे ॥ २५ ॥ सुख के लिये प्रयत्न न करे और स्त्री संभोगरहित, भूमि पर सोने वाला और निवासस्थानों में समतलरहित वृक्ष के नीचे घास करे ॥ २६ ॥

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत् । गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥ २७ ॥ ग्रामादाहृत्य वाश्रियादष्टौ ग्रासान् वने वसन् । प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा ॥ २८ ॥

अर्थ-वानप्रस्थाश्रम वाले विप्रों से प्राण बचाने भर ही भिक्षा लेलेवे । वस के अभाव में अन्य वनवासी गृहस्थ द्विजों से लेलेवे ॥ २७ ॥ ग्राम से लाकर वन-वासी अन्न के आठ घास पत्ते खा सकोरे वा हाथ पर रखकर भोजन करे ॥ २८ ॥

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् । विविधाश्रौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥ २९ ॥ ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेव सेविताः । विद्यातपोविवृद्धयर्थं शरीरस्य च शुद्धये ॥ ३० ॥

अर्थ-इन दीक्षाओं और अन्यो (जो वानप्रस्थाश्रम में कही हैं) का वन में रहता हुआ विप्र सेवन करे और विविध उपनिषदों में आई श्रुतियों का आत्म-ज्ञानार्थ (अभ्यास करे) - ॥ २९ ॥ जो कि ऋषि ब्राह्मण गृहस्थों ने ही विद्या और तप की वृद्धि तथा शरीर की शुद्धि के लिये सेवित की हैं ॥ ३० ॥

अपराजितांवास्थाय ब्रजेद्दिशमजिह्मगः । आनिपाताच्छरीरस्य युक्तो वार्यनिलाशनः ॥ ३१ ॥ आसां महर्षिचर्याणां त्यक्त्वा ऽन्यतमया तनुम् । वीतशोकभयोविप्रो ब्रह्मलोके महीयते ॥ ३२ ॥

अर्थ-अथवा शरीर के छुटने तक जल वायु भक्षण करता हुआ जिस का पराजय न हो ऐसी दिशा को जितेन्द्रिय और कुटिल गति से रहित होकर गमन करे ॥ ३१ ॥ इन महर्षियों के अनुष्ठानों में से कोई अनुष्ठान करके विप्र शरीर को छोड़ शोक भय से रहित हो, ब्रह्मलोक (मोक्ष) में सहसा को प्राप्त होता है ॥ (यहां तक वानप्रस्थाश्रम का वर्णन है । इसमें १९ वें से ३२ वें तक जो शरीर का कर्षण है, यह आवश्यक विधान नहीं किन्तु सहनशीलतादि तप की वृद्धि के लिये कथन है । जो जैसा करसके वा करना चाहे, करे) ॥ ३२ ॥



वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः । चतुर्थमायुषो भागं  
त्यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत् ॥३३॥ आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो  
जितेन्द्रियः । भिक्षाबलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन् प्रेत्य वर्धते ॥३४॥

अर्थ-ऐसे आयु के तीसरे भाग को वन में व्यतीत कर, चतुर्थ भाग में  
( विषयादि का ) सङ्ग छोड़कर, संन्यास आश्रम को धारण करे ( आयु के  
चार भाग चारों आश्रमों पर हैं ) ॥ ३३ ॥ आश्रम से आश्रम में गमन करके  
( अर्थात् ब्रह्मचर्य से गृहस्थ, उस से वनप्रस्थ, उस से ) हवन करके भिक्षा  
और बलि से थका हुआ जितेन्द्रिय "संन्यास आश्रम" करने वाला मरने पर  
बढ़ता=मोक्ष प्राप्त करता है ॥ ३४ ॥

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् । अनपाकृत्य  
मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥३५॥ अधीत्य विधिवद्देवान्पुत्रांश्चो-  
त्पादधर्मतः । इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥३६॥

अर्थ-तीन ऋणों को चुका कर मन को मोक्ष में लगावे । विना ऋणों  
के चुकाये मोक्ष का सेवन ( चतुर्थ आश्रम का धारण ) करने वाला नीचे  
गिरता है ॥ ३५ ॥ विधिपूर्वक वेदों को पढ़कर, विवाहादि धर्म से पुत्रों को  
उत्पन्न कर, यथाशक्ति ज्योतिष्टोमादि यज्ञ करके ( ऋषिऋण, पितृऋण और  
देवऋण से निवृत्त हुआ ) मोक्ष में मन लगावे ॥ ३६ ॥

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पादतथा सुतान् । अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च  
मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥३७॥ प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदस-  
दक्षिणाम् । आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात् ॥३८॥

अर्थ-वेदाध्ययन किये विना और पुत्रों को उत्पन्न किये विना और यथा-  
विधि यज्ञों को न करके मोक्ष की इच्छा करता हुआ नीचे गिरता है ॥३७॥ सर्वस्व  
दक्षिण की प्रजापति देवता के उद्देशवाली इष्टि करके आत्मा में अग्नियों का  
समारोपण करके ब्राह्मण वानप्रस्थाश्रम से संन्यास को धारण करे ॥ ३८ ॥

योदत्त्वासर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् । तस्य तेजोमया लोका  
भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥३९॥ यस्मादएव पिभूतानां द्विजान्नोत्प-  
दाते भयम् । तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥४०॥



अर्थ-जो सब प्राणियों को अभय देकर गृह से चतुर्थ आश्रम को जाता है उस ब्रह्मज्ञानी को तेजोमय लोक ( भोक्ष ) होते हैं ॥ ३९ ॥ जिस द्विज से प्राणियों को थोड़ा भी भय उत्पन्न नहीं होता, देह छूटने पर उसको किसी से भय नहीं है ( यह भी अभय हो जाता है ) ॥ ४० ॥

आगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः । समुपोढेषुकामेषु  
निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ ४१ ॥ एकएव चरेन्नित्यं सिद्धयर्थम-  
सहायवान् । सिद्धिमेकस्य संपश्यन् जहाति न हीयते ॥ ४२ ॥

अर्थ-घर से निकला हुआ, पवित्र दण्ड कमण्डलु युक्त, अच्छे प्रकार मिलते हुये कामों में भी अपेक्षारहित मुनि संन्यास धारण करे ॥ ४१ ॥ एकाकी को भोजनप्राप्ति होती है, ऐसा जानता हुआ सदा सहायकरहित अकेला ही रहे ( तब ) वह न छोड़ता है, न छूटता है ( एकरस हो जाता है ) ॥ ४२ ॥

अनग्निरनिकेतः स्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् । उपेक्षकोऽशङ्कु-  
सुको मुनिर्भावसमाहितः ॥ ४३ ॥ कपालं वृक्षमूलानि कुचैलम-  
ऽसहायता । समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥ ४४ ॥

अर्थ-अग्नि तथा घर से रहित, भिक्षा के लिये ग्राम का आश्रय करे और दुःख हो तो चिन्ता न करे तथा स्थिरचित्त और मुनिधर्म से युक्त रहे ॥ ४३ ॥ ( भोजनार्थ ) खपरा, ( स्थानार्थ ) वृक्ष के नीचे की भूमि, मोटे वृक्षों की गुदड़ी, किसी से सहायता न चाहना और सब में समान बुद्धि, यह मुक्त का लक्षण है ॥ ४४ ॥

नाभिनन्देत भरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।

कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥ ४५ ॥

अर्थ-न जीवने में सुख माने, न मरने में माने किन्तु ( मृत्यु के ) समय की प्रतीक्षा करे, जैसे नौकर आज्ञा की ( प्रतीक्षा करता है ) "बहुत अच्छा" कहकर प्राण त्यागदे ॥ नीचे लिखे ३ श्लोकों में से एक पुस्तक में पहले दो, और एक पुस्तक में पहला एक और ८ पुस्तकों में तीनों श्लोक अधिक पाये जाते हैं और एक पर राघवानन्द की तथा तीनों पर रामचन्द्र की टीका भी है:-

[ ग्रैष्म्यान्हैमन्तिकान्मासानष्टौ भिक्षुर्विचक्रमेत् ।

दयार्थं सर्वभूतानां वर्षास्वेकत्र संवसेत् ॥ १ ॥



नाऽसूर्यं हि ब्रजेन्मार्गं नाऽदृष्टां भूमिमाक्रमेत् ।

परिभूताभिरद्भिस्तु कार्यं कुर्वीत नित्यशः ॥२॥

सत्यां वाचमहिंसां च वदेदऽनपकारिणीम् ।

कल्कापेतामपरुषामनृशं सामपैशुनाम् ॥ ३ ॥ ]

गरमी और जाड़े के ८ मास में संन्यासी देशाटन करे और सब जीव जस्तुओं पर दया के लिये वर्षों के ४ मास तक एक स्थान में निवास करे ॥१॥ रात्रि में जब सूर्य न हो, तब मार्ग न चले। भूमि को बिना देखे न चले। अधिक जल से नित्य कार्य करे ॥ २ ॥ सत्य, हिंसारहित, दूसरे की हानि न करने वाली और कठोरता, क्रोध, निन्दा और चुगली से रहित वाणी बोले ॥३॥ ॥४५॥

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।

सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥४६॥

अर्थ-दृष्टि से शोधित ( मार्ग में ) पैर रखे ( देखकर चले ) और वस्त्र से ( छानकर ) पवित्र हुवा जल पीवे और सत्य से पवित्र वाणी बोले और मन से पवित्र आचरण करे ॥ ४६ ॥

अतिवादांस्तितिक्षेत् नावमन्येत कञ्चन । न चेमं देहमाश्रित्य

वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ४७ ॥ क्रुद्धान्तं न प्रतिक्रुद्धोदाक्रुष्टः कुशलं

वदेत् । सप्तद्वाराऽवकीर्णां च न वाचमऽनृतां वदेत् ॥ ४८ ॥

अर्थ-दूसरों के बुरे कहने का सहन करे, किसी का अपमान न करे और इस देह का आश्रय कर किसी के साथ वैर न करे ॥४७॥ क्रोध करते पर बदले में क्रोध न करे और निन्दा करने वाले से आप अच्छा बोले और पञ्चेन्द्रिय, मन, बुद्धि इन ७ ( अथवा १ मुख का, २ नाक के, २ कानों के, २ आंखों के, इन ७ ) छिद्रों में बिखरी हुई असत्य वाणी न बोले, ( किन्तु शास्त्रीय वचन बोले ) ॥ ४८ ॥

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः\*। आत्मनैव सहायेन

सुखार्थी विचरेदिह ॥४९॥ न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राद्

विदया । नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत् कर्हिचित् ॥५०॥

\* यहां सब टीकाकारों ने "आमिष" का अर्थ "विषय" ही किया है ॥



अर्थ ब्रह्मध्यान में रहने और किसी की अपेक्षा न रखने वाला और विषयों के अभिलाष से रहित तथा अपनी ही सहायता से सुख चाहने वाला होकर इस संसार में विचरे ॥४९॥ (भविष्यत्) उत्पत्त (भूकम्पादि) बताने वा ग्रहों की विद्या वा उपदेश वा शास्त्रार्थ के बदले भिक्षा की इच्छा न करे ॥५०॥

न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्रमिः । आकीर्णं भिक्षुकै-  
वान्यैरागारमुपसंभ्रजेत् ॥५१॥ क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी  
कुसुम्भवान् । विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥५२॥

अर्थ-वानप्रस्थों वा अन्य ब्राह्मणों तथा पत्नियों वा कुत्तों वा अन्य मांगने वालों से घिरे मकान में भिक्षा की न जावे ॥ ५१ ॥ नख, केश, श्मश्रु जिस के मुँड़े हों, पात्र, दण्ड, कण्ठडलु और रंगे कपड़ों से युक्त, किसी को पीड़ा न देता हुवा सदा नियम से विचरे ॥ ५२ ॥

“ अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च । तेषामद्भिः स्मृतं  
शौचं चमसानामिवाध्वरे ॥५३॥ अलावुं दारुपात्रं च मृण्मयं वैदलं  
तथा । एतानि यतिपात्राणि मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ ५४ ॥ ”

अर्थ-उस के पात्र तैजस अर्थात् सोना, चांदी, पीतल आदि धातुओं के न हों और छिद्ररहित हों । पानी से उन की पवित्रता कही है, जैसे यज्ञ में चमसों की ॥५३॥ तूँबी, लकड़ी, मिट्टी वा बांस के बने हुवे, ये यतियों के भिक्षापात्र हैं । ऐसा “स्वायम्भुव मनु ने कहा है” (इसी से स्पष्ट है कि अन्यकृत हैं) ॥५४॥

एककालं चरेद्वैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे । भैक्षे प्रसक्तो हि यति-  
र्विषयेष्वपि सज्जति ॥ ५५ ॥ विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे  
भुक्तवज्जने । वृत्ते शरावसंपाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ॥५६॥

अर्थ-एक बार भिक्षा करे, बहुत भिक्षा में आसक्त न हो क्योंकि बहुत भिक्षा में फंसा संन्यासी अन्य विषयों में भी आसक्त हो जाता है ॥५५॥ रसोई का धुआं निकल चुका हो, कूटना आदि वन्द हो गया हो, आग बुझा दी हो, सब भोजन कर चुके हों और रसोई के वर्तन डाल दिये हों तब ( ऐसे गृह में ) सदा संन्यासी भिक्षा करे ॥ ५६ ॥



अलाभे न विषादी स्यात्लाभे चैव न हर्षयेत् । प्राणयात्रिकमात्रः  
 स्यान्मात्रासंगाद्विनिर्गतः ॥५७॥ अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्से-  
 तैव सर्वशः । अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बह्व्यते ॥५८॥

अर्थ—(भिक्षा) न मिले तो खेद न करे और मिले तो आनन्द न माने ।  
 जीवनमात्र का उपाय करे । मात्रासङ्ग (शब्द रूप रस गन्ध स्पर्श ) विषयों से  
 पृथक् रहे ॥ ५७ ॥ यति पूजापूर्वक ( स्वादिष्ट भिक्षा ) लाभों की निन्दा करे  
 ( अर्थात् ऐसी भिक्षा प्रसन्न न करे ) क्योंकि ऐसी भिक्षा के लाभों से ( देने  
 वाले के स्नेह ससत्त्वादि से ) मुक्त भी यति बन्धन को प्राप्त होजाता है ॥५८॥

अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च । ह्रियमाणानि वि-  
 षयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥५९॥ इन्द्रियाणां निरोधेन राग-  
 द्वेषक्षयेण च । अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥६०॥

अर्थ—थोड़े भोजन, निर्जन देश और एकान्त स्थान में रहने से विषयों  
 से खिंची हुई इन्द्रियों को रोके ॥५९॥ इन्द्रियों को रोकने, राग द्वेष के नाश  
 तथा प्राणियों की हिंसा न करने से मोक्ष के योग्य होता है ॥ ६० ॥

अवेक्षेत गतीर्नृणां कर्मदोषसमुद्भवाः । निरये चैव पतनं  
 यातनाश्च यमक्षये ॥६१॥ विप्रयोगं प्रियैश्चैव संयोगं च तथा  
 ऽप्रियैः । जरया चाभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—मनुष्यों के कर्मदोषों से उत्पन्न दशाओं और नरक में गिरने और  
 मृत्यु के पश्चात् नाना प्रकार की शिखाओं का चिन्तन करे ॥ ६१ ॥ और  
 प्यारों के वियोग तथा अप्रियों के संयोग, वृद्धावस्था से दबाये जाने तथा  
 व्याधियों से पीड़ित होने पर भी ( ध्यान करे ) ॥ ६२ ॥

देहादुत्क्रमणं चास्मात्पुनर्गर्भं च संभवम् । योनिकोटिसहस्रेषु  
 सृतीश्चास्यान्तरात्मनः ॥ ६३ ॥ अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं  
 शरीरिणाम् । धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम् ॥ ६४ ॥

अर्थ—इस देह से निकलना, फिर गर्भ में उत्पत्ति और कोटि सहस्रों योनियों  
 में इस जीवात्मा का जाना ॥ ६३ ॥ देहधारियों को अधर्म से दुःख के योग  
 और धर्म अर्थ से उत्पन्न अक्षय सुख के योग का भी ( चिन्तन करे ) ॥ ६४ ॥



सूक्ष्मतां चान्वेक्षेत योगेन परमात्मनः । देहेषु च समुत्पत्ति-  
मुत्तमेष्वधमेषु च ॥ ६५ ॥ दूषितोऽपि चरेद्दुर्मं यत्र तत्रा-  
श्रमे रतः । समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥ ६६ ॥

अर्थ-योग से परमात्मा की सूक्ष्मता का ध्यान करे । उत्तम और अधम  
योनियों में जीवों के शुभाऽशुभ फलभोग के लिये उत्पत्ति का भी ( चिन्तन  
करे ) ॥ ६५ ॥ दोष लगाने पर भी सम्पूर्ण जीवों में समदृष्टि करता हुआ  
चाहे किसी आश्रम रहे पर धर्म के आचरण करे क्योंकि ( दण्डादि ) चिन्ह  
धर्म का कारण नहीं है । ( एक पुस्तक में दूषितः=गृहस्थः और ४ पुस्तकों  
में-भूषितः । पाठभेद है ) ॥ ६६ ॥

फलं कतकवृक्षस्य यदाप्यम्बुप्रसादकम् । न नामग्रहणादेव  
तस्य वारि प्रसीदति ॥ ६७ ॥ संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनि वा  
सदा । शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत् ॥ ६८ ॥

अर्थ-( जैसा कि ) निर्मली का फल यद्यपि पानी शुद्ध करने वाला है,  
तथापि निर्मली के नाम लेने से ही पानी शुद्ध नहीं होता ॥ ६७ ॥ ( पिपी-  
लिकादि सूक्ष्म ) जन्तुओं की रक्षा के लिये शरीर को क्लेश होने पर भी सदा  
भूमि को देख कर चले ॥ ६८ ॥

अह्ना रात्र्या च यान्जतून्हिनस्त्यऽज्ञानतो यतिः । तेषां स्नात्वा  
विशुद्ध्यर्थं प्राणायामान्पडाचरेत् ॥ ६९ ॥ प्राणायामा ब्राह्मणस्य  
त्रयोऽपि विधिवत्कृताः । व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः

अर्थ-यती से जो जीव विना जाने दिन या रात में मर जाते हैं, उस  
पाप से दूर होने को स्नान करके छः प्राणायाम करे ॥ ६९ ॥ ( भूः भुवः इत्यादि )  
व्याहृति और प्रणव ( ओ३म् ) युक्त विधि से किये हुये ३ ही प्राणायाम  
ब्राह्मण का परम तप जानिये ॥ ७० ॥

दहन्ते धमायमानानां धातूनां हि यथा मलाः । तथेन्द्रियाणां  
दहन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ७१ प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणा-  
भिश्च किल्बिषम् । प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ॥



अर्थ-जैसे ( सुवर्णादि ) धातुओं के मैल अग्नि में धोंकने से धुंकते हैं, वैसे ही प्राण के रोकने से इन्द्रियों के दोष जल जाते हैं ॥ ७१ ॥ प्राणाधानों से रागादि दोषों को, धारणाओं से पाप को, इन्द्रियों के रोकने से विषयों के संसर्गों को और ध्यान से मोहादि गुणों को जलावे ॥ ७२ ॥

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः । ध्यानयोगेन संपश्येद्  
गतिमस्यान्तरात्मनः ॥ ७३ ॥ सम्यग्दर्शनसंपन्नः कर्मभिर्न  
निबध्यते । दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ ७४ ॥

अर्थ-इस जीव की उत्तम अधन योनियों में प्राप्ति को, जो जकतात्मा पुरुषों से नहीं जानी जाती, ध्यानयोग से देखे ( जाने ) ॥ ७३ ॥ ( ब्रह्म का ) साक्षात् करने वाला कर्मों से नहीं बन्धता और साक्षात्कार से रहित संसार को प्राप्त होता है ॥ ७४ ॥

अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः । तपसश्चरणैश्चोग्रैः  
साधयन्तीह तत्पदम् ॥ ७५ ॥ अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशो-  
णितलेपनम् । चर्मावनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥ ७६ ॥

अर्थ-हिंसा न करने, इन्द्रियों को विषयों में न फंसाने और वैदिककर्मों और उग्र तप के आवरणों से इस लोक में उस पद को सिद्ध करते हैं ॥ ७५ ॥ हड्डी की स्थूणा ( स्तम्भ ) से युक्त, स्नायुरूप जेवड़ी से बन्धे, मांस रक्त से लिपटे, चाम से मंढे हुवे, दुर्गन्धि और मल मूत्र से पूर्ण, ॥ ७६ ॥

जराशोकसमाधिष्टं रोगायतनमातुरम् । रजस्वलमनित्यं च  
भूतावासमिमं त्यजेत् ॥ ७७ ॥ नदीकूलं यथा वृक्षोवृक्षं वा शकु-  
निर्यथा । तथा त्यजन्निमं देहं कृच्छ्राद् ग्राहाद्विमुच्यते ॥ ७८ ॥

अर्थ-जरा ( बुढ़ापे ) और शोक से घिरे हुवे, रोग के घर, सुधा प्यास से पीडित, रजस्वल ( मलिन ), अनित्य तथा पञ्चभूतों के गृह " शरीर " को छोड़ देवे ( अर्थात् ऐसा करे कि फिर शरीर न हो ) ॥ ७७ ॥ जैसे नदी के किनारे की वृक्ष छोड़ देता है और पक्षी जैसे वृक्ष को छोड़ देता है, ऐसे संन्यासी इस देह को छोड़ता हुआ कठिन ( संसाररूपी ) ग्राह से छूट जाता है ॥ ७८ ॥



प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम् । विसृज्य ध्यानयोगेन  
ब्रह्माभ्येति सनातनम् ॥७९॥ यदा भावेन भवति सर्वभावेषु  
निःस्पृहः । तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥८०॥

अर्थ-अपने प्रिय में ( पूर्वजन्मार्जित ) सुकृत और अप्रिय में दुष्कृत ( जान  
कर उस से होने वाले रागद्वेषादि ) को छोड़ कर ध्यानयोग से सनातन ब्रह्म  
को प्राप्त होता है ॥७९॥ जब (विषयों के दोषों के) ज्ञान से संपूर्ण पदार्थों में निःस्पृह  
हो जाता है तब इस लोक और परलोक में नित्य सुख की प्राप्ति होती है ॥ ८० ॥

अनेन विधिना सर्वास्त्यक्त्वा संगान् शनैःशनैः । सर्वद्वन्द्ववि-  
निर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥ ८१ ॥ ध्यानिकं सर्वमेवैतद्वदेतद-  
भिप्रेक्षितम् । न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाप्नुते ॥ ८२ ॥

अर्थ-इस प्रकार संपूर्ण ( पुत्र कलत्रादि के ) संगों को धीरे २ छोड़ कर  
संपूर्ण दून्हों ( सानापनानादि ) से दूरा हुआ ब्रह्म में ही स्थित हो जाता है  
॥ ८१ ॥ यह जो ( पुत्रादि का ) सत्त्वत्याग कहा है वह संपूर्ण मन से ही  
होता है, क्योंकि मन से ( त्याग ) न करने वाला ( केवल दिखावे को अलग  
रहने वाला ) कोई उस क्रिया के फल को नहीं प्राप्त होता ॥ ८२ ॥

अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिदैविकमेव च । आध्यात्मिकं च सततं  
वेदान्ताभिहितं च यत् ॥ ८३ ॥ इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजा-  
नताम् । इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम् ॥ ८४ ॥

अर्थ-यज्ञ और देवतों तथा आत्मा के विषय में और वेदान्त ( ब्रह्म-  
ज्ञान ) विषय में जो वेदवाक्य हैं उन का निरन्तर जप करे ॥ ८३ ॥ यह  
( वेदाभ्यास ) अज्ञानियों को और ज्ञानियों को भी हित है । यह स्वर्ग और  
मोक्ष की इच्छा करने वालों का भी शरण है ( अर्थात् वेदद्वारा सब की  
प्राप्ति है ) ॥ ८४ ॥

अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः । स विधूयेह पाप्मानं  
परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ८५ ॥ एष धर्माऽनुशिष्टो बोधतीनां निय-  
तात्मनाम् । वेदसंन्यासिकानां तु कर्मयोगं निबोधत ॥ ८६ ॥



अर्थ-इस क्रम के अनुष्ठान से जो द्विज संन्यास धारण करता है, वह यहां पापों का नाश करके परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ॥ ८५ ॥ जितेन्द्रिय यतियों का यह धर्म तुम को बताया । अब वेदसंन्यासियों ( ज्ञान से ही संन्यासी, जिन्होंने बाहर से संन्यस्त चिह्न वा गृहवासत्यागादि नहीं किये ) का कर्मयोग सुनो ॥ ८६ ॥

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा । एते गृहस्थप्रभवा-  
श्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥ ८७ ॥ सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं  
निषेविताः । यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥ ८८ ॥

अर्थ-ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ और यति; ये पृथक् पृथक् ४ आश्रम गृहस्थ से उत्पन्न हैं ॥ ८७ ॥ ये चारों ही आश्रम क्रम से शास्त्रानुकूल सेवित किये हुवे, उक्त विधि से करने वाले विप्र को मोक्ष प्राप्त कराते हैं ॥ ८८ ॥

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः । गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः  
स त्रीनेतान्विभर्ति हि ॥ ८९ ॥ यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति  
संस्थितिम् । तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ ९० ॥

अर्थ-इन सब आश्रमों में वेदों और स्मृतियों के विधान से गृहस्थ श्रेष्ठ कहा है क्योंकि वह इन तीनों का पोषण करता है ॥ ८९ ॥ जैसे संपूर्ण नदी और नद समुद्र में जाकर ठहरते हैं, वैसे ही सब आश्रमी गृहस्थ में ठहरते हैं ( आश्रय पाते हैं ) ॥ ९० ॥

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः । दशलक्षणक्रोधर्मः  
सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥ ९१ ॥ धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमि-  
न्द्रियनिग्रहः । धीर्विद्वद्वा सत्यमक्रोधोदशकं धर्मलक्षणम् ॥ ९२ ॥

अर्थ-चारों आश्रमी द्विजों को दश लक्षण वाले धर्म का सेवन यत्न से करना चाहिये ॥ ९१ ॥ १-धैर्य २-दुसरे की करी हुई बुराई को सह लेना ३-मन का रोकना ४-धोरी न करना ५-शुद्ध होना ६-इन्द्रियों को रोकना ७-शास्त्र का ज्ञान, ८-आत्मा का ज्ञान, ९-सत्य बोलना और १०-क्रोध न करना; ये धर्म के दश लक्षण हैं ( ५ पुस्तकों और नन्दनकृत टीका में-धीः= ह्रीः पाठभेद है ) ॥ ९२ ॥



दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते । अधीत्य चानु  
वर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ८३ ॥ दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन्  
समाहितः । वेदान्तं विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदन्तु द्विजः ॥ ८४ ॥

अर्थ-जो विप्र धर्म के दश लक्षणों को पढ़ते हैं और पढ़ कर उसके अनु-  
सार चलते हैं, वे मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ ८३ ॥ ( ऋषि पितर देवों के )  
ऋणों से मुक्त द्विज स्वस्थचित्त होकर दश लक्षण वाले धर्म को करता हुआ  
विधि से वेदान्त का अध्ययन करके संन्यास धारण करे ॥ ८४ ॥

संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन् ।

नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्यं सुखं वसेत् ॥ ८५ ॥

अर्थ-संपूर्ण ( गृहस्थ के ) कर्मों को छोड़कर और ( बिना जाने जीवों के  
नाशजनित ) पापों को ( प्राणायामों से ) नष्ट करता हुआ जितेन्द्रिय होकर वेद  
का अभ्यास करके पुत्र के ऐश्वर्य में ( वृत्ति की चिन्ता से रहित ) सुखपूर्वक  
निवास करे ( ८५ वें से आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:-

[ संन्यसेत्सर्वकर्माणि वेदमेकं न संन्यसेत् ।

वेदसंन्यासतः शूद्रस्तस्माद्वेदं न संन्यसेत् ॥ ]

सब कान छोड़ दे, परन्तु एक वेद को न छोड़े । क्योंकि वेद के छोड़ने  
से शूद्र होजाता है, इस लिये वेद को न छोड़े ॥ इसी आशय का श्लोक  
पाठभेद से अन्य दो पुस्तकों में भी मिलता है कि:-

संन्यसेत्सर्वकर्माणि वेदं तु न परित्यजेत् ।

परित्यागाद्धि वेदस्य शूद्रतामनुगच्छति ) ॥ ९५ ॥

एवं संन्यस्य कर्माणि स्वकार्यपरमोऽस्पृहः ।

संन्यासेनापहत्यैनः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ८६ ॥

अर्थ-इस प्रकार कर्मों को छोड़ कर अपने कार्य ( आत्मसाक्षात्कार ) में  
तत्पर हुआ निःस्पृह संन्यास से पाप को दूर करके परमगति को प्राप्त होता  
है ॥ ८६ ॥



एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः ।  
 पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत ॥ ९७ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे

( भृगुप्रोक्तायां संहितायां ) षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अर्थ-( हे ऋषियो ! ) तुम से यह ब्राह्मण का चार प्रकार का धर्म जो परलोक में पुण्य तथा अक्षय फल देने वाला है, कहा । अब राजाओं का धर्म सुनो ॥ ९७ ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे

षष्ठोऽध्यायः

॥ ६ ॥



ओ३म्

## अथ सप्तमोऽध्यायः

राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः । संभवश्च यथा तस्य  
सिद्धिश्च परमा यथा ॥१॥ ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथा-  
विधि । सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम् ॥ २ ॥

अर्थ-जैसे आचरण वाला राजा होना चाहिये, उस प्रकार के राजधर्मों  
और राजा की उत्पत्ति और जैसे ( राजा के प्रभुत्व की ) सिद्धि हो, उस  
को आगे कहूंगा ॥ १ ॥ वेदोक्त संस्कार हुवे क्षत्रिय को इस संपूर्ण ( राज्य )  
की न्यायानुसार रक्षा करनी चाहिये ॥ २ ॥

अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतोविद्रुते भयात् । रक्षार्थमस्य  
सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥ ३ ॥ इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च  
वरुणस्य च । चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रानिर्हृत्य शाश्वतोः ॥४॥

अर्थ-विना राजा के इस लोक में भय से चारों ओर चल विचल होजाता,  
इस कारण सब की रक्षा के लिये ईश्वर ने राजा को उत्पन्न किया ॥३॥ इन्द्र,  
वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर की शाश्वतमात्राओं ( सारभूत  
अंशों ) की निकाल कर ( राजा को बनाया अर्थात् इन दिव्यगुणांशों से  
युक्त पुरुष राजा होता है ) ॥ ४ ॥

यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्योनिर्मितो नृपः । तस्मादभिभव-  
त्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥५॥ तपत्यादित्यवच्चैषां चक्षूंषि च  
मनांसि च । न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥६॥

अर्थ-क्योंकि देवेंद्रों की मात्राओं से राजा बनाया गया है, इस लिये  
यह ( राजा ) तेज से सब प्राणियों को दबाता है ॥५॥ ( अब दो श्लोकों में  
यह बताते हैं कि राजा में कैसे उक्त आठ देवों का प्रभाव रहता है ) राजा  
अपने तेज से इन ( देखने वालों ) की आंखों और मनों को सूर्य सा असह्य होता  
है और पृथिवी में कोई इस ( राजा ) के सामने होकर नहीं देख सकता  
( इस से सूर्यांश कहा, ) इसी प्रकार-॥ ६ ॥



सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् । स कुबेरः स  
वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥७॥ बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य  
इति भूमिपः । महती देवता होषा नररूपेण तिष्ठति ॥ ८ ॥

अर्थ—वह राजा प्रभाव से अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, यम, कुबेर, वरुण  
और इन्द्र है ॥ ७ ॥ मनुष्य जान कर बालक राजा भी अपमान करने योग्य  
नहीं है । क्योंकि यह एक बड़ा देवता मनुष्यरूप से स्थित है ॥ ८ ॥

एकमेव दहत्यग्निरं दुरुपसर्पिणम् । कुलं दहति राजाग्निः  
सपशुद्रव्यसञ्जयम् ॥९॥ कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च  
तत्त्वतः । कुरुते धर्मसिद्धयर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः ॥ १० ॥

अर्थ—( अग्नि के ऊपर कोई मनुष्य कुचाल चले तो ) अग्नि उसी एक  
को जलाता है परन्तु राजा ( कुचाल चलने वाले के ) कुल को भी पशु और  
धन सहित नष्ट कर देता है ॥ ९ ॥ कार्य, शक्ति, देश और काल को तत्त्वसे  
देख कर धर्मसिद्धि के लिये राजा बार २ नाना प्रकार का रूप धरता है  
( कभी क्षमा, कभी क्रोध, कभी मित्रत्व, कभी शत्रुत्व इत्यादि ) ॥ १० ॥

यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे । मृत्युश्च वसति क्रोधे  
सर्वतेजोमयो हि सः ॥११॥ तं यस्तु द्वेष्टि संमोहात्स विनश्यत्य-  
संशयम् । तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः ॥१२॥

अर्थ—जिस की प्रसन्नता में लक्ष्मी रहती है ( द्रव्यप्राप्ति होती है ) और  
पराक्रम में जय रहता है और क्रोधमें मृत्यु वास करता है, वह ( राजा ) अवश्य सर्व-  
तेजोमय है ॥११॥ जो अज्ञानवश राजा से द्वेष करता है वह निश्चय नाश को  
प्राप्त होता है, क्योंकि उस के शीघ्र नाश के लिये राजा मन बिगाड़ता है ॥१२॥

तस्मादुर्मयमिष्टेषु स वयवस्येन्द्राधिपः । अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु  
तं धर्मं न विचालयेत् ॥ १३ ॥ तस्यार्थं सर्वभूतानां गोप्तारं  
धर्ममात्मजम् । ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥ १४ ॥

अर्थ—इस लिये राजा अपने अनुकूलों में जिस धर्म=कानून का और प्रति  
कूलों में जिस अनिष्ट का निश्चय करके स्थापन करे ( कानून बनावे ) उस धर्म



(कानून) को न विचलावे (न तोड़े) ॥१३॥ उच (राजा) के लिये प्राणिमात्र के रक्तक आत्मा से उत्पन्न ब्रह्मतेज से बने दण्डधर्म को ईश्वर ने पूर्व बनाया है ॥१४॥

तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च । भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च ॥१५॥ तद्देशकालौशक्तिंच विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः । यथार्हतः संप्रणयेन्न्वरेष्वन्यायवर्तिषु ॥१६॥

अर्थ-उच (दण्ड) के समय से सम्पूर्ण स्थावर और जङ्गम भोग को प्राप्त होते हैं और अपने धर्म से नहीं विचलते ॥१५॥ देश, काल, शक्ति, विद्या के तत्त्व को शास्त्रानुसार विचार कर अपराधी मनुष्यों को यथायोग्य दण्ड देवे ॥१६॥

सराजापुरुषोदण्डः सनेताशासिताचसः । चतुर्णामाश्रमाणांच धर्मस्य प्रतिभूः समृतः ॥१७॥ दण्डःशास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति । दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः १८

अर्थ-वह दण्ड ही राजा है, वही पुरुष है और वही नेता तथा शासिता और चारों आश्रमों के धर्म का प्रतिभू (जामिन) है ॥१७॥ दण्ड सम्पूर्ण प्रजा का शासन करता है, दण्ड ही रक्षा करता है, सब के सोते हुए दण्ड ही जागता है (उसी के घर से चोर चोरी नहीं करते) विद्वान् लोग दण्ड को धर्म जानते हैं ॥१८॥

समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः । असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥१९॥ यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्डेयष्वतन्द्रितः । शूलेमत्स्यानिवापक्ष्यन्दुर्वलान्वलवत्तराः २०

अर्थ-वह (दण्ड) शास्त्र से अच्छे प्रकार देखकर धरा हुआ सम्पूर्ण प्रजा को प्रसन्न करता और विना देखे किया हुआ चारों ओर से नाश करता है ॥१९॥ आलस्यरहित राजा यदि अपराधियों को दण्ड न देवे तो शूल पर मछली के समान अतिबलवान् लोग निर्बलों को भून डालें ॥२०॥

अदात्कालःपुरोडाशं श्वा च लिह्यादुविस्तथा । स्वाम्यं च न स्यात्कस्मिंश्चित्प्रवर्तेताधरोत्तरम् ॥२१॥ सर्वोदण्डजितोलोको दुर्लभोहि शुचिर्नरः । दण्डस्यहिभयात्सर्वं जगद्भोगायकल्पते २२



अर्थ-( यदि राजा दण्ड न करे तो ) कौवा पुरोडाश भक्षण कर जावे और कुत्ता हवि का भक्षण करले और कोई किमी का स्वामी ( मालिक ) न होसके और भीचे ऊँच और ऊँचे नीचता में प्रवृत्त हो जावे ॥ २१ ॥ सम्पूर्ण लोग दण्ड से नियमित किये हुवे ही सन्मार्ग में रहते हैं । क्योंकि ( स्वभाव से सन्मार्ग में रहने वाला ) शुचि मनुष्य दुर्लभ है । सम्पूर्ण जगत् दण्ड के भय से ही भोग कर सकता है ॥ २२ ॥

देवदानवगन्धर्वा रक्षांसि पतंगोरगाः । तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः ॥ २३ ॥ दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिक्षोरन्सर्व-  
सेतवः । सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात् ॥ २४ ॥

अर्थ-देव, दानव, गन्धर्व, राक्षस, पक्षी, सर्प; ये भी दण्ड के ही दबे हुवे भोग को पा सकते हैं ॥ २३ ॥ दण्ड के बिना सम्पूर्ण वर्ण दुष्टाचरण में प्रवृत्त होजावे और ( चतुर्वर्गरूप ) सब पुल टूट जावे और सम्पूर्ण लोगों में उपद्रव होजावे ॥ २४ ॥ यत्र श्यामोलोहिताक्षोदण्डश्चरति पापहा । प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति ॥ २५ ॥ तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्य-  
वादिनम् । समीक्ष्य कारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥ २६ ॥

अर्थ-जिस देश में श्यामवर्ण और लाल आंख वाला, पाप का नाशक दण्ड विचरता है, वहां प्रजा प्रमाद नहीं करती, यदि नेता ( राजा ) अच्छे प्रकार देखता हो ॥ २५ ॥ सत्य बोलने वाले और अच्छे प्रकार समझ कर करने वाले, बुद्धिमान् और धर्म अर्थ काम के जानने वाले राजा को उस ( दण्ड ) के देने का अधिकारी कहते हैं ॥ २६ ॥

तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते । कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥ २७ ॥ दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चा-  
ऽकृतात्मभिः । धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सन्नान्वयम् ॥ २८ ॥

अर्थ-जो राजा उस ( दण्ड ) को अच्छे प्रकार चलाता है वह धर्म अर्थ काम से वृद्धि को प्राप्त होता है और जो विषय का अभिलाषी और उलटा चलने वाला तथा क्षुद्रता करने वाला है वह उसी दण्ड से नष्ट हो जाता है ॥ २७ ॥ बड़े तेजवाला दण्ड है और शास्त्रोक्त संस्काररहित राजाओं से धारण नहीं किया जासका किन्तु राजधर्म से विपरीत राजा ही का बन्धु सहित नाश कर देता है ॥ २८ ॥



ततो दुर्गं च राष्ट्रं च लोकं च सचराचरम् । अन्तरिक्षगतांश्चैव  
मुनीन्देवांश्च पीडयेत् ॥२९॥ सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृत-  
बुद्धिना । न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥३०॥

अर्थ-राजा के नाश के अनन्तर क़िला, राज्य और स्थावर जङ्गम प्रजा  
और अन्तरिक्ष के रहने वाले पक्षी और वायु आदि देवताओं को (हव्यादि न मिलने  
से) और सब मुनियों को (वह अधर्मी राजा का दण्ड) पीडित करने लगे ॥२९॥  
( मन्त्री वा सेनापतियों के ) सहाय से रहित, मूर्ख, लोभी, निर्बुद्धि और विषयों  
में आसक्त राजा से वह ( दण्ड=राजधर्म ) न्यायपूर्वक नहीं चल सकता ॥३०॥

शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा । प्रणेतुं शक्यते दण्डः  
सुसहायेन धीमता ॥३१॥ स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद् भृशदण्डश्च  
शत्रुषु । सुहृत्स्वजिह्वः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः ॥३२॥

अर्थ-अर्थशौचादियुक्त, सत्यप्रतिज्ञ, शास्त्र के अनुसार चलने वाले,  
अच्छे सहायकों वाले और बुद्धिमान् राजा से दण्ड दिया जा सकता है ( ऐसा  
राजा शिक्षा करने को योग्य है ) ॥३१॥ राजा को अपने राज्य में न्यायकारी  
और शत्रुओं को सदा दण्ड देने वाला और प्यारे मित्रों से कुटिलतारहित  
और ब्राह्मणों पर क्षमायुक्त होना चाहिये ॥ ३२ ॥

एवंवृत्तस्य नृपतेः शिलोज्ज्वलेनापि जीवतः । विस्तीर्यते यशो लोके  
तैलविन्दुरिवाम्भसि ॥३३॥ अतस्तु विपरीतस्य नृपतेरजिता-  
त्मनः । संक्षिप्यते यशो लोके घृतविन्दुरिवाम्भसि ॥ ३४ ॥

अर्थ-उक्त प्रकार चलने वाले शिलोज्ज्वलति से भी जीवते हुवे राजा का  
यश जगत् में फैल जाता है, जैसे पानी में तैल की बूंद ॥ ३३ ॥ विषयासक्त  
और इस से विपरीत चलने वाले राजा का यश लोगों में संकोच को प्राप्त  
हो जाता है, जैसे पानी में घृत की बूंद ॥ ३४ ॥

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः । वर्णानामाश्रमाणां  
च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥ ३५ ॥ तेन यद्वत्सभृत्येन कर्तव्यं  
रक्षता प्रजाः । तत्तद्वोऽहं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥३६॥



अर्थ-अपने अपने धर्म में चलने वाले आनुपूर्व्य से सब वर्णों और आश्रमों की रक्षा करने वाला राजा ( ईश्वर ने ) उत्पन्न किया है ॥ ३५ ॥ प्रजा की रक्षा करते हुवे अमात्यों सहित उस राजा को जो जो करना चाहिये सो तुम से मैं क्रम के साथ यथावत् कहूंगा ॥ ३६ ॥

ब्राह्मणान्पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः । त्रैविद्यवृद्धान्विदु-  
पस्तिष्ठेत्तेषां च शासने ॥ ३७ ॥ वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान्वेदविदः  
शुचीन् । वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरऽपि पूज्यते ॥ ३८ ॥

अर्थ-राजा को प्रातःकाल उठकर ऋग् यजुः साम वेद और धर्मशास्त्र के जानने वाले ब्राह्मणों के साथ बैठना और उन के कहने की मानना चाहिये ॥ ३७ ॥ वेद जानने वाले, पवित्र, आयु में वृद्ध ब्राह्मणों का नित्य सेवन करे क्योंकि बड़े विद्वानों की सेवा करने वाला ( राजा ) दुष्ट जीवों से भी पूजा ( स्तुकार ) पाता है ॥ ३८ ॥

तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः । विनीतात्मा हि  
नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित् ॥ ३९ ॥ बहवोऽविनयान्नष्टा राजानः  
सपरिच्छदाः । वनस्था अपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे ॥ ४० ॥

अर्थ-शिक्षित राजा भी उन (विद्वानों) से शिक्षा का नित्य अभ्यास करे क्योंकि सुशिक्षित राजा कभी नाश को प्राप्त नहीं होता ॥ ३९ ॥ ( हाथी घोड़ा खजाना इत्यादि सब ) सामानों से युक्त बहुत से राजा विनयरहित नष्ट हो गये और बहुत से ( वे सामान ) जङ्गल में रहते हुवे भी विनय से राज्य को प्राप्त हो गये ॥ ४० ॥

“ वेनो विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः । सुदासो यवनश्चैव  
सुमुखो निमिरेव च ॥ ४१ ॥ पृथुस्तु विनयाद्वाज्यं प्राप्तवान्  
मनुरेव च । कुबेरश्च धनैश्चर्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः ॥ ४२ ॥ ”

अर्थ-वेन, नहुष, सुदास, यवन, सुमुख और निमि भी अविनय से नष्ट हुवे ॥ ४१ ॥ पृथु और मनु विनय से राज्य पा गये और कुबेर ने ( विनय से ) धनाधिपत्य पाया और गाधि के पुत्र विश्वामित्र ( विनय से ) ब्राह्मण हो गये ॥ ( ये श्लोक मनु के नहीं, क्योंकि स्वयं मनु और यवन तक की भी इन में भूतकालस्थ वर्णन किया है ) ॥ ४२ ॥ ”



त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् । आन्वीक्षिकीं  
चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्चलोकतः ॥ ४३ ॥ इन्द्रियाणां जयेयोगं समा-  
तिष्ठेद्दिवानिशम् । जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशेऽपि यत्प्रजाः ॥ ४४ ॥

अर्थ—तीनों वेदों के जानने वालों से तीनों वेद पढ़े और सनातन दण्ड-  
नीतिविद्या तथा वेदान्त पढ़े । और लोगों से व्यवहारविद्या पढ़े ॥ ४३ ॥  
इन्द्रियों के जय का रात दिन उद्योग करे क्योंकि जितेन्द्रिय ही प्रजा को  
वश में कर सकता है ॥ ४४ ॥

दशकामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च । व्यसनानि दुरन्तानि  
प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ४५ ॥ कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महो-  
पतिः । वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥ ४६ ॥

अर्थ—काम से उत्पन्न दश और क्रोध से उत्पन्न आठ ( ऐसे १८ ) व्यसनों  
को जिन का अन्त बिलना दुर्लभ है, यत्न से छोड़ देवे ॥ ४५ ॥ काम से उत्पन्न  
( १० ) व्यसनों में आसक्त हुआ राजा अर्थ और धर्म से हीन हो जाता है और  
क्रोध से उत्पन्न ( ८ ) व्यसनों में आसक्त अपने शरीर से ही ( नष्ट हो  
जाता है ) ॥ ४६ ॥

मृगयाक्षादिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः । तौर्यत्रिकं वृथाट्या च  
कामजो दशको गणः ॥ ४७ ॥ पैशुन्यं साहसं मोह ईर्ष्याऽसूयार्थ-  
दूषणम् । वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥ ४८ ॥

अर्थ—शिकार करना, जुमा खेलना, दिन में सोना, दूसरे के दोषों को  
कहना, स्त्रीसम्भोग, मद्यपान, नाचना, बजाना और बिना प्रयोजन घूमना,  
ये दश काम के व्यसन हैं ॥ ४७ ॥ चुगली, साहस, मोह, ईर्ष्या, दूसरे के गुणों  
में दोष लगाना, द्रव्यहरण, गाली देना, कठोरता; ये आठ क्रोध से उत्पन्न  
व्यसन हैं ॥ ४८ ॥

द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः । तं यत्नेन जयेत्लोभं  
तज्जावेतावुभौ गणौ ॥ ४९ ॥ पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च  
यथाक्रमम् । एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥ ५० ॥



अर्थ-जिस को सम्पूर्ण विद्वान् इन दोनों गणों का कारण बताते हैं उस लोभ को यत्न से छोड़ देवे। उसी से ये दोनों गण उत्पन्न हैं ॥ ४९ ॥ काम से उत्पन्न हुवे गण में मद्यपान, जुवा खेलना, स्त्रीप्रसंग और शिकार, इस चौकड़े को बहुत कष्ट जाने ॥ ५० ॥

दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे । क्रोधजेऽपि गणे  
विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा ॥ ५१ ॥ सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवा-  
नुपद्भिः । पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्वयसनमात्मवान् ॥ ५२ ॥

अर्थ क्रोध से उत्पन्न हुवे गण में कठोर वचन कहना, दण्ड से मारना और द्रव्य का हरण करना; इस त्रिक ३ को सदैव अति कष्ट जाने ॥ ५१ ॥ ये जो सब में साथ लगे सात व्यसन हैं, इन में पहिले पहिले (व्यसन) को जानी पुरुष भारी (व्यसन) जाने ॥ ५२ ॥

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते । व्यसन्यधोऽधोव्रजति  
स्वर्गात्यव्यसनीमृतः ॥ ५३ ॥ मौलाज्छास्त्रविदः शूरांल्लब्धलक्षान्  
कुलोद्गतान् । सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥ ५४ ॥

अर्थ-व्यसन और मृत्यु (दोनों नाश करने वाले हैं) में मृत्यु से व्यसन कष्ट है। क्योंकि व्यसनी दिन दिन अवनति में जाता है और निर्व्यसनी मर कर स्वर्ग जाता है ॥ ५३ ॥ मूल से नौकरी किये हुवे, शास्त्र के जानने वाले, शूरीर, अच्छा निशाना लगाने वाले, अच्छे कुल के और परीक्षोत्तीर्ण ७ या ८ मन्त्री रखे ॥ ५४ ॥

अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् । विशेषतोऽसहायेन  
किन्तु राज्यं महोदयम् ॥ ५५ ॥ तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं  
संधिविग्रहम् । स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥ ५६ ॥

अर्थ-जब कि सुगम काम भी एक से होना कठिन है तो विशेष कर बड़े फल का देने वाला राज्यसम्बन्धी काम एकला कैसे कर सकता है ॥ ५५ ॥ इस लिये सब (मन्त्रियों) के साथ साधारण सन्धि विग्रहकी और (दण्ड, कोश, पुर, राष्ट्र=चतुर्विध) स्थान की और द्रव्य धान्यादि की उन्नति और सब की रक्षा और जो प्राप्त है उस की शान्ति का विचार करे ॥ ५६ ॥



तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक् । समस्तानां च  
कार्येषु विदध्याद्वितमात्मनः ५७ सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन  
विपश्चिता । मन्त्रयेत्परमं मन्त्रं राजा षड्गुण्यसंयुतम् ॥ ५८ ॥

अर्थ-उन मन्त्रियों के अलग अलग और सब के मिले अभिप्राय (अलग अलग राय और मिली हुई राय) को जान कर कार्यों में अपना हित करे ॥ ५७ ॥ उन सब (मन्त्रियों) में अधिक धर्मात्मा और बुद्धिमान् ब्राह्मण (मन्त्री) के साथ राजा षड्गुणयुक्त परम मन्त्र (सलाह) करे ॥ ५८ ॥

नित्यंतस्मिन्समाश्रितः सर्वकार्याणि निक्षिपेत् । तेन साधं विनि-  
श्रित्य ततः कर्मसमारभेत् ॥ ५९ ॥ अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्रा-  
ज्ञानवस्थितान् । सम्यगर्थसमाहर्तृनमात्यान् सुपरीक्षितान् ॥ ६० ॥

अर्थ-उस (ब्राह्मण मन्त्री) में अच्छा विश्वास करता हुआ सब काम उस को सौंपे और जो करना हो, उस के साथ निश्चय करके तब उस काम को करे ॥ ५९ ॥ अन्य भी पवित्र, बुद्धिमान्, परीक्षित तथा द्रव्य के उपार्जन की युक्ति जानने वालों को मन्त्री बनावे ॥ ६० ॥

निर्वर्ततास्य यावद्विरितिकर्तव्यतानृभिः । तावतो तन्दितान्दक्षान्  
प्रकुर्वीत विचक्षणान् ॥ ६१ ॥ तेषामर्थं नियुञ्जीत शूरान्दक्षान्  
कुलोद्गतान् । शुचीनाकरकर्मन्ते भीरून्तन्निवेशने ॥ ६२ ॥

अर्थ-इस (राजा) का जितने मनुष्यों से पूरा काम निकले उतने आलस्य-रहित चतुर बुद्धिमानों को (मन्त्री) बनावे ॥ ६१ ॥ उन में शूर चतुर कुलीन मन्त्रियों को घन के स्थान में और अर्थशुचियों को रत्नों की खानि खोदवाने में, तथा हरपोकों को सहलों के भीतर जाने आने में नियुक्त करे ॥ ६२ ॥

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् । इद्विंशति कारचष्टज्ञं  
शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥ ६३ ॥ अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान्  
देशकालवित् । वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतोरज्ञः प्रशस्यते ॥ ६४ ॥

अर्थ-और दूत उस को रखे जो बहुश्रुत, हृदय के भाव आकार चेष्टाओं को जानने वाला, अन्तःकरण का शुद्ध तथा चतुर और कुलीन हो



॥ ६३ ॥ प्रीति वाला, शुद्धचित्त, चतुर, याद रखने वाला, देश काल का जानने वाला, अच्छे देह वाला, निडर और बोलने वाला राजा का दूत प्रशस्त है ॥ ( अर्थात् राजा को ऐसा दूत रखना चाहिये ॥ ६४ वें से आगे १ पुस्तक में ये ५॥ श्लोक अधिक हैं:-

[ सन्धिविग्रहकालज्ञानसमर्थनायतिक्षमान् । परैरहार्याङ्गुह्यांश्च धर्मतःकामतोऽर्थतः ॥ १ ॥ समाहर्तुं प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविपश्चितः । कुलीनान्वृत्तिसंपन्नान्निपुणान्कोशवृद्धये ॥ २ ॥ आयव्ययस्य कुशलान्गणितज्ञानऽलोलुपान् । नियोजयेद्धर्मनिष्ठान्सम्यक्कार्यार्थचिन्तकान् ॥ ३ ॥ कर्मणि चातिकुशलाह्लिपिज्ञानायतिक्षमान् । सर्वविश्वासिनः सत्यान्सर्वकार्येषु निश्चितान् ॥ ४ ॥ अकृताशांस्तथा भर्तुः कालज्ञांश्च प्रसङ्गिनः । कार्यकामोपधाशुद्धान् बाह्याभ्यन्तरचारिणः ॥ ५ ॥ कुर्यादासन्नकार्येषु गृहसंरक्षणेषु च ]

कोशवृद्धि के लिये-सन्धि और विग्रह के समय को जानने वाले, समर्थ, समय पड़े को भेल सकने वाले, शत्रुओं से न मिल जाने योग्य, धर्म अर्थ काम से शुद्ध, सब शास्त्रों के ज्ञाता, कुलीन, पुष्कल जीविका वाले और चतुर पुरुषों के इकट्ठा करने का उद्योग किया करे । आय व्यय में चतुर, हिसाब के पक्के, निर्लोभ, धर्म में प्रदुलु और कार्यों का तात्पर्य समझने वालों को नियुक्त करे । जो काम में अतिकुशल, अच्छा लिखना जानने वाले, भीड़ पड़ी को भेलने वाले, सब के विश्वासपात्र, सच्चे, सब कार्यों में निश्चित और स्वाभी पर आशा न रखने वाले ( सन्तुष्ट ), समय और प्रसङ्ग ( सौके ) के जानने वाले हों ॥ कार्य, काम और धरोहर में सच्चे, बाहर भीतर के भेदी ( मन्त्री ) लोगों को समीपी कामों और गृह की रक्षाओं में नियुक्त करे ) ॥ ६४ ॥

अमात्येदण्डआयत्तो दण्डेवैनयिकीक्रिया । नृपतौकोशराष्ट्रे च दूते सन्धिविपर्ययौ ॥ ६५ ॥ दूतएव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान् । दूतस्तत्कुरुते कर्म भिदन्ते येन भानवाः ॥ ६६ ॥

अर्थ-मन्त्री के अधीन दण्ड और दण्ड के अधीन सुशिक्षा और राजा के अधीन देश तथा सज्जाना और दूत के अधीन मेल वा बिगाड़ है ॥ ६५ ॥



दूत ही मेल कराता है और दूत ही मिले हुओं को फोड़ता है । दूत वह काम करता है जिस से मनुष्यों में भेद हो जाता है ॥ ( ५ पुस्तकों में-मानवाः=बान्धवाः । पाठ है ) ॥ ६६ ॥

सविद्यादस्य \* कृत्येषु निगूढेद्भितचेष्टितैः ।

आकारमिद्भितं चेष्टां भृत्येषु च चिकीर्षितम् ॥ ६७ ॥

इस श्लोक में राजदूत का कर्तव्य बताया गया है । अर्थ-( सः ) वह दूत (अस्य) इस राजा के (कृत्येषु) असन्तुष्ट विरुद्ध लोगों में (निगूढेद्भितचेष्टितैः) छिपे इद्भित इशारों और चेष्टाओं से ( आकारम् ) उन के आकार=सूरत शकल ( इद्भितम् ) इशारे और ( चेष्टाम् ) काम वा हरकत को ( विद्यात् ) जानने का यत्न करे ( च ) और ( भृत्येषु ) भरण पोषण योग्य पुरुषों में ( चिकीर्षितम् ) क्या करना चाहते हैं उस को जाने ॥

( इस में जो \* कृत्य शब्द है, वह राजनैतिक योगरूढि शब्द है, जिस का विवरण अमरकोष तृतीय काण्ड, नानार्थवर्ग ३, श्लोक १५८ में और उसी की अमरविशेष टीका में इस प्रकार है कि-

कृत्या क्रियादेवतयोस्त्रिषु भेद्ये धनादिभिः ॥

( अमर ३ । ३ । १५८ )

“ धनस्त्रीभूम्यादिभिर्भेदनीयो यः परराष्ट्रगतपुरुषादि  
स्तत्र कृत्याशब्दो वाच्यलिङ्गः ” टीका ॥

पराये=शत्रु के राज्य में जो कोई धन के, स्त्री के वा पृथिवी आदि के लालच से तोड़ने ( अपने अनुकूल कर लेने ) योग्य पुरुष इत्यादि है, उसको कृत्य कहते हैं और उस का वाच्य के समान लिङ्ग होता है । स्त्री-कृत्या, पुरुषः=कृत्यः, नपुंसकं=कृत्यम् ॥

ये कृत्य ४ प्रकार के होते हैं । १-क्रुद्धकृत्य, २-लुब्धकृत्य, ३-भीतकृत्य, और ४-अवमानितकृत्य । यथा-

क्रुद्धलुब्धभीताऽवमानिताः परेषां कृत्याः ॥ कौटिल्य सूत्र

जो शत्रुराज्य पर क्रोध रखते हैं वे क्रुद्ध कृत्य, जो लोभी हैं वे लुब्ध कृत्य, जो डरे हुवे हैं वे भीत कृत्य और जो शत्रु राजा से अवमान किये गये हैं वे अवमानित कृत्य कहाते हैं । इस श्लोक में राजदूत के कामों में



एक यह काम भी बताया गया है कि वह शत्रुराज्यों में छिपी इङ्गित चेष्टाओं से गुप्त रूप से शत्रुराज्य से नाराज बेदिल असन्तुष्ट Mal content पुरुषों के आकार इङ्गित और चेष्टाओं का भेद लेवे ॥

परन्तु मेधातिथि जैसे विद्वान् टीकाकार भी कृत्येषु=कार्येषु लिख कर भूल कर गये । कुल्लूक भट्ट ने भी भूल में कृत्य का अर्थ कर्त्तव्य ही लिख दिया । राघवानन्द भी भूल कर कृत्य का अर्थ कर्त्तुमिष्ट कर गये । रामचन्द्र टीकाकार भी कर्त्तव्यं कार्य लिख कर भूल में ही रहे ॥

हां सर्वज्ञनारायण टीकाकार का ध्यान कृत्य शब्द के योगरूढ अर्थ पर पहुंचा, उन्होंने ने कृत्येषु लुब्धभीतावमानितेषु अर्थ लिखा । तथा नन्दन टीकाकार ने भी कृत्येषु स्वराज्ञा भेद्येषु परपक्षस्थेषु पुरुषेषु लिख कर राजनीतिज्ञान का परिचय दिया है ॥

नवीन काल के पुस्तक मुद्राराक्षस में भी कृत्य शब्द योगरूढि प्रयुक्त हुआ है । यथा—

कृत-कृत्यतामापादिताश्चन्द्रगुप्तसहोत्थायिनो भद्रभट-  
प्रभृतयः प्रधानपुरुषाः ॥

मुद्राराक्षस अङ्क १ पृ० ३२ । ३३ तथा उसी की टीका में लिखा है कि—

स्त्रीमदमृगयाशीलावित्यादि तृतीयाङ्के वक्ष्यमाण-  
मुत्पाद्य इतो निःसार्य मलयकेतुना सह संधाय कृत-  
कृत्यताम् एते वयं देवकार्येऽवहिताः स्म इत्येवं रूपाम् ॥

इत्यादि स्थलों पर कृत्य शब्द राजनैतिक योगरूढ पाया जाता है ॥

कृत्य शब्द मही और कामन्दकीय नीतिसार आदि ग्रन्थों में भी प्रयुक्त है ॥६९॥

बुद्ध्वा च सर्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम् ।

तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथात्मानं न पीडयेन् ॥६८॥

शत्रु राजा की सब इच्छाओं को ठीक २ जान कर वैसा प्रयत्न करे जिस से ( वह ) अपने को पीडा न दे सके ॥ ६८ ॥

जाङ्गलंसस्यसंपन्नमार्यप्रायमनाविलम् । रम्यमानससामन्तं

स्वाजीव्यं देशमावसेत् ॥६९॥ धनुर्दुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्ष-  
मेव वा । गिरिदुर्गं नृदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥ ७० ॥



अर्थ-जङ्गल जहां थोड़ा घास और पानी भी हो, घान्य बहुत हो, अच्छे शिष्ट आर्य पुरुष निवास करते हों और रोगादि उपद्रवों से रहित हो, देखने में मनोहर और जिस के पास अच्छे वृक्ष पक्षी खेती और बाज़ार हों, ऐसे देश में रहे ॥ ६९ ॥ जहां धनुर्दुर्ग, सहीदुर्ग, जलदुर्ग, वृक्षदुर्ग, सेनादुर्ग वा गिरिदुर्ग हों, ऐसे किसी दुर्ग का आश्रय करके पुर वसावे ( जहां धनुषों वा भूमि की बनावट वा जल वा वृक्ष वा सेना वा पहाड़ों का, ऐसा घेरा हो जिसे दुर्ग [ क़िला ] कह सकें । जहां शत्रु को आना कठिन हो ) ॥ ७० ॥

सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत् । एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते ॥ ७१ ॥ त्रीण्याद्यान्याश्रितास्वेषां मृगगती-  
श्रयाऽपसराः । त्रीण्युत्तराणि क्रमशः प्लवङ्गमनरामराः ॥ ७२ ॥

अर्थ-सब दुर्गों में गिरिदुर्ग श्रेष्ठ है, इस लिये सब प्रयत्नों से उस का आश्रय करे । क्योंकि इस में सब से अधिक गुण हैं ॥ ७१ ॥ ( इन छः प्रकार के दुर्गों से छः प्रकार के प्राणी अपने को बचा लेते हैं जैसा कि- ) इन में से पहले ३ दुर्गों में क्रम से धनुर्दुर्ग में मृग, सहीदुर्ग में सूँसे आदि, जलदुर्ग में अप्सर= जलचर । अगले ३ में से वृक्षदुर्ग में वानर, नृदुर्ग में साधारण मनुष्य और गिरिदुर्ग में पर्वतवासी देवजाति रहते ( और अपनी रक्षा करते ) हैं ॥ ७२ ॥ यथादुर्गाश्रितानेताब्धोपहिंसन्ति शत्रवः । तथारयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम् ॥ ७३ ॥ एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः । शतं दश सहस्राणि तस्मादुर्गं विधीयते ॥ ७४ ॥

अर्थ-जैसे इन दुर्गवासियों को शत्रु पीड़ा नहीं दे सकते, वैसे ही दुर्ग के आश्रय करने वाले राजा को शत्रु नहीं मार सकते ॥ ७३ ॥ क़िले के भीतर रहने वाला एक धनुर्धर-सौ के साथ लड़ सकता है और सौ-दश हजार के साथ लड़ सकते हैं, इस लिये क़िला बनाया जाता है ॥

( ७४ में से आगे दो पुस्तकों में यह श्लोक अधिक प्रक्षिप्त है:-

[ मन्दरस्यापि शिखरं निर्मनुष्यं न शिष्यते ।

मनुष्यदुर्गं दुर्गाणां मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ]

स्वायंभुव मनुने कहा है कि दुर्गों में दुर्ग मनुष्यों का दुर्ग है । क्योंकि मन्दराचल (पर्वत) का शिखर भी मनुष्यों से रहित होता तो शत्रु उसे शेष न छोड़ते ॥ ७५ ॥



तत्स्यादायुधसंपन्नं धनधान्येन वाहनैः । ब्राह्मणैः शिल्पिभि-  
र्यन्त्रैर्यत्रसेनोदकेन च ॥ ७५ ॥ तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद्  
गृहमात्मनः । गुप्तं सर्वतुल्यं शुभं जलवृक्षसमन्वितम् ॥ ७६ ॥

अर्थ-वह दुर्ग आयुध (शस्त्रादि), धन, धान्य, वाहनों, ब्राह्मणों, कलों  
के जानने वालों, चारा, जल और इन्धन से समृद्ध हो (९ पुस्तकों में  
उदकेन च=उदकेन्दनैः । पाठ है ॥७५॥ उस किले के भीतर पर्याप्त (स्त्रीगृह,  
देवागार, आयुधमन्दिर, अग्निशालादि) और भित्तियों से रक्षित और सब  
ऋतुओं के फल पुष्पादि युक्त और सजेदी किया हुआ तथा जल और वृक्षों  
से युक्त अपना घर बनावे ॥ ७६ ॥

तदध्यास्योद्वहेद्द्वार्यां सवर्णालक्षणान्विताम् । कुले महति संभूतां  
हृदां रूपगुणान्विताम् ॥ ७७ ॥ पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव  
चत्विजम् । तेऽस्य गृहाणि कर्माणि कुर्युर्वैतातिकानि च ॥ ७८ ॥

अर्थ-उस घर में रह कर अपनी सवर्ण शुभलक्षणयुक्त बड़े कुल में उत्पन्न  
हुई मन प्रसन्न करने वाली तथा रूप और गुणों से युक्त भार्या को विवाहे ॥७७॥  
पुरोहित और ऋत्विज का वरण करे, वे इस के गृह्य कर्म (अग्निहोत्र), और  
शान्त्यादि किया करें (इन को भी किले में रखे) ॥ ७८ ॥

यजेत राजा ऋतुभिर्विविधैराप्तदक्षिणैः । धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो  
दद्याद्भोगान्यनानि च ॥ ७९ ॥ सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहार-  
येद् बलिम् । स्याच्चाग्न्यायपरोलोके वर्तत पितृवन्तृषु ॥ ८० ॥

अर्थ-राजा नाना प्रकार के बहुत दक्षिणा वाले (अश्वमेधादि) यज्ञ करे  
और ब्राह्मणों को भोग और सुवर्णवस्त्रादि धन धर्मार्थ देवे ॥ ७९ ॥ राज्य से  
प्रामाणिकों द्वारा वार्षिक बलि (मालगुजारी) उगहावे और लोक में शास्त्रा-  
नुकूल चलने में तत्पर हो, प्रजा में पिता के सा वर्त ॥ ८० ॥

अध्यक्षान्विविधान्कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चितः । तेऽस्य सर्वाण्य-  
वेक्षेरन्तृणां कार्याणिकुर्वताम् । ८१ ॥ आवृत्तानां गुरुकुलादिप्राणां  
पूजको भवेत् । नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते । ८२ ॥



अर्थ - नाना प्रकार के कामों को देखने वाले मध्यक्ष (अफसर) उन २ कामों में नियत करे, वे राजा के सब काम करने वालों के काम को देखें ॥८१॥ गुरुकुल से आये हुवे ब्राह्मणों का (घन धान्यों से) पूजन किया करे, राजाओं की यह ब्राह्मणनिधि अक्षय कही है (अर्थात् देने से कमी नहीं होती) ॥ ८२ ॥

न तं स्तेना न चामित्रा हरन्ति न च नश्यति । तस्माद्ब्राह्मणानिधा-  
तव्यो ब्राह्मणेष्वक्षयो निधिः ॥८३॥ न रुक्न्दते न व्यथते न विन-  
श्यति कर्हिचित् । वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम् ८४

अर्थ उस (ब्राह्मणार्थ दिये हुवे) निधि को चोर नहीं चुरा सकते और शत्रु नष्ट नहीं कर सकते, इस लिये राजा ब्राह्मणों में अक्षय निधि जमा करे ॥ ८३ ॥ अग्नि में जो हवन किया जाता है वह कभी गिर जाता है, कभी सूख जाता है और कभी नष्ट हो जाता है, परन्तु गुरुकुलागत ब्राह्मण के मुख में जो हवन किया जाता है उस में ये दोष नहीं होते । इस लिये अग्निहोत्रों से (उक्त) ब्राह्मण को देना श्रेष्ठ है ॥ ८४ ॥

“सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रूवे ।

प्राधीते शतसाहस्रमनन्तं वेदपारगे ॥८५॥”

पात्रस्य हि विशेषेण श्रद्धाधानतयैव च ।

अल्पं वा बहु वा प्रेत्य दानस्यावाप्स्यते फलम् ॥८६॥

अर्थ - “क्षत्रियादि को देने में बराबर फल होता है (अर्थात् न्यून अधिक नहीं), (जो क्रियारहित) अपने को ब्राह्मण कहता है, उस को देने में दूना और पढ़े हुवे को देने में १ लक्षगुणा और पूर्ण वेद पढ़े ब्राह्मण को देने से अनन्त फल होता है ॥” (यह नाथनात्र के आज कल के से ब्राह्मणब्रूवों ने बनाया जान पड़ता है) ॥८५॥ वेदाध्ययनादि पात्र के विशेष से और श्रद्धा की अति-शयता के अनुसार थोड़ा वा बहुत परलोक में दान का फल मिलता है ॥

(८६ वें से आगे दो श्लोक हैं, जिन में से पहिला ३ पुस्तकों और दूसरा १ पुस्तक और मेधातिथि के तथा राघवानन्दी टीके में पाया जाता है:-

[ एष एव परो धर्मः कृत्स्नो राज्ञ उदाहृतः । जित्वा धनानि  
संग्रामाद् द्विजेभ्यः प्रतिपादयेत् ॥१॥ देशकालविधानेन द्रव्यं  
श्रद्धासमन्वितम् । पात्रे प्रदीयते यत्तु तद्धर्मस्य प्रसाधनम् ॥२॥ ]



राजा का सारा परम धर्म यही है कि संग्राम से धन जीत कर द्विजों को बांट दे ॥ १ ॥ देशकाल के विधान से श्रद्धासहित द्रव्य जो कुछ पात्र को दिया जाता है वह धर्म का शृङ्गार है ॥ २ ॥ यह दानपात्र द्विजों ने पीछे से बढ़ा दिये जान पड़ते हैं जो कि सब पुस्तकों में नहीं पाये जाते, न सब की टीका इन पर है और आश्चर्य नहीं कि ८३ । ८४ वें भी इन्हीं दानपात्रों ने बनाये हों ) ॥ ८६ ॥

समोत्तमाधर्मैराजा त्वाहूतः पालयन्प्रजाः। न निवर्तत संग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥ ८७ ॥ संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम् । शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥ ८८ ॥

अर्थ-प्रजा का पालन करता हुवा राजा, सब उत्तम वा' हीन शत्रु के साथ बुलाने पर क्षत्रियधर्म को स्मरण करता हुवा युद्ध से न हटे ॥ ८७ ॥ संग्राम से न भागना और प्रजा का पालन करना तथा ब्राह्मणों की सेवा; ये राजा के परम कल्याण करने वाले कर्म हैं ॥ ८८ ॥

आहवेषुमिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः । युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराह्मुखाः ॥ ८९ ॥ न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानोरणोरिपून् । न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वालित तेजैः ॥ ९० ॥

अर्थ-संग्रामों में एक को एक मारने की इच्छा करते हुवे राजा लोग परम शक्ति से लड़ते हुवे पीछे न हटने वाले स्वर्ग को प्राप्त होते हैं ॥ ८९ ॥ लड़ता हुवा रण में शत्रुओं को फूट ( छिपे ) आयुधों से न मारे और कर्णों ( वाण जो फिर निकलने कठिन हों ) उन से और विष में बुझाये हुवों तथा जलतों से भी न मारे ॥ ( पूर्व श्लोकों में योद्धा को स्वर्गप्राप्ति कही थी, अब उस संग्राम के ऐसे नियमों का वर्णन है जो अदृष्टार्थ हैं अर्थात् जिन नियमों से लड़ने वालों को मानुषी स्वाभाविक अक्रूरता से लड़ते हुवे अदृष्ट पारलौकिक फल मिल सकता है क्योंकि केवल राज्यलोभार्थ जैसे बने वैसे जीत कर लेने वाले स्वार्थी योद्धा उत्तम गति के अधिकारी नहीं हो सके ) ॥ ९० ॥

न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् । न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीतिवादिनम् ॥ ९१ ॥ न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् । नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥ ९२ ॥



अर्थ-( रथ से उतरे ) भूमि पर स्थित को न सारे, न नपुंसक को, न हाथ जोड़े हुये को, न सिर के बाल खुले हुवे को, न बैठे को और न "तुम्हारा हूं" ऐसे कहते को ( सारे ) ॥ ९१ ॥ न सोते को, न कवच उतारे हुवे को, न नङ्गे को, न ब्रेह्मधियार को, न बेलड़ने वाले को, न ( तमाशा ) देखने वाले को और न दूसरे से समागम करने वाले को ( सारे ) ॥ ९२ ॥

नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम् । न भीतं न परावृत्तं

सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ९३ ॥ यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः । भर्तुर्यद् दुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ ९४ ॥

अर्थ-न दूटे आयुध वाले को, न ( पुत्रादि मरने से ) आर्त को, न जिस के बहुत घाव हुये हों उस को, न डरपोक को और न भागने वाले को, सत्पुरुषों के धर्म का अनुस्मरण करता हुआ ( सारे ) ॥ ९३ ॥ जो योद्धा युद्ध में डरकर पीछे हटा हुआ शत्रुओं से मारा जाता है, वह स्वामी का जो कुछ पाप है उस सब को पाता है ॥ ९४ ॥

यच्चास्य सुकृतं किञ्चिदमुत्रार्थमुपार्जितम् । भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ॥ ९५ ॥ रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून् स्त्रियः । सर्वद्रव्याणि कुर्यं च यो यज्जयति तस्य तत् ॥ ९६ ॥

अर्थ-पीछे हटके सरे का जो कुछ परलोक के लिये उपार्जन किया हुआ सुकृत है वह सम्पूर्ण स्वामी लेलेता है ॥ ९५ ॥ रथ, घोड़े, हाथी, छत्र, धन, धान्य, ( बैल आदि ) पशु, स्त्रियों और सब द्रव्यों तथा घृत तैलादि; ( इन में से ) जो जिस को जीते वह उस का है ॥ ९६ ॥

राज्ञश्च दयुरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः ।

राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम् ॥ ९७ ॥

अर्थ-( लूट में से ) उत्तम धन और वाहनादि राजा को देवे, यह वेदों से सुना है । साथ मिल कर जीती वस्तु विभागपूर्वक राजा सब योद्धों को देदेवे ॥

( ९७ वें से आगे १ पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:-

[ भृत्येभ्यो विभजेदर्थान्नैकः सर्वहरो भवेत् ।

नाममात्रेण तुष्येत छत्रेण च महीपतिः ॥ ]



( राजा ) नौकरों को धन बांट दे, अकेला ही सब न लेले । क्योंकि राजा को तो छत्र और नाममात्र से प्रसन्न होना चाहिये ) ॥ ९७ ॥

एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो धोधधर्मः सनातनः ।

अस्मादुर्मान्न चयवेत क्षत्रियोऽन्नं रणे रिपून् ॥ ९८ ॥

अर्थ—यह सनातन अनुपस्कृत=अनिन्दित योद्धाओं का धर्म कहा । रण में शत्रुओं को मारता हुआ क्षत्रिय इस धर्म को न छोड़े ॥ ९८ ॥

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षोत्प्रयत्नतः । रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥ ९९ ॥ एतच्चतुर्विधं विद्यात्पुरुषार्थप्रयोजनम् । अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतन्द्रितः ॥ १०० ॥

अर्थ—जो नहीं मिला है उस के लेने की इच्छा करे, मिले हुवे की प्रयत्न से रक्षा करे और जो रक्षित है उस को बढ़ावे और बड़े को अच्छे योग्य पात्रों को देवे ॥ ९९ ॥ यह चार प्रकार का पुरुषार्थप्रयोजन जाने । आलस्यरहित होकर नित्य अच्छे प्रकार इस का अनुष्ठान करे ॥ १०० ॥

अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षोदवेक्षया । रक्षितं वर्धयेद् वृद्ध्या वृद्धं दानेन निक्षिपेत् ॥ १०१ ॥ नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः । नित्यं संवृतसर्वार्थो नित्यं छिद्रानुसार्यरे ॥ १०२ ॥

अर्थ—जो नहीं प्राप्त है उस को दण्ड से ( जीतने की ) इच्छा करे और प्राप्त की देखने से रक्षा करे और रक्षित को व्यापार से बढ़ावे और बड़े को दान से जमा कर देवे ॥ १०१ ॥ सदा दण्ड को उद्यत रखे और सदा फैले पुरुषार्थ वाला रहे और सदा अपने सम्पूर्ण अर्थों को गुप्त रखे और शत्रु के छिद्रों को सदा देखे ॥ १०२ ॥

नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत् । तस्मात्सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत् ॥ १०३ ॥ अमाययैव वतत न कथञ्चन मायया । बुद्धेयैतारिप्रयुक्तां च मायां नित्यं स्वसंवृतः ॥ १०४ ॥

अर्थ—नित्य उद्यत दण्ड वाले राजा से सम्पूर्ण जगत् डरता है, इसलिये दण्ड ही से सम्पूर्ण जीवों को स्वाधीन करे ॥ १०३ ॥ छल से रक्षित व्यवहार



करे, किसी प्रकार छल से न करे और अपनी रक्षा करता हुआ शत्रु के किये छल को जानता रहे ॥ १०४ ॥

नास्य छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु ।

गूहेत्कूर्मइवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥ १०५ ॥

अर्थ- ( ऐसा यत्न करे कि जिस में ) अपने छिद्रों को शत्रु न जाने, परन्तु शत्रु के छिद्रों को आप जाने । कछवे के समान राजा अपने ( राज्यसम्बन्धी ) अङ्गों को गुप्त रखे और अपने छिद्र का संरक्षण करे ॥ ( १०५ से आगे १ पुस्तक में यह श्लोक अधिक है :-

[ न विश्वसेद्विश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।

विश्वासाद्रयमुत्पन्नं मूलादपि निकृन्तति ॥ ]

अविश्वासी पर विश्वास न करे, विश्वासी पर अति विश्वास न करे, क्योंकि विश्वास से उत्पन्न भय जड़ से काट देता है ) ॥ १०५ ॥

वकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत् ।

वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ॥ १०६ ॥

अर्थ- बगला सा अर्थों ( प्रयोजनों ) का चिन्तन करे और सिंह सा पराक्रम करे और वृक सा मार डाले और शश सा भाग जावे ॥ १०६ ॥

एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः । तानानयेद्वशं सर्वान्सामादिभिरुपक्रमैः ॥ १०७ ॥ यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः । दण्डेनैव प्रसह्यतांश्छिनकैर्वशमानयेत् ॥ १०८ ॥

अर्थ- इस प्रकार विजय करने वाले राजा के जो विरोधी हों उन को सामादि उपायों से वश में करे ॥ १०७ ॥ यदि प्रथम के तीन ( साम दाम भेद ) उपायों से न माने तौ दण्ड से ही छल करके क्रम से वश में लावे ॥ १०८ ॥

सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पण्डिताः । सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये ॥ १०९ ॥ यथोदुरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति । तथा रक्षेन्मृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः ॥ ११० ॥



अर्थ-पण्डित लोग सामादि चार उपायों में सदा राज्य की वृद्धि के लिये साम और दण्ड की प्रशंसा करते हैं ॥ १९९ ॥ जैसे खेती नलाने वाला धान्यों की रक्षा करता है और तृण को उखेड़ डालता है, वैसे ही राजा राष्ट्र की रक्षा और विरुद्ध चलने वालों का नाश करे ॥ ११० ॥

मोहाद्राजास्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया। सोचिराद्भृशयतेरा-

॥ ज्याज्जीविताञ्च सब्रान्धवः ॥ १११ ॥ शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा। सधाराज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात् ॥ १११ ॥

अर्थ-जो राजा अज्ञान से बिना विचारे अपने राज्य को दुःख देता है वह शीघ्र ही राज्य तथा जीवन और बान्धवों से भ्रष्ट हो जाता है ॥ १११ ॥ जैसे शरीर के शोषण से प्राणियों के प्राण क्षीण होते हैं, वैसे राजाओं के भी प्राण राष्ट्र को पीड़ा देने से क्षीण होते हैं ॥ ११२ ॥

॥ राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत् । सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते ॥ ११३ ॥ द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम् । तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् ॥ ११४ ॥

अर्थ-राज्य के संग्रहार्थ यह उपाय (जो आगे कहते हैं) करे, क्योंकि अच्छे प्रकार सुरक्षित राष्ट्र वाला राजा सुखपूर्वक बढ़ता है ॥ ११३ ॥ दो, तीन, पांच तथा सौ ग्रामों के बीच में संग्रह करने वाले पुरुषों का समूह स्थापन करे (अर्थात् कलकटरी इत्यादि राष्ट्र के स्थानों का स्थापन करे) ॥ ११४ ॥

ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा । विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च ॥ ११५ ॥ ग्रामदोषान्समुत्पन्नान् ग्रामिकः शतकैः स्वयम् । शंसेद्ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिनम् ॥ ११६ ॥ विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत् । शंसेद्ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम् ॥ ११७ ॥ यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिभिः । अन्नपानेभ्यनादीनि ग्रामिकस्तान्यवाप्नुयात् ॥ ११८ ॥

अर्थ-एक गांव का अधिपति नियत करे, वैसे ही दश गांव का, और बीस का, और सौ का, तथा हजार का ॥ ११५ ॥ ग्रामाधीश उत्पन्न हुवे



ग्रामों के दोषों को आप धीरे से जान कर ( अपने योग्य न ससक्ते ) तो दश ग्राम के अधिपति को सूचित करे । इसी प्रकार दश ग्राम वाला बीस ग्राम वाले को ॥ ११६ ॥ और बीस वाला यह सब सौ वाले को और सौ वाला हजार वाले को स्वयम् सूचित करे ॥ ११७ ॥ और अन्न पान इन्धनादि जो ग्रामवासियों को प्रतिदिन देने योग्य हों उन को उस २ ग्राम पर नियत राजपुरुष ग्रहण करे ॥ ११८ ॥

दशीकुलं तु भुञ्जीत विंशी पञ्चकुलानि च । ग्रामं ग्रामशताध्यक्षः  
सहस्राधिपतिः पुरम् ॥ ११९ ॥ तेषां ग्राम्याणिकार्याणि पृथक्कार्या-  
णि चैव हि । राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः ॥ १२० ॥

अर्थ—( छः बैल का एक मध्यम हल, ऐसे दो हलों से जितनी पृथिवी जोती जाय उस को “ कुल ” कहते हैं ) दश ग्राम वाला एक “ कुल ” का भोग ग्रहण करे । और बीस गांव वाला पांच कुल का । और सौ ग्राम वाला एक मध्यम ग्राम तथा हजार गांव वाला एक मध्यम नगर का भोग ग्रहण करे ( अर्थात् यह २ उन २ की जीविका हो ) ॥ ११९ ॥ उन के ग्रामसम्बन्धी तथा अन्य कामों को एक प्रीति वाला राजा का ( प्रतिनिधि ) मन्त्री आलस्यरहित होकर देखे ॥ १२० ॥

नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम् । उच्चैः स्थानं घोररूपं  
नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥ १२१ ॥ स ताननुपरिक्रामेत्सर्वानिव सदा  
स्वयम् । तेषां वृत्तं परिणयेत्सम्यग्ग्राष्ट्रेषु तच्चरैः ॥ १२२ ॥

अर्थ—प्रति नगर में एक एक बड़े कुल का प्रधान, सेना आदि से भय का दे सकने वाला और तारों में ( शुक्रादि ) ग्रह सा तेजस्वी, कार्य का द्रष्टा नगराधिपति नियत करे ॥ १२१ ॥ वह नगराधिपति सर्वदा आप उन सब ग्रामाधिपतियों के ऊपर दौरा करे और राष्ट्र में उन के समाचारों को उस विषय में नियुक्त दूतों से जाने ॥ १२२ ॥

राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः । भृत्या भवन्ति प्रा-  
येण तेभ्योरक्षेदिमाः प्रजाः ॥ १२३ ॥ ये कार्यभ्योर्थमेव गृह्णीयुः  
पापचेतसः । तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम् ॥ १२४ ॥



अर्थ-क्योंकि रक्षा के लिये नियत राजा के नौकर प्रायः दूसरों के द्रव्य को हरण करने वाले और वञ्चक होते हैं । राजा उन से इन प्रजाओं की रक्षा करे ॥ १२३ ॥ जो पापबुद्धि कार्पाथियों से द्रव्य ही ग्रहण करते हैं उन को राजा सर्वस्व हरण करके देश के बाहर निकाल देवे ॥ १२४ ॥

राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेप्यजनस्य च । प्रत्यहं कल्पयेद्  
वृत्तिस्थानं कर्मानुरूपतः ॥ १२५ ॥ पणोदेयोऽवकृष्टस्य षडुकृष्टस्य  
वेतनम् । पाणमासिकस्तथा च्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः ॥ १२६ ॥

अर्थ-राजा के काम में नियुक्त स्त्रियों और काम करने वाले पुरुषों की उन के कर्म के अनुसार पदवी और वृत्ति सदा नियत किया करे ( अर्थात् वेतन में घटी वा वृद्धि आदि करे ) ॥ १२५ ॥ निकृष्ट चाकर को वेतन एक पण ( जो आगे कहेंगे ) देवे और छः सहीने में दो कपड़े और एक सहीने में द्रोण भर धान्य देवे और उत्कृष्ट=उत्तम काम वाले को छः गुणा देवे ( मध्यम को त्रिगुणा समझ लो ॥ ५ पुस्तकों में वेतनं=भक्तकम्, पाठ है ) ॥ १२६ ॥

क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम् । योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य  
वणिजोदापयेत् करान् ॥ १२७ ॥ यथा फलेन युज्येत राजा कर्त्ता  
च कर्मणाम् । तथा वैक्ष्य नृपो राज्ञे कल्पयेत् सततं करान् ॥ १२८ ॥

अर्थ-बेचना खरीदना और रास्त के खर्च, रक्षादि के खर्च और उन के निर्वाह को देख कर वनियों से कर दिवावे ॥ १२७ ॥ कामों के करने वाले और राजा, दोनों को फल अच्छा रहे, ऐसा विचार कर सदा राज्य में कर ( टैक्स ) लगावे ॥ १२८ ॥

यथात्पालपमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः । तथात्पालपो  
ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाद्विकः करः ॥ १२९ ॥ पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा  
पशुहिरण्ययोः । धान्यानां मष्टमोभागः षष्ठोद्वादश एव वा ॥ १३० ॥

अर्थ-जैसे जोक, बछड़ा और भौंरा धीरे धीरे अपनी खुराक को खींचते हैं, वैसे राजा भी थोड़ा थोड़ा करके राष्ट्र से वार्षिक कर ग्रहण करे ( अर्थात् थोड़ा कर लेवे, उजाड़ न दे ) ॥ १२९ ॥ पशु और सुवर्ण के लाभ का पचासवां भाग और धान्य का आठवां वा छठा वा बारहवां भाग ( पैदावार के श्रम को देख कर ) राजा ग्रहण करे ॥ १३० ॥



आददीताथषड्भागंद्रुमांसमधुसर्पिषाम्। गन्धौषधिरसानांच  
पुष्पमूलफलस्य च ॥१३१॥ पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य  
च । मृण्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च ॥ १३२ ॥

अर्थ-वृक्ष "मांस" मधु घृत गन्ध औषधिरस पुष्प मूल फल और-॥१३१॥  
पत्र शाक तृण चर्म और निही वा पत्थर की चीजों की आमदनी का छठा  
भाग लेवे ( दो पुस्तकों में द्रुमांस=द्रुमाणां, पाठ है ) ॥ १३२ ॥

म्रियमाणोप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम् । न च क्षुधाऽस्य  
संसीदेच्छ्रोत्रियोविषयेव सन् १३३ यस्य राज्ञस्तुविषये श्रोत्रियः  
सीदति क्षुधा । तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति ॥१३४॥

अर्थ-मरता हुआ भी राजा, श्रोत्रिय से कर ग्रहण न करे और इस के  
राज्य में रहता हुआ श्रोत्रिय क्षुधा से पीड़ित न हो ॥१३३॥ जिस राजा के  
राज्य में श्रोत्रिय ( वेदपाठी ) क्षुधा से पीड़ित होता है उस की क्षुधा से  
उस राजा का राज्य भी थोड़े ही दिनों में बैठ जाता है ॥ १३४ ॥

श्रुतवृत्ते विदित्वा स्य वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् । संरक्षेत्सर्वतश्चैनं  
पिता पुत्रमिवौरसम् ॥१३५॥ संरक्ष्यमाणो राज्ञाऽयं कुरुते धर्म-  
मन्त्रहम् । तेनायुर्वर्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च ॥ १३६ ॥

अर्थ-राजा इस का धेदाध्ययनपूर्वक कर्मानुष्ठान जान कर धर्मयुक्त जीविका  
नियत कर देवे और सब प्रकार इस की रक्षा करे । जैसे पिता औरस पुत्र की  
(रक्षा करता है) ॥१३५॥ क्योंकि राजा से रक्षा किया हुआ यह (श्रोत्रिय) नित्य  
धर्म करता है, उस पुण्य से राजा की आयु, धन और राज्य बढ़ता है ॥१३६॥

यत्किञ्चिदपि वर्षस्य दापयेत्करसंज्ञितम् । व्यवहारेण जीवन्तं  
राजाराष्ट्रे पृथग्जनम् ॥१३७॥ कारुकाडिलिपनश्चैव शूद्रांश्चा-  
त्मोपजीविनः । एकैकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपतिः ॥१३८॥

अर्थ-राजा अपने राज्य में व्यापार वाले से भी कुछ वार्षिक थोड़ा सा  
कर दिलावे ॥ १३७ ॥ लोहार बढ़ई आदि और दासी से राजा महीने में  
एक एक काम ( राजकर के बदले ) करावे ॥ १३८ ॥



नोच्छिन्द्यादात्मनोमूलं परेषां चातिवृणया। उच्छिन्द्यात्म-  
नोमूलमात्मानं तांश्च पीडयेत्॥१३९॥ तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात्कार्यं  
वीक्ष्य महीपतिः। तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति संमतः॥१४०॥

अर्थ-( प्रजा के स्नेह से अपना कर न लेना ) अपना मूलच्छेद और  
लालच से (बहुत कर ग्रहण करना) औरों का मूलच्छेद (है)। ये दोनों काम  
राजा न करे, अपना मूलच्छेद करता हुआ ( कोश के क्षीण होने से ) आप  
क्लेश को प्राप्त होगा और ( अधिक कर ग्रहण करने से ) प्रजा क्लेश को प्राप्त  
होगी ॥ १३९ ॥ राजा काम को देखकर न्यायानुसार तीक्ष्ण और नम्र हो  
जाया करे क्योंकि इस प्रकार का राजा सब के संमत होता है ॥ १४० ॥

अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्भूतम् । स्थापयेदासने  
तस्मिन्निखलः कार्यक्षणे नृणाम् ॥ १४१ ॥ एवं सर्वं विधायेदमिति  
कर्त्तव्यमात्मनः। युक्तश्चैवाऽप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः॥१४२॥

अर्थ-आप मनुष्यों के कामों के देखने में निखल ( रोगादिवश मुकूहनों  
को न देख सकता ) हो ती मुख्य मन्त्री जो धर्म का जानने वाला कुटुम्बान्  
जितेन्द्रिय और कुलीन हो, उस की उस जगह मनुष्यों के काम देखने पर  
योजना करे ॥ १४१ ॥ अपने संपूर्ण कर्त्तव्य को इस प्रकार पूरा करके प्रमाद-  
रहित और युक्त राजा इन प्रजाओं की सब से रक्षा करे ॥ १४२ ॥

विक्रोशन्तयोयस्य राष्ट्रादध्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः । संपश्यतः सभृ-  
त्यस्य मृतः स न तु जीवति॥१४३॥ क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजाना-  
मेव पालनम् । निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते॥१४४॥

अर्थ-भृत्यों के सहित जिस राजा के देखते हुवे चित्ताती हुई प्रजा  
घोटों से हरण की जाती हैं, वह राजा जीता नहीं किन्तु मरा है ॥ १४३ ॥  
प्रजा का पालन ही क्षत्रिय का परमधर्म है । इस लिये अपने धर्म ही से  
राजा को फल भोग करना ठीक है ॥ १४४ ॥

उत्थाय पश्चिमेयामे कृतशौचः समाहितः । हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चाचर्य  
प्रविशेत्सशुभां सभाम् ॥ १४५ ॥ सन्नस्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य  
विसर्जयेत् । विसृज्य च प्रजाः सर्वामन्त्रयेत्सहसन्निभिः ॥ १४६ ॥



अर्थ—( राजा ) पहरभर के तड़के उठकर शीघ्र ( मुखमार्जन स्नानादि ) कर, एकाग्रचित्त हो, अग्निहोत्र और ब्राह्मणों का पूजन करके सुन्दर सभा में प्रवेश करे ॥ १४१ ॥ उस सभा में स्थित संपूर्ण प्रजा को निवटेरे से प्रसन्न करके विसर्जन करे, अनन्तर मन्त्रियों से ( राज्यसम्बन्धी सन्धिविग्रहादि ) मन्त्र ( सलाह ) करे ॥ १४२ ॥

गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः । अरण्येनिःशलाके वा मन्त्रयेदविभावितः ॥ १४७ ॥ यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः । सकृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोपि पार्थिवः ॥ १४८ ॥

अर्थ—पर्वत पर चढ़कर वा एकान्त घर में वा वृक्षरहित वन में वा एकान्त में, जहां भेद लेने वाले न पहुंच सकें, मन्त्र करे ॥ १४७ ॥ जिस के मन्त्र को निलकर अन्य मनुष्य नहीं जान पाते, वह कोशहीन राजा भी सम्पूर्ण पृथिवी को भोगता है ॥ १४८ ॥

जडमूकान्धधिरांस्तिर्यग्गोनान्वयोतिगान् । स्त्रीस्तेच्छव्याधित व्यङ्गान्मन्त्रकालेऽपसारयेत् ॥ १४९ ॥ भिन्दन्त्यवमतामन्त्रं तिर्यग्गोनास्तथैव च । स्त्रियश्चैवविशेषेण तस्मात्तत्रादृतोभवेत् ॥ १५० ॥

अर्थ—जड़ मूक अंधिर अन्ध पक्षी आदि, वृद्ध स्त्री स्तेच्छ रोगी और विकृत अङ्ग वालों को मन्त्र के समय में ( वहां से ) हटा देवे ॥ १४९ ॥ पूर्वोक्त जड़ादि अपमान को प्राप्त हुवे मन्त्रभेद कर देंगे हैं । ऐसे ही शुक सारिकादि पक्षी और विशेष करके स्त्री मन्त्रभेदक हैं । इस लिये उन को ( अपमान न करे ) आदरपूर्वक हटादेवे ॥ १५० ॥

मध्यंदिनेर्धरात्रेवा विश्रान्तोविगतक्लमः । चिन्तयेदुर्मकामार्थान् साधं तैरेकएव वा ॥ १५१ ॥ परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपा-  
र्जनम् । कन्यानां संप्रदानं च कुमारानां च रक्षणम् ॥ १५२ ॥

अर्थ—दोपहर दिन में वा अर्धरात्रि में चित्त के खेद और शरीर के क्लेश से रहित हुआ मन्त्रियों के साथ वा अकेला धर्म अर्थ काम का चिन्तन करे ॥ १५१ ॥ यदि धर्म अर्थ काम परस्पर विरुद्ध हों तब इन के विरोधदोष के परिहार द्वारा उपार्जन और कन्याओं के दान और पुत्रों के रक्षण शिक्षणादि ( का चिन्तन करे ) ॥ १५२ ॥



दूतसंप्रेषणं चैव कार्यशेषं तथैव च । अन्तःपुरप्रचारं च प्रणि-  
धीनां च चेष्टितम् ॥ १५३ ॥ कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म पञ्चवर्गं च  
तत्त्वतः । अनुरागापरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च ॥ १५४ ॥

अर्थ—परराज्य में दूत भेजने और शेष कामों तथा अन्तःपुर अर्थात् महल में  
जो प्रचार हो रहा है उसका और प्रतिनिधियों के काम का (विचार करे) ॥ १५३ ॥  
सम्पूर्ण अष्टविध कर्म और पञ्चवर्ग का तत्त्व से विचार करे और अनायास के  
अनुराग विराग को जाने और मण्डल के प्रचार (कौन लड़ना चाहता है और  
कौन सुलह करना चाहता है) को विचारे ॥ (यहां आठ प्रकार के वा पांच प्रकार  
के कामों की गिनती नहीं लिखी है इस लिये इस मेधातिथि के भाष्य से  
सुद्धृत करके उशनःस्मृति के श्लोकों को सार्थ लिखना उचित समझते हैं:—

[ आदाने च विसर्गे च तथा प्रेषनिषेधयोः ।

पञ्चमे चार्थवचने व्यवहारस्य चेक्षणे ॥

दण्ड्यशुद्धयोस्तथा युक्तस्तेनाष्टगतिको नृपः । ]

भेंट वा कर लेना, वेतन वा पारितोषिकादि देना, दुष्टों को त्यागना—  
पृथक् करना, अधिकारियों को सतिभेद का स्वीकार न करना (वा विधि और  
निषेध), बुरी प्रवृत्तियों को नहीं करना (अपील में रद्द करना), व्यवहार पर  
दृष्टि, अपराधियों को दण्ड और पराजितों की भूल के प्रायश्चित्त कराना, ये  
आठ हैं ॥ और दूसरे प्रकार से भी मेधातिथि ने गणना की है । यथा—व्यापार,  
पुलवाधना, किले बनवाना, उन की स्वच्छता का ध्यान, हाथी पकड़ना, खानि  
खोदना, जङ्गलों को बसाना और वन कटवाना ८ ॥ अन्य भी कई प्रकार से  
भाष्यकारों ने गणना की हैं ॥ अब पांच की गणना सुनिये—कोई तो मानते हैं  
कि १ कर्मारम्भोपाय २ पुरुषसंपत्ति ३ हानि का प्रतीकार ४ देश काल का  
विभाग ५ कार्यसिद्धि । और कोई कहते हैं कि १ कापटिक २ उदासीन ३  
वैदेह ४ गृहपति ५ तापस; ये ५ प्रकार के बनावटी साधुवेष बनाये अन्य राजों  
की ओर से अन्य राजों का भेद जानने को फिरा करते हैं, उन के लिये वैसे  
ही अपने यहां रखे ॥ इसी भाव के २ श्लोक नन्दन की टीका में मिलते हैं:—

[ वने वनेचराः कार्याः श्रमणाटविकादयः । परप्रवृत्तिज्ञानार्थं

शीघ्राचारपरंपराः ॥ परस्य चैते बोद्धव्यास्तादृशैरेव तादृशाः ।

चारसंचारिणः संस्थाः शठाश्वारूढसंज्ञिताः ] ॥ १५४ ॥



मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम् । उदासीनप्रचारं च  
शत्रोश्चैव प्रयत्नतः ॥१५५॥ एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समा-  
सतः । अष्टौ चान्याः समाख्याता द्वादशैव तु ताः स्मृताः ॥१५६॥

अर्थ-१ मध्यम, २ जीतने की इच्छा करने वाले, ३ उदासीन और ४ शत्रु  
के प्रचार को प्रयत्न से ( राजा विचारे ) ॥ १५५ ॥ ये चार प्रकृतियां संक्षेप  
से मण्डल की मूल हैं और आठ अन्य कही गई हैं ( इन ४ के मित्र ४ और  
४ के शत्रु ४=८ ) ये सब बारह हैं ॥ १५६ ॥

अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थदण्डाख्याः पञ्च चापराः । प्रत्येकं कथिता  
ह्येताः संक्षेपेण द्विसप्ततिः ॥१५७॥ अनन्तरमरिं विद्यादरिसे-  
विनमेव च । अरेरनन्तरं मित्रमुदासीनं तयोः परम् ॥ १५८ ॥

अर्थ-अमात्य देश दुर्ग कोश और दण्ड, ये पाञ्च और भी ( प्रकृति ) हैं ।  
( पूर्वोक्त मूल प्रकृति चार और शाखा प्रकृति आठ, ऐसे ) बारह की पांच  
पांच प्रत्येक की प्रकृति हैं ( ये मिल कर साठ होती हैं और वे मूल बारह  
मिला कर ) संक्षेप से बहत्तर होती हैं ॥ १५७ ॥ शत्रु और शत्रु के सेवियों  
को समीप ही जाने । उस के अनन्तर मित्र को जाने । पश्चात् उदासीन को  
अर्थात् इन पर उत्तरोत्तर दृष्टि रखें ) ॥ १५८ ॥

तान्सर्वानभिसंदध्यात्सामादिभिरुपक्रमैः । व्यस्तैश्चैव समस्तैश्च  
पौरुषेण नयेन च ॥१५९॥ सन्धिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव  
च । द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत्सदा ॥ १६० ॥

अर्थ-उन सब को सामादि उपायों से वश में करे । एक एक उपाय से  
या सब से और पुरुषार्थ तथा नीति से ( वश में करे ) ॥१५९॥ १ मेल २ लड़ाई  
३ शत्रु पर चढ़ जाना, ४ उस की राह देखना, ५ अपने दो भाग कर लेना  
और ६ दूसरे का आश्रय कर लेना; इन छः गुणों को सर्वदा विचारे ॥ १६० ॥

आसनं चैव यानं च सन्धिं विग्रहमेव च । कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत  
द्वैधं संश्रयमेव च ॥१६१॥ सन्धिं तु द्विविधं विद्याद्राजाविग्रहमेव  
च । उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६२ ॥



अर्थ-आसन यान संधि विग्रह द्वैध और आश्रय; इन गुणों को अवसर देख कर जब जैसा उचित हो तब वैसा करे ॥ १६१ ॥ सन्धि दो प्रकार की जाने और विग्रह भी दो प्रकार का । यान आसन और संश्रय भी दो दो प्रकार के हैं ॥ १६२ ॥ समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च । तदात्वायतिसंयुक्तः संधिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः ॥ १६३ ॥ स्वयंकृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा । मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः ॥ १६४ ॥

अर्थ-तत्काल वा आगामी समय के फललाभ के लिये (जहां दूसरे राजा के साथ किसी और राजा पर चढ़ाई की जाती है उस को) "समानयानकर्मा" सन्धि और ( "हम इन पर चढ़ाई करेंगे, तुम उस पर करो" इस प्रकार मेल करके दो भिन्न भिन्न राज्यों पर चढ़ाई करने के लिये जो मेल किया जाता है उस को ) "असमानयानकर्मा" कहते हैं, इन दो को दो प्रकार की सन्धि जाने ॥ १६३ ॥ शत्रु के जयरूप कार्य के लिये ( शत्रु के व्यथनादि जान कर उचित मार्गशीर्षादि ) काल में वा बिना काल में स्वयं युद्ध करना, एक विग्रह और अपने मित्र के अपकार होने से ( उस की रक्षा को ) जो युद्ध है सो दूसरा है, ( ऐसे ) दो प्रकार का विग्रह कहा है ॥ १६४ ॥

एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदुच्छया । संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते ॥ १६५ ॥ क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात् पूर्वकृतेन वा । मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥ १६६ ॥

अर्थ-दैवयोग से अत्यावश्यक कार्य में अकेला शत्रु पर चढ़ाई करना या मित्र के साथ होकर शत्रु पर चढ़ाई करना, यह दो प्रकार का "यान" ( छापा ) है ॥ १६५ ॥ पूर्व जन्म के दुष्कृत से वा यहीं की बुराई से क्षीण राजा का चुप चाप बैठा रहना १ आसन है और मित्र के अनुरोध से चुप चाप बैठे रहना २ दूसरा, ये दो प्रकार के आसन कहे हैं ॥ १६६ ॥

घलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये । द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः ॥ १६७ ॥ अर्थसंपादनार्थं च पीड्यमानस्य शत्रुभिः । साधुषुष्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६८ ॥

अर्थ-अर्थसिद्धि के लिये कुछ सेना को एक स्थान पर स्थापित करके, शेष सेना के साथ राजा दुर्ग में रहे, यह दो प्रकार का द्वैध षड्गुण्यगुण लोग कहते



हैं ॥१६७॥ शत्रुओं से पीड़ित राजा को प्रयोजन की सिद्धि के लिये किसी का शरण लेना और सज्जनों के साथ व्यपदेश के लिये शरण लेना ( अर्थात् विना शत्रुपीड़ा भी किसी बड़े राजा के आश्रय रहना, जिस से अन्य राजों को इस बड़े के आश्रय का भय रहे ) ऐसे दो प्रकार का संश्रय कहा है ॥ १६८ ॥

यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः । तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदासन्धिं समाश्रयेत् ॥१६९॥ यदाप्रकृष्टामन्येत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम् । अत्युच्छ्रितं तथात्मानं तदाकुर्वीतविग्रहम् ॥१७०॥

अर्थ-जब भविष्यत्काल में निश्चय अपना आधिक्य जाने और वर्तमान समय में अल्प पीड़ा देख पड़े, उस समय में सन्धि का आश्रय करे ॥ १६९ ॥ जब ( अमात्यादि ) सब प्रकृति अत्यन्त बड़ी हुई ( उन्नत ) जाने और अपने को अत्यन्त बलिष्ठ देखे तब विग्रह करे ॥ १७० ॥

यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम् । परस्य विपरीतं च तदा यायाद्विपुं प्रति ॥१७१॥ यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च । तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सान्त्वयन्नरीन् ॥१७२॥

अर्थ-जब अपनी सेना हर्षयुक्त और (द्रव्यादि से) पुष्ट प्रतीत हों और शत्रु की निर्बल हों, तब शत्रु का पीछा करे ॥ १७१ ॥ परन्तु जब वाहन और बल से आप क्षीण हों, तब धीरे धीरे शत्रुओं को प्रयत्न से शान्त करता हुआ आसन पर ठहरा रहे ॥ १७२ ॥

मन्येतारिं यदाराजा सर्वथाबलवत्तरम् । तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत्कार्यमात्मनः ॥ १७३ ॥ यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत् । तदा तु संश्रयेत्क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम् ॥ १७४ ॥

अर्थ-जब लड़ाई में राजा शत्रु को सर्वथा अतिबलवान् समझे तब कुछ सेना के साथ आप क़िले का आश्रय करे और कुछ सेना लड़ने की सोरखों पर रखे, इन दोनों प्रकार से अपना कार्य साधे ॥ १७३ ॥ जब शत्रुसेना की बहुत चढ़ाई हो ( और आप क़िले के आश्रय से भी न बच सके ) तब शीघ्र किसी धार्मिक बलवान् राजा का आश्रय ( पनाह ) लेवे ॥ १७४ ॥



निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्यादोऽरिबलस्य च । उपसेवेत तं नित्यं  
सर्वयत्नैर्गुरुं यथा ॥ १७५ ॥ यदि तत्रापि संपश्येद्दोषं संश्रयका-  
रितम् । सुयुद्धमेव तत्रापि निर्विशङ्कः समाचरेत् ॥ १७६ ॥

अर्थ-जो मित्र-प्रकृतियों का और अपने शत्रुओं के बल का निग्रह करे,  
उस का सदा सम्पूर्ण यत्नों से गुरुवत् सेवन करे ॥ १७५ ॥ परन्तु यदि आश्रय  
क्रिये जाने से भी दोष देखे (अर्थात् उस में भी कुछ धोका समझे) तब उस  
के साथ भी निःशङ्क होकर युद्ध करे ॥ १७६ ॥

सर्वापायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः । यथास्याभ्यधिका  
नस्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ॥ १७७ ॥ आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं  
च विचारयेत् । अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः ॥ १७८ ॥

अर्थ-नीति का जानने वाला राजा सामादि सब उपायों से ऐसा करे  
कि जिस में उस के मित्र उदासीन और शत्रु बहुत न होवें ॥ १७७ ॥ सम्पूर्ण  
भावी गुण दोष और वर्तमान समय के कर्तव्य और सब व्यतीत हुएों को  
भी विचारे कि ठीक २ किस २ में क्या २ गुण दोष निकले ॥ १७८ ॥

आयत्यांगुणदोषज्ञस्तदात्वेक्षिप्रनिश्चयः । अतीते कार्यशेषज्ञः  
शत्रुभिर्नाभिभूयते ॥ १७९ ॥ यथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीन  
शत्रवः । तथा सर्वं संविदध्यादेष्ट सामासिको नयः ॥ १८० ॥

अर्थ-जो होने वाले कार्यों के गुण दोष को जानने वाला ( अच्छे का  
प्रारम्भ करता है और बुरे को छोड़ देता है ) और उस समय के गुण दोषों  
को शीघ्र निश्चय करके काम करता है और हुवे कार्यों के शेष कर्तव्य का जानने  
वाला है, वह शत्रुओं से नहीं दबता ॥ १७९ ॥ जिस में मित्र उदासीन और शत्रु  
अपने को दबाने न पावें, वैसे सब विधान करे। यह संक्षेप से नीति है ॥ १८० ॥

यदा तु यानमातिष्ठेदरिराष्ट्रं प्रति प्रभुः । तदाऽनेन विधानेन  
यायादरिपुरं शनैः ॥ १८१ ॥ मार्गशीर्षे शुभे मासि यायादयात्रां  
महीपतिः । फाल्गुनं वाऽथ चैत्रं वा मासौ प्रति यथाबलम् ॥ १८२ ॥



अर्थ-जब राजा शत्रु के राज्य में जाने को यात्रा (चढ़ाई) करे तब इस विधि से धीरे २ शत्रु के राज्य में गमन करे (कि- ) ॥ १८१ ॥ जैसी अपनी सेना वा अन्य बल हो, तदनुसार शुभ मार्गशीर्ष अथवा फाल्गुन वा चैत्र के महीने में राजा यात्रा करे ॥ १८२ ॥

अन्येष्वपितुकालेषु यदापश्येदध्रुवं जयम् । तदायायाद्विग्रह्यैव  
व्यसने चोत्थिते रिपोः ॥ १८३ ॥ कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं  
च यथाविधि। उपगृह्यास्पदं चैव चारान्सम्यग्विधाय च ॥ १८४ ॥

अर्थ-और दूसरे कालों में भी जब निश्चय जय सम्झे तब यात्रा करे, चाहे ती अपनी ओर से ही युद्ध ठानकर अथवा जब शत्रु की ओर से उपद्रव उठे ॥ १८३ ॥ अपने राज्य और दुर्ग की रक्षा करके और यात्रासम्बन्धी ठीक ठीक विधान करके डेरा तम्बू आदि लेकर और दूतों को भले प्रकार नियत कर (यात्रा करे) ॥ १८४ ॥

संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम् । सांपरायिक  
कल्पेन यायादरिपुरं शनैः ॥ १८५ ॥ शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे  
युक्ततरो भवेत् । गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरोरिपुः ॥ १८६ ॥

अर्थ-(जल, स्थल, आकाश; वा ऊंचे, नीचे, सम;) तीन प्रकार के मार्गों का शोधन करके और छः प्रकार का अपना बल लेकर संग्रामकल्प की विधि से धीरे २ शत्रु के नगर को यात्रा करे ॥ (६ प्रकार का बल यह है-१ मार्ग रोकने वाले वृक्षादि कटवाना, २ गढ़ों को बराबर करना, ३ नदी वा झीलियों के पुल बांधना वा नौकादि रखना, ४ मार्ग रोकने वालों को नष्ट करना, ५ जिन से शत्रु को सहारा मिलना सम्भव हो उन्हें अपना बनाना, ६ रसद और सेनादि तैयार रखना ॥ अथवा १ हस्त्यारोही, २ अश्वारोही, ३ रथारोही, ४ पैदल सेना, ५ कोश और ६ नौकर चाकर) ॥ १८५ ॥ जो मित्र छिप कर शत्रु से मिला हुआ हो और जो पहिले छुड़ाया फिर आया हुआ (नौकर) हो, इन से सचेत रहे क्योंकि ये (दोनों शत्रुता करें तौ) बड़ा दुःख दे सकते हैं ॥ १८६ ॥  
दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा । वराहमकराभ्यां वा  
सूच्या वा गरुडेन वा ॥ १८७ ॥ यतश्च भयमाशङ्केत्ततो विस्तारयेद्



॥ घलम् । पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम् ॥ १८८ ॥

अर्थ—( दण्ड के आकार व्यूह की रचना दण्डव्यूह कहलाती है । ऐसे ही शकटादि व्यूह भी जानिये । उस में आगे सेना के अफसर, बीच में राजा, पीछे सेनापति, दोनों बगल हाथी, उन के पास घोड़े और उन के आस पास पैदल । इस प्रकार लम्बी रचना दण्डव्यूह कहाती है । ऐसे ) दण्डव्यूह से मार्ग चले अथवा शकट, वराह, मकर, मूची और गरुड के तुल्य आकृति वाले व्यूहों से ( जहां जैसा उचित समझे वहां वैसे यात्रा करे ) ॥ १८९ ॥ जिस ओर डर समझे उस ओर सेना बढ़ावे । सर्वदा आप ( कमलाकार ) पद्मव्यूह में रहे ॥ १८८ ॥

सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षुनिवेशयेत् । यतश्च भयमाशङ्केत् प्राचीं तां कल्पयेद्दिशम् ॥ १८९ ॥ गुल्मांश्चस्थापयेदाप्तान् कृत संज्ञान्समन्ततः । स्थानेयुद्धेचकुशलानभीरूनविकारिणः ॥ १९० ॥

अर्थ—सेनापति और सेनानायकों को सब दिशाओं में नियुक्त करे और जिस दिशा में भय समझे उसे पहिली ( पूर्व ) दिशा कल्पना करे ॥ १८९ ॥ सेना के स्तम्भ के समान दृढ़ आप्त पुरुषों को सिद्ध २ संज्ञा धरकर सब ओर स्थापित करे जो स्थान और युद्ध में प्रवीण तथा निर्भय हों और बिगड़ने वाले न हों ॥ १९० ॥

संहतान्योध्येदल्पान्कामं विस्तारयेद्वहून् । सूच्या वज्रेण चै-  
वैतान्व्यूहेन व्यूह्य योध्येत् ॥ १९१ ॥ स्यन्दनाश्रयैः समे युद्धेदन्पे-  
नौद्विपैस्तथा । वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले ॥ १९२ ॥

अर्थ—अल्प योद्धा हों तो उन को इकट्ठा करके युद्ध करावे और बहुतों को चाहे कैलाकर लड़ावे । पूर्वोक्त सूच्याकार वा वज्राकार व्यूह से रचना करके इन से युद्ध करावे ॥ १९१ ॥ बराबर की पृथिवी पर रथों और अश्वों से युद्ध करे पानी की जगह हाथी और नावों से, वृक्षलताओं से घिरी पृथिवी पर धनुषों और कण्टकादिरहित स्थल में खड्गचर्मादि आयुधों से ( लड़े ) ॥ १९२ ॥

कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पञ्चालान्शूरसेनजान् । दीर्घाल्लघूंश्चैव-  
नरानग्रानीकेषुयोजयेत् ॥ १९३ ॥ प्रहर्षयेद्वलं व्यूह्य तांश्च सम्यक्-  
परीक्षयेत् । चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन्योध्यतामपि ॥ १९४ ॥



अर्थ-कुरुक्षेत्रनिवासी और मत्स्यदेश के निवासी तथा पञ्चाल और शूरसेनदेशनिवासी नाटे और ऊँचे मनुष्यों को सेना के आगे करे ( क्योंकि ये रणकर्कश वीर होते हैं ) ॥ १९३ ॥ व्यूह की रचना करके उन को उत्साहित करे और उन की परीक्षा करे । शत्रुओं से लड़ते हुवे भी उन की चेष्टाओं को जाने ( कि कैसे लड़ते हैं ) ॥ १९४ ॥

उपरुध्वारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत् । दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ॥ १९५ ॥ भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा । समवरकन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा ॥ १९६ ॥

अर्थ-शत्रुओं को घेर कर देश को उच्छिन्न करे और निरन्तर घास, अन्न जल और इन्धन को नष्ट करे ॥ १९५ ॥ तालाब और शहरपनाह और घेरे भी तोड़ डाले और शत्रु को निर्बल करे और रात्रि में कष्ट देवे ॥ १९६ ॥

उपजप्यानुपजपेद् बुध्येतैव च तत्कृतम् । युक्ते च दैवे युध्येत जयप्रेप्सुरपेतभीः ॥ १९७ ॥ साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक् । विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन ॥ १९८ ॥

अर्थ-शत्रु को मन्त्री आदि को तोड़ कर भेद लेवे । और उस के इसी काम का भेद जाने । यदि दैव सहायक हो तो निहर होकर जय की इच्छा करने वाला ऐसे युद्ध करे ॥ १९७ ॥ (होसके तौ) साम, दान, भेद, इन में से एक २ से वा तीनों से शत्रु को जय करने का प्रयत्न करे, (पहले) युद्ध से कभी नहीं ॥ १९८ ॥

अनित्योविजयोयस्माद् दृश्यतेयुद्धमानयोः । पराजयश्च संग्रामे तस्माद्गुणं विवर्जयेत् ॥ १९९ ॥ त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसम्भवे । तथा युध्येत संपन्नोविजयेत रिपून्वथा ॥ २०० ॥

अर्थ-(संग्राम में) लड़ने वालों के जय पराजय अनित्य देखे जाते हैं । इस लिये (अन उपायों के होते) युद्ध न करे ॥ १९९ ॥ पूर्वोक्त तीनों उपायों से जय संभव न हो तौ संपन्न (हस्ती अश्वादि से युक्त) जिस प्रकार शत्रुओं को जीते, उस प्रकार लड़े ॥ २०० ॥

जित्वा संपूजयेद्देवान्ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान् । प्रदद्यात्परिहारांश्च ख्यापयेदभयानि च ॥ २०१ ॥ सर्वेषां तु विदित्वैषां समासेन



चिकीर्षितम् । स्थापयेत्तत्र तद्वंश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम् ॥२०२॥

अर्थ-परराज्य को जीतकर वहां देवता और धार्मिक ब्राह्मणों का पूजन करे और उस देश वालों को परिहार ( लड़ाई के समय जिन दीन पुरुषों की हानि हुई हो, उन के निर्वाहार्थ ) देवे और अभय की प्रसिद्धि करे ॥२०१॥ ( शत्रु राजा और ) उन सब के ( मन्त्र्यादि के ) अभिप्राय को संक्षेप से जानकर उस(शत्रु)राजा के वंश में हुवे पुत्रादि को उस गद्दी पर बैठावे और "यह करो, यह न करो" तथा उस के अन्य विषयों के नियम (अहद) स्वीकार करावे २०२ प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्मान्यथोदितान् । रत्नैश्च पूजयेदेनं

प्रधानपुरुषैः सह ॥२०३॥ आदानमप्रियकरं दानं च प्रियकारकम् । अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते ॥२०४॥

अर्थ-उन के यथोदित धर्मों ( रिवाजों ) को प्रमाण करे और रत्नों से प्रधान पुरुषों के साथ उस का पूजन करे ( अर्थात् मये वजीरों के उस गद्दी पर बैठावे राजा को खिलत देवे ) ॥ २०३ ॥ यद्यपि अभीक्षित पदार्थों का लेना अप्रिय और देना ( सब को ) प्रिय है । तथापि समयविशेष में लेना और देना दोनों अच्छे हैं ॥ २०४ ॥

सर्वं कर्मेदमायत्तं विधाने दैवमानुषे ।

सथोर्दैवमचिन्त्यं तु मानुषे विद्यते क्रिया ॥ २०५ ॥

अर्थ-यह सम्पूर्ण कर्म दैव तथा मनुष्य के अधीन है । परन्तु उन दोनों में दैव अचिन्त्य है ( उस की चिन्ता व्यर्थ है ) इस लिये मनुष्य के अधीन अंश में कार्य किया जाता है ॥

( २०५ से आगे ऊहों भाष्यों में प्राचीन भाष्यकार मेधातिथि का भाष्य इन ३ श्लोकों पर अधिक है जो कि अब अन्य भाष्यों वा मूल पुस्तकों में नहीं पाये जाते । प्रतीत होता है कि ये श्लोक पीछे से भट्ट होगधे वा किये गये:-

[ दैवेन विधिनाऽयुक्तं मानुष्यं यत्प्रवर्तते । परिक्लेशेन महता तदर्थस्य समाधकम् ॥१॥ संयुक्तस्यापि दैवेन पुरुषकारेण वर्जितम् । विना पुरुषकारेण फलं क्षेत्रं प्रयच्छति ॥२॥ चन्द्रार्काद्या ग्रहा वायु-रग्निरापस्तथैव च । इह दैवेन साध्यन्ते पौरुषेण प्रयत्नतः ॥३॥ ]



जब कभी दैव की विमुखता में पुरुषार्थ किया जाता है, तब भी अधिक कष्ट उठाने से काम बन ही जाता है ॥१॥ और दैव की अनुकूलता में पुरुषार्थ न किया जाय तो जैसे बोया हुआ ही बीज खेती से मिलता है, (वैसे पूर्व पुरुषार्थ का ही फल होता है) ॥२॥ चन्द्र सूर्य आदि ग्रह, वायु और अग्नि तथा बादल सब संसार में यज्ञपूर्वक ईश्वरीय पुरुषार्थ से ही सध रहे हैं ॥ ३ ॥ ) ॥ २०५ ॥

सह वापि व्रजेद्युक्तः संधिं कृत्वा प्रयत्नतः ।

मित्रं भूमिं हिरण्यं वा संपश्यंस्त्रिविधं फलम् ॥२०६॥

अर्थ—अथवा मित्रता, सुवर्ण, भूमि; यह तीन प्रकार का यात्रा का फल देखते हुवे उस के साथ सन्धि करके वहां से गमन करे ( अर्थात् मित्रता या कुछ रुपया या भूमि लेकर उस के साथ प्रयत्न से सुलह कर चला आवे ) ॥ २०६ ॥

पाणिग्राहं च संप्रेक्ष्य तथा क्रन्दं च मण्डले । मित्रादयाप्यमित्रा-  
द्वा यात्राफलमवाप्नुयात् ॥२०७॥ हिरण्यभूमिसंप्राप्त्या पार्थिवो  
न तथैधते । यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायति क्षमम् ॥२०८॥

अर्थ—( जो पराये राज्य का जय करते राजा के पीछे राज्य दबाता हुआ राजा आवे उस को ) मण्डल में “ पाणिग्राह ” ( कहते हैं ) और ( जो उस को ऐसा करने से रोके उस को ) “ क्रन्द ” ( कहते हैं ) दोनों को देख कर मित्र से वा अमित्र से यात्रा का फल ग्रहण करे ( ऐसा न करे जिस से पाणिग्राह वा क्रन्द अपने से बिगड़ जावें ) ॥ २०७ ॥ राजा सुवर्ण और भूमि को पाकर वैसा नहीं बढ़ता, जैसा ( वर्तमान में ) दुर्बल भी आगामी काल में काम देने योग्य स्थिर मित्र को पाकर बढ़ता है ॥ २०८ ॥

धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च । अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघु  
मित्रं प्रशस्यते ॥२०९॥ प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव  
च । कृतज्ञं धृतिमन्तं च कष्टमाहुररिं बुधाः ॥ २१० ॥

अर्थ—धर्मज्ञ, कृतज्ञ, प्रसन्नचित्त, प्रीति करने वाला, स्थिर कार्य का आरम्भ करने वाला, छोटा मित्र अच्छा होता है ॥२०९॥ बुद्धिमान्, कुलीन, शूर, चतुर, दाता, कृतज्ञ और धैर्य वाले शत्रु को विद्वान् लोग कठिन कहते हैं ॥२१०॥



आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता । स्थूललक्ष्यं च सतत-  
मुदासीनगुणोदयः ॥ २११ ॥ क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरी-  
मपि । परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्यमविचारयन् ॥ २१२ ॥

अर्थ-सभ्यता, मनुष्यों की पहिचान, शूरता, कपालुता और मोटी २ बातों पर ऊपरी लक्ष्य रखना; यह उदासीन गुणों का उदय है ॥ २११ ॥ कल्याण करने वाली, संपूर्ण धान्यों को देने वाली और पशुवृद्धि करने वाली भूमि को भी राजा अपनी रक्षा के लिये विचार न करता हुवा छोड़ देवे ॥ २१२ ॥

आपदर्थे धनं रक्षेद्द्वारान् रक्षेद्गुनैरपि । आत्मानं सततं रक्षेद्द्वारै-  
रपि धनैरपि ॥ २१३ ॥ सह सर्वाः समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्यापदो  
भृशम् । संयुक्तांश्च वियुक्तांश्च सर्वोपायान्सृजेद् बुधः ॥ २१४ ॥

अर्थ आपत्ति (की निवृत्ति) के लिये धन की रक्षा करे और धनों से स्त्रियों की रक्षा करे और अपने को स्त्री और धनों से भी निरन्तर रक्षित करे ॥ २१३ ॥ बहुत सी आपत्ति एक साथ उत्पन्न होती देखे तो (उन के हटाने को) बुद्धिमान् ( सामादि ) सब ही उपाय अलग २ वा मिलाकर करे ॥ २१४ ॥

उपेतारमुपेयं च सर्वोपायांश्च कृत्स्नशः । एतत्त्रयं समाश्रित्य  
प्रयतेतार्थसिद्धये ॥ २१५ ॥ एवं सर्वमिदं राजा सह संमन्त्र्य  
मन्त्रिभिः । व्यायम्यालुत्य मध्याह्ने भोक्तुमन्तःपुरं विशेत् ॥ २१६ ॥

अर्थ-उपाय करने वाले और उपाय के योग्य साध्य और उपाय, इन तीनों का ठीक २ आश्रय करके अर्थसिद्धि के लिये प्रयत्न करे ॥ २१५ ॥ उक्त प्रकार से सम्पूर्ण राजवृत्ति को मन्त्रियों के साथ विचार कर स्नान तथा ( शस्त्र के अभ्यास द्वारा ) व्यायाम ( कसरत ) करके मध्याह्न में भोजन को अन्तःपुर में प्रवेश करे ॥ २१६ ॥

तत्रात्मभूतैः कालज्ञैरहार्यैः परिचारकैः । सुपरीक्षितमन्त्राद्य-  
मदान्मन्त्रैर्विषापहैः ॥ २१७ ॥ विषघ्नैरगदैश्चास्य सर्वद्रव्याणि  
योजयेत् । विषघ्नानि च रत्नानि नियतोधारयेत्सदा ॥ २१८ ॥

अर्थ उस अन्तःपुर में भोजनकाल के भेद जानने वाले, दूट कर शत्रुपक्ष में न मिल जाने योग्य, अपने सेवकों के द्वारा सिद्ध कराया हुवा और (चकी-



रादि पत्तियों से ) परीक्षित और विष के दूर करने वाले मन्त्रों ( गुप्त विचारों ) से शुद्ध हुवे अन्न का भोजन करे ॥ २१७ ॥ राजा के सब भोज्य द्रव्यों में विष का नाश करने वाली दवा डाले और विष के दूर करने वाले रत्नों का नियम से सदा ( राजा ) धारण करे ॥ २१८ ॥

परीक्षिताः स्त्रियश्चैनं वयजनीदकधूपनैः । वेषाभरणसंशुद्धाः  
स्पृशेयुः सुसमाहिताः ॥२१९॥ एवं प्रयत्नं कुर्वीत यानशय्या-  
सनाशने । स्नाने प्रसाधने चैव सर्वालङ्कारकेषु च ॥ २२० ॥

अर्थ-परीक्षा की हुई, वेष आभूषणों से शुद्ध, एकाग्रचित्त स्त्रियां पक्का पानी धूप गन्ध से राजा की सेवा करें ॥ २१९ ॥ इसी प्रकार का ( परीक्षादि ) प्रयत्न वाहन, शय्या, आसन, भोजन, स्नान, अनुलेपन और सब अलङ्कारों में भी करे ॥ २२० ॥

भुक्तवान् विहरेच्चैव स्त्रीभिरन्तःपुरे सह । विहृत्य तु यथाकालं  
पुनःकार्याणिचिन्तयेत् ॥२२१॥ अलंकृतश्च संपश्येदायुधीयं पुन-  
र्जनम् । वाहनानि च सर्वाणि शस्त्राण्याभरणानि च ॥२२२॥

अर्थ-भोजन करके इसी अन्तःपुर में स्त्रियों के साथ कुछ देर टहले । फिर ( राजसम्बन्धी ) कामों का विचार करे ॥ २२१ ॥ शस्त्राभूषणादि अलङ्कार धारण किये हुवे, आयुध से जीने वालों (सवार सिपाही आदि) और संपूर्ण वाहनों तथा शस्त्रों और आभूषणों को देखे ॥ २२२ ॥

संध्यांचोपास्यशृणुयादन्तर्वेश्मनिशस्त्रभृत् । रहस्याख्यायिनां  
चैव प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥२२३॥ गत्वाकक्षान्तरं त्वन्यत्समनु-  
ज्ञाप्य तं जनम् । प्रविशेद्भोजनार्थं च स्त्रीवृतोऽन्तःपुरं पुनः ॥२२४॥

अर्थ-फिर सन्ध्योपासन करके निवासगृह के एकान्त स्थान में शस्त्र धारण किये हुवे, गुप्त समाचार कहने वाले दूतों और प्रतिनिधियों के समाचार और कामों को सुने ॥२२३॥ अन्य कमरे में उन का विसर्जन कर अन्तःपुर की स्त्रियों के साथ फिर से भोजन के लिये अन्तःपुर में जावे ॥ २२४ ॥

तत्र भुक्त्वा पुनः किञ्चित्तूर्यघोषैः प्रहर्षितः । संविशेत्तु यथाकाल-



मुत्तिष्ठेच्चगतक्रमः ॥ २२५ ॥ एतद्विधानमातिष्ठेदरोगः पृथिवी-  
पतिः । अस्वस्थः सर्वमेतत्तु भृत्येषु विनियोजयेत् ॥ २२६ ॥

—\*\*\*—

इति मानवे धर्मशास्त्रे ( भृगुप्रोक्तायां संहितायां )

राजधर्मानाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अर्थ- वहां भोजन करके फिर थोड़े गाने बजाने से प्रसन्न किया हुआ  
उचित काल में शयन करे, पुनः (४ घड़ी के तड़के) विश्रान्त होकर उठे ॥ २२५ ॥  
रोगरहित राजा यह सब इस प्रकार से ( आप ही ) करे और यदि अस्वस्थ  
हो तो भृत्यों से यह सब कार्य करावे ॥ २२६ ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे

सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥



ओ३म्

## अथाष्टमोऽध्यायः

व्यवहारान्दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः । मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव  
विनीतः प्रविशेत्सभाम् ॥ १ ॥ तत्रासीनः स्थितो वापि पाणिमुदाम्य  
दक्षिणम् । विनीतवेषाभरणः पश्येत्कार्याणि कार्याणाम् ॥ २ ॥

अर्थ- विशेष करके नीति से सुशिक्षित राजा व्यवहारों को देखने को  
ब्राह्मणों और मन्त्र (सलाह) के जानने वाले मन्त्रियों के साथ सभा में प्रवेश  
करे ॥ १ ॥ विनययुक्त, वेष आभूषण धारण करके उस (सभा) में बैठा या खड़ा  
हुवा दाहिने हाथ को उठाकर काम वालों के कामों को देखे ॥ २ ॥

प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः ।

अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक् पृथक् ॥ ३ ॥

अर्थ-(जो कि) अष्टादश १८ व्यवहार के मार्गों में नियत कार्य हैं उन को  
देशव्यवहार और शास्त्र द्वारा समझे हुये हेतुओं से पृथक् २ नित्य (विचारे)।  
वे अठारह आगे कहे हैं ॥ इस में " निबद्धानि=विविधानि " यह पाठभेद  
सेधातिथि ने व्याख्यात किया है । तथा एक पुस्तक में इस तीसरे श्लोक से  
आगे एक श्लोक यह अधिक पाया जाता है:-

[ हिंसां यः कुरुते कश्चिद्देयं वा न प्रयच्छति ।

स्थाने ते द्वे विवादस्य भिन्नोऽष्टादशधा पुनः ॥ ]

कोई किसी की हिंसा करे वा देने योग्य न देवे, ये दो [ फौजदारी व  
दीवानी ] विवाद के मुख्य स्थान हैं । फिर अष्टादश १८ प्रकार का विवाद है ॥ ३ ॥  
तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः । संभूय च समु-  
त्थानं दत्तस्यानपकर्म च ॥ ४ ॥ वेतनस्यैव चादानं संविदश्च  
व्यतिक्रमः । क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः ॥ ५ ॥  
सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके । स्तेयं च साहसं चैव



स्त्रीसंग्रहणमेव च ॥६॥ स्त्रीपुं धर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वयएव च ।  
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह ७ एषु स्थानेषु भूयिष्ठं वि-  
वादं चरतां नृणाम् धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात् कार्यं विनिर्णयम्

अर्थ-उन में पहिला १ ऋणाऽदान है कि ऋण लेकर न देना वा बिना दिये मांगना, २ निक्षेप=धरोहर, ३ बिना स्वामी होने के बेचना, ४ सार्के का व्यापार, ५ दान दिये को फिर लेलेना ॥४॥ ६ लौकरी का न देना, ७ इकरारनामों के विरुद्ध चलना, ८ खरीदने बेचने का झगडा, ९ पशुस्वामी और पशुपाल का झगडा, ॥ ५ ॥ १० सरहद्द की लड़ाई, ११ कही बात कहना, १२ नारपीट १३ चोरी, १४ जबरदस्ती धनादि का हरण करना, १५ परस्त्री का लेलेना ॥ ६ ॥ १६ स्त्री और पुरुष के धर्म की व्यवस्था, १७ धन का भाग, १८ जुवा और जानवरों की लड़ाई में हार जीत का दाव लगाना । संसार में ये अठारह व्यवहार प्रवृत्ति के स्थान हैं ॥ ७ ॥ ( इन ऋणाऽदानादि ) व्यवहारों में बहुत झगड़ने वाले पुरुषों का सनातनधर्म के अनुसार कार्यनिर्णय करे ॥ ८ ॥

यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम् । तदानियुञ्ज्या द्विद्वांसं  
ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥९॥ सोऽस्य कार्याणि संपश्येत्सभ्यैरेव त्रि-  
भिवृतः । सभामेव प्रविश्याग्यामासीनः स्थितएव वा ॥ १० ॥

अर्थ-जब राजा, आप ( किसी कारण ) कार्यदर्शन न करसके ( अर्थात् कार्याधिकादि में आप सब मुकद्दमों को न देखसके ) तब विद्वान् ( नीतिज्ञ ) ब्राह्मण को कार्य देखने में नियुक्त करे ॥ ९ ॥ वह ब्राह्मण तीन सभ्य पुरुषों के ही साथ, सभा में ही प्रवेश करके, एकाग्र खड़े हुवे वा बैठकर राजा के देखने के सब कामों को देखे ॥ १० ॥

यस्मिन्देशे निषीदन्ति विप्रावेदविदस्त्रयः । राज्ञश्चाधिकृतो वि-  
द्वान् ब्राह्मणस्तां सभां विदुः ॥११॥ धर्मो विदुस्त्वधर्मेण सभां यत्रो-  
पतिष्ठते । शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विदुस्तत्र सभासदः ॥ १२ ॥

अर्थ-जिस देश में वेदों के जानने वाले ३ ब्राह्मण ( राजद्वार में ) रहते हैं और राजा के अधिकार को पाया हुआ १ विद्वान् ब्राह्मण रहता है, उस सभा को ब्रह्मा की सभा जानते हैं ॥ ११ ॥ जिस सभा में अधर्म से धर्म को



बींधा जाता है ( उस सत्य को क्लेश देने वाले ) शल्य (कांटे) को जो सभासद् नहीं निकालते, तब उसी अधर्मरूप कांटे से वे सभासद् बिंधते हैं ( अर्थात् सभासद् लोग मुकद्दमें की पेचीदगी को न निकालें तो पापभागी होते हैं ।  
 एक पुस्तक में यह पाठभेद है कि "निकलन्ति विद्वांसोऽत्र सभासदः" इस पक्ष में यह अर्थ है कि उन कांटे को विद्वान् सभासद् निकालते हैं ) ॥ १२ ॥

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् । अब्रुवन्विब्रुवन्वापि नरोभवति किल्विषी ॥ १३ ॥ यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्राऽनृतेन च । हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥ १४ ॥

अर्थ—या तो सभा (कचहरी) न जाना, जावे तो सच कहना । कुछ न बोले या झूठ बोले तो अनुष्य पापी होता है ॥ ( ८ पुस्तकों में "सभा वा न प्रवेष्टव्या" पाठभेद है और एक में "सभायां न प्रवेष्टव्यम्" पाठभेद भी देखा जाता है ) ॥ १३ ॥ जिस सभा में सभ्यों के देखते हुवे धर्म, अधर्म से और सब, झूठ से नष्ट होता है, वहां के सभासद् ( उस पाप से ) नष्ट होते हैं ॥ १४ ॥

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः । तस्माद्दुर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥ १५ ॥ वृषो हि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् । वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्दुर्मं न लोपयेत् ॥ १६ ॥

अर्थ—नष्ट हुवा धर्म ही नाश करना है और रक्षित हुवा धर्म रक्षा करता है । इस लिये धर्म को नष्ट न करना चाहिये, जिस से नष्ट हुवा धर्म हमारा नाश न करे ॥ १५ ॥ भगवान् धर्म को "वृष" कहते हैं, उस को जो नष्ट करता है उस को देवता "वृषल" जानते हैं । इस लिये धर्म का लोप न करे ॥ १६ ॥

एक एव सुहृद्दुर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः । शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्वि गच्छति ॥ १७ ॥ पादोऽधर्मस्य कर्त्तारं पादः साक्षिणमृच्छति । पादः सभासदः सर्वान् पादो राजानमृच्छति ॥ १८ ॥

अर्थ—एक धर्म ही मित्र है, जो मरने पर भी साथ चलता है, अन्य सब शरीर के साथ ही नाश को प्राप्त हो जाता है ॥ १७ ॥ ( दुर्ब्यवहार के करने से, अधर्म के चार भाग हैं, उन में ) एक भाग अधर्म करने वाले को लगता है, दूसरा भाग झूठा साक्ष्य देने वाले को, तीसरा सभासदों को और चौथा राजा को लगता है ॥ १८ ॥



राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः । एनोगच्छति  
कर्तारं निन्दाहीयत्र निन्द्यते ॥१९॥ जातिमात्रोपजीवी वा कामं  
स्याद्ब्राह्मणब्रुवः । धर्मप्रवक्ता नृपतेन तु शूद्रः कथञ्चन ॥२०॥

अर्थ-जिस सभा में असत्यवादी वा पापकर्ता की ठीक ठीक खुराई  
( निन्दा ) की जाती है, वहां राजा और सभासद् निष्पाप हो जाते हैं  
और ( उस अधर्म ) करने वाले को ही पाप पहुंचता है ॥ १९ ॥ जिस की  
जातिमात्र से जीविका है ( किन्तु वेदादि का पूर्ण ज्ञान नहीं ) ऐसा अपने  
को ब्राह्मण कहने वाला पुरुष चाहे ( अभाव में ) धर्म का प्रवक्ता हो, परन्तु  
शूद्र कभी नहीं ॥ ( इस का यह तात्पर्य नहीं है कि ब्राह्मणकुलोत्पन्न कुपट  
लोग धर्मप्रवक्ता हों, किन्तु एक तो ऐसा पुरुष हो जो ब्राह्मणकुल में उत्पन्न  
मात्र हुवा है, वेदाध्ययनादि विशेष विद्या नहीं रखता; दूसरा शूद्रकुलोत्पन्न  
हो और वह भी विशेषविद्या से हीन हो तो इन दोनों में वह उत्तम है जो  
कि ब्राह्मणकुल में उत्पन्न है ) ॥ २० ॥

यस्य शूद्रस्तु कुरुते राज्ञो धर्मविवेचनम् । तस्य सीदति तद्राष्ट्रं  
पट्के गौरिव पश्यतः ॥२१॥ यद्राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रान्त-  
मद्विजम् । विनश्यत्याशु तत्कृत्स्नं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम् ॥२२॥

अर्थ-जिस राजा के यहां धर्म का निर्णय शूद्र करता है, उस का वह राज्य,  
देखते हुवे कीचड़ में गौ सा ( फंस ) पीड़ा को प्राप्त होजाता है ॥ २१ ॥ जिस  
राज्य में शूद्र और नास्तिक अधिक हों और द्विज न हों, वह सम्पूर्ण राज्य  
दुर्भिक्ष और व्याधि से पीडित हुवा शीघ्र नाश को प्राप्त हो जाता है ॥२२॥

धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः । प्रणम्य लोकपालेभ्यः  
कार्यदर्शनमारभेत् ॥२३॥ अर्थानर्थावुभौ बुद्ध्वा धर्माधर्मौ च  
केवलौ । वर्णक्रमेण सर्वाणि पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥ २४ ॥

अर्थ-( राजा ) धर्मासन ( गद्दी ) पर बैठ कर, शरीर ढके, स्वस्थचित्त,  
लोकपालों ( जिन ८ दिव्यगुणों से राजा को युक्त होना चाहिये ) को नम-  
स्कार ( आदर ) करके काम देखना आरम्भ करे ( अर्थात् अच्छी तरह बज-  
लास पर बैठकर मुकुटमों को देखे ) ॥ २३ ॥ अर्थ अनर्थ दोनों को तथा केवल



धर्म और अधर्म को जान कर वर्णक्रम से ( अर्थात् प्रथम ब्राह्मण का, फिर क्षत्रिय का-इस क्रम से ) कार्य वालों के सम्पूर्ण कार्यों को देखे ॥ २४ ॥

बाह्यैर्विभावयेल्लिङ्गैर्भावमन्तर्गतं नृणाम् । स्वरवर्णैर्द्विताकारै-  
श्चक्षुषा चेष्टितेन च ॥२५॥ आकारैरिद्वितैर्गत्या चेष्टया भाषि-  
तेन च । नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ २६ ॥

अर्थ-मनुष्यों के बाहर के लक्षण-स्वर(आवाज़) और (शरीर का) वर्ण और नीचे ऊपर देखना, आकार ( पसीना रोमाञ्च आदि ) और चक्षु तथा चेष्टा से भीतरी अभिप्राय को समझे ॥ २५ ॥ आकार, इशारे, गति, चेष्टा, भाषण और नेत्र तथा मुख के विकारों से मन का भेद जाना जाता है ॥ २६ ॥

बालदायादिकंरिक्थं तावद्राजानुपालयेत् । यावत्सस्यात्समा-  
वृत्तो यावच्चातीतशैशवः ॥२७॥ वशाऽपुत्रासु चैवं स्याद्रक्षणं नि-  
ष्कुलासु च । पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ॥२८॥

अर्थ-बालक के दायभाग का द्रव्य, राजा तब तक ( जैसे कोर्ट आफ़ वाइस में ) पालन करे, जब तक वह समावर्तन वाला ( पढ़ लिखकर होशियार ) हो और जब तक लड़कपन जाता रहे ( अर्थात् जब तक बालिग हो ) ॥ २७ ॥ बन्ध्या, अपुत्रा, सपिण्डरहिता, पतिव्रता और विधवा तथा स्थिररोगिणी स्त्री में भी ऐसा ही हो ( उन के द्रव्य की भी राजा रक्षा करे ) ॥

( २८ वें से आगे मेधातिथि के माध्यानुसार एक यह श्लोक अधिक है:-

[ एवमेव विधिं कुर्याद्योषित्सु पतितास्वपि ।

वस्त्रान्नपानं देयं च वसेयुश्च गृहान्तिके ]

यही विधि पतित स्त्रियों में करे कि वस्त्र अन्न पान और घर के समीप रहने की जगह दीजावे ) ॥ २८ ॥

जीवन्तीनांतुतासांयेतदुरेयुःस्वयान्यवाः । ताञ्छिष्याञ्चौरदण्डेन  
धार्मिकःपृथिवीपतिः ॥ २९ ॥ प्रणष्टस्वामिकंरिक्थं राजात्र्यब्दं  
निधापयेत् । अर्वाक् त्र्यब्दादुरेत्स्वामी परेण नृपतिर्हरेत् ॥३०॥

अर्थ-उन जीवती हुई स्त्रियों का वह धन, जो बान्धव हरण करें उन को चौरदण्ड के समान धार्मिक राजा दण्ड देवे ॥ २९ ॥ जिस का स्वामी न हो



उस ( लावारिस ) धन को राजा तीन वर्ष तक रखे, तीन वर्ष के भीतर ( उस के ) स्वामी ( का पता लगे तो वह ) लेलेवे, अनन्तर राजा हरण ( जप्त ) करे ( अर्थात् ढंढोरा पिटने से कि " जिस की हो ले जाओ " ३ वर्ष तक कोई लेने वाला न मिले तो वह धन राजा का होजावे ) ॥ ३० ॥

ममेदमितियोब्रूयात्सोऽनुयोज्योयथाविधिसंवादरूपसंख्या-  
दीन् स्वामी तद्द्रव्यमर्हति ॥ ३१ ॥ अवेदयानो नष्टस्य देशकालं  
च तत्त्वतः । वर्णं रूपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमर्हति ॥ ३२ ॥

अर्थ-जो कहे कि यह धन मेरा है, तब उस से राजा यथाविधि पूछे कि क्या स्वरूप है और कितना है, वा कैसा है इत्यादि । जब यह सब सही कहे, तब उस धन को उस का स्वामी पावे ॥ ३१ ॥ नष्ट द्रव्य का देश काल वर्ण रूप प्रमाण ( अर्थात् कहां, कब, कौनसा रङ्ग, कैसा आकार, कितना ) यह सब अच्छे प्रकार न जानता हो तो उसी के बराबर दण्ड पाने योग्य है ( अर्थात् झूठा दावा करने वाले को उस धन के बराबर दण्ड दिया जावे, जिस धन पर उसने दावा किया हो ) ॥ ३२ ॥

आददीताथ षड्भागं प्रणष्टाधिगतान्नृपः । दशमं द्वादशं वापि  
सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ३३ ॥ प्रणष्टाधिगतं द्रव्यं तिष्ठेदुक्तैरधि-  
ष्ठितम् । यांस्तत्र चौरान्गृह्णीयात्तान् राजेभेन घातयेत् ॥ ३४ ॥

अर्थ-नष्ट द्रव्य फिर पावे तो उस में से उस द्रव्य का छठा भाग वा दशवां वा बाहरवां, सत्पुरुषों के धर्म का अनुस्मरण करता हुआ राजा ग्रहण करे ॥ ३३ ॥ जो द्रव्य किसी का गिरा, राजपुरुषों को पाया, पहरे में रक्खा हो, उस को जो चोर चुरावे, उन को हाथी से मरवा डाले ॥ ३४ ॥

ममायमितियोब्रूयान्निधिसत्येनमानवः । तस्याददीतषड्भागं  
राजाद्वादशमेववा ॥ ३५ ॥ अनृतं तु वदन् दण्डयः स्ववित्तस्यांश-  
मष्टमम् । तस्यैव वा निधानस्य संख्यायात्पीयसीं कलाम् ॥ ३६ ॥

अर्थ-जो पुरुष सचाई से कहे कि " यह निधि मेरा है " उस के निधि से राजा छठा वा बारहवां भाग ग्रहण करें, ( शेष उस को देदेवे ) ॥ ३५ ॥ ( यदि वह पराये को " मेरा है " ऐसा ) असत्य कहे तो अपने धन का आठवां भाग दण्ड के योग्य है वा गिनकर उसी धन के अल्प भाग भर दण्ड के योग्य



है ( निधि उस को कहते हैं जो पुराना बहुत काल का धन पृथिवी में दबा हुआ रक्खा हो । दैवयोग से वह कभी किसी को मिलजावे, तो वह राजा का धन है और यदि उस पर कोई अपनेपन का दावा करे और सत्य २ सिद्ध हो जावे तो उठा भाग राजा ले, शेष उसे देदेवे । यदि झूठा दावा हो तो दावा करने वाले की जितनी हैसियत हो उस का अष्टमांश वा उस निधि का कुछ अंश दावा करने वाले पर दण्ड किया जावे ) ॥ ३६ ॥

विद्वांस्तु ब्राह्मणोदृष्ट्वा पूर्वापनिहितं निधिम् ।

अशेषतोऽप्याददीत सर्वस्याधिपतिर्हि सः ॥ ३७ ॥

अर्थ-यदि विद्वान् ब्राह्मण, पूर्वकालस्थापित निधि को पावे तो वह सब लेले, क्योंकि वह सब का स्वामी है (अर्थात् उस में से छठा भाग राजा न लेवे ॥

३७ वें से आगे ४ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक पाया जाता है:-

[ ब्राह्मणस्तु निधिं लब्ध्वा क्षिप्रं राज्ये निवेदयेत् ।

तेन दत्तं तु भुञ्जीत स्तेनः स्यादऽनिवेदयन् ॥ ]

यदि ब्राह्मण भी निधि को पावे तो शीघ्र राजा को विदित करदे । फिर जब राजा उसे देदेवे तो भोग लगावे और राजा को निवेदन न करता हुआ [ किन्तु चुपचाप भोगता हुआ ] चोर समझा जावे ) ॥ ३७ ॥

यं तु पश्येन्निधिं राजा पुराणं निहितं क्षितौ ।

तस्माद् द्विजेभ्यो दत्त्वार्धमर्धं कोशे प्रवेशयेत् ॥ ३८ ॥

अर्थ-राजा पड़ी हुई भूमि में जो पुरानी निधि को ( स्वयं ) पावे तो उस में से आधा द्विजों को दान देकर आधा कोश में रखे ॥ ३८ ॥

निधीनां तु पुराणानां धातूनामेव च क्षितौ । अर्धभाग्यक्षणा-  
द्राजा भूमेरधिपतिर्हि सः ॥ ३९ ॥ दातव्यं सर्ववर्णभ्यो राज्ञा चौरै-  
र्हतं धनम् । राजा तदुपयुज्जानश्चौरस्याप्नोति किल्बिषम् ॥ ४० ॥

अर्थ-पुरानी निधि ( ब्राह्मण से भिन्न को पाई हुई ) और सुवर्णादि के उत्पत्तिस्थानों का, राजा आधे का भागी है । क्योंकि भूमि की रक्षा करने से वह उस का स्वामी है ॥ ३९ ॥ जो धन चोरों ने हरण किया है, उस को राजा पाकर धन के स्वामी को, चाहे वह किसी वर्ण का हो, देदेवे । उस धन का यदि राजा स्वयं भोग करे तो चोर के पाप को पाता है ॥ ४० ॥



जातिजानपदान्धर्मान्श्रेणीधर्मांश्चधर्मवित्। समीक्ष्यकुलधर्मां-  
श्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ ४१ ॥ स्वानि कर्माणि कुर्वाणा दूरे सन्तो  
ऽपि मानवाः। प्रिया भवन्ति लोकस्य स्वेस्वे कर्मण्यवस्थिताः ॥ ४२ ॥

अर्थ-धर्म का जानने वाला ( राजा ) जातिधर्म देशधर्म और श्रेणीधर्म  
( वणिग्वृषादि ) और कुलधर्म, इन को अच्छे प्रकार देख कर, ( इन के  
विरुद्ध न हो ) राजधर्म को प्रचरित करे ( यहां धर्म शब्द रिवाजों का वाचक  
है, जो रिवाज वैदिक धर्म के विरुद्ध न हों ) ॥ ४१ ॥ जाति, देश और  
कुल के धर्मों और अपने कर्मों को करते हुवे अपने अपने कर्म में वर्तमान  
दूर रहते हुवे लोग भी, लोक ( सोसाइटी ) के प्रिय होते हैं ( अर्थात् मनुष्य  
कहीं किसी विलायत में भी रहता हुआ, अपने देशादि धर्म कर्म करता रहे  
तौ सोसाइटी का प्रिय रहता है । इस लिये इस को न छोड़े, न छुड़ावे ) ॥ ४२ ॥  
नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पूरुषः। न च प्रापितमन्येन  
ग्रसेदर्थं कथञ्चन ॥ ४३ ॥ यथा नयत्यसृक्पातैर्मृगस्य मृगयुः  
पदम्। नयेत्तथाऽनुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम् ॥ ४४ ॥

अर्थ-राजा और राजपुरुष ( कामदार ) भी ऋणाऽदानादि का भगड़ा स्वयं  
सत्पन्न न करावे और यदि कोई पुरुष विवाद को प्रस्तुत ( पेश ) करे तौ  
राजा और राजपुरुष उस की उपेक्षा ( हज़म ) न करें । ( वा रिश्वत लेकर  
खारिज न कर दें ) ॥ ४३ ॥ जैसे मृग के रुधिरपात के मार्ग से खोजता हुआ  
व्याध ठिकाने को प्राप्त होता है, वैसे ही राजा अनुमान से धर्म के पद ( मुआ-  
मले की असलियत ) को प्राप्त होवे ॥ ४४ ॥

सत्यमर्थं च संपश्येदात्मानमथ साक्षिणः। देशं रूपं च कालं च  
व्यवहारविधौ स्थितः ॥ ४५ ॥ सद्गिराचरितं यत्स्याद्धार्मिकैश्च  
द्विजातिभिः। तद्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत् ॥ ४६ ॥

अर्थ-व्यवहार ( मुआमला, मुकद्दमा ) के देखने में प्रवृत्त ( राजा वा  
राजपुरुष ) सत्य अर्थ ( गोहिरण्यादि ) तथा आपे और साक्षियों तथा देश  
रूप और काल को देखे ( विचारे ) ॥ ४५ ॥ जो धार्मिक सत्पुरुष द्विजातियों  
से आचरण किया हुआ हो और कुल जाति तथा देश के विरुद्ध न हो ऐसा  
व्यवहार का निर्णय करे ॥ ४६ ॥



अधमर्णार्थसिद्धयर्थमुत्तमर्णेन चोदितः । दापयेदुनिकस्यार्थ-  
मधमर्णाद्विभावितम् ॥४७॥ यैर्यैरुपायैरर्थं स्वं प्राप्नुयादुत्तम-  
र्णिकः । तैस्तैरुपायैः संगृह्य दापयेदधमर्णिकम् ॥ ४८ ॥  
धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च । प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्च-  
मेन बलेन च ॥ ४९ ॥ यः स्वयं साधयेदर्थमुत्तमर्णीऽधमर्णि-  
कात् । न स राज्ञाभियोक्तव्यः स्वकं संसाधयन्धनम् ॥ ५० ॥

अर्थ-अधमर्ण (करजदार) से ऋण=करज का धन मिलने के लिये उत्तमर्ण=  
महाजन के कहने से करजदार से महाजन का निश्चित धन दिलावे ॥ ४७ ॥  
जिन २ उपायों से महाजन अपना रुपया पा सके उन उन उपायों से ऋण  
संग्रह करके दिवावे ॥ ४८ ॥ या तो धर्म से या व्यवहार=राजद्वार या छल की  
चाल से या आचरित (लेन देन के दबाव) से या पांचवें बलात्कार से यथार्थ  
धन का साधन करे (अदा करादे) ॥ ४९ ॥ जो महाजन आप करजदार से  
रुपया निकाल ले तो उस पर राजा अभियोग (मुकदमा कायम) न करे,  
जब कि वह ठीक २ अपना धन निकाल रहा है ॥ ५० ॥

अर्थेऽपव्ययमानं तु करणेन विभावितम् । दापयेदुनिकस्यार्थं  
दण्डलेशं च शक्तितः ॥५१॥ अपन्हवेऽधमर्णस्य देहीत्युक्तस्य  
संसदि । अभियोक्ता दिशेद्देश्यं करणं वान्यदुद्दिशेत् ॥ ५२ ॥

अर्थ-धन के विषय में नकार करने वाले से लेख साक्ष्यादि द्वारा प्रमाणित  
कर महाजन का रुपया और यथाशक्ति थोड़ा दण्ड भी (राजा) दिलावे ॥५१॥  
प्रथम सभा में अभियोक्ता (धर्मासनस्थ) करज लेने वाले से कहे कि महाजन  
का रुपया दे, उस पर जब वह कहे कि मैं नहीं जानता, तब राजा साक्षी  
(गवाह) वा अन्य कुछ साधन (तमस्तुक आदि) के प्रस्तुत करने की  
उत्तमर्ण की आज्ञा देवे ॥ ५२ ॥

अदेश्यं यश्च दिशति निर्दिश्यापहृते च यः । यश्चाधरोत्तरान-  
र्थान्विगीतान्नावबुद्धते ॥५३॥ अपदिश्यापदेश्यं च पुनर्यस्त्व-  
पधावति । सम्प्रवप्रहिणितं चार्थं पृष्टः सन्नाभिनन्दति ॥५४॥



असंभाष्ये साक्षिभिश्च देशे संभाषते मिथः। निरुच्यमानं प्रश्नं च  
नेच्छेदशचापि निष्पतेत् ॥५५॥ ब्रूहीत्युक्तश्च न ब्रूयादुक्तं च  
न विभावयेत्। न च पूर्वापरं विद्यात्तस्मादर्थोत्स हीयते ॥५६॥

अर्थ जो झूठ गवाह या कागज़ पत्र को निर्देश ( पेश ) करता है और  
जो निर्देश करके नकार करता है और जो कि आगे पीछे कहे का ध्यान नहीं  
रखता ॥५५॥ और जो बात को उलटता है, अपने प्रतिज्ञात किये हुये तात्पर्य  
को धर्मासनस्थ के पूछने से फिर नकार करता है ॥ ५४ ॥ और जो एकान्त में  
गवाहों के साथ बात चीत करता है, जो बात के सत्य होने की जांच के  
लिये अभियोक्ता ( अदालत ) के पूछने को अच्छा न समझे और जो इधर  
उधर बिना प्रयोजन बात को न मानता हुआ घूमे ॥ ५५ ॥ और पूछने पर  
कुछ न कहे और जो कहे तो दृढ़ता के साथ न कहे और जो पूर्वापर बात  
को न जाने, वह अपने अर्थ ( धन ) को हार जाता है ॥ ५६ ॥

साक्षिणः सन्ति मेत्युक्त्वा दिशेत्युक्तो दिशेन्न यः। धर्मस्थः कार-  
णैरेतैर्हीनं तमपि निर्दिशेत् ॥५७॥ अभियोक्तानचेद्ब्रूयाद्ध्व्योद-  
ण्डश्च धर्मतः। नचेत्त्रिपक्षात्प्रब्रूयाद्धर्मं प्रति पराजितः ॥५८॥

अर्थ-मेरे साक्षी (हाज़िर) हैं, ऐसा कहकर जब (धर्माधिकारी) कहे कि  
लावो, तब (उन को) न लावे तौ धर्मस्थ (अदालत) इन कारणों से उस को  
भी पराजित ( हारा ) कह दे ॥ ५७ ॥ जो अभियोक्ता ( मुद्दई ) राजद्वार में  
निवेदन करके न बोले ( अर्थात् नालिश करके ज़बानी न बोले ) तब (छोटे  
बड़े मुकदमें के अनुसार ) बन्ध वा जुर्माने के योग्य हो और यदि उस पर  
मुद्दआइलह डेढ़ महीने के भीतर झूठे दावे से हुई हानि की नालिश न करे  
तौ धर्मतः ( क़ानून से ) हार जावे ॥ ५८ ॥

यो यावन्निहूवीतार्थं मिथ्या यावत्तिवावदेत्। सौ नृपेण ह्यधर्मज्ञो  
दाप्यौ तद्वद्विगुणं दमम् ॥५९॥ पृष्टोऽपव्ययमानस्तु कृत्वा वस्यो  
धनैषिणा। त्र्यवरैः साक्षिभिर्भाव्यो नृपब्राह्मणसन्निधौ ॥६०॥

अर्थ-जो ( मुद्दआइलह असल धन में से ) जितने धन को न दे और जो  
(मुद्दई असल धन से) जितना बढ़ाकर दावा करे, उस (घटाये बढ़ाये) धन का



दूना ( अर्थात् घटाने वाले से घटाने का दूना और बढ़ाने वाले से बढ़ाने का दूना ) दण्ड उन दोनों अधर्मियों से राजा दिलावे ॥ ५९ ॥ राजा और ब्राह्मण के सामने पूछा जावे और नकार करे तो सहाजन कम से कम तीन गवाहों से सिद्ध करे ॥ ६० ॥

यादृशा धनिभिः कार्या व्यवहारेषु साक्षिणः । तादृशान्संप्रव-  
क्ष्यामि यथावाच्यमृतंचतैः ॥ ६१ ॥ गृहिणः पुत्रिणो मौलाः क्षत्र-  
विदू शूद्रयो नयः । अथर्युक्ताः साक्ष्यमर्हन्ति नये केचिदनापदि ६२

अर्थ—मुकदमों में सहाजनों को जैसे गवाह करने चाहियें और उन ( गवाहों ) को जैसे सच बोलना चाहिये सो भी आगे कहता हूँ ॥ ६१ ॥ कुटुम्बी, पुत्र वाले, उसी देश के रहने वाले, क्षत्रिय वैश्य शूद्र वर्ण वाले; ये लोग जब कि अर्पी ( मुद्दे ) कहे कि मेरे साक्षी हैं, तब साक्ष्य के योग्य होते हैं, हर कोई नहीं, जब तक कि कुछ आपत्ति न हो । ( यहां ब्राह्मण को गवाही में इस लिये नहीं कहा है कि सांसारिक कार्यों में पड़ने से उस के परमार्थिक कामों में बाधा न पड़े और यदि अन्य साक्षी न मिल सकें तो ब्राह्मण साक्षी वैसे तो सर्वोत्तम है, इस लिये आगे “ ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत् ” कहेंगे ) ॥ ६२ ॥

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः । सर्वधर्मविदोऽलुब्धा  
विपरीतास्तु वर्जयेत् ॥ ६३ ॥ नार्थसंबन्धिनोऽनाप्ता न सहाया न  
वैरिणः । न दृष्टदोषाः कर्तव्या न व्याध्याता न दूषिताः ॥ ६४ ॥

अर्थ—सब वर्णों में जो यथार्थ कहने वाले और संपूर्ण धर्म के जानने वाले हों, उन को कामों में साक्षी करना चाहिये और इन से विपरीतों को नहीं ॥ ६३ ॥ धन के सम्बन्धी, असत्यवादी, नौकर आदि सहायक, शत्रु, दूसरी जगह जान कर झूठी गवाही देने वाले, रोगी और ( सहापातकादि ) से दूषितों को ( गवाह ) न करे ॥ ६४ ॥

न साक्षी नृपतिः कार्यानकारुककुशीलवौ । न श्रोत्रियो न लिङ्ग-  
स्थो न संगेभ्यो विनिर्गतः ॥ ६५ ॥ नाध्यधीनो न वक्तव्यो न दस्युर्न  
विकर्मकृत् । न वृद्धो न शिशुर्न को नान्त्यो न विकलेन्द्रियः ॥ ६६ ॥



अर्थ-राजा, कारीगर, नट, श्रोत्रिय, ब्रह्मचारी और संन्यासी को भी साक्षी न बनावे ॥ ६५ ॥ परतन्त्र, बदनाम, दस्यु, निषिद्धकर्म करने वाला, वृद्ध, बालक, और १ एक ही और चण्डाल और जिस की इन्द्रियें स्वस्थ न हों, उसे ( साक्षी ) न करे ॥ ६६ ॥

नार्तनमत्तोनोन्मत्तोनक्षुत्तृष्णोपपीडितः। नप्रमार्तनकामा-  
र्तो नक्रुद्धोनापितस्करः ॥६७॥ स्त्रीणांसाक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां  
सदृशाद्विजाः। शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः ६८

अर्थ-दुःखी, मद्यादि से सक्त, पागल, क्षुधा तृषा से पीडित, थका, काम-पीडित, क्रोध वाला और चोर; ( ये भी साक्षी योग्य नहीं हैं ) ॥ ६७ ॥ स्त्रियों का साक्ष्य स्त्री करें। द्विजों का ( साक्ष्य ) उन के सदृश द्विज करें। शूद्रों का ( साक्ष्य ) सज्जन शूद्र करें और चण्डालों का ( साक्ष्य ) चण्डाल करें ॥ ६८ ॥

अनुभावीतुयः कश्चित्कुर्यात्साक्ष्यं विवादिनाम्। अन्तर्वेश्मन्य-  
रण्ये वा शरीरस्यापि चातयये ॥६९॥ स्त्रियाप्यसंभवे कार्यं बालेन  
स्थविरेण वा। शिष्येण बन्धुना वापि दासेन भृतकेन वा ॥७०॥

अर्थ-घर के भीतर, वन में, शरीर के अन्त ( खून ) में; इन भगइयों में जो कोई भी अनुभव करने वाला हो, वही साक्षी किया जा सकता है ॥ ६९ ॥ ( मकान के भीतर आदि स्थानों में ऊपर लिखे साक्ष्य के ) न होने पर स्त्री, बालक, वृद्ध, शिष्य, बन्धु और नौकर चाकर भी साक्ष्य करें ॥ ७० ॥

बालवृद्धातुराणां च साक्ष्येषु वदतां मृषा। जानीयादस्थिरां  
वाचमुत्सिक्तमनसां तथा ॥७१॥ साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रह-  
णेषु च। वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः ॥७२॥

अर्थ-बाल, वृद्ध, आतुर और चलचित्त लोग साक्ष्य में झूठ बोलें तो इन की वाणी को स्थिर न जाने ॥ ७१ ॥ संपूर्ण साहसों ( डांका, मकान जलाना इत्यादि ) में, चोरी, परस्त्रीसङ्ग, गाली और नारपीट में साक्षियों की परीक्षा न करे ( अर्थात् ६१ से ६८ श्लोक तक जिस प्रकार के साक्षी कहे हैं, वैसे ही का नियम नहीं ) ॥ ७२ ॥



बहुत्वं परिगृह्णीयात्साक्षिद्वैधेन राधिपः । समेषु तु गुणोत्कृष्टान्  
गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान् ॥७३॥ समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव  
सिद्ध्यति । तत्र सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥७६॥

अर्थ-परस्परविरुद्ध साक्षियों में जिस बात को बहुत कहें उसको रात्रा  
ग्रहण करे और विरुद्ध कहने वाले साक्षी जहां संख्या में समान हों वहां  
अधिक गुण वालों का और यदि गुण वाले विरुद्ध कहें तो वहां द्विजोत्तम  
ब्राह्मणों का प्रमाण करे ॥ ७३ ॥ सामने देखने से और सुनने से भी साक्ष्य  
सिद्ध होता है, उसमें सच बोलने वाला साक्षी धर्म अर्थ से नहीं हारता ॥ ७४ ॥

साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्विब्रुवन्नार्यसंसदि । अत्राङ्गनरकमभ्येति  
प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते ॥७५॥ यत्रानिबद्धोऽपीक्षेत शृणुयाद्वापि  
किञ्चन । पृष्टस्तत्रापि तद्ब्रूयादथानुब्रूयन् ॥ ७६ ॥

अर्थ-आर्यों की सभा में देखे सुने से विरुद्ध कहने वाला साक्षी अधोमुख  
नरक में जाता और सर कर भी स्वर्ग से हीन हो जाता है ॥ ७५ ॥ जिस  
( मुकदमें ) में न भी कहा हुआ हो ( कि तुम इस में साक्षी हो ) उसमें भी  
जो देखे और सुने, उसको पूछने पर जसा देखे सुने, वैसा ही कहे ॥ ७६ ॥

एकोऽलुब्धस्तु साक्षी स्याद्बुद्धयः शुच्योपि न स्त्रियः । स्त्रीबुद्धेर-  
ऽस्थिरत्वात्तु दोषैश्चान्येऽपि ये वृत्ताः ॥७७॥ स्वभावेनैव यद्ब्रूयुस्तद्  
ग्राह्यं व्यावहारिकम् । अतो यदन्यद्विब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थक्यम् ॥७८॥

अर्थ-एक ही साक्षी लोभादिरहित हो तो पर्याप्त है परन्तु स्त्रियां बहुत  
और पवित्र भी होवें तो भी नहीं, क्योंकि स्त्री की बुद्धि स्थिर नहीं होती ।  
और दोषों से युक्त अन्य लोगों को भी साक्षी न करे ॥ ७७ ॥ साक्षी स्वभाव  
से ( अर्थात् भयादि से रहित होकर ) जो कहे, वह व्यवहार के निर्णय में  
ग्राह्य है । और इस से विपरीत ( भय लोभादि से ) जो विरुद्ध वाद कहें  
सो व्यवहार के निर्णयार्थ निरर्थक है ॥ ७८ ॥

सभान्तःसाक्षिणः प्राप्ता नार्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ । प्राङ्बिवाकोऽनु-  
युज्जीत विधिनानेन सान्त्वयन् ॥७९॥ यद्द्वयोरनयोर्वेत्य कार्येऽस्मि-  
न्श्रष्टितं मिथः । तद्भूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता ॥८०॥



अर्थ—सभा के बीच प्राप्त हुये साक्षियों से अर्थी और प्रत्यर्थी के सामने प्राङ्ग  
विवाक (वकील आदि) धैर्य देकर आगे कहे प्रकार से पूछे कि—॥७६॥ इन दोनों  
(मुद्दे मुद्दाइलह) ने आपस में इस काम में जो कुछ किया हो उसको तुम जो  
कुछ जानते हो सो सब सचाई से कहो क्योंकि तुम्हारी इस में गवाही है ॥८॥  
सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानामोति पुष्कलान्। इह चानुत्तमां  
कीर्त्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥८१॥ साक्ष्येऽनृतं वदन्पाशैर्बद्धते  
वारुणैर्भृशम्। विवशः शतमाजातीस्तस्मात्साक्ष्यं वदेदृतम् ॥८२॥

अर्थ—साक्ष्य कर्म में सब बोलता हुआ साक्षी उत्कृष्ट (ब्रह्मादि) लोकों  
और इस लोक में उत्तम कीर्त्ति को प्राप्त होता है। क्योंकि यह सत्य वाणी  
ब्रह्म=वेद से पूजी हुई है ॥ ८१ ॥ क्योंकि साक्ष्य में असत्य कहने वाला वरुण  
के पाशों से परतन्त्र हुवा शतजन्मपर्यन्त अत्यन्त पीडित होता है (अर्थात्  
जलोदरादि से पीडित होता है) इस कारण सच्चा साक्ष्य (गवाही) दे ॥

(८२ वें से आगे ३ श्लोक अधिक भी पाये जाते हैं। जिन में से पहिला  
और तीसरा एक एक पुस्तक में, और दूसरा तीन पुस्तकों में मिलता है:—

[ ब्राह्मणो वै मनुष्याणामादित्यस्तेजसां दिवि । शिरोवा  
सर्वगात्राणां धर्माणां सत्यमुत्तमम् ॥ १ ॥ नास्ति सत्यात्परो  
धर्मो नानृतात्पातकं परम् । साक्षिधर्मे विशेषेण तस्मात्  
सत्यं विशिष्यते ॥ २ ॥ एकमेवाऽद्वितीयं तु प्रब्रुवन्नावबु-  
ध्यते । सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ॥ ३ ॥ ]

जैसे मनुष्यों में ब्राह्मण, आकाश के तारागणों में सूर्य और अन्य सब  
अङ्गों में शिर, (ऐसा ही) धर्मों में सत्य उत्तम है ॥ १ ॥ सत्य से बढ़ कर धर्म  
नहीं है, असत्य से बढ़ कर पाप नहीं। विशेष कर साक्षी के धर्म में। इस  
कारण सत्य उत्तम है ॥ २ ॥ जो एक सत्य ही कहता है, दूसरी बात नहीं कहता  
वह भूलता नहीं। सत्य स्वर्ग की सीढ़ी है, जैसे समुद्र में नौका ॥ ३ ॥ ॥८२॥  
सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते। तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं  
सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥८३॥ आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा  
तथात्मनः। मावमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥८४॥



अर्थ-सत्य से साक्षी पवित्र हो जाता है और सत्यमापण से धर्म बढ़ता है । इस लिये सब वर्णों के साक्षियों को सत्य ही बोलना चाहिये ॥ ८३ ॥ (शुभ और अशुभ कर्मों में) आत्मा ही अपना साक्षी है और आप ही अपनी गति (शरण) है । इस लिये इस अनुष्ठानों के उत्तम साक्षी अपने आत्मा का (झूठ साक्ष्य से) अपमान मत कर ॥ ८४ ॥

मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित्पश्यतीति नः । तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपुरुषः ॥ ८५ ॥ द्यौर्भूमिरापो हृदयं चन्द्रार्काग्नि-यमानिलाः । रात्रिः संध्ये च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम् ॥ ८६ ॥

अर्थ-पाप करने वाले जानते हैं कि हम को कोई देखता नहीं, परन्तु उन को देवता (जो अगले श्लोक में गिनाये हैं) देखते हैं और अपने ही शरीर का भीतर वाला पुरुष देखता है ॥ ८५ ॥ आकाश, भूमि, जल, हृदय, चन्द्र, सूर्य, अग्नि, यम, वायु, रात्रि, दोनों सन्ध्या और धर्म; ये सब प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों को जानते हैं ॥ (इस लिये साक्षी असत्य न बोले ॥ इन जड़ पदार्थों का अधिष्ठातृदेव (परमात्मा) ज्ञाता समझो । प्रपञ्चपूर्वक कथन प्रभावार्थ है) ॥ ८६ ॥

देवब्राह्मणसान्निध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान् । उदङ्मुखान्प्राङ्मुखान्वा पूर्वाह्ने वै शुचिः शुचीन् ॥ ८७ ॥ ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत्सत्यं ब्रूहीति पार्थिवम् । गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ ८८ ॥

अर्थ-देवता और ब्राह्मण के समीप में पवित्र द्विजातियों को पूर्वमुख वा उत्तर मुख कराके आप शुद्ध स्वस्थचित्त हुवा अभियोक्ता, सबरे के समय सच सच वृत्तान्त पूछे ॥ ८७ ॥ “कहो” ऐसा ब्राह्मण से पूछे और “सच बोलो” ऐसे क्षत्रिय से पूछे । और “गाय, बीज, सुवर्ण के चुराने का पातक तुम को होगा जो झूठ बोलोगे तो” ऐसा कहकर वैश्यों से पूछे । “सब पातक तुम को लगेंगे जो झूठ बोलोगे तो” ऐसा कहकर शूद्र से पूछे ॥ ८८ ॥

ब्रह्मघ्नो ये स्मृता लोका ये च स्त्रीबालघातिनः । मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य ते ते स्युर्ब्रुवतो मृषा ॥ ८९ ॥ जन्मप्रभृति यतिकञ्चित्पुण्यं भद्र त्वया कृतम् । तत्ते सर्वं शुनोगच्छेद्यदि ब्रूयास्त्वमन्यथा ॥ ९० ॥



अर्थ ब्राह्मण के सारने वाले और स्त्रीघाती तथा बालघाती और मित्रद्रोही और कतघ्न को जो २ लोक प्राप्त होने कहे हैं, वे ही झूठ बोलने वाले को हों ॥८९॥ हे भद्र ! तूने आयु भर जो कुछ पुण्य किया है, वह सब तेरा पुण्य कुत्ते पावें, जो तू इस विषय में अन्यथा कहे ॥ ९० ॥

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे । नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥ ९१ ॥ यमोवैवस्वतोदेवोयस्तवैष हृदि स्थितः । तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरुन् गमः ॥ ९२ ॥

अर्थ-हे कल्याण ! 'मैं एकला ही हूँ' ऐसा यदि अपने को मानता है, तो तेरे हृदय में नित्य पाप पुण्यों का देखने वाला मुनि ( परमात्मा ) तौ स्थित है ॥९१॥ वैवस्वत यम ( परमात्मा ) जो यह तेरे हृदय में स्थित है, उस के साथ यदि विवाद नहीं है, तौ ( पाप के प्रायश्चित्त वा दण्डभोगार्थ ) गङ्गा और कुरुदेशों को मत जा ॥ ऐसा जान पड़ता है कि आर्य राजों ने गङ्गातट और कुरुदेशों में विकर्मफल भोगने के स्थानविशेष नियत कर रखे थे ॥ और एक प्रकार से तौ यह झोक पीछे का ही जान पड़ता है क्योंकि गङ्गा को भगीरथ ने प्रकट किया, मनु के समय में तौ यह गङ्गा का प्रवाह ही न था ) ॥९२॥

नग्नोमुण्डः कपालेन भिक्षार्यी क्षुत्पिपासितः । अन्यः शत्रुकुलं गच्छेदः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥ ९३ ॥ अवाविशरास्तमस्यन्ये किलिब-षी नरकं व्रजेत् । यः प्रश्नं वितथं ब्रूयात्पृष्टः सन्धर्मनिश्चये ॥ ९४ ॥

अर्थ-जो झूठ गवाही देवे वह कपड़े से नग्न, सिर मुंढा, कपाल हाथ में लिये, भिखसंग, क्षुधा पिपासा से पीडित और अन्या होकर शत्रुकुल में गमन करे ॥ ९३ ॥ जो धर्मनिर्णय के लिये पूछा हुआ असत्य बोले, वह पापी अघो-मुख बड़े अन्धकाररूप नरक में जावे ॥ ९४ ॥

अन्योमत्स्यानिवाश्नाति स नरः कण्टकैः सह । योभाषतेऽर्थवै-कल्यमप्रत्यक्षं सभां गतः ॥ ९५ ॥ यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशाङ्कते । तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥ ९६ ॥

अर्थ-जो सभा में जाकर विना देखी बात को झूठी बनाकर बोलता है, वह अन्या होकर कांटों सहित सखली सी खाता है ॥ ९५ ॥ जिस ने



बोलते हुये चेतन जीवात्मा शङ्का नहीं करता, उस से बढ़कर देवता लोग दूसरे को अच्छा नहीं मानते ॥ ९६ ॥

यावतो बान्धवान् यस्मिन् हन्ति साक्ष्येऽनृतं वदन् । तावतः संख्यया तस्मिन् शृणु सौम्यानुपूर्वशः ॥ ९७ ॥ पञ्च पञ्चनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते । शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥ ९८ ॥

अर्थ-हे सौम्य ! ( साक्षिन् ! ) जिस साक्ष्य में झूठ बोलने वाला जितने बान्धवों को मारने का फल पाता है उस में क्रमशः उतनों को गिनती से सुन ॥ ( देखिये बड़ों से भी भूल होती हैं । इस श्लोक में " सौम्य ! " यह संबोधन स्पष्ट प्रकरणानुसार गवाह ( साक्षी ) के लिये है, परन्तु प्राचीन भाष्यकार मेधातिथि कहते हैं कि यह संबोधन मनु ने भृगु को दिया है ॥ एक पुस्तक में इस से आगे १ प्रसिप्त श्लोक भी मिलता है, परन्तु हमने व्यर्थ सा समझ कर उद्धृत नहीं किया ) ॥ ९७ ॥ पशु के विषय में झूठ बोलने से पांच बान्धवों के मारने का फल पाता है । गौ के विषय में दश । घोड़े के विषय में सौ । और पुरुष के विषय में हजार ( बान्धवों के हनन का पातक प्राप्त होता है ) ॥ ९८ ॥

हन्ति जातान् जातान्श्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन् ।

सर्वं भूम्यऽनृते हन्ति मा स्म भूम्यऽनृतं वदीः ॥ ९९ ॥

अर्थ-सुवर्ण के लिये असत्य बोलने वाला, उत्पन्न हुओं और न हुओं ( होने वाले पुत्रादि ) के मारने के फल को पाता है । और भूमि के लिये असत्य बोलने वाला संपूर्ण प्राणियों के हनन का फल पाता है, इस लिये तू भूमि के लिये भी झूठ मत बोल ॥ ( ९९ वें से आगे नन्दन के टीके वाले पुस्तक में डेढ़ श्लोक यह अधिक प्रसिप्त हुवा है:-

[ पशुवत्क्षौद्रघृतयोर्यज्ञान्यत्पशुसंभवम् । गोवद्वत्सहिरण्येषु धान्यपुष्पफलेषु च । अश्ववत्सर्वयानेषु खरोष्ठ्वतरादिषु ]

शहद और घृत के विषय में झूठी गवाही देने वाले को पशुविषयक पातक के समान पातक लगता है । और अन्य भी जो कुछ पशु से उत्पन्न ( दुग्धादि ) पदार्थ हैं, उन में भी ॥ बछड़ों वा सुवर्ण के विषय में गौ के तुल्य, धान्य पुष्प और फलों के विषय में भी । गधा कंट बतरादि सब सवारियों के विषय में झूठे गवाह को घोड़े के विषय में कहे असत्यजनित पातक के तुल्य पातक लगता है ) ॥ ९९ ॥



अप्सु भूमिवदित्याहुः स्त्रीणां भोगे च मैथुने ।

अवजेषु चैव रत्नेषु सर्वेष्वश्ममयेषु च ॥ १०० ॥

अर्थ—( तालाव बावड़ी इत्यादि ) जलाशय के विषय में और स्त्रियों के भोग मैथुन में और ( मौक्तिकादि ) जलोत्पन्न रत्नों के विषय में तथा हीरा आदि पत्थरों के विषय में ( झूठ बोलने का ) भूमि के पातकसमान ( पातक है । १०० वें के आगे भी ५ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक मिलता है:—

[ पशुवत्क्षौद्रघृतयोर्यानिषु च तथाऽश्ववत् ।

गोवद्रजतवस्त्रेषु धान्ये ब्राह्मणवद्विधिः ॥ ]

शहद और घृत में पशु के तुल्य, सवारियों में घोड़े के तुल्य, चांदी और वस्त्रों में गौ के तुल्य और धान्य के विषय में असत्य गवाही देने वाले को ब्राह्मणविषयक पाप के समान पाप होता है ) ॥ १०० ॥

एतान्दोषानऽवेक्ष्य त्वं सर्वाननृतभाषणे । यथाश्रुतं यथादृष्टं सर्वमेवाज्जसा वद ॥ १०१ ॥ गोरक्षकान्वाणिजिकांस्तथा कारुकु-  
शीलवान् । प्रैष्यान्वार्धुषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत् ॥ १०२ ॥

अर्थ—इन सब झूठ बोलने में पातकों को समझ कर, जैसा देखा और सुना है वही सब शीघ्र कह ॥ १०१ ॥ गुवालिये, बनिये, लुहार, बढ़ई आदि के काम वा रसोई करने वाले, गाने बजाने वाले, हलकारे की नौकरी करने वाले और व्याज से जीने वाले ब्राह्मणों से भी ( राजा ) शूद्र के समान प्रश्न करे ॥ ( १०२ वें से आगे भी एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:—

[ येऽप्यतीताः स्वधर्मैभ्यः परपिण्डोपजीविनः ।

द्विजत्वमभिकाङ्क्षन्ति तांश्च शूद्रानिवाचरेत् ]

जो लोग अपने वर्णधर्मों को छोड़ कर परार्थ जीविका करने लगे हों और द्विज होने की इच्छा करें उन को राजा शूद्र के तुल्य सम्बोधन करे ॥ इसी तात्पर्य का श्लोक एक अन्य पुस्तक में इसी जगह मिलता है । यथा—

[ येऽप्यपेताः स्वकर्मभ्यः परकर्मोपजीविनः ।

द्विजा धर्मं विजानन्तस्तांश्च शूद्रवदाचरेत् ] ॥ १०२ ॥



“तद्वदन्धर्मतोऽर्थेषु जानन्नप्यन्यथा नरः । न स्वर्गाच्छ्यवते  
लोकादैर्वा वाचं वदन्ति ताम् ॥१०३॥ शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां  
यत्रर्तोकौ भवेद्वधः । तत्र वक्तव्यमनृतं तद्धि सत्याद्विशिष्यते ॥१०४॥”

“अर्थ-जो मनुष्य जानता हुआ भी धर्म के व्यवहारों में अन्यथा कहने  
वाला है, वह स्वर्ग लोक से श्रेष्ठ नहीं होता क्योंकि उस (असत्य) को देववाणी  
कहते हैं ॥१०३॥ जिस मुकदमे में शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मणों का सच बोलने से  
वध हो, वहां झूठ बोलना चाहिये, क्योंकि वह सच से अधिक है ॥१०४॥”

“वाग्देवत्यैश्च चरुभिर्यजेरंस्ते सरस्वतीम् । अनृतस्यैनसस्तस्य  
कुर्वाणा निष्कृतिं पराम् ॥१०५॥ कूष्माण्डैर्वापि जुहुयाद् घृत-  
मग्नौ यथाविधि । उदित्यृचा वा वारुण्या तृचेनाव्देवतेन वा ॥१०६॥”

“अर्थ-उस झूठ बोलने के पाप का अत्यन्त प्रायश्चित्त करते हुवे (वे  
साक्षी) वाग्देवतासम्बन्धी चरु से सरस्वती का यजन करें ॥१०५॥ अथवा  
कूष्माण्डों (यद्देवादेवहेडनम् इत्यादि यजु० २० । १४ मन्त्रों) से यथाविधि  
घृत को अग्नि में हवन करे । वा “दुदुत्तमं वरुणपाशम०” यजु० १२ । १२  
इस वरुण देवता वाले मन्त्र से, वा (आपोहिष्ठा० यजुः ११ । ५०) इन जल  
देवता की ३ ऋचाओं से (पूर्वोक्त आहुति करे) ॥”

(१०३ से १०६ तक ४ श्लोक ठीक नहीं जान पड़ते । १०३ में असत्य साक्ष्य  
से भी धर्मनिमित्त बोलने में दोष नहीं बताया, फिर १०४ में उस धर्मनिमित्त  
को स्पष्ट किया है कि ब्राह्मणादि चारों वर्णों को सत्य साक्ष्य देने से बध-  
दण्ड होता देखे तो झूठ बोलदे । वह झूठ, सच से बढ़ कर है । १०५ । १०६  
में उस झूठ बोलने के पाप का प्रायश्चित्त है । धर्मशास्त्र का सिद्धान्त है कि  
अन्यायोपार्जित धनादि के व्यय से पुण्य कार्य करने में पुण्य नहीं है, जैसा  
कि पूर्व मनु ही कहते आये हैं । फिर चारों वर्ण किसी को सार डालें और  
राजा के सामने कोई सच्ची गवाही न दे तो कदाचित् चण्डालादि ही शेष  
बचे बधदण्ड पा सकें, अन्य तो ४ वर्ण छूट ही गये । फिर यह भी विचारना  
चाहिये कि यदि यह झूठ सच से बढ़ कर है तो पाप के न होते हुवे प्राय-  
श्चित्त किस बात का कहा है ? इस विषय में मेधातिथि ने १८० श्लोकों के  
बराबर इन्हीं चार श्लोकों पर भाष्य बढ़ाकर समाधान का उद्योग किया है  
परन्तु उस समाधान से सन्तोष नहीं होता) ॥ १०६ ॥



त्रिपक्षादब्रुवन्साक्ष्यमृणादिषु नरोऽगदः । तद्वृणं प्राप्नुयात्सर्वं  
दशबन्धं च सर्वतः ॥ १०७ ॥ यस्य दृश्येत सप्ताहादुक्तवाक्यस्य  
साक्षिणः । रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणमृणं दाप्योदमं च सः ॥ १०८ ॥

अर्थ-व्याधि आदि विघ्नरहित मनुष्य लेन देने के विषय में डेढ़ महीने तक गवाही न देवे तो सप्ताह का कुल ऋण ( रुपया ) देवे और उस सब रुपये का दशवां भाग राजा को दण्ड देवे ॥ १०७ ॥ जिस गवाही देकर गये हुवे साक्षी के सात दिन के भीतर रोग, अग्नि और पुत्रादि का मरण होजाय तो वह सप्ताह का रुपया और राजा को दण्ड देने योग्य है ॥

( सब भाष्यकारों ने ऐसे साक्षी को इस हेतु से झूठा माना है कि दैवी आपत्तियां उस की झूठी गवाही का प्रमाण हैं । सर्वज्ञनारायण भाष्यकार ने इतना अधिक लिखा है कि ( तत्प्रागनुपजातनिमित्तकृतं ग्राह्यम् ) अर्थात् "जब कि रोगोत्पत्ति, गृहादि में अग्नि लगने और पुत्रादि की मृत्यु का हेतु गवाही देने से पहला न हो तब उसे झूठा गवाह समझना चाहिये " परन्तु यह भी युक्ति दुर्बल जान पड़ती है और प्रायः रोगादि के हेतु बहुत प्राचीन होते हैं और जाने नहीं जा सकते, उस दशा में बड़ा अन्याय होगा । तथा वैद्यादि के भरोसे बड़ा कार्य जापड़ेगा और अग्नि लगने के हेतु जानने में तथा पुत्रादि की मृत्यु का हेतु जानने में भी असंख्य कठिनाई हैं और फिर भी पूरा निश्चय होना कठिन ही है । इत्यादि कारणों से हमारी संसति में तो राजद्वारादि लौकिक निर्णयों में दैवानुमान उचित नहीं है ) ॥ १०८ ॥

असाक्ष्यकेषु त्वर्थेषु मिथोविवदमानयोः ।

अविन्दंस्तत्त्वतः सत्यं शपथेनापि लम्भयेत् ॥ १०९ ॥

“ महर्षिभिश्च देवैश्च कार्यार्थं शपथाः कृताः ।

वसिष्ठश्चापि शपथं शपे वै यवने नृपे ॥ ११० ॥ ”

अर्थ-विना गवाह के मुकद्दमों में आपस में झगड़ने वाले दोनों के सत्य वृत्तान्त ज्ञात न होने पर शपथ (हलफ़) से भी निर्णय करलेवे ॥ १०९ ॥ “क्योंकि महर्षि और देवतों ने कार्य के लिये शपथें कीं, वसिष्ठ जी ने भी यवन राजा के सामने शपथ किया था ॥ ” ( कहाँ वसिष्ठ ! कहाँ यवन ! और कहाँ मनु ! यह सब पश्चात् की रचना स्पष्ट है ) ॥ ११० ॥



न वृथा शपथं कुर्यात्स्वल्पेऽप्यर्थे नरोबुधः ।

वृथा हि शपथं कुर्वन्प्रेत्य चेह च नश्यति ॥ १११ ॥

“ कामिनीषु विवाहेषु गदां भक्ष्ये तथेन्धने ।

ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ च शपथे नास्ति पातकम् ॥ ११२ ॥ ”

अर्थ—थोड़े अर्थ में भी पण्डित मिथ्या शपथ न करे, क्योंकि वृथा शपथ करने वाला इस लोक तथा परलोक में नाश को प्राप्त होता है ॥ १११ ॥

“ सुरत लाभ को कामिनी के विषय में, विवाहों में, गौवों के चारे, इन्धन और ब्राह्मण की रक्षा के लिये ( वृथा ) शपथ करने में पातक नहीं है ॥ ”

( यह अपवाद भी अन्यायप्रवर्तक, असत्यपोषक तथा धर्मशास्त्र के सत्य सिद्धान्त का बाधक है और “ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ, ब्राह्मणस्य विपत्तौ, ब्राह्मणा-वपत्तौ ” । ये ३ पाठ भी भिन्न २ प्रकार से मिलते हैं ) ॥ ११२ ॥

सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः ।

गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ ११३ ॥

“ अग्निं वाहारयेदेनमप्सु चैनं निमज्जयेत् ।

पुत्रदारस्य वाप्येनं शिरांसि स्पर्शयेत्पृथक् ॥ ११४ ॥ ”

अर्थ—ब्राह्मण को सत्य की शपथ ( कसम ) करावे । क्षत्रिय को वाहन तथा आयुध ( हथियार ) की, वैश्य को गाय वा बैल, बीज और सोने की और शूद्र को सम्पूर्ण पातकों से [ शपथ ( कसम ) करावे ] ॥ ११३ ॥ “जलते अग्नि को इस ( शूद्र साक्षी ) से चठवावे और पानी में इस को डुबावे और पुत्र स्त्री के शिर पर अलग २ इस से हाथ धरावे ॥ ११४ ॥ ”

“ यमिद्धो न दहत्यग्निरापो नोन्मज्जयन्ति च । न चार्तिमृच्छति

क्षिप्रं स ज्ञेयः शपथे शुचिः ॥ ११५ ॥ वत्सस्य ह्यभिशस्तस्य पुरा

भ्रात्रा यवीयसा । नाग्निर्ददाह रोमापि सत्येन जगतः स्पृशः ॥ ११६ ॥ ”

“ अर्थ—जिस को जलती आग नहीं जलाती और पानी जिस को न डुबावे और जिस को पुत्रादि के वियोगजनित बड़ी पीड़ा जल्दी नहीं प्राप्त हो वह ( शूद्र ) शपथ में सच्चा जानना चाहिये ॥ ११५ ॥ क्योंकि पूर्वकाल में वत्स ऋषि को छोटे भ्राता ने कहा ( कि तू शूद्र का लड़का है, ब्राह्मण का



नहीं, इस कहने से उसने जगत के शुभाशुभ जानने वाले अग्नि में प्रवेश किया, सो सत्य के कारण ) अग्नि ने उस का एक रोस भी नहीं जलाया ॥”

( ११४ । ११५ । ११६ भी असंभवादि दोषों से चिन्त्य होने के अतिरिक्त वत्स ऋषि के इतिहास से अत्यन्त स्पष्ट है कि पीले से मिलाये गये । इस प्रकरण में ८२ से आगे ३, ९९ से आगे १॥, १०० वें से आगे १, १०२ से आगे १, और दूसरे पुस्तक में १, सब ७॥ श्लोक तो स्पष्ट ही सब पुस्तकों में नहीं पाये जाते, इस पर इन इतिहासों से और भी निश्चित होता है कि हमारे प्रक्षिप्त बताये हुवे श्लोक जो सब पुस्तकों में अब मिल रहे हैं, वे भी अवश्य पीले से ही मिले हैं ) ॥ ११६ ॥

यस्मिन्यस्मिन्निवादेतु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत् । तत्तत्कार्यं निवर्तत कृतं चाप्यकृतं भवेत् ॥ ११७ ॥ लोभान्मोहाद्व्यान्मैत्र्यात्कामात् क्रोधात्तथैव च । अज्ञानाद्बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते ॥ ११८ ॥

अर्थ-जिस मुकद्दमे में गवाहों ने झूठी गवाही दी, ऐसा निश्चय हो, उस मुकद्दमे को फिर से दोहरावे और जो दण्डादि कर चुका हो उसे नहीं किया समझे फिर से विचार हो ) ॥ ११७ ॥ लोभ, मोह, भय, मित्रता, कास, क्रोध, अज्ञान तथा लड़कपन से गवाही झूठी कही जाती है ॥ ११८ ॥

एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत् । तस्य दण्डविशेषास्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ ११९ ॥ लोभात्सहस्रं दण्डयस्तु मोहात्पूर्वं तु साहसम् । भयाद् द्वौ मध्यमौ दण्डौ मैत्र्यात्पूर्वं चतुर्गुणम् ॥ १२० ॥

अर्थ-इन लोभादि में से किसी कारण मुकद्दमे में जो झूठी गवाही दे, उस के दण्डविशेष क्रम से आगे कहता हूँ ॥ ११९ ॥ लोभ से ( मिथ्या गवाही देने वाले पर ) “हजार” पण [ १५॥= ] दण्ड हो और मोह से कहने वाले को “प्रथम साहस” [ ३॥= ] दण्ड देवे । और भय से कहने वाले को “दो मध्यम साहस” [ १५॥= ] दण्ड और मैत्री से ( झूठ कहने वाले को ) “प्रथम साहस का चतुर्गुण” [ १५॥= ] दण्ड देवे ( “ ” चिन्हित परिमाण संज्ञा आगे १३१ से १३८ तक संज्ञाप्रकरण में कहे अनुसार जानिये ) ॥ १२० ॥

कामाद्दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम् । अज्ञानाद्द्वेशते पूर्णं



चालिष्याच्छतमेवतु १२१ एतानाहुः कौटसाक्षये प्रोक्तान्दण्डान्  
मनीषिभिः । धर्मस्याव्यभिचारार्थमधर्मनियमाय च ॥ १२२ ॥

अर्थ-कामनिमित्त (असत्य गवाही दे तो) "प्रथम साहस दशगुण" [३९-] ]  
और क्रोध से (झूठी गवाही दे तो) "तिगुना उत्तम साहस" [४३॥=] ] और  
अज्ञान से (झूठी गवाही दे तो) सौ पण [१॥-] ] दण्ड पावे ॥ ( हमने पण  
को एक पैसा कल्पित करके ये रकम लिखी हैं परन्तु धर्म में कुछ अन्तर है ।  
आज कल का सिक्का उस से ठीक नहीं मिलता ) ॥ १२१ ॥ सत्यरूप धर्म के  
लोप न होने और असत्यरूप अधर्म के दूर होने के लिये झूठे साक्षी को ये  
दण्ड विद्वानों ने कहे हैं ॥ १२२ ॥

कौटसाक्षयंतुकुर्वाणांस्त्रीन्वर्णास्थार्मिको नृपः । प्रवासयेद्दण्डयि-  
त्वा ब्राह्मणंतु विवासयेत् ॥ १२३ ॥ दण्डस्थानानि दण्डस्य मनुः स्वा-  
यंभुवोऽब्रवीत् । त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो ब्राह्मणो ब्रजेत् ॥ १२४ ॥

अर्थ-धार्मिक राजा झूठी गवाही देने वाले तीनों वर्णों को दण्ड देकर  
देश से बाहर निकाल देवे और ब्राह्मण को (केवल) निकाल दे ॥ १२३ ॥ जो  
दण्ड के १० स्थान स्वायंभुव मनु ने कहे हैं, वे क्षत्रियादि तीन वर्णों को हैं ।  
और ब्राह्मण को बिना चोट के (केवल) निकाल देवे ॥ ( मनुब्रवीत० से  
संदेह तो स्पष्ट है कि यह अन्यकृत है ) ॥ १२४ ॥

उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम् । चक्षुर्नासा च कर्णौ च

धनं देहस्तथैव च ॥ १२५ ॥ अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च

तत्त्वतः । सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्डेषु पातयेत् ॥ १२६ ॥

अर्थ-लिङ्ग, उदर, जीभ, हाथ, पांचवें पैर और आंख, नाक, कान, धन  
और देह (ये १० दण्ड के स्थान हैं) ॥ १२५ ॥ प्रकरण (सिलसिले) को समझ  
कर, देशकाल को ठीक २ जान कर और ( धन शरीरादि ) सामर्थ्य तथा  
अपराध को देखकर, दण्ड के योग्यों को दण्ड देवे ॥ १२६ ॥

अधर्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्तिनाशनम् । अस्वर्ग्यं च परत्रापि

तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ १२७ ॥ अद्वान्दण्डयन् राजा दण्ड्यां

श्रीवाप्यदण्डयन् । अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥ १२८ ॥



अर्थ-क्योंकि अधर्म से दण्ड देना लोगों में इस जन्म में यश और ( आगे की ) कीर्ति का नाश करने वाला है और परलोक में स्वर्ग का अहित करने वाला है । इस कारण उसे न करे ( अर्थात् बेइन्साफी से सज़ा न देवे ) ॥ १२७ ॥ अदण्डनीयों को दण्ड देना हुमा और दण्डनीयों को छोड़ देने वाला राजा बड़े अपयश को पाता और नरक में भी जाता है ॥ १२८ ॥ वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्विदण्डं तदनन्तरम् । तृतीयं धनदण्डं तु बधदण्डमतः परम् ॥ १२९ ॥ बधेनापि यदा त्वेतान्निग्रहीतुं न शक्नुयात् । तदैषु सर्वमप्येतत्प्रयुज्जीत चतुष्टयम् ॥ १३० ॥

अर्थ-प्रथम वाग्दण्ड देवे ( अर्थात् यह कहे कि तूने यह काम अच्छा नहीं किया, इस कहने पर न माने तो ) दूसरी बार धिक् दण्ड देवे ( अर्थात् " लानत है " ऐसा कहे । यदि इस पर भी न माने तो ) तीसरी वा धन-दण्ड ( जुर्माना ) करे । ( उस पर भी न माने तो ) बधदण्ड=( अपराधानुसार ) देहदण्ड देवे ॥ १२९ ॥ यदि देहदण्ड से भी इन को वश में न कर सके तो इन पर वाग्दण्डादि सब चारों दण्ड करे ॥ १३० ॥

लोकसंव्यवहारार्थं याः संज्ञाः प्रथिता भुवि । ताम्मरूप्यसुवर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १३१ ॥ जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः । प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥ १३२ ॥

अर्थ-तांबा, चांदी और सोने की जो ( पणादि ) संज्ञा लोगों के व्यवहार के लिये पृथिवी में प्रसिद्ध हैं, उन सब को ( दण्डप्रकरणोपयोगी होने से ) आगे कहता हूं ॥ १३१ ॥ मकान के रोशनदान में सूर्य की धूप में जो बारीक २ छोटे २ रज ( जरे ) दीखते हैं, इस सापे को प्रमाणों में पहिला ( प्रमाण ) " त्रसरेणु " कहते हैं ॥ १३२ ॥

त्रसरेणवोष्टौ विज्ञेया लिक्षैका परिमाणतः । ता राजसर्षप-स्तिस्त्रस्ते त्रयोगौरसर्षपः ॥ १३३ ॥ सर्षपाः पट्यथोमध्यस्त्रियवं त्वेककृष्णलम् । पञ्चकृष्णलकोमापस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥ १३४ ॥

अर्थ-आठ त्रसरेणु की एक " लिखा " और तीन लिखा की एक " राजसर्षप " = राई और तीन राई का एक " श्वेत सरस " जानिये ॥ १३३ ॥ और छः सरसों



का एक सभला "यव" और तीन यव का एक "कृष्णल" और पांच कृष्णल का एक "साष" और सोलह साषों का एक "सुवर्ण" होता है ॥ १३४ ॥

पलं सुवर्णाश्चत्वारः पलानि धरणं दश। द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयोरौप्यमाषकः ॥ १३५ ॥ ते षोडश स्यादुरणं पुराणश्चैव राजतः। कार्षापणं तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः ॥ १३६ ॥

अर्थ—चार सुवर्ण का एक "पल"। दश पल का १ "धरण"। बराबर के दो कृष्णलों को १ "रौप्यमाषक" (चांदी का माषक) जाने ॥ १३५ ॥ सोलह माषक का १ "रौप्यधरण" और चांदी का "पुराण" भी होता है। तांबे के कर्ष भर के पण (पैसे) "कार्षापण" को "ताम्रिक, कार्षिक, पण" जाने ॥ १३६ ॥

धरणानि दशज्ञेयः शतमानस्तुराजतः। चतुःसौवर्णिको निष्को विज्ञेयस्तु प्रमाणतः ॥ १३७ ॥ पणानां द्वे शते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः। मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं त्वेष चोत्तमः ॥ १३८ ॥

अर्थ—दश धरण का १ चांदी का "शतमान" जाने और प्रमाण से चार सुवर्ण को १ "निष्क" जाने ॥ १३७ ॥ दो सौ पञ्चास पणों का "प्रथम साहस" कहा है और पांच सौ पणों का "मध्यमसाहस" तथा १ सहस्र पणों का "उत्तम साहस" जाने ॥ १३८ ॥

ऋणे देये प्रतिज्ञाते पञ्चकं शतमर्हति। अपहूवे तद्विगुणं तन्मनोरनुशासनम् ॥ १३९ ॥ वसिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद्वित्तविवर्धनीम्। अशीतिभागं गृह्णीयान्मासाद्वार्धुषिकः शते ॥ १४० ॥

अर्थ—यदि ऋजदार सभा में कहदे कि मुझे महाजन का रुपया देना है तो पांच प्रति सैकड़ा दण्ड योग्य है। और नकार करे (परन्तु सभा में फिर प्रमाणित हो) तो दश प्रति सैकड़ा दण्ड देने योग्य है। इस प्रकार (मुझ) मनु की आज्ञा है ॥ १३९ ॥ धन को बढ़ाने वाली वसिष्ठोक्त वृद्धि (सूद) अस्सीवां भाग सौ पर व्याज खाने वाला मासिक ग्रहण करे (अर्थात् सवा रुपया सैकड़ा व्याज ले ॥ १३९ व १४० में भी नवीनता की फलक तौ है क्योंकि "मनु की आज्ञा" और "वसिष्ठ" का नाम आया है) ॥ १४० ॥



द्विकंशतं वा गृह्णीयात्सतां धर्ममनुस्मरन् । द्विकंशतं हि गृह्णानो  
न भवत्यर्थकित्विषी ॥१४१॥ द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पञ्चकं च  
शतं समम् । मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः ॥१४२॥

अर्थ-सत्पुरुषों के धर्म का स्मरण कर ( बड़ों का नाम ले ) दो रुपया  
सैकड़ा व्याज ग्रहण करे । दो रुपया सैकड़ा व्याज ग्रहण करने वाला उस धन  
से पापी नहीं होता ॥ १४१ ॥ ब्राह्मणादि वर्णों से क्रम से दो, तीन, चार और  
पांच रुपये सैकड़ा साहवारी व्याज ग्रहण करे ॥ १४२ ॥

नत्वेवाधौ सोपकारे कौसीदीं वृद्धिमाप्नुयात् । न चाधो कालसं-  
रोधान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः १४३ न भोक्तव्यो बलादाधिर्भुज्जानो  
वृद्धिमुत्सृजेत् । मूल्येन तोषयेच्चैनमाधिस्तेनोन्यथा भवेत् ॥१४४॥

अर्थ-(भूमि गौ धन आदि) भोगयुक्त पदार्थ बन्धक ( गिरवी रखे ) तो पूर्वोक्त  
व्याज न ग्रहण करे और बहुत दिन होने पर भी उस के अन्य को दे देने या  
बेचने का ( धनी को ) अधिकार नहीं है ॥१४३॥ आधि ( गिरवी की चीज ) को  
जबरदस्ती भोग न करे । यदि भोग करे तो व्याज छोड़ देवे या मूल्य से उस  
( वस्तुस्वामी ) को ( उन वस्त्रालङ्कारादि को भोगने से जो घाटा होगया है,  
उस का मूल्य देकर ) प्रसन्न करे, नहीं तो बन्धकचोर कहलावे ॥ १४४ ॥

आधिश्चोपनिधिश्चोभौ न कालात्ययमर्हतः । अवहार्यौ भवेतां तौ  
दीर्घकालमवस्थितौ ॥१४५॥ संप्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति  
कदाचन । धेनुरुष्ट्रो बह्वक्षश्च यश्च दम्भ्यः प्रयुज्यते ॥ १४६ ॥

अर्थ-आधि=बन्धक ( गिरवी ) और उपनिधि ( अमानत=प्रीतिपूर्वक  
उपभोग के लिये दीहुई वस्तु ) इन दोनों में काल बीतने से स्वत्व नष्ट नहीं  
होता । बहुत दिन की भी रक्खी को जब स्वामी चाहे तब ले सकता है ॥१४५॥  
प्रीतिपूर्वक ( अन्यो से ) उपभोग किये जाते गाय, ऊँट, घोड़ा, बैल आदि  
कामों में लाये जावें तो इन पर का स्वामित्व नहीं जाता रहता ॥ १४६ ॥

यत्किञ्चिद्दृशवर्षाणि सन्निधौ प्रेक्षते धनी । भुज्यमानं परैस्तूष्णीं  
न स तत्त्वधुमर्हति ॥१४७॥ अजडश्चेदपौगण्डो विषये चास्य  
भुज्यते । भग्नं तद्व्यवहारेण भोक्ता तद् द्रव्यमर्हति ॥१४८॥



अर्थ-यदि किसी वस्तु को अन्य लोग दश वर्ष तक वर्तते रहें और उस का स्वामी चुप चाप देखता रहे तो फिर वह उसे नहीं पासकता ॥ १४७ ॥ जो ( वस्तुस्वामी ) पागल न हो और न पीगस्य ( बालक ) हो और उसी के सामने वस्तु को परपुरुष भोगता रहे, तो अदालत से उस का अधिकार नहीं रहता किन्तु भीका ही उस को पाने योग्य है ॥ १४८ ॥

आधिःसीमा बालधनं निक्षेपोपनिधी स्त्रियः । राजस्वं श्रोत्रि-  
यस्त्वं च न भोगेन प्रणश्यति ॥ १४९ ॥ यः स्वामिनाऽननुज्ञातमाधिं  
भुङ्क्ते विचक्षणः । तेनार्धवृद्धिर्भाक्तव्या तस्य भोगस्य निष्कृतिः ॥ १५० ॥

अर्थ-वन्धक ( गिरवी ), सीमा, बालधन, धरोहर, प्रीतिपूर्वक भोगार्थ दिया धन, स्त्री और राजा का धन तथा श्रोत्रिय का धन, इन को ( दश वर्ष ) भोगने से भी भोग करने वाला नहीं पा सकता ( इस से आगे १ पुस्तक में एक श्लोक अधिक है ) ॥ १४९ ॥ जो चालाक मनुष्य आधि ( गिरवी ) को विना स्वामी के कहे भोगता है, उसे उस भोग के बदले आधा सूद लेना चाहिये ॥ १५० ॥

कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहता । धान्ये सदे लवे बाह्ये  
नातिक्रामति पञ्चतामू ॥ १५१ ॥ कृतानुसारादधिका व्यतिरिक्ता  
न सिद्ध्यति । कुसीदपथमाहुस्तं पञ्चकं शतमर्हति ॥ १५२ ॥

अर्थ-( रुपयों का ) सूद एक बार लेने पर मूल धन से दूने से अधिक नहीं हो सकता और धान्य, वृक्ष के मूल और फल, ऊन और वाहन, पांच गुने से अधिक नहीं हो सकते ॥ १५१ ॥ ठहराये से अधिक व्याज शास्त्र के विपरीत नहीं मिल सकता । व्याज का मार्ग इसी को कहा है कि ( अधिक से अधिक ) पांच रुपये सैंकड़ा लिया जा सकता है ॥ १५२ ॥

नाति सांवत्सरीं वृद्धिं न चादृष्टां पुनर्हरेत् । चक्रवृद्धिः कालवृद्धिः  
कारिता कायिका च या ॥ १५३ ॥ ऋणं दातुमशक्तो यः कर्तुमिच्छेत्  
पुनः क्रियाम् । स दत्त्वा निर्जितां वृद्धिं करणं परिवर्तयेत् ॥ १५४ ॥

अर्थ-एक वर्ष हो जाने पर ( जो माहवारी सूद ठहरा हो, ग्रहण करले ) अधिक समय न बढ़ावे, और सूद पर सूद और माहवारी सूद और सूद के दबाव से ऋण कराके उस पर सूद और शरीर से कोई काम सूद में न ले ॥ १५३ ॥

Kangri  
Library  
Bharatpur



जो ऋण देने को असमर्थ है और फिर से हिसाब करना चाहे, वह चढ़ा हुआ सूद देकर दूसरा ऋण (कागज=तमस्सुक) बदल देवे ॥ १५४ ॥

अदर्शयित्वा तत्रैव हिरण्यं परिवर्तयेत् । यावती संभवेद्वृद्धि-  
स्तावतीं दातुमर्हति ॥ १५५ ॥ चक्रवृद्धिं समारूढो देशकालव्यव-  
स्थितः । अतिक्रामन्देशकालौ न तत्फलमवाप्नुयात् ॥ १५६ ॥

अर्थ—यदि सूद भी न देसके तो सूद के धन को मूल में जोड़ देवे और फिर जितनी संख्या व्याज सहित हो उतनी देने योग्य है ॥ १५५ ॥ चक्रवृद्धि का आश्रय करने वाला महाजन देश काल से नियमित हुआ ही फल पावे, किन्तु नियत देश वा काल को चक्रवृद्धि करने वाले फल को नहीं प्राप्त हो, (मियाद गुजरने पर हकदार न रहे) ॥ १५६ ॥

समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः । स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं  
सा तत्राधिगमं प्रति ॥ १५७ ॥ योयस्य प्रतिभूस्तिष्ठेद्दर्शनायेह  
मानवः । अदर्शयन् स तं तस्य प्रयच्छेत्स्वधनादृणम् ॥ १५८ ॥

अर्थ—समुद्रपथ के यान में कुशल और देश काल अर्थ के जानने वाले (अर्थात् इतनी दूर, इतने दिन तक, इस काम के करने में, यह लाभ होता है, इस को जानने वाले महाजन) जिस वृद्धि का स्थापन करते हैं, वही उस में प्रमाण है ॥ १५७ ॥ जो मनुष्य जिस का हाज़िर करने के लिये प्रतिभू (जामिन) हो, वह उस को सामने न करे तो अपने पास से उस का ऋण दे ॥ १५८ ॥

प्रातिभाष्यं वृथादानमाक्षिकं सौरिकंचयत् । दण्डशुल्कावशेषं  
च न पुत्रोदातुमर्हति ॥ १५९ ॥ दर्शनप्रातिभाष्ये तु विधिः स्यात्  
पूर्वचोदितः । दानप्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत् ॥ १६० ॥

अर्थ—प्रतिभू होने (जमानत) का धन और वृथादान तथा जुवे का रुपया मद्य का रुपया और दण्ड शुल्क का शेष, (ये सब पिता के मरने पर उस के बदले) पुत्र देने योग्य नहीं है ॥ १५९ ॥ सामने कर देने के प्रातिभाष्य (जमानत) में ही पूर्वोक्त विधि है (अर्थात् पिता की जमानत पिता ही देवे) और धन देने का प्रतिभू (जामिन) मरजावे तो उस के वारिसों से भी दिलावे ॥ १६० ॥



अदातरि पुनर्दाता विज्ञातप्रकृतावृणम् । पश्चात्प्रतिभूवि प्रेते  
परीप्सेत्केन हेतुना ॥ १६१ ॥ निरादिष्टधनश्चेत्तु प्रतिभूः स्या-  
द्दलंधनः । स्वधनादेव तद्दद्यान्निरादिष्ट इति स्थितिः ॥ १६२ ॥

अर्थ-अदाता प्रतिभू ( जिसने देने की जमानत न की हो किन्तु अध-  
मर्ण को सामने कर देना मात्र स्वीकार किया हो । जिस की प्रतिज्ञा दाता  
ने जान भी रखी है ( कि वह देने का प्रतिभू नहीं बना था ) उस के मर  
जाने पश्चात् ( उस के पुत्रादि दायादों से ) दाता अपना ऋण किस हेतु से  
पाना चाहे ? ( किसी से भी नहीं ) ॥ १६१ ॥ यदि [ प्रतिभू ] ( ज जिनि ) को  
अधमर्ण रुपया सौंप गया हो इसलिये प्रतिभू के पास वह रुपया हो, पर अध-  
मर्ण ने आज्ञा न दी हो [ कि तुम उत्तमर्ण को दे देना, तौ वह ] निरादिष्ट प्रतिभू  
( जामिन ) अपने पास से अवश्य उत्तमर्ण का ऋण देवे । यह निर्णय है ॥ १६२ ॥

मत्तोन्मत्तार्त्ताध्यधीनैर्वालेन स्थविरेण वा । असंबद्धकृतश्चैव  
व्यवहारो न सिद्ध्यति ॥ १६३ ॥ सत्या न भाषा भवति यदापि स्यात्  
प्रतिष्ठिता । बहिश्चेद्वाप्यते धर्मान्नियताद्वयावहारिकात् ॥ १६४ ॥

अर्थ-मत्त, उन्मत्त, आर्त, परतन्त्र, बाल और वृद्धों का तथा पूर्वापर विरुद्ध  
किया हुआ व्यवहार सिद्ध नहीं होता ॥ १६३ ॥ आपस की भाषा ( शर्त वा इक-  
रार ) चाहे लिखा पढ़ी से वा जवानी ठहरी भी हो तौ भी यदि धर्म ( कानून )  
या परम्परा के रिवाज से विरुद्ध ठहरी हो तौ सच्ची नहीं मानी जाती ॥ १६४ ॥  
योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम् । यत्र वाप्युपधिं पश्ये-  
त्तत्सर्वं विनिवर्तयेत् ॥ १६५ ॥ ग्रहीता यदि नष्टः स्यात्कुटुम्बार्थं  
कृतोव्ययः । दातव्यं बान्धवैस्तत्स्यात्प्रविभक्तैरपि स्वतः ॥ १६६ ॥

अर्थ-द्वल से किये हुवे बन्धक ( गिरवी ), विक्रय, दान, प्रतिग्रह और  
निक्षेप=धरोहर भी लौटा देवे ॥ १६५ ॥ कुटुम्ब के लिये ऋण लेकर व्यय करने  
वाला यदि मर जावे तौ उस के बान्धव विभाग किये हुवे वा न विभाग किये  
हुवे हों अपने धन में से उस के बदले ऋण देवें ॥ १६६ ॥

कुटुम्बार्थं ध्यधीनोपि व्यवहारं यमाचरेत् । स्वदेशे वा विदेशे वा  
तं ज्यायान्न विचालयेत् ॥ १६७ ॥ बलादुक्तं बलाद्भुक्तं बलादपि  
लेखितम् । सर्वान्वलकृतानर्थानकृतान्मनुरब्रवीत् ॥ १६८ ॥



अर्थ-जो कोई अधीन ( पुत्रादि ) भी कुटुम्ब के लिये स्वदेश वा विदेश में कुछ व्यवहार=लेन देन करले, तो उस का बड़ा ( अधिष्ठाता ) उसे विचलित न करे ( कबूल ही करे ) ॥ १६७ ॥ बलात्कार से दिया, बलात्कार से भोग किया और बलात्कार से जो कुछ लिखाया तथा बलात्कार से कराये सब काम नहीं किये के समान ( मुफ ) मनु ने कहे हैं ॥ १६८ ॥

त्रयः परार्थे क्लिश्यन्ति साक्षिणः प्रतिभूः कुलम् । चत्वारस्तूपची-  
यन्ते विप्रआढ्यो वणिह्नृपः ॥ १६९ ॥ अनादेयं नाददीत परिक्षी-  
णोऽपि पार्थिवः । न चादेयं समृद्धोऽपि सूक्ष्ममप्यर्थमुत्सृजेत् ॥ १७० ॥

अर्थ-तीन दूसरे के लिये क्लेश पाते हैं-साक्षी, प्रतिभू तथा कुल । और चार दूसरे के कारण बढ़ते हैं-ब्राह्मण, धनी, बनिया और राजा ॥ १६९ ॥ क्षीण धन वाला भी राजा लेने के अयोग्य धन को न ग्रहण करे और समृद्ध भी ( राजा ) उचित थोड़े धन को भी न छोड़े ॥ १७० ॥

अनादेयस्य चादानादादेयस्य च वर्जनात् । दौर्बल्यं ख्याप्यते  
राज्ञः स प्रेत्येह च नश्यति ॥ १७१ ॥ स्वादानाद्वर्णसंसर्गाच्च बलानां  
च रक्षणात् । बलं संजायते राज्ञः स प्रेत्येह च वर्धते ॥ १७२ ॥

अर्थ-अग्राह्य के ग्रहण तथा ग्राह्य के त्याग से राजा की दुर्बलता (हील) प्रसिद्ध होजाती है । इस कारण वह इस लोक और परलोक में नष्ट होता है ॥ १७१ ॥ ( न्यायोचित ) धन के ग्रहण करने और वर्णों के नियम में रखने और निर्बलों के संरक्षण से राजा की बल होता है । इस से वह ( राजा ) इस लोक तथा परलोक में वृद्धि पाता है ॥ १७२ ॥

तस्मादममइव स्वामी स्वयंहित्वा प्रियाप्रिये । वर्ततथा मया वृत्त्या  
जितक्रोधो जितेन्द्रियः ॥ १७३ ॥ यस्त्वधर्मेण कार्याणि मोहात्कु-  
र्यान्नराधिपः । अचिरात्तदुरात्मानं वशे कुर्वन्ति शत्रवः ॥ १७४ ॥

अर्थ-इस लिये यमराज के तुल्य राजा जितक्रोध और जितेन्द्रिय होकर अपने प्रिय अप्रिय को छोड़कर यमराज ( न्यायी ईश्वर ) के सी ( सब में सभ ) वृत्ति से वर्तें ॥ १७३ ॥ जो राजा अज्ञानवश अधर्म से व्यावहारिक कार्य करता है, उस दुष्टात्मा को थोड़े ही दिनों में शत्रु वश में कर लेते हैं ॥ १७४ ॥



कामक्रोधौ तु संयम्य योऽर्थान् धर्मेण पश्यति । प्रजास्तमनु  
वर्तन्ते समुद्रमिव सिन्धवः ॥ १७५ ॥ यः साधयन्तं हृन्देन वेदयेदुनिकं  
नृपे । स राजा तच्चतुर्भागं दाप्यस्तस्य च तदुनम् ॥ १७६ ॥

अर्थ-जो (राजा) काम क्रोधों को छोड़ कर धर्म से कार्यों को देखता है, प्रजा  
उसके अनुकूल रहती हैं, जैसे समुद्र के नदियां ॥ १७५ ॥ जो अधमर्ण स्वतन्त्रता से  
अपना रुपया वसूल करते हुवे उत्तमर्ण की राजा से सूचना (शिकायत) करे, उस  
अधमर्ण से राजा वह रुपया और उस का चतुर्थांश दण्ड अधिक दिलावे ॥ १७६ ॥  
कर्मणापि समं कुर्यादुनिकायाधमर्णिकः । समो वकृष्टजातिस्तु  
दद्याच्छ्रेयांस्तु तच्छूनैः ॥ १७७ ॥ अनेन विधिनाराजा मिथो विव-  
दतां नृणाम् । साक्षिप्रत्ययसिद्धानि कार्याणि समतां नयेत् ॥ १७८ ॥

अर्थ-समान जाति वा हीन जाति ( करजदार, सहाजन का रुपया न  
देसके ती ) काम करके पूरा करदेवे और उत्तम जाति धीरे २ रुपया देदेवे  
॥ १७७ ॥ राजा परस्पर झगड़ा करने वाले मनुष्यों के मुकद्दमे कागज आदि  
और गवाहों से ऐसे बराबर न्याय को प्राप्त करे ॥ १७८ ॥

कुलजे वृत्तसंपन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि । महापक्षे धनिन्यार्ये  
निक्षेपं निक्षेपेद्वबुधः ॥ १७९ ॥ यो यथा निक्षेपेद्वस्ते यमर्थं यस्य  
मानवः । स तथैव ग्रहीतव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥ १८० ॥

अर्थ-सत्कुल में उत्पन्न हुवे, सदाचारी, धर्मात्मा, सत्यभाषण करने वाले,  
बड़े पक्ष वाले, धनवान्, आर्य के पास बुद्धिमान् पुरुष धरोहर रखे ॥ १७९ ॥  
जो मनुष्य जिस प्रकार जिस द्रव्य को जिस के हाथ रखे, उस को उसी  
प्रकार ग्रहण कराना योग्य है । जैसा देना, वैसा लेना ॥ १८० ॥

यो निक्षेपं याच्यमानो निक्षेपुर्न प्रयच्छति । स याच्यः प्राड्वि-  
वाकेन तन्निक्षेपु रसन्निधौ ॥ १८१ ॥ साक्ष्यभावे प्रणिधिभिर्वयो-  
रूपसमन्वितैः । अपदेशैश्च संन्यस्य हिरण्यं तस्य तत्त्वतः ॥ १८२ ॥

अर्थ-जो धरोहर रखने वाले की धरोहर मांगने पर नहीं देता, उस से  
न्यायकर्त्ता राजपुरुष धरोहर रखने वाले के पीछे ( सामने नहीं ) मांगे ॥ १८१ ॥



यदि धरोहर रखने वाले का कोई साक्षी न हो तो राजा अपने नौकरों से जो कि अवस्था और स्वरूप से मले मानुष प्रतीत हों, उन के हाथ बहाने बनवाकर ( कि हमारे धन की धरोहर रख लीजिये, हमारे यहां इन की रक्षा नहीं हो सकती इत्यादि ) अपना धन उस धरोहर न देने वाले के यहां रखवावे जैसे कि ठीक ३ धरोहर रखी जाती हैं ॥ १८२ ॥

सयदिप्रतिपद्येत यथान्यस्तं यथाकृतम् । न तत्र विद्यते किञ्चि-  
दात्परैरभियुज्यते ॥ १८३ ॥ तेषां न दद्यादति तु तद्विरण्यं यथा-  
विधि । उभौ निगृह्य दाप्यः स्यादिति धर्मस्य धारणा ॥ १८४ ॥

अर्थ- यदि वह (राजा का भेजा हुआ पुरुष) ज्यों का त्यों अपनी धरोहर मांगने से पा जावे तो राजा जानले कि और लोगों ने जो धरोहर न देने की नालिश ( अभियोग ) की हैं, उन का उस पर कुछ नहीं चाहिये ॥ १८३ ॥ और यदि उन ( राजपुरुषों ) का यथाविधि धरोहर न देवे तो राजा पकड़वाकर उस से दोनों को दिलावे (अर्थात् पहिली भी नालिश सच समझे) यह धर्म का निर्णय है ॥ १८४ ॥

निक्षेपोपनिधीनित्यं न देयौ प्रत्यनन्तरे । नश्यतो विनिपाते ता-  
व निपाते त्वनाशिनौ ॥ १८५ ॥ स्वयमेव तु यो दद्यान्मृतस्य प्रत्यन-  
न्तरे । न स राज्ञा नियोक्तव्यो न निक्षेपुश्च बन्धुभिः ॥ १८६ ॥

अर्थ- धरोहर और संगनी धरने और देने वाले के वारिसों को न दे और यदि धरने वाला और संगनी देने वाला बिना अपने वारिसों को कहे मर जावे तो वे धरोहर और संगनी नष्ट हो जाती हैं, परन्तु जीवते हुवे अविनाशी हैं ॥ १८५ ॥ जो स्वयं ही मरे हुवे के वारिसों को रखने वाला उस का धरोहर वा संगनी का धन देदेवे तो राजा और धरोहर वाले वारिसों को कुछ रोक टोक ( मदाखलत ) करनी योग्य नहीं है ॥ १८६ ॥

अच्छलेनैव चान्विच्छेत्तमर्थं प्रीतिपूर्वकम् । विचार्य तस्य वा  
वृत्तं साम्नैव परिसाधयेत् ॥ १८७ ॥ निक्षेपेष्वपि सर्वेषु विधिः स्यात्त्व-  
रिसाधने । समुद्रे नामुयात्किञ्चिदति तस्मान्न संहरेत् ॥ १८८ ॥



अर्थ-यदि उसके पास द्रव्य हो तो छलरहित प्रीतिपूर्वक ही लेना चाहे वा इस का वृत्तान्त समझ कर सीधेपन से ही उस से प्राप्त ( बरामद ) करे ॥ १८७ ॥ इन सब धरोहरों में सही करने की यह विधि है । और ( मुहर ) चिन्हसहित दिये हुवे में यदि कुछ मुहर ( चिन्ह ) को हरण न करे तो कुछ शङ्का नहीं पाई जाती ॥ १८८ ॥

चौरैर्हतं जलेनोढमग्निना दग्धमेव वा । न दद्यादादि तस्मात्स न संहरति किञ्चन ॥ १८९ ॥ निक्षेपस्यापहर्तारमऽनिक्षेप्तारमेव च । सर्वैरुपायैरऽन्विच्छेच्छपथैश्चैव वैदिकैः ॥ १९० ॥

अर्थ-जो चोरों ने चुराया और जो पानी में डूब गया तथा आग में जल गया, वह द्रव्य धरनेवाला न देवे, यदि उस में से उस ने स्वयं कुछ नहीं लिया है तो ॥ १८९ ॥ धरोहर के हरण करने वाले और धरोहर विना रक्खे मांगने वाले को राजा सम्पूर्ण ( सामादि ) उपायों और वैदिक शपथों ( हलफों ) से ठिकाने लगाने का उद्योग करे ॥ १९० ॥

यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते तावुभौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौ वा तत्समं दमम् ॥ १९१ ॥ निक्षेपस्यापहर्तारं तत्समं दापयेद्दमम् । तथोपनिधिहर्तारमविशेषेण पार्थिवः ॥ १९२ ॥

अर्थ-जो धरोहर नहीं देता और जो विना रक्खे जाल करता है वे दोनों चोर के समान दण्ड देने योग्य हैं वा उस धन के समान जुर्माना देने योग्य हैं ॥ १९१ ॥ धरोहर (अमानत) हरण करने वाले को राजा उसी के समान दण्ड देवे तथा पूर्वोक्त उपनिधि के हरण करने वाले को भी यही दण्ड देवे ॥ १९२ ॥

उपधाभिश्चयः कश्चित्परद्रव्यं हरेन्नरः । स सहायः स हन्तव्यः प्रकाशं विविधैर्वधैः ॥ १९३ ॥ निक्षेपोयः कृतो येन यावांश्च कुलसन्निधौ । तावानेव स विज्ञेयो विब्रुवन्दण्डमर्हति ॥ १९४ ॥

अर्थ-( "तुम पर राजा अप्रसन्न है, उस से हम तुम को बचाते हैं, हम को 'धन दो' इत्यादि ) उपधा ( धोखा वा दबाव ) देकर दूसरे का धन जो कोई लेता है, वह सहायकों सहित नाना प्रकार की ताड़ना देकर प्रत्यक्ष मारने योग्य है ॥ १९३ ॥ जो सुवर्णादि जितना जिस ने साक्षियों के सामने धरोहर रक्खा हो



उस में ( तौल का बखेड़ा होने पर ) साक्षी जितना कहे, उतना ही जानना चाहिये ( उस में ) तकरार करने वाला दण्ड पाने योग्य है ॥ १९४ ॥

मिथोदायः कृतोयेन गृहीतो मिथ एव वा । मिथ एव प्रदातव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥ १९५ ॥ निक्षिप्तस्य धनस्यैवं प्रीत्योपनिहितस्य च । राजा विनिर्णयं कुर्यादक्षिणवन्त्यासधारिणम् ॥ १९६ ॥

अर्थ-जिस ने एकान्त में धरोहर रखी और लेने वाले ने भी एकान्त में ली हो, वह एकान्त ही में देने योग्य है । जैसे लेवे वैसे देवे ॥ १९५ ॥ धरोहर का धन और प्रीति से उपभोग के लिये रखे धन का राजा धरोहरधारी को पीड़ा न देता हुवा ऐसे निर्णय करे ॥ १९६ ॥

विक्रीणीते परस्य स्वं योऽस्वामी स्वाम्यसंमतः । न तं नयेत साक्ष्यं तु स्तेनमस्तेनमानिनम् ॥ १९७ ॥ अवहार्यो भवेच्चैव सान्वयः षट्शतं दमम् । निरन्वयोऽनपसरः प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम् ॥ १९८ ॥

अर्थ-दूतरे की वस्तु जिस ने विना स्वामी की आज्ञा के बेची हो, अपने को साहू मानने वाले उस चोर को साक्षी न करे ॥ १९७ ॥ दूतरे की वस्तु का बेचने वाला यदि धनस्वामी के वंश में हो तो उसे छः सौ पण दण्ड दे और यदि सम्बन्धी न हो तथा बेचने को प्रतिनिधि ( मुख्तार ) न हो तो चोर के समान अपराधी है ॥ १९८ ॥

अस्वामिना कृतोयस्तु दायो विक्रय एव वा ।

अकृतः स तु विज्ञेयो व्यवहारे यथास्थिति ॥ १९९ ॥

अर्थ-विना स्वामी जो दिया तथा बेचा, वह सब व्यवहार की जैसी कि मर्यादा है तदनुसार दिया वा बेचा नहीं समझा जावे ॥

( १९९ से आगे १३ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है:-

[ अनेन विधिना शास्ता कुर्वन्नस्वामिविक्रयम् ।

अज्ञानाज्ज्ञानपूर्वं तु चौरवदण्डमर्हति ] ॥

उक्त विधि से राजा अस्वामिविक्रयकर्ता को शासन करे यदि विना जाने किसी ने अस्वामिविक्रय किया हो, परन्तु जान बूझ कर करने वाला चोर के तुल्य दण्डयोग्य है ॥ १९९ में "दायो विक्रय एव वा = क्रयो विक्रय एव वा" पाठभेद भी चार पुस्तकों में देखा जाता है ) ॥ १९९ ॥



संभोगोदृश्यते यत्र न दृश्येतागमः क्वचित् ।

आगमः कारणं तत्र न संभोग इति स्थितिः ॥२००॥

अर्थ-जिस वस्तु का संभोग तौ देखा जाता हो और क्रयादि आगम नहीं, वहां आगम प्रमाण है, संभोग नहीं। यह शास्त्र की मर्यादा है। (अर्थात् जिस ने जिस वस्तु को खरीदने आदि के उचित [जाइज़] द्वार से नहीं पाया, केवल भोग रहा है, उस में खरीदने आदि से प्राप्त करने वाला ठीक समझा जायगा। भोक्ता नहीं) ॥ २०० ॥

विक्रयादो धनं किञ्चिद् गृह्णीयात्कुलसन्निधौ । क्रयेण स विशुद्धं हि न्यायतोलभते धनम् ॥२०१॥ अथ मूलमनाहार्यं प्रकाशक्रय-शोधितः । अदण्डयोमुच्यते राज्ञा नाष्टिको लभते धनम् ॥२०२॥

अर्थ-जो कुल के सामने बेचने से खरीद कर कुछ धन ग्रहण करे, वह खरीदारी को सिद्ध करके राजा के न्याय से उस धन को पाता है ॥२०१॥ विना स्वामी बेचने वाले से प्रत्यक्ष खरीद करने वाला शुद्ध पुरुष यदि बेचने वाले को न भी ला सके तौ भी राजा का अदण्ड्य है। परन्तु नष्ट धन का स्वामी उस धन को (खरीदने वाले से) पाता है ॥ २०२ ॥

नान्यदन्येन संसृष्टरूपं विक्रयमर्हति ।

न चासारं न च न्यूनं न दूरेण तिरोहितम् ॥ २०३ ॥

“अन्यां चेद्दर्शयित्वाऽन्यावोदुः कन्या प्रदीयते ।

उभे ते एकशुल्केन वहेदित्यब्रवीन्मनुः ॥ २०४ ॥”

अर्थ-एक वस्तु दूसरी के रूप में मिलती हो तौ भी उस को उस के धोके से बेचना योग्य नहीं है। और न सही हुई, न तौल में कम और न विना दिखाये ठकी को बेचना योग्य है ॥२०३॥ “ठहराव में किसी और कन्या को दिखलावे और विवाहसमय वर को अन्य कन्या देदे तौ वे दोनों कन्याएँ एक ही ठहरावे मूल्य पर विवाह ले, ऐसा मनु ने कहा था” (मनु ने कन्याविक्रय वर्जित किया है, इसलिये भी यह वचन मनु का नहीं माना जा सकता) ॥२०४॥

नोन्मत्ताया न कुष्ठिन्या न च या स्पृष्टमैथुना । पूर्वं दोषानभि-ख्याप्य प्रदाता दण्डमर्हति ॥२०५॥ ऋत्विग्यदिवृत्तौ यज्ञे स्वकर्म परिहापयेत् । तस्य कर्मानुरूपेण देयोऽशः सह कर्तृभिः ॥२०६॥



अर्थ-पगली, कोढ़िन और योनिबिह्वा कन्या के दोषों को प्रथम न बता कर कन्या का दाता दण्ड के योग्य है ॥ २०५ ॥ यज्ञ में वरण किया हुआ ऋत्विक् ( बीमारी आदि से ) कुछ कर्म करके छोड़ दे तो उसको काम किये के अनुसार कर्त्ताओं के साथ दक्षिणा का अंश देना योग्य है ॥ २०६ ॥

दक्षिणासु च दत्तासु स्वकर्म परिहापयन् । कृत्स्नमेव लभेतांश-  
मन्येनैव च कारयेत् ॥ २०७ ॥ यस्मिन् कर्मणि यास्तु स्युरुक्ताः  
प्रत्यङ्गदक्षिणाः । स एव ता आददीत भजेरन्सर्व एव वा ॥ २०८ ॥

अर्थ-दक्षिणा दे देने पर ( याज्ञक व्याधि आदि से पीड़ित होने के कारण ) अपने कर्म को समाप्त न करे तो संपूर्ण दक्षिणा पावे और शेष कर्म को दूसरे से करा देवे ॥ २०७ ॥ जिस कर्म में जो प्रत्यङ्ग दक्षिणा कही हैं उन को वही उस कर्म का कर्त्ता लेवे, अथवा सब बांट कर ग्रहण करलें ॥ २०८ ॥

रथं हरेत वाध्वर्युर्ब्रह्माधाने च वाजिनम् । होता वापि हरेदश्व-  
मुद्गाता चाप्यनःक्रये ॥ २०९ ॥ सर्वेषामर्धिनो मुख्यास्तदर्धेना-  
र्धिनोऽपरे । तृतीयिनस्तृतीयांशाश्चतुर्थींशाश्च पादिनः ॥ २१० ॥

अर्थ-आधान में रथ को अध्वर्यु ग्रहण करे और ब्रह्मा अश्व को और होता भी अश्व को और उद्गाता सोमक्रय धारण करने के लिये शकट (गाड़ी) को ग्रहण करे ॥ २०९ ॥ संपूर्णों में दक्षिणा का आधा भाग लेने वाले (चार) मुख्य ऋत्विक् होते हैं । और उन से आधी दक्षिणा ग्रहण करने वाले दूसरे (चार) ऋत्विक् होते हैं । ऐसे ही तीसरे भाग को ग्रहण करने वाले (चार) और चतुर्थ को ग्रहण करने वाले (चार, ऐसे सोलह ऋत्विक् होते हैं) ॥ २१० ॥ संभूय स्वानि कर्माणि कुर्वद्भिरिह मानवैः । अनेन विधियोगेन कर्तव्यांशप्रकल्पना ॥ २११ ॥ धर्मार्थं येन दत्तं स्यात्कस्मैचि-  
दाचते धनम् । पश्चाच्च न तथा तत्स्यान्न देयं तस्य तद्ववेत् ॥ २१२ ॥

अर्थ-मिल कर काम करने वाले मनुष्यों को यहां इस विधि से बांट करना योग्य है ॥ २११ ॥ जिस ने किसी सांगने वाले को धर्मार्थ जो धन दे दिया, फिर वह उस का दुबारा दान नहीं कर सकता, क्योंकि वह दिया हुआ धन उस का नहीं रहा ॥ २१२ ॥



यदिसंसाधयेत्तत्तु दर्पात्लभेनवापुनः । राज्ञादाप्यः सुवर्णस्या-  
त्तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः ॥२१३॥ दत्तस्यैषोदिता धर्म्या यथाव-  
दनपक्रिया । अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वेतनस्यानपक्रियाम् ॥२१४॥

अर्थ-यदि दान किये हुए धन को लोभ से वा अहंकार से छीने तो राजा उस चोरी की निष्कृति को “सुवर्ण” का दण्ड दे ॥२१३॥ यह दिये हुवे के उलट फेर करने का ठीक ठीक धर्मानुकूल निर्णय कहा । इस के उपरान्त वेतन ( तन्ख्वाह ) न देने का निर्णय करता हूं ॥ २१४ ॥

भृतो नातीन कुर्यादो दर्पात्कर्म यथोदितम् । सदाद्यः कृष्णला-  
न्यष्टौ न देयं चास्य वेतनम् ॥२१५॥ आर्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन्यथा  
भाषितमादितः । स दीर्घस्यापि कालस्य तल्लभेतैव वेतनम् ॥२१६॥

अर्थ-जो नौकर बिना बीमारी के अहंकार से कहे हुवे काम को न करे, वह आठ “ कृष्णल ” दण्ड के योग्य है । और वेतन भी उस को न देवे ॥२१५॥ यदि व्याध्यादि पीड़ारहित नौकर जैसा काम कहा वैसा ठीक २ करता रहे तौ बीमार होने पर बहुत दिन का भी वेतन पावे ॥ २१६ ॥

यथोक्तमार्तः सुस्थो वा यस्तत्कर्म न कारयेत् । न तस्य वेतनं देय-  
मल्पो न स्यापि कर्मणः ॥२१७॥ एष धर्मोऽखिलेनोक्तो वेतनादान-  
कर्मणः । अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धर्म समयभेदिनाम् ॥२१८॥

अर्थ-जो काम जैसा ठहरा हो वैसा स्वयं बीमार हो और दूसरे से भी न करावे या स्वस्थ ( तन्दुरुस्त ) हुआ आप न करे तौ उस के थोड़े ही काम शेष रहने पर भी सब काम का वेतन न देना चाहिये ॥२१७॥ वेतन के न देने का यह संपूर्ण धर्म कहा, अब इस के आगे प्रतिष्ठाभेदियों का धर्म कहता हूं:- ॥२१८॥

योग्रामदेशसंघानां कृत्वा सत्येन संविदम् । विसंवदेन्नरो लोभा-  
त्तराष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥२१९॥ निगृह्य दापयेच्चैनं समयव्यभि-  
चारिणम् । चतुःसुवर्णान् षणिष्काश्चतुर्मानं च राजतम् ॥२२०॥

अर्थ-जो मनुष्य ग्राम वा देश के समूहों का सत्य से समय ( इकरार, प्रतिष्ठा, ठेका वा पट्टा ) करके लोभ के कारण उस को छोड़ देवे तो उस को राजा राज्य से निकाल दे ॥२१९॥ और उक्त समयव्यभिचारी को पकड़वा कर राजा चार सुवर्ण और छः निष्क और १ चांदी का शतमान दण्ड दे ॥२२०॥



एतद्दण्डविधिं कुर्याद्दार्मिकः पृथिवीपतिः । ग्रामजातिसमूहेषु  
समयव्यभिचारिणाम् ॥२२१॥ क्रीत्वा विक्रीय वा किञ्चिदस्येहा-  
नुशयोभवेत् । सोऽन्तर्दशाहात्तद्द्रव्यं दद्याच्चैवाददीत च ॥२२२॥

अर्थ-धार्मिक राजा ग्राम और जाति के समूहों में प्रतिष्ठा के व्यभिचार  
करने वालों को ऐसे दण्ड देवे ॥२२१॥ कोई द्रव्य खरीद कर वा बेच कर दश  
दिन के बीच में पसन्द न हो तो वापिस करदे और लेसकता है ॥ २२२ ॥

परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत् । आददानोददच्चैव  
राज्ञादण्डयः शतानिषट् ॥२२३॥ यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्याय  
प्रयच्छति । तस्य कुर्यान्नृपोदण्डं स्वयं पणवतिं पणान् ॥२२४॥

अर्थ-दश दिन के ऊपर न देवे न दिलावे, नहीं तो देने और लेने वाले  
दोनों राजा से ६०० पण के दण्डयोग्य हैं ॥ (२२३ से आगे दो पुस्तकों में ३ श्लोक  
तथा एक पुस्तक में पहला एक ही श्लोक अधिक है । परन्तु कुछ विशेष प्रयो-  
जनीय नहीं होने से हम ने उद्धृत नहीं किये) ॥२२३॥ जो दोष वाली कन्या  
का विना कहे विवाह करता है, उस पर राजा आप ६ पण दण्ड करे ॥२२४॥

अकन्येति तु यः कन्यां ब्रूयाद्द्वेषेण मानवः । स शतं प्राप्नुयाद्दण्डं  
तस्यादोषमदर्शयन् ॥२२५॥ पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्येव  
प्रतिष्ठिताः । नाकन्यासु क्वचिन्नृणां लुप्तधर्मक्रियाहिताः ॥२२६॥

अर्थ-जो मनुष्य द्वेष से कन्या को अकन्या ( दुष्टा ) कहे, वह सौ पण  
दण्ड पावे, यदि उस के कन्यात्वभङ्ग के दोष को न सिद्ध करे ॥२२५॥ क्योंकि  
मनुष्यों के पाणिग्रहणसम्बन्धी वैदिक मन्त्र कन्या के ही विषय में कहे हैं,  
अकन्या के विषय में कहीं नहीं । क्योंकि विवाह के पूर्व दूषित अकन्याओं  
की धर्मक्रिया लुप्त हो जाती है ॥ २२६ ॥

पाणिग्रहणिकामन्त्रा नियतं दारलक्षणमातेषां निष्ठातुविज्ञेया  
विद्वद्भिः सप्तमे पदे ॥२२७॥ यस्मिन्यस्मिन्कृते कार्ये यस्येहानु-  
शयोभवेत् । तमनेन विधानेन धर्मे पथि निवेशयेत् ॥२२८॥

अर्थ-पाणिग्रहण के मन्त्र निश्चय दार ( स्त्री ) हो जाने के लक्षण हैं ।  
उन मन्त्रों की समाप्ति सप्तपदी के ७ वें पद में विद्वानों को जाननी चाहिये



॥ २२७ ॥ जिस जिस किये कान में पीके पसन्द न हो उस को राजा इस ( चक्र ) विधि से धर्ममार्ग में स्थापन करे ॥ २२८ ॥

पशुषु स्वामिनां चैव पालानां च व्यतिक्रमे । विवादं संप्रवक्ष्यामि  
यथावदुर्मतस्त्वतः ॥ २२९ ॥ दिवा वक्तव्यतापाले रात्रौ स्वामिनि  
तद्गृहे । योगक्षेमेऽन्यथा चेत्तु पालो वक्तव्यतामिधात् ॥ २३० ॥

अर्थ-पशुओं के विषय में पशुस्वामी और पशुपालों के बिगाड़ में यथावत् धर्मतत्त्व से विवाद को कहता हूँ-॥२२९॥ दिन में चरवाहे पर और रात्रि में स्वामी के घर में स्वामी पर जवाबदेही है । और कुछ चारे की कमी आदि हो तो भी जवाबदेह चरवाहा हो ॥ २३० ॥

गोपः क्षीरभृतो यस्तु सदुह्याद्दशतो वराम् । गोस्वाम्यनुमते भृत्यः  
सा स्यात्पालेऽभृते भृतिः ॥ २३१ ॥ नष्टं विनष्टं कृमिभिः श्वहतं  
क्षिपमे भृतम् । हीनं पुरुषकारेण प्रदद्यात्पाल एव तु ॥ २३२ ॥

अर्थ-जो गोपाल दूध पर ही भृत्य हो, वह स्वामी की अनुमति से १० गौओं में श्रेष्ठ १ गौ को भृति ( तनखा ) के लिये दीहून करले, वही उसका वेतन है । ( वही एक गौ के दीहून से दश गाय का पालन करे ) ॥ ३॥ जो पशु खोया जावे वा कीड़े पड़कर खराब हो जावे, या कुत्तों से सारा जावे या पाँव ऊपर नीचे पड़ने से सर जावे, या पुरुषार्थहीन हो जावे तो ( स्वामी को ) गोपाल ही पशु देवे ॥ २३२ ॥ विद्युष्य तु हतं चौरैर्न पालो दातुमर्हति । यदि देशे च काले च स्वामिनः स्वस्य शंसति ॥ २३३ ॥ कर्णौ चर्म च बालांश्च वस्तिं स्नायुं च रोचनाम् । पशुषु स्वामिनां दद्यान्मृतेष्वङ्गानि दर्शयेत् ॥ २३४ ॥

अर्थ-यदि चोर जबरदस्ती छीन लें तो गोपाल को ( पशु देना ) योग्य नहीं है यदि अपने स्वामी से उस का वृत्तान्त उचित देश काल में कह दे ॥ २३३ ॥ और यदि स्वयं पशु मर जावे तो उन के अङ्ग स्वामी को गोपाल दिखला दे और कान, त्वचा, बाल, वस्ति, स्नायु, और रोचना; स्वामी को दे देवे ॥ २३४ ॥ अजाविकेतुं सरुद्धे वृकैः पाले त्वनायति । यां प्रसह्य वृको हन्यात् पाले तत्कलिवपं भवेत् ॥ २३५ ॥ तासां चेद्वरुद्धानां चरन्तीनां मिथो वने । यामुत्प्लुत्य वृको हन्यान्नपालस्तत्र कलिवपी ॥ २३६ ॥



अर्थ बकरी और भेड़ को भेड़िये रोक लें और चरवाहा छुड़ाने को न जाये, इस पर जिन को भेड़िया मार डाले, उन का पातक चरवाहे को हो ॥ २३५ ॥ परन्तु यदि उन ( चरवाहे से ) घेरी हुई बकरी भेड़ों को एकाएक आकर भेड़िया मार डाले तो उस का पातकी चरवाहा न हो ॥ २३६ ॥

धनुःशतंपरीहारो ग्रामस्य स्यात्समन्ततः । शम्भ्यापातास्त्रयो  
वाऽपि त्रिगुणोनगरस्य तु ॥ २३७ ॥ तत्रापरिवृतंधान्यं विहिंस्युः  
पशवो यदि । न तत्र प्रणयेद्दण्डं नृपतिः पशुरक्षिणाम् ॥ २३८ ॥

अर्थ-ग्राम के आस पास चार सौ हाथ वा ३ वार लाठी फेंकने की दूरी तक छुटी भूमि ( परिहार ) और नगर के आस पास उस की तिगुनी रखनी उचित है ॥ २३७ ॥ उस परिहार स्थान में बाड़ रहित धान्य को यदि पशु नष्ट करें तो राजा चरवाहों को दण्ड न करे ॥ २३८ ॥

वृत्तिं तत्र प्रकुर्वीत ग्रामुष्ट्रो न विलोकयेत् । छिद्रं च वारयेत्सर्वं  
श्वसूकरमुखानुगम् ॥ २३९ ॥ पथिक्षेत्रेपरिवृते ग्रामान्तीयेऽथवा  
पुनः । सपालः शतदण्डार्हो विपालांश्चारयेत्पशून् ॥ २४० ॥

अर्थ-उस खेत के बचाने की इतनी ऊंची (कांटों की) बाड़ करे जिस में ऊंट न देख सके और बीच के छिद्र रोके, जिन में कुत्ते और सुवर का मुख न जा सके ॥ २३९ ॥ बाड़ दिये हुये मार्ग के पास के क्षेत्र में वा ग्रामसमीपवर्ती क्षेत्र में यदि चरवाहा साथ होने पर पशु खेत चरें तो चरवाहा १०० पण दण्ड के योग्य है । और विना चरवाहे पशुओं को खेत का रखवाला हांक दे ॥ २४० ॥ क्षेत्रेष्वन्येषु तु पशुः सपादं पणमर्हति । सर्वत्र तु सदोदेयः क्षेत्रिकस्येति धारणा ॥ २४१ ॥ अनिर्दशाहां गां सूतां वृषान्देवपशूंस्तथा । सपालान्वा विपालान्वा न दण्ड्यान्मनुरब्रवीत् ॥ २४२ ॥

अर्थ-अन्य खेतों को पशु भक्षण करे तो चरवाहा सपाद ( सवा ) पण दण्ड के योग्य है और सब जगह जितनी हानि हुई हो उतनी खेत वाले को दे, यह निश्चय है ॥ २४१ ॥ दश दिन के भीतर की बियाई हुई गाय, सांड, देवतासंबन्धी पशु ( जो देवकार्य हवनार्थ घृतादि सम्पादनार्थ गौ आदि पाले रहते हों ) के रखवाले के साथ वा विना पशुपाल के किसी का खेत खाने पर ( मुक्त ) मनु ने दण्ड नहीं कहा ॥ २४२ ॥



क्षेत्रियस्यात्यये दण्डो भागादृशगुणोभवेत् । ततोऽर्धदण्डोभू-  
त्यानामज्ञानात्क्षेत्रियस्य तु ॥ २४३ ॥ एतद्विधानमातिष्ठेदुर्मिकः  
पृथिवीपतिः । स्वामिनांच पशूनांच पालानांचव्यतिक्रमे ॥ २४४ ॥

अर्थ—यदि खेत वाले के अपने पशु खेत चरें तो उस को राजभाग से दश  
गुणा दण्ड हो और खेती वाले के अज्ञान से नौकरों की रक्षा में पशु भक्षण  
करें तो उस से आधा दण्ड हो ॥ २४३ ॥ स्वामी और पशु तथा चरवाहे के  
अपराध में धार्मिक राजा इस प्रकार विधान करे ॥ २४४ ॥

सीमांप्रतिसमुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्वयोः । ज्येष्ठे मासिनयेत् सीमां  
सुप्रकाशेषु सेतुषु ॥ २४५ ॥ सीमावृक्षांश्च कुर्वीत न्यग्रोधाश्चरथ-  
किंशुकान् । शालमलीन् शालतालान्श्च क्षीरिणश्चैव पादपान् ॥ २४६ ॥

अर्थ—दो ग्रामों की सरहद्द के भगड़े उत्पन्न होने पर ज्येष्ठ मास में जब  
तृणादि शुष्क होने से सरहद्द के चिह्न सुप्रकाशित हों तब उस का निश्चय  
करे ॥ २४५ ॥ सीमा ( सरहद्द ) का चिन्ह बट, पीपल, पलाश, सेंभर, साल  
और ताल तथा अन्य दूध वाले वृक्ष स्थापित करे ॥ २४६ ॥

गुल्मान्वेणूंश्च विविधा उच्छमीवल्लीस्थलानि च । शरान्कुञ्जकगु-  
ल्मान्श्च तथा सीमा न नश्यति ॥ २४७ ॥ तडागान्युदपानानि वाप्यः  
प्रस्रवणानि च । सीमासंधिषु कार्याणि देवतायतनानि च ॥ २४८ ॥

अर्थ—गुल्म, नाना प्रकार के बांस, शमी, वल्लीस्थल, शर और कुञ्जकगुल्म  
स्थापित करे, जिस से सीमा नष्ट न हो ॥ २४७ ॥ तडाग, कूप, बावड़ी, झरना और  
यज्ञसन्दिह सीमा के जोड़ों पर बनावे ( जिस से कि बहुत से मनुष्य जलपानादि  
करने तथा यज्ञार्थ परंपरा से सुन के आते रहें, इसी से वे सब साक्षी हों ) ॥ २४८ ॥

उपच्छन्नानि चान्यानि सीमालिङ्गानि कारयेत् । सीमाज्ञानेनृणां  
वीक्ष्य नित्यं लोके विपर्ययम् ॥ २४९ ॥ अश्मनोऽस्थीनि गोबालांस्तु-  
षान् भस्मकपालिकाः । करीषमिष्टकाङ्गारांश्च कर्कराबालुकास्तथा  
२५० यानि चैव प्रकाराणि कालाद्भूमिर्न भक्षयेत् । तानि सन्धिषु  
सीमायामप्रकाशानि कारयेत् ॥ २५१ ॥ एतैर्लिङ्गैर्नयेत् सीमां राजा



**विवदमानयोः । पूर्वभुक्त्या च सततमुदकस्यागमेन च ॥२५२॥**

अर्थ-सीमा निर्णय में सर्वदा इस लोक में मनुष्यों की श्रम देख कर अन्य गूढ सीमाचिन्ह भी स्थापित करावे ॥२५२॥ पत्थर, हड्डी, गोबाल, तुष, मत्स्य, खपड़ा, आरना, ईंट, कोइला, शर्करा और बालु ॥२५०॥ और जो कि इस प्रकार की वस्तु हों, जिन्हें बहुत दिनों में भी भूमि न खाजावे, उन को सीमा की संधियों में गुप्त करावे ॥२५१॥ राजा इन चिन्हों और पूर्वभोग तथा नदी आदि से जल के मार्ग इत्यादि चिन्हों से लड़ने वालों की सीमा का निर्णय करे ॥२५२॥

**यदि संशयएवस्याल्लिङ्गानामपि दर्शने । साक्षिप्रत्ययएव स्यात् सीमावादविनिर्णयः ॥२५३॥**

**ग्रामीयककुलानां च समक्षं सीम्नि साक्षिणः । प्रष्टव्याः सीमलिङ्गानि तथोश्चैव विवादिनोः ॥२५४॥**

अर्थ-चिन्हों के देखने पर भी यदि संशय रहै तो साक्षी के प्रमाण से सीमा-विवाद का निश्चय करे ॥२५३॥ ग्राम के कुलों और वादी प्रतिवादियों ( सुदृष्ट सुदमाइलह) के समक्ष सीमा में साक्षियों से सीमा के चिन्ह पूछने योग्य हैं ॥२५४॥

**ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः समस्ताः सीम्नि निश्चयम् । निवर्त्तनीयास्तथा सीमां सर्वास्तांश्चैव नामतः २५५ शिरोभिस्ते गृहीत्वोर्ध्वं स्रग्विणो रक्तवाससः । सुकृतैः शापिताः स्वैः स्वैर्नयेयुस्ते समञ्जसम् ॥२५६॥**

अर्थ-सीमा के विषय में निश्चय के लिये वे पूछे हुये लोग जैसा कहें वैसा ही सब सीमा को बांधे और उन सब साक्षियों के नाम लिखले ॥ २५५ ॥ वे साक्षी फूलों की माला और लाल कपड़ा पहिर कर शिर पर मिट्टी के ढेले चढ़ा कर कहें कि जो हमारा शुकृत है सो निष्फल हो जो हम असत्य कहें ॥२५६॥

**यथोक्तेन नयन्तस्ते पूयन्ते सत्यसाक्षिणः । विपरीतं नयन्तस्तु दाप्याः स्युर्द्विशतं दमम् ॥२५७॥ साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्रामाः सामन्तवासिनः । सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयत्ना राजसन्निधौ ॥२५८॥**

अर्थ-वे सत्यप्रधान साक्षी शास्त्रोक्त विधि से निर्णय में सहायक रह कर निष्पाप होते हैं । और असत्य से निश्चय कराने वालों को दोसी पण दण्ड दिलावे ॥ २५७ ॥ साक्षी के अभाव में आस पास के जमींदार ४ ग्राम के निवासी धर्म से राजा के सामने सीमा का निर्णय करें ॥ २५८ ॥



सामन्तानामभावे तु मौलानां सीम्नि साक्षिणाम् । इमानप्यनु-  
युज्जीत पुरुषान्धनगोचरान् २५९ व्याधांश्चाकुनिकान्गोपान्कैव-  
तान्मूलखानकान्। व्यालग्राहानुज्ज्वृत्तीनन्यांश्चवनचारिणः २६०

अर्थ-सामन्त=आम पाम के जड़ू साक्षियों के अभाव में इन वनचर  
पुरुषों को भी साक्षी करले:-॥ २५९ ॥ व्याध, शाकुनिक, गोप, कैवर्तक, मूल  
खोदने वाले और सपेरे तथा उज्ज्वृत्ति और दूसरे वनचारियों को ॥ २६० ॥

लेपृष्टास्तु यथा ब्रूयुः सीमां सन्धिषु लक्षणम् । तत्तथा स्थापयेद्राजा  
धर्मेण ग्रामयोर्द्वयोः ॥ २६१ ॥ क्षेत्रकूपतडागानामारामस्य  
गृहस्य च । सामन्तप्रत्ययो ज्ञेयः सीमासेतुविनिर्णयः ॥ २६२ ॥

अर्थ-वे पूछे हुवे लोग जैसे सीमासन्धि का लक्षण बतावें, राजा धर्म से  
दोनों ग्रामों के बीच में सीमा का वैसे ही स्थापन करे ॥ २६१ ॥ क्षेत्र, कूप,  
तडाग, बाग और गृहों के सीमासेतु के निर्णय में सामन्त=समीपवासियों  
की प्रतीति करे ॥ २६२ ॥

सामन्ताश्चेन्मृषा ब्रूयुः सेतौ विवदतां नृणाम् । सर्वे पृथक्पृथक्  
दण्ड्या राज्ञा मध्यमसाहसम् ॥ २६३ ॥ गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वा  
भीषया हरन् शतानि पञ्चदण्ड्याः स्यादज्ञानाद्द्विशतोदमः ॥ २६४ ॥

अर्थ-विवाद करने वाले मनुष्यों के सेतु निर्णय में यदि सामन्त झूठ बोलें  
तौ राजा सब को "मध्यम साहस" १॥-१) अलग २ दण्ड दे ॥ २६३ ॥ घर तडाग  
बाग वा क्षेत्र को भग देके को हरण करे उस को पांच सौ पण दण्ड दे और  
अज्ञान से हरण करने में दो सौ पण दण्ड दे ॥ २६४ ॥

सीमायामविषयायां स्वयं राजैव धर्मवित् ।

प्रतिशेदभूमिमेतेषामुपकारादिति स्थितिः ॥ २६५ ॥

अर्थ-सीमा का कोई पर्याप्त प्रमाण न मिलने पर धर्म का जानने वाला  
राजा स्वयं ही उपकार से इन की भूमि बांट दे । यह सयादा है ॥

( २६५ से आगे यह श्लोक दो पुस्तकों में अधिक है:-

[ ध्वजिनी मत्सिनी चैव निधानी भयवर्जिता ।

राजशासननीता च सीमा पञ्चविधा स्मृता ] ॥ २६५ ॥



एषोऽखिलेनाभिहितो धर्मःसीमाविनिर्णये ।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वाक्पारुष्यविनिर्णयम् ॥ २६६ ॥

अर्थ-यह संपूर्ण सीमानिश्चय का धर्म कहा, अब वाणी की क्रूरता (गाली) का निर्णय कहता हूं ॥ २६६ ॥

शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियोदण्डमर्हति । वैश्योऽर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति ॥ २६७ ॥ पञ्चाशद्ब्राह्मणोदण्डः क्षत्रियस्याभिशंसने । वैश्ये स्यादर्धपञ्चाशच्छूद्रे द्वादशको दमः ॥ २६८ ॥

अर्थ-ब्राह्मण को गाली देने से क्षत्रिय सौ पण दण्डयोग्य है । और वैश्य भी डेढ़ सौ या दो सौ पण दण्ड, और शूद्र तो (बेत आदि से) पीटने योग्य है ॥ २६७ ॥ और ब्राह्मण, क्षत्रिय को गाली दे तो पञ्चास पण, वैश्य को गाली दे तो पच्चीस पण और शूद्र को गाली दे तो बारह पण दण्डयोग्य है ॥ २६८ ॥

समवर्णे द्विजातीनां द्वादशैव व्यतिक्रमे ।

वादेऽप्यवचनीयेषु तदेव द्विगुणं भवेत् ॥ २६९ ॥

अर्थ-द्विजातियों को अपने समान वर्ण में गाली आदि देने पर बारह पण दण्ड दे (ना बहिन की गाली आदि) न कहने योग्य गाली प्रदानादि में उस का दूना (२४ पण दण्ड दे ॥ इससे आगे ३ पुस्तकों में ये दो श्लोक अधिक पाये जाते हैं:-

[ विप्रक्षत्रियवत्कार्यो दण्डो राजन्यवैश्ययोः । वैश्यक्षत्रिययोः शूद्रे विप्रे यः क्षत्रशूद्रयोः । समुत्कर्षापकर्षास्तु विप्रदण्डस्य कल्पनाः । राजन्यवैश्यशूद्राणां धनवर्जमिति स्थितिः ] ॥ २६९ ॥

“ एकजातिर्द्विजातीस्तु वाचा दारुणया क्षिपन् ।

जिह्वायाः प्राप्नुयाच्छेदं जघन्यप्रभवो हि सः ॥ २७० ॥ ”

अर्थ-“यदि शूद्र द्विजातियों को गाली दे तो जीभ को छेदन का दण्ड प्राप्त हो क्योंकि वह निरुद्ध से उत्पन्न है ” ( यह २६८ के विरुद्ध है ) ॥ २७० ॥

“ नामजातिग्रहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वतः । निक्षेप्योयोमयः शङ्कु-ज्वलन्नास्ये दशाङ्गुलः ॥ २७१ ॥ धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वतः । तप्तमासेचयेत्तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः ॥ २७२ ॥ ”



अर्थ-“जो शूद्र द्विजातियों के नाम और जाति का उच्चारण करे उस के मुंह में जलती हुई दश अङ्गुल की लोहे की कील ठोकनी चाहिये ॥ २७१ ॥ जो शूद्र अहङ्कार से ब्राह्मणों को धर्म का उपदेश करे, उस के मुख और कान में राजा गरम तैल डलवावे ॥ ( ये दोनों श्लोक भी २७० के तुल्य उसी शैली के हैं ) ॥ २७२ ॥ ”

श्रुतं देशं च जातिं च कर्मशारीरमेव च । वितथेन ब्रुवन्दापायः  
स्याद्विशतं दण्डम् ॥ २७३ ॥ काणं वाप्यथवा खञ्जमन्यं वापि  
तथाविधम् । तथ्येनापि ब्रुवन्दाप्यो दण्डं कार्षापणावरम् ॥ २७४ ॥

अर्थ-श्रुत=पढ़ाई और देश तथा जाति और शारीरक कर्म झूठ बतलाने वाले को राजा दो सौ पण दण्ड दे ॥ २७३ ॥ काणा तथा लङ्गड़ा और अन्य कोई इसी प्रकार का अङ्गहीन हो, उस को सच भी उसी दोष से पुकारने वाला एक “ कार्षापण ” तक दण्ड के योग्य है ॥ २७४ ॥

मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम् । आक्षारयच्छतं दाप्यः  
पन्थानं चाददद्गुरोः ॥ २७५ ॥ ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां तु दण्डः कार्यो  
विजानता । ब्राह्मणे साहसः पूर्वः क्षत्रिये त्वेव मध्यमः ॥ २७६ ॥

अर्थ-माता, पिता, स्त्री, भाई, पुत्र और गुरु को अभिशाप=गाली देने तथा गुरु को मार्ग न छोड़ने वाला सौ पण दण्ड के योग्य है ॥ २७५ ॥ ब्राह्मण क्षत्रियों के आपस में गाली गलौज करने में धर्म का जानने वाला राजा दण्ड करे तो उस में ( ब्राह्मण का अपराध हो तो ) ब्राह्मण को “प्रथम साहस” तथा क्षत्रिय को “ मध्यम साहस ” दण्ड दे ॥ २७६ ॥

“ विट्शूद्रयोरेवमेव स्वजातिं प्रति तत्त्वतः ।

छेदवर्जं प्रणयनं दण्डस्येति विनिश्चयः ॥ २७७ ॥ ”

“अर्थ-वैश्य शूद्रों को आपस में इसी प्रकार गाली गलौज करने में अपनी २ जाति के प्रति ठीक १ छेदरहित दण्ड का प्रयोग करे । इस प्रकार निर्णय है ॥”

( २७७ का कथन बड़ा अस्तव्यस्त है । प्रथम तो वैश्य शूद्रों के गाली देने का कथन है, फिर स्वजाति का वर्णन है । परन्तु स्वजाति में शूद्र को जिह्वा-छेद दण्ड का विधान प्रसिद्ध २७० में भी नहीं है । इस लिये स्वजाति में जिह्वा-छेदवर्ज कहना व्यर्थ है । तथा दण्ड का व्यौरा भी इस श्लोक में नहीं है ॥



इन कारणों से यह श्लोक २१० के तुल्य प्रक्षिप्त जान पड़ता है । इस के आगे भी एक श्लोक है जो कि केवल दो पुस्तकों में पाया जाता है । यथा—

[ पतितं पतितेत्युक्ता चौरं चौरैति वा पुनः ।

वचनानुल्य दोषः स्यान्मिथ्या द्विर्दोषतां व्रजेत् ॥ ]

व्यवहारमूल्य में इस को नारद का वचन बताया है ) ॥ २११ ॥

एष दण्डविधिः प्रोक्तो वाक्पारुष्यस्य तत्त्वतः ।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दण्डपारुष्यनिर्णयम् ॥ २१२ ॥

अर्थ—यह वाक्पारुष्य की ठीक २ दण्डविधि कही । अब दण्डपारुष्य विधि ( मार पीट का निर्णय ) कहता हूँ ॥ २१२ ॥

येन केनचिदङ्गेन हिंस्याच्चेच्छ्रेष्ठमन्त्यजः । छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनुशासनम् ॥ २१३ ॥ पाणिमुद्यम्य दण्डं वा पाणिच्छेदनमर्हति । पादेन प्रहरन्कोपात्पादच्छेदनमर्हति ॥ २१४ ॥

अर्थ—अन्त्यज लोग जिस किसी अङ्ग से द्विजातियों को मारे, उस का वही अङ्ग कटवाना चाहिये । यह ( मुक्त ) मनु का अनुशासन है ॥ २१३ ॥ हाथ वा लाठी उठा कर मारे तो हाथ काटना योग्य है ( न कि लाठी, काटी जावे ) और कोप से छात मारे तो पैर काटना योग्य है ॥ २१४ ॥

सहासनमभिप्रेत्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः । कटयाकृताङ्गो निर्वास्यः स्फिचं वाऽस्यावकर्तयेत् ॥ २१५ ॥ अवनिष्ठीवतीदर्पाद् द्वावोष्ठी छेदयेन्नृपः । अवमूत्रयतीमेद्रमवशर्धयतो गुदम् ॥ २१६ ॥

अर्थ—उच्च के साथ बैठने की इच्छा करने वाले नीच की कटी (कमर) में (दाग) चिन्ह करके निकाल दे वा उस के चूतड़ को थोड़ा कटवा देवे ( जिस में मरे न ) ॥ २१५ ॥ अहङ्कार से नीच—उच्च के ऊपर थूके तो राजा उस के दोनों होठ का और उस पर मूत्र डाले तो लिङ्ग और पादे तो उस की गुदा का छेदन करे ॥ २१६ ॥ केशेषु गृह्णतो हस्तौ छेदयेदऽविचारयन् । पादयोर्दाढिकायां च ग्रीवायां वृषणेषु च ॥ २१७ ॥ त्वग्भेदकः शतं दण्डो लोहितस्य च दर्शकः । मांसभेत्ता तु षण्णिकान्प्रवास्यस्त्वस्थिभेदकः ॥ २१८ ॥



अर्थ-अहङ्कार से ( सारहालने को ) बाल पकड़ने वाले के दोनों हाथों को बिना विचारे ( शीघ्र ) कटवादे और पैर, हाथी, ग्रीवा तथा अण्डकोश को ( सारहालने के विचार से ) पकड़ने वाले के भी ( हाथ कटवादे ) ॥२८३॥ त्वचा का भेद करने वाले पर सौ पण दण्ड करना चाहिये और रक्त निकालने वाले को भी सौ पण दण्ड दे तथा मांस के भेदन करने वाले को छः " निष्क " दण्ड दे और अस्थिभेदक को देश से निकालदे ॥ २८४ ॥

वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगं यथा यथा । तथातथा दमःकार्यं हिंसायामिति धारणा ॥ २८५ ॥ मनुष्याणां पशूनां च दुःखाय प्रहृते सति । यथा यथा महद्दुःखं दण्डं कुर्यात्तथा तथा ॥ २८६ ॥

अर्थ-सम्पूर्ण वनस्पतियों का जैसा २ उपभोग करे वैसा २ हिंसा ( हानि ) में दण्ड दिया जावे । यह सूर्यादा है ॥ २८५ ॥ मनुष्यों और पशुओं को पीड़ा के लिये प्रहार करने पर जैसे १ पीड़ाऽधिक्य हो वैसे २ दण्ड भी अधिक करे ॥ २८६ ॥ अङ्गावपीडनायांच व्रणशोणितयोस्तथा ॥ समुत्थानव्ययं दाप्यः सर्वदण्डमथापि वा ॥ २८७ ॥ द्रव्याणि हिंस्याद्यो यस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा । सतस्योत्पादयेत्तुष्टिं राज्ञोदद्याच्च तत्समम् ॥ २८८ ॥

अर्थ-अङ्गों ( चरणादि ) और व्रण तथा रक्त की पीड़ा होने पर चोट करने वाला स्वस्थ होने का सम्पूर्ण खर्च दे अथवा पूर्ण दण्ड दे ॥ २८७ ॥ जो जिस की वस्तु का जान कर वा बेजाने नुकसान करे, वह उस को प्रसन्न करे और राजा की चसी के बराबर दण्ड दे ॥ २८८ ॥

चर्मचार्मिकभाण्डेषु काष्ठलोष्टमयेषु च । मृत्यात्पञ्चगुणोदण्डः पुष्पमूलफलेषु च ॥ २८९ ॥ यानस्य चैव यातुश्च यानस्वामिन एव च । दशातिघर्तनान्याहुः शेषे दण्डो विधीयते ॥ २९० ॥

अर्थ-चाम और चमड़े के बने वस्तुकादि छर्तन तथा मही और लकड़ी की बनी वस्तुओं के मोल से पांच गुणा दण्ड ले । और पुष्पमूल फलों में भी ( ऐसा ही करे ) ॥ २८९ ॥ सवारी के चलाने वाले तथा स्वामी को दश अवस्थायें ( देखो अगला श्लोक ) छोड़ कर शेष अवस्थायों में दण्ड कहा है ॥ २९० ॥ छिन्ननास्ये भग्नयुगे तिर्यक्प्रतिमुखागते । अक्षभङ्गे च यानस्य चक्रभङ्गे तथैव च ॥ २९१ ॥ छेदने चैव यन्त्राणां योक्तृशम्योस्त-



थैव च । आक्रन्दे चाप्यपैहीति न दण्डं मनुरब्रवीत् ॥ २९२ ॥

अर्थ-नाथ के टूटने, जुके के टूटने, नीचे ऊँचे के कारण टेढ़े वा अड़कर चलने, रथ के धुरे टूटने और पहिये के टूटने-॥ २९१ ॥ और बन्धनादि यन्त्र टूटने और गले की रस्सी टूटने, कगास टूटने पर और 'हटो बचो' ऐसा कहते हुवे (सारथि) से कोई किसी का नुकसान होने पर (मुक्त) मनु ने दण्ड नहीं कहा ॥ २९२ ॥

यत्रापवर्तते युग्यं वैगुण्यात्प्राजकस्य तु । तत्र स्वामी भवेद्दण्डो हिंसायां द्विशतं दमम् ॥ २९३ ॥ प्राजकश्चेद्द्वेदाप्तः प्राजको दण्डमर्हति । युग्यस्थाः प्राजकेऽनाप्ते सर्वे दण्ड्याः शतं शतम् ॥ २९४ ॥

अर्थ-जहां सारथि के कुशल ( होशियार ) न होने से रथ इधर उधर चलता है, उस में हिंसा ( नुकसान ) होने पर, स्वामी दो सौ पण दण्ड के योग्य है ॥ २९३ ॥ और यदि सारथि कुशल हो तौ वही ( सारथि ) दो सौ पण दण्ड योग्य है । और सारथि कुशल न होते हुवे, यान पर सवार होने वाले सब सौ सौ पण दण्ड योग्य हैं ॥ २९४ ॥

स चेत्तु पथि संरुद्धः पशुभिर्वा रथेन वा । प्रमापयेत्प्राणभृतस्तत्र दण्डोऽविचारितः ॥ २९५ ॥ मनुष्यमारणे क्षिप्रं चौरवत्किल्बिषं भवेत् । प्राणभृतसु महत्स्वर्धं गोगजोष्ट्रहयादिषु ॥ २९६ ॥

अर्थ-वह सारथि यदि पशुओं से वा अन्य रथ से रुके हुवे भी रथ को चलावे उस से जीव मरजावे तौ उस को बिना विचारे दण्ड दे ॥ २९५ ॥ ( सारथि के रथ चलाने से ) मनुष्य के मरजाने में चौर का ( उत्तम साहस ) दण्ड दे और बड़े पशु बैल हाथी ऊँट घोड़ों के मरजाने पर अर्ध ( पाँच सौ पण ) दण्ड दे ॥ २९६ ॥

क्षुद्रकाणां पशूनां तु हिंसायां द्विशतोदमः । पञ्चाशत्तु भवेद्दण्डः शुभेषु मृगपक्षिषु ॥ २९७ ॥ गर्दभाजाविकानां तु दण्डः स्यात्पञ्चमापिकः । मापकस्तु भवेद्दण्डः श्वसूकरनिपातिते ॥ २९८ ॥

अर्थ-क्षुद्र पशुओं की हिंसा में दो सौ ( पण ) दण्ड हो और अच्छे मृग पक्षियों ( की हिंसा ) में पचास ( पण ) दण्ड हो ॥ २९७ ॥ गधा, बकरी, भेड़ के मरजाने में पाँच " मापक " दण्ड और कुत्ते वा भूवर के मरजाने में एक " मापक " दण्ड देवे ॥ २९८ ॥



भार्यापुत्रश्च दासश्च प्रेष्यो भ्राता च सहोदरः । प्राप्तपराधास्ताड्याः  
 रसूरज्जत्रा वेणुदलेन वा ॥ ३९९ ॥ पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमाङ्गे  
 कथञ्चन । अतोऽन्यथा तु प्रहरन् प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम् ॥ ३०० ॥

अर्थ-भार्या, पुत्र, दास, हलकारा और छोटा सहोदर भाई अपराध करने पर रस्सी वा बांस की छड़ी से ताड़नीय हैं ॥ ३९९ ॥ (परन्तु इन को) शरीर के पीठ की ओर मारे, शिर में कभी न मारे । इस से विपरीत मारने वाला चोर का दण्ड पावेगा ॥ ३०० ॥

एषोऽखिलेनाभिहितो दण्डपारुष्यनिर्णयः । स्तेनस्यातः प्रवक्ष्यामि  
 विधिं दण्डविनिर्णये ॥ ३०१ ॥ परमं यत्नमातिष्ठेत् स्तेनानां निग्रहे  
 नृपः । स्तेनानां निग्रहादस्य यशोराष्ट्रं च वर्धते ॥ ३०२ ॥

अर्थ-यह सम्पूर्ण मार पीट का निर्णय कहा । अब चोर के दण्ड का निर्णय कहता हूँ ॥ ३०१ ॥ राजा चोरों के निग्रह के लिये बड़ा यत्न करे । चोरों के निग्रह से इस का यश और राज्य बढ़ता है ॥ ३०२ ॥

अभयस्य हि यो दाता स पूज्यः स ततं नृपः । स त्रं हि वर्धते तस्य  
 सदैवाऽभयदक्षिणम् ॥ ३०३ ॥ सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति  
 रक्षतः । अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः ॥ ३०४ ॥

अर्थ-जो अभय का देने वाला राजा है, वह सदा पूज्य है । उस का यह सत्र ( यज्ञ ) अभय रूपी दक्षिणा से वृद्धि को प्राप्त होता है ॥ ३०३ ॥ रक्षा करने वाले राजा को सब से धर्म का छठा भाग और रक्षा न करने वाले राजा को भी सब से अधर्म का छठा भाग मिलता है ॥ ३०४ ॥

यदधीते यद्यजते यद्वदाति यद्वर्चति । तस्य षड्भागभाग्राजा  
 सम्यग्भवति रक्षणात् ॥ ३०५ ॥ रक्षन्धर्मैर्ण भूतानि राजा  
 वध्यांश्च घातयन् । यजतेऽहरहर्यज्ञैः सहस्रशतदक्षिणैः ॥ ३०६ ॥

अर्थ-जो कोई वेदपाठ, यज्ञ, दान, गुरुपूजनादि करता है, उस का छठा भाग अच्छे प्रकार रक्षा करने से राजा पाता है ॥ ३०५ ॥ प्राणियों की धर्म से रक्षा करता हुआ और वध्यों को दण्ड देता हुआ राजा मानो प्रति दिन लक्षदक्षिणायुक्त यज्ञ करता है ॥ ३०६ ॥



योऽरक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः । प्रतिभागं च दण्डं च  
स सद्यो नरकं व्रजेत् ॥ ३०७ ॥ अरक्षितारं राजानं बलिषड्भाग-  
हारिणम् । तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम् ॥ ३०८ ॥

अर्थ-जो रक्षा न करता हुवा राजा धान्य का छठा भाग, चुन्नी, कर  
तथा दण्ड का भाग लेता है, वह शीघ्र नरक में जावेगा ( ४ पुस्तकों में-“प्रति  
भोगम्” पाठ है ) ॥ ३०७ ॥ जो राजा रक्षा नहीं करता और धान्य का छठा भाग  
लेता है उस को सब लोगों का सम्पूर्ण पाप ढोने वाला कहते हैं ॥ ३०८ ॥

अनपेक्षितमर्यादं नास्तिकं विप्रलुम्पकम् । अरक्षितारमऽत्तारं  
नृपं विद्यादधोगतिम् ॥ ३०९ ॥ अधार्मिकं त्रिभिर्न्यायैर्निगृह्णी-  
यात्प्रयत्नतः । निरोधनेन बन्धेन विविधेन बधेन च ॥ ३१० ॥

अर्थ-( शास्त्र की ) मर्यादा को उल्लङ्घन करने वाले, नास्तिक, अनुचित  
दण्डादि धन को ग्रहण करने वाले, रक्षा न करने वाले ( कर आदि ) भक्षण  
करने वाले राजा को अधोगामी जाने ॥ ३०९ ॥ अधार्मिक पुरुष का तीन  
उपायों से यत्नपूर्वक निग्रह करे । एक कारागार ( हवालात ), दूसरा बन्धन,  
और तीसरा विविध प्रकार बध ( बेल आदि लगवाना ) ॥ ३१० ॥

निग्रहेण हि पापानां साधूनां संग्रहेण च । द्विजातयद्वेज्याभिः  
पूयन्ते सततं नृपाः ३११ क्षन्तव्यं प्रभुणानित्यं क्षिपतां कार्याणां  
नृणाम् । बालवृद्धातुराणां च कुर्वता हितमात्मनः ॥ ३१२ ॥

अर्थ-पापियों के निग्रह और साधुओं के संग्रह से राजा सदा पवित्र होते  
हैं । जैसे यज्ञ करने से द्विज ॥ ३११ ॥ ( दुःख से ) आक्षेप करने वाले कार्यार्थी  
तथा बाल वृद्ध आतुरों को अपने हित की इच्छा करने वाला राजा क्षमा करे ३१२  
यः क्षिप्रो मर्षयत्यातैस्तेन स्वर्गं महीयते । यस्त्वैश्वर्यान्न क्षमते  
नरकं तेन गच्छति ॥ ३१३ ॥ राजा स्तेनेन गन्तव्यो मुक्तकेशेन  
धावता । आचक्षणेन तत्स्तेयमेवं कर्माऽस्मि शाधि माम् ॥ ३१४ ॥

अर्थ-जो राजा दुःखितों से आक्षेप किया हुवा सहता है वह स्वर्ग में पूजा  
जाता है और जो ऐश्वर्य के मद से क्षमा नहीं करता, उस से वह नरक को



जाता है ॥ ३१३ ॥ चोरी करने वाला सिर के बाल खोले हुवे और दौड़ता हुआ राजा के पास जाकर उस चोरी को कहता हुआ यह कहे कि मुझे दण्ड दो, मैं इस काम का करने वाला हूँ ॥ ३१४ ॥

स्कन्धेनादाय मुसलं लगुडं वापि खादिरम् ।

शक्तिं चोभयतस्तीक्ष्णामायसं दण्डमेव वा ॥ ३१५ ॥

अर्थ-खैर की लकड़ी के मूसल वा लट्ट, वा जिस में दोनों ओर धार हो ऐसी बरछी वा लोहे का दण्डा कन्धे पर उठा कर (कहे कि इस से मुझे मारो) (३१५ से आगे एक पुस्तक में एक श्लोक अधिक मिलता है। यथा—

[ गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम् ।

वधेन शुध्यते स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव वा ] ॥ ३१५ ॥

शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयाद्विमुच्यते ।

अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम् ३१६

अर्थ-तब चोर शासन से वा छोड़ देने से चोरी के अपराध से छूट जाता है और यदि राजा उस को दण्ड न दे तो उस चोर के पाप को पाता है ३१६

अन्नादेभूणहामार्ष्टिपत्यौभार्यापचारिणी। गुरौशिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्बिषम् ३१७ राजनिर्धूतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः । निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥ ३१८ ॥

अर्थ-भ्रूणहत्या वाले का पाप उस के अन्न खाने वाले को और व्यभिचारिणी स्त्री का पाप पति को और शिष्य का पाप गुरु को तथा यज्ञ करने वाले का कराने वाले को (उपेक्षा करने से) लगता है। वैसे ही चोर का पाप (छोड़ने से) राजा को होता है ॥ ३१७ ॥ पाप करके भी राजा से उचित दण्ड पाये हुवे मनुष्य, निष्पाप होकर स्वर्ग को जाते हैं। जैसे पुण्य करने से सन्त ॥ ३१८ ॥

यस्तु रज्जुं घटं कूपादुरेद्विन्द्याच्च यः प्रपाम् । सदण्डं प्राप्नुयान्माषं तच्च तस्मिन्समाहरेत् ॥ ३१९ ॥ धान्यं दशम्यः कुम्भेभ्यो हरतो ऽभ्यधिकं वधः । शेषेऽप्येकादशगुणं दाप्यस्तस्य चतद्वनम् ॥ ३२० ॥

अर्थ-जो कुबे पर से रस्सी और घड़े को चुरावे और जो प्याज की तोड़े उस को सौने का एक "माष" दण्ड हो और उस रज्जु और घड़े को उसी



से रखवावे और प्याऊ को भी वही बनवावे ॥ ३१९ ॥ ( बीस द्रोण का एक कुम्भ, ऐसे ) दश कुम्भों से अधिक धान्य का चुराने वाला अधिक वध ( पीटने ) के योग्य है और शेष में उस का ११ गुणा धन दिलावे ॥ ३२० ॥

तथा धरिममेधानां शतादभ्यधिके वधः । सुवर्णरजतादीना-  
मुत्तमानांचवाससाम् ॥ ३२१ ॥ पञ्चाशतस्त्वभ्याधिके हस्तच्छेदन-  
मिष्यते । शेषे त्वेकादशगुणं मूल्याद्दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ ३२२ ॥

अर्थ-जैसे धान्य में वध कहा है, वैसे ही (तराजू वा कांटा) तुलादि से तोलने योग्य सुवर्ण चांदी आदि और उत्तम वस्त्र चुराने पर भी १०० से अधिक पर दण्ड जानी ॥ ३२१ ॥ और पचास (पल) से ऊपर चुराने से हाथ काटने चाहियें । शेष (एक से नवचास तक) चुराने में उस के मूल्य से ११ गुणा दण्ड देवे ॥ ३२२ ॥

पुरुषाणांकुलीनानां नारीणांचविशेषतः । मुख्यानांचैवरत्नानां  
हरणे वधमर्हति ॥ ३२३ ॥ महापशूनां हरणे शस्त्राणामौष-  
धस्य च । कालमासाद्य कार्यं च दण्डं राजा प्रकल्पयेत् ॥ ३२४ ॥

अर्थ-बड़े कुल के पुरुषों और विशेषकर स्त्रियों और अधिक मूल्य के रत्नों के चुराने में वध (देहदण्ड) योग्य है ॥ ३२३ ॥ बड़े पशुओं और शस्त्र तथा औषध के चुराने में काल और कार्य की देख कर राजा दण्ड देवे ॥ ३२४ ॥

गोषु ब्राह्मणसंस्थासु छूरिकायाश्च भेदने । पशूनां हरणे चैव  
सद्यः कार्यार्धपादिकः ॥ ३२५ ॥ सूत्रकार्पासकिण्वानां गोमयस्य  
गुडस्य च । दध्नः क्षीरस्य तक्रस्य पानीयस्य तृणस्य च ॥ ३२६ ॥

अर्थ-ब्राह्मण की गौवों के हरण और नाला काटने और पशुओं के हरण में शीघ्र अर्धपाद के छेदन का दण्ड करे ॥ ३२५ ॥ सूत, कपास, मदिरा की गाद, गोबर, गुड़, दही, दूध, मठा, जल, तृण - ॥ ३२६ ॥

वेणुवैदलभागडानां लवणानां तथैव च । मृण्मयानां च हरणे  
मृदोभस्मन एव च ॥ ३२७ ॥ मत्स्यानां पक्षिणां चैव तैलस्य च  
घृतस्य च । मांसस्य मधुनश्चैव यज्ञान्यत्पशुसंभवम् ॥ ३२८ ॥

अर्थ-बांस की नली और बरतनों, नसक, मही के बरतनों की चोरी और मही, राख, - ॥ ३२७ ॥ सखली, पक्षी, तेल, घृत, मांस, मधु और जो कुछ पशु से उत्पन्न होता है - ( चास सींग आदि ) ॥ ३२८ ॥



अन्येषांचैवमादीनामदानामोदनस्य च । पक्वान्नानां च सर्वेषां  
तन्मूल्याद्द्विगुणोदमः ॥३२९॥ पुष्पेषु हरिते धान्ये गुल्मवल्ली-  
नगेषु च । अन्येष्वपरिपूतेषु दण्डः स्यात्पञ्चकृष्णलः ॥३३०॥

अर्थ-और भी इसी प्रकार की खाने की चीजों, चावलों के भात और  
सम्पूर्ण पक्वान्तों की भी चोरी में इन के मूल्य से दूना दण्ड होना चाहिये  
॥ ३२९ ॥ पुष्पों और हरे धान्य तथा गुल्म वल्ली वृक्षों और अन्य जिन के  
तुषादि दूर करके असनियां नहीं किये गये ( उन की चोरी करने वाले को )  
पांच “ कृष्णल ” दण्ड हो ॥ ३३० ॥

परिपूतेषु धान्येषु शाकमूलफलेषु च । निरन्वये शतं दण्डः  
साऽन्वयेऽर्धशतं दमः ॥३३१॥ स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म  
यत्कृतम् । निरन्वयं भवेत्स्तेयं हृत्वाऽपव्ययते च यत् ॥३३२॥

अर्थ-पवित्र शोधित धान्य और शाक मूल फल के चुराने में, वंशसम्बन्ध-  
रहितों को शत १०० दण्ड और वंश में चोर हों तो पचास ५० दण्ड हो ॥३३१॥  
जो धान्यादि को सामने बल से कुटुम्बियों के समान छीन लेवे वह “साहस”  
है और ( स्वामी के पीछे ) ऊपरियों के समान लेवे, वह चोरी है तथा लेकर  
जो नकार करे वह भी चोरी ही है ॥ ३३२ ॥

यस्त्वेतान्युपलृप्तानि द्रव्याणि स्तेनयेन्नरः । तमादां दण्डये-  
द्राजा यश्चाग्निं चोरयेद्गृहात् ॥३३३॥ येन येन यथाङ्गेन स्तेनो  
नृषु विचेष्टते । तत्तदेव हरेत्तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः ॥३३४॥

अर्थ-जो मनुष्य इन बनाई हुई चीजों और अग्नि को चुरावे उस को  
राजा “प्रथम साहस” दण्ड दे ॥३३३॥ जिस २ अङ्ग से जिस २ प्रकार चोर चोरी करता  
है, राजा उस का आगे को प्रसङ्गनिवारण के लिये वही अङ्ग छिन्न करे ॥३३४॥

पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः । नाऽदण्ड्योनाम  
राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मनतिष्ठति ३३५ कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः  
प्राकृतोजनः । तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥३३६॥

अर्थ-पिता आचार्य मित्र माता भार्या पुत्र और पुरोहित; इन में जो  
स्वधर्म में न रहे, वह राजा को अदण्ड्य नहीं है ( दण्डयोग्य है ) ॥ ३३५ ॥



जिस अपराध में अन्य लोग " कार्षापण " दण्ड के योग्य हैं, उसी अपराध में राजा को " सहस्र पण " दण्ड हो, यह मर्यादा है ॥ ३३६ ॥

अष्टापद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम्। षोडशैव तु वैश्यस्य  
द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य च ॥ ३३७ ॥ ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वापि  
शतं भवेत् । द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्विषगुणविद्वि सः ॥ ३३८ ॥

अर्थ—शूद्र को चोरी में अठगुणा पाप होता है, वैश्य को सोलह गुणा, क्षत्रिय को बत्तीस गुणा ॥ ३३७ ॥ ब्राह्मण को चौंसठ गुणा, वा पूरा सौ गुणा, वा एक सौ अठ्ठाइस गुणा पाप होता है, क्योंकि वह चोरी के दोष गुण जानने वाला है ॥ ३३८ ॥

“ वानस्पत्यं मूलफलं दार्वग्न्यर्थं तथैव च ।

तृणं च गोभ्योग्रासार्थमस्तेयं मनुरब्रवीत् ” ॥ ३३९ ॥

योऽदत्तादायिनो हस्तालिप्सेत ब्राह्मणोधनम् ।

याजनाध्यापनेनापि यथा स्तेनस्तथैव सः ॥ ३४० ॥

अर्थ—“ वनस्पतिसम्बन्धी मूल फल और जलाने को काष्ठ और गायों के लिये घास, यह चोरी नहीं है, ऐसा मनु ने कहा है ” ॥ ३३९ ॥ जो ब्राह्मण चोर के हाथ से यज्ञ कराने और पढ़ाने से भी धन लेने की इच्छा करे, तो जैसा चोर है वैसा ही वह है ॥ ३४० ॥

द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिर्द्वाविक्षूद्वेचमूलके । आददानः परक्षेत्रा  
न्नादण्डं दातुमर्हति ॥ ३४१ ॥ असन्धितानां सन्ध्याता सन्धितानां च

मोक्षकः । दासाश्चरथहर्ता च प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम् ॥ ३४२ ॥

अर्थ—स्वर्च से तङ्ग मार्ग का चलने वाला द्विज दूसरे के खेत से दो गन्ने और दो मूली ग्रहण कर लेने वाला दण्ड देने योग्य नहीं है ॥ ३४१ ॥ खुले हुवे दूसरे के पश्वादि का बांधने वाला और बंधों को खोल देने वाला और दास अश्व और रथ का हरण करने वाला चोर के दण्ड को प्राप्त हो ॥ ३४२ ॥

अनेन विधिना राजा कुर्वाणः स्तेननिग्रहम् । यशोऽस्मिन्प्राप्नुया-  
त्लोके प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ३४३ ॥ ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेत्सुर्यशश्चा-  
क्षयमव्ययम् । नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम् ॥ ३४४ ॥



अर्थ-इस प्रकार चोरों का निग्रह करने वाला राजा इस लोक में यश और परलोक में अनुत्तम सुख को पावेगा ॥ ३४३ ॥ इन्द्र के स्थान की इच्छा करने वाला और अक्षय यश का चाहने वाला राजा साहस करने वाले मनुष्य की क्षण भर भी उपेक्षा न करे ( तुरन्त दण्ड दे ) ॥ ३४४ ॥

वाग्दुष्टात्तरकराच्चैव दण्डेनैव च हिंसितः । साहसस्य नरःकर्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः ॥ ३४५ ॥ साहसे वर्त्तमानं तु यो मर्षयति पार्थिवः । स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति ॥ ३४६ ॥

अर्थ-वाक्पाश ( गाली गलौज ) करने वाले, चोर तथा दण्ड द्वारा मारने वाले से " साहस " ( जबरदस्ती ) करने वाले मनुष्य को अधिक पापकारी जाने ॥ ३४५ ॥ साहस करने वाले को जो राजा क्षमा करता है वह शीघ्र विनाश और लोगों में द्वेष को प्राप्त होता है ॥ ३४६ ॥

न मित्रकारणाद् राजा विपुलाद्वा धनागमात् । समुत्सृजेत्साहसिकान्सर्वभूतभयावहान् ॥ ३४७ ॥ शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्माय त्रोपरुध्यते । द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते ॥ ३४८ ॥

आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च सङ्गरे । स्त्रीविप्राभ्युपपत्ती च घ्नन्धर्मं न दुष्यति ॥ ३४९ ॥ गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् । आततायिनमायान्तं हन्यादेवा विचारयन् ॥ ३५० ॥

अर्थ-मित्र के कारण वा बहुत धन की प्राप्ति से भी राजा सब लोगों को भय देने वाले साहसी मनुष्यों को न छोड़े ॥ ३४७ ॥ ब्राह्मणादि तीन वर्णों को शस्त्र ग्रहण करना चाहिये, जिस समय कि वर्णाश्रमियों का धर्म रोक जाता हो और त्रैवर्णिकों के मध्य विप्लव ( बलवे ) में ॥ ३४८ ॥ और अपनी रक्षा के लिये, दक्षिणा के लीनने पर, स्त्रियों और ब्राह्मणों की विपत्ति में धर्मानुसार शत्रुओं की हिंसा करने वाला दोषभागी नहीं होता ॥ ३४९ ॥ गुरु वा बालक वा वृद्ध वा बहुश्रुत ब्राह्मण, इन में कोई हो, जो आततायी होकर आवे, उस को राजा बिना विचारे ( शीघ्र ) ही मारे ॥

( ३५० से आगे दो पुस्तकों में यह श्लोक अधिक पाया जाता है:-

[ अग्निदोगरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।

क्षेत्रदारहरश्चैव पडते ह्याततायिनः ॥ ]



अग्नि से स्थानादि जलाने वाला, विष देने वाला, ( मारने को ) शस्त्र हाथ में लिये हुवे, धन छीनने वाला, खेत और स्त्री का हरने वाला, ये छः "आततायी" हैं ॥ इस में छः को आततायी कहने से जान पड़ता है कि वस ये ही आततायी हैं, विशेष नहीं । परन्तु किसी ने दो नीचे लिखे श्लोक आततायी के लक्षण के और भी बढ़ा दिये हैं, जिन में से पहला ३ और दूसरा २ पुस्तकों में पाया जाता है:-

[उद्यतासिर्विधाग्निभ्यां शापोद्यतकरस्तथा । अथर्वणेन हन्ता च पिशुनश्चापि राजनि॥भार्यारिक्थापहारी च रन्धान्वेषणतत्परः । एवमाद्यान्विजानीयात्सर्वानेवाततायिनः ॥ ]

अर्थात्-प्रहारार्थ खड्ग उठाने वाला, विष और अग्नि से मारने वाला, शाप के लिये हाथ उठाता हुवा, अथर्ववेद के मन्त्र से मारने वाला, राजा से झूठी चुगली करने वाला ॥ स्त्रीधन का छीनने वाला, छिद्र ढूँढने में तत्पर इत्यादि सभी आततायी समझने चाहियें ) ॥ ३५० ॥

नाततायित्रधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन । प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥ ३५१ ॥ परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्तान्मृन्महीपतिः । उद्वेजनकरैर्दण्डैश्चिच्छेद्यित्वा प्रवासयेत् ॥ ३५२ ॥

अर्थ-लोगों के सामने वा एकान्त में मारने को तैयार हुवे के मारने में मारने वाले को कुछ भी दोष नहीं होता, क्योंकि वह क्रोध उस क्रोध को प्राप्त होता है ॥ ३५१ ॥ परस्त्रीसंभोग में प्रवृत्त पुरुषों को डराने वाले दण्ड देकर और अङ्ग भङ्ग करके राजा देश से निकालदे ॥ ३५२ ॥

तत्समुत्थो हि लोकस्य जायते वर्णसंकरः । येन मूलहरोऽधर्मः सर्वनाशाय कल्पते ॥ ३५३ ॥ परस्य पत्न्या पुरुषसंभाषां योजयन् रहः । पूर्वमाक्षारितो दोषैः प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् ॥ ३५४ ॥

अर्थ-उसी ( परस्त्रीगमन ) से लोगों में वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं क्योंकि मूल का नाश करने वाला अधर्म सब के नाश करने में समर्थ है ॥ ३५३ ॥ पहले बदनाम हुवा पुरुष एकान्त में दूसरे की स्त्री के साथ बात चीत करे तो "प्रथम साहस" दण्ड पावे ॥ ३५४ ॥



यस्त्वनक्षारितः पूर्वमभिभाषेत कारणात् । न दोषं प्राप्नुयात्किञ्चिन्नहि तस्य व्यतिक्रमः ॥३५५॥ परस्त्रियं योऽभिवदेत्तीर्थेऽरण्ये वनेऽपि वा । नदीनां वापि संभेदे स संग्रहणमाप्नुयात् ॥३५६॥

अर्थ जो पहले से बदनाम नहीं है और किसी कार्य से लोगों के सामने ( परस्त्री से ) बोले, वह दोष को प्राप्त न हो, क्योंकि उस का कोई अपराध नहीं है ॥३५५॥ जो पराई स्त्री से तीर्थ वा अरण्य (जङ्गल) वा वन वा नदी के सङ्गम में संभाषण करे उस को परस्त्रीहरण का अपराध हो ॥ ३५६ ॥

उपचारक्रियाकेलिः स्पर्शाभूषणवाससाम् । सहस्रट्वासनं चैव सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥३५७॥ स्त्रियं स्पृशेददेशे यः स्पृष्टोवा मर्षयेत्तया । परस्परस्यानुमते सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥ ३५८ ॥

अर्थ—साला चन्दनादि का भोजन, परिहास, आलिङ्गनादि करना, वस्त्र आभूषण का स्पर्श करना, आसन तथा शय्या पर साथ रहना; इन सब कामों को भी परस्त्रीसंग्रहण के समान कहा है ॥ ३५७ ॥ जो परस्त्री को गुह्यस्थान में स्पर्श करे और जो परस्त्री से छुवा हुआ छुवा क्षमा करे, आपस की प्रसन्नता में भी यह सब परस्त्रीसंग्रहण कहा है ॥

३५८ से आगे १ श्लोक दो पुस्तकों में अधिक पाया जाता है:-

[ कामाभिपातिनी या तु नरं स्वयमुपब्रजेत् ।

राज्ञा दास्ये नियोज्या सा कृत्वा तदोषघोषणम् ]

जो स्त्री काम के वश स्वयं परपुरुष के समीप जावे तौ राजा उस के दोष की सनादी ( डिंडिमा ) पिटवाकर दासियों में नौकर रखे ॥ ३५८ ॥

“ अब्राह्मणः संग्रहणे प्राणान्तं दण्डमर्हति ।

चतुर्णामपि वर्णानां दारा रक्षयतमाः सदा ॥३५९॥ ”

भिक्षुका वन्दिनश्चैव दीक्षिताः कारवस्तथा ।

संभाषणं सह स्त्रीभिः कुर्युरप्रतिवारिताः ॥ ३६० ॥

अर्थ—ब्राह्मण को छोड़ कर अन्य जो कोई परस्त्रीसंग्रहण करे वह प्राणान्त दण्डयोग्य है क्योंकि चारों वर्णों की स्त्री सर्वदा बहुत करके रक्षा के योग्य हैं



(यह ३५० के विरुद्ध है) ॥ ३५९ ॥ " भिक्षुक, बन्दी, दीक्षित और रसोई करने वाले परस्त्री के साथ निवारण न करने पर संभाषण कर सकते हैं ॥ ३६० ॥

न संभाषां परस्त्रीभिः प्रतिषिद्धः समाचरेत् । निषिद्धोभाषमाणस्तु सुवर्णं दण्डमर्हति ॥ ३६१ ॥ नैष चारणदारेषु विधिर्नात्मोपजीविषु । सज्जयन्ति हि ते नारीर्निगूढाश्चारयन्ति च ॥ ३६२ ॥

अर्थ-पराई स्त्री के साथ निषेध करने पर बात न करे और करे तो एक "सुवर्ण" दण्डयोग्य है ॥ ३६१ ॥ यह विधि चारण=नट गायकादि की स्त्रियों में नहीं है (अर्थात् इन से झोलने का निषेध नहीं है) तथा पुत्रादि जो अपने आधान जीविका वाले हैं, उन में भी नहीं है । क्योंकि ये (चारणादि) छिपे हुए आप ही स्त्रियों को सज्जित करके परपुरुषों के साथ मिलाते हैं ॥ ३६२ ॥ किञ्चिदेव तु दाप्यः स्यात्संभाषां ताभिराचरन् । प्रैष्यासु चैकभक्तासुरहः प्रव्रजितासु च ३६३ योऽकामां दूषयेत्कन्यां स सदो वधमर्हति । सकामां दूषयंस्तुल्यो न वधं प्राप्नुयान्नरः ॥ ३६४ ॥

अर्थ-परन्तु उन के साथ भी निर्जन देश में संभाषण करता हुआ कुछ थोड़ा दण्ड देने योग्य है । और एकभक्ता तथा विरक्ता के साथ भी संभाषण करने से थोड़ा दण्ड दे ॥ ३६३ ॥ जो (हीनजाति) इच्छा न करने वाली कन्या से गमन करे वह उसी समय वध के योग्य है और कन्या की इच्छा से गमन करने वाला सजातीय पुरुष वध के योग्य नहीं है (किन्तु अन्य दण्ड के योग्य है) ॥ ३६४ ॥

"कन्यां भजन्तीमुत्कृष्टं न किञ्चिदपि दापयेत् । जघन्यं सेवमानां तु संपतां वासयेद् गृहे ॥ ३६५ ॥ उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधमर्हति । शुल्कं दद्यात्सेवमानः समामिच्छेत्पिता यदि ॥ ३६६ ॥ "

अर्थ-ब्राह्मणादि उत्तम के साथ सङ्गम करने वाली कन्या को थोड़ा भी दण्ड न देवे और हीनजाति से संबन्ध करने वाली को रक्षा से घर में रखे ॥ ३६५ ॥ उत्कृष्ट जाति वाली कन्या के साथ सङ्गम करने वाला हीनजाति पुरुष वध के योग्य है । और समान जाति में हो तो सेवन करने वाला, यदि उस कन्या का पिता स्वीकार करे तो शुल्क (मूल्य) दे, यह व्यवहारप्रवर्तक है । यदि विवाहविषयक माना जावे तो दण्ड की आशङ्का भी व्यर्थ है ) ॥ ३६६ ॥



अभिपह्यतु यः कन्यां कुर्यादूर्पेण मानवः । तस्याशु कर्त्ये अङ्गुल्यौ  
दण्डं चार्हति पटुशतम् ॥ ३६७ ॥ सकामां दूषयंस्तुल्यो नाङ्गुलि-  
च्छेदमाप्नुयात् । द्विशतं तु दमं दाप्यः प्रसङ्गविनिवृत्तये ॥ ३६८ ॥

अर्थ-जो मनुष्य बलात्कार से कन्या को घमण्ड से बिगाड़े, उस की दो  
अङ्गुली जल्दी काट ली जावे और छः सौ पण दण्ड योग्य है ॥ ३६७ ॥ परन्तु  
कन्या की बड़ता के साथ बिगाड़ने वाले सजातीय की अङ्गुलियों का छेदन न  
हो, किन्तु प्रसङ्ग की निवृत्ति के लिये दो सौ पण दण्ड दिलाना चाहिये ॥ ३६८ ॥

कन्यैव कन्यां या कुर्यात्तस्याः स्याद्विशतोदमः । शुल्कं च द्विगुणं  
दद्याच्छिफाश्चैवाप्नुयाद्दश ॥ ३६९ ॥ या तु कन्यां प्रकुर्यात्स्त्री सा  
सद्यो मौण्ड्यमर्हति । अङ्गुल्योरेव वा छेदं खरेणोद्वहनं तथा ॥ ३७० ॥

अर्थ-और कोई कन्या ही कन्या को (अङ्गुलियों से) बिगाड़े तो उन को दो  
सौ पण दण्ड होना चाहिये और कन्या के पिता को (जितना दहेज देना पड़ता,  
अब तत्तयोनित्व की शक्का से कदाचित् कोई न बिवाहे, इस की कनौड़ में देने  
के लिये) द्विगुण धन दण्डरूप शुल्क देवे और दश बेत खावे ॥ ३६९ ॥ और जो स्त्री  
कन्या को (अङ्गुली से) बिगाड़े वह उसी समय गिर मुँडाने योग्य है वा अङ्गुलियों  
के कटवाने का दण्ड पावे और गधे पर चढ़ाकर घुमानी योग्य है ॥ ३७० ॥

भर्तारं लङ्घयेदा तु स्त्री ज्ञातिगुणदर्पिता । तांश्च भिः खादयेद्राजा  
संस्थाने बहुसंस्थिते ॥ ३७१ ॥ पुमांसं दाहयेत्पापं शयने तप्तआ-  
यसे । अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत् ॥ ३७२ ॥

अर्थ-जो स्त्री प्रबल पिता बान्धव धनादि के अभिमान से पति को छोड़  
के दूसरे से सम्बन्ध करे उस को राजा बहुत आदसियों के बीच में कुत्तों से  
मुचवावे ॥ ३७१ ॥ व्यक्तिचारी पापी मनुष्य को जलते लोहे की चारपाई पर  
जलावे, सब लोग उस पर लकड़ियां डालें, उन में पाप करने वाला जले ॥ ३७२ ॥

संवत्सराभिषेकस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणोदमः । ब्राह्मण्या सह संवासे  
चण्डाल्या तावदेव तु ॥ ३७३ ॥ शूद्रो गुप्तमङ्गुलं वा द्वैजातं  
वर्णमावसन् । अगुप्तमङ्गुलं सर्वस्वैर्गुप्तं सर्वेण हीयते ॥ ३७४ ॥



अर्थ-परस्त्रीगमन करते २ दुष्ट पुरुष की एक वर्ष होजावे तो उस पुरुष को पूर्वोक्त दण्ड से दूना दण्ड होना चाहिये और ब्राह्म्या तथा चण्डाली के साथ रहने में भी दूना दण्ड होना चाहिये ॥३९३॥ रक्षिता वा अरक्षिता द्वि-जाति वर्ण की स्त्री के साथ यदि शूद्र गमन करे, तो उसकी अरक्षिता में अङ्गुलेदन तथा सर्वस्व हरण करे और रक्षिता में सब (शरीर तथा धनादि) से हीन कर दे ॥३९४॥

वैश्यः सर्वस्वदण्डः स्यात्संवत्सरनिरोधतः । सहस्रं क्षत्रियोदण्डो मौण्ड्यं मूत्रेण चार्हति ॥३९५॥ ब्राह्मणीं यदागुप्तां तु गच्छेतां वैश्यपार्थिवौ । वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात् क्षत्रियं तु सहस्रिणम् ॥३९६॥

अर्थ-वैश्य यदि एक वर्ष तक परस्त्री को घर में डाले रहे तो सर्वस्व हरणरूप दण्ड करना चाहिये । और क्षत्रिय सहस्र दण्ड और मूत्र से शिर मुंडाने योग्य है ॥ ३९५ ॥ और यदि अरक्षिता ब्राह्मणी से वैश्य क्षत्रिय गमन करे तो क्षत्रिय को सहस्र और वैश्य को पांचसौ दण्ड चाहिये ॥ ३९६ ॥

उभावपितुतावेव ब्राह्मण्यागुप्यासह । विप्लुतौ शूद्रवद्दण्डयौ दग्धव्यौ वा कटाग्निना ॥३९७॥ सहस्रं ब्राह्मणोदण्डो गुप्तां विप्रां बलाद्ब्रजन् । शतानि पञ्चदण्डयः स्याद्विच्छन्त्या सहसंगतः ॥३९८॥

अर्थ-वे दोनों (क्षत्रिय वैश्य) रक्षिता ब्राह्मणी के साथ हूँ तो शूद्रवत् दण्ड योग्य हैं । अथवा उन्हें चटाई में लपेट कर जला देवे ॥ ३९७ ॥ रक्षिता ब्राह्मणी से यदि ब्राह्मण बलात्कार से मैथुन करे तो सहस्र पण और चाहती हुई से करे तो पांचसौ पण दण्ड देना योग्य है ॥ ३९८ ॥

“मौण्ड्यं प्राणान्तिकोदण्डो ब्राह्मणस्य विधीयते । इतरेषां तु वर्णानां दण्डः प्राणान्तिको भवेत् ॥३९९॥ न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितमाराष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात्समग्रधनमक्षतम् ३८०”

“अर्थ-ब्राह्मण का शिर मुंडाना ही प्राणान्तिक दण्ड कहा है । अन्य वर्णों का प्राणदण्ड प्राणान्तिक ही है ॥३९९॥ सम्पूर्ण पापों में भी स्थित ब्राह्मण को कभी न मारे । किन्तु सम्पूर्ण धन के साथ बिना मारे पीटे राज्य से निकाल दे ॥” (ये दोनों ३५० से विरुद्ध हैं । तथा ३८१ में भी यही दशा है) ॥३८०॥

“न ब्राह्मणवधाद्भूयानऽधर्मो विद्यते भुवि ।

तस्मादस्य बध्ना राजा मनसापि न चिन्तयेत् ॥३८१॥”



वैश्यश्चेत्क्षत्रियां गुप्तां वैश्यां वा क्षत्रियोव्रजेत् ।

यो ब्राह्मणायामगुप्तायां तावुभौ दण्डमर्हतः ॥ ३८२ ॥

अर्थ—“ब्राह्मण के वध से बड़ा कोई पाप पृथिवी में नहीं है इससे राजा इस के वध का मन से भी चिन्तन न करे ॥ ३८१ ॥ ” रक्षिता क्षत्रियां से यदि वैश्य गमन करे वा वैश्या से क्षत्रिय गमन करे तौ जो अरक्षिता ब्राह्मणी से गमन में दण्ड कहा है वही ( ३९६ के अनुसार ) दोनों को हो ॥

( ३८२ से आगे ११ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है:-

[ क्षत्रिया चैव वैश्यां च गुप्तां तु ब्राह्मणो व्रजन् ।

न मूत्रमुण्डः कर्तव्यो दाप्यस्तूतमसाहसम् ॥ ]

यदि ब्राह्मण, रक्षिता क्षत्रिया या वैश्या से गमन करे तौ मूत्र से मुण्डित न कराया जावे, किन्तु “ तूतम साहस ” ( १००० पण ) दण्ड दिलाया जावे ॥ ३८२ ॥

सहस्रं ब्राह्मणो दण्डं दाप्योगुप्ते तु ते व्रजन् । शूद्रायां क्षत्रियविशोः साहसो वै भवेद्दमः ॥ ३८३ ॥ क्षत्रियायामगुप्तायां वैश्ये पञ्च शतं दमः । मूत्रेण मौण्डमिच्छेत् क्षत्रियो दण्डमेव वा ॥ ३८४ ॥

अर्थ—रक्षिता क्षत्रिया और वैश्या से ब्राह्मण गमन करे तौ सहस्र पण दण्ड होना चाहिये और रक्षिता शूद्रा से क्षत्रिय वैश्य गमन करें तौ भी सहस्र दण्ड देना चाहिये ॥ ३८३ ॥ अरक्षिता क्षत्रिया गमन से वैश्य को पांचसौ पण दण्ड और क्षत्रिय को पांच सौ पण धन दण्ड दे अथवा चाहे तौ मूत्र से मुण्डन करावे ॥

( ३८४ से आगे भी २॥ श्लोक दो पुस्तकों में अधिक हैं—

[ शूद्रोत्पन्नां शपापीयान्न वै मुच्येत किल्बिषात् । तेभ्यो दण्डा-  
हतं द्रव्यं न कोशे संप्रवेशयेत् ॥ अयाजिकं तु तद्राजा दद्याद्  
भृतकवेतनम् । यथा दण्डगतं वित्तं ब्राह्मणेभ्यस्तु लम्भयेत् ॥  
भार्यापुरोहितस्तेन ये चान्ये तद्विधा जनाः ] ॥ ३८४ ॥

अगुप्ते क्षत्रिया वैश्ये शूद्रां वा ब्राह्मणो व्रजन् शतानि पञ्च दण्ड्यः  
स्यात्सहस्रं त्वन्त्यजस्त्रियम् ॥ ३८५ ॥ यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्य-  
स्त्रीगोन दुष्टवाक् । न साहसिकदण्डघ्नौ सराजा शकलोकभाक् ॥



अर्थ-अरक्षिता क्षत्रिया वैश्या वा शूद्रा से ब्राह्मण गमन करे तो पांचसौ पण दण्ड और अनन्यजा के साथ गमन में सहस्रपण दण्ड होना चाहिये ॥३८५॥ जिस राजा के राज्य में चोरी, परस्त्रीगमन, गाली देने, साहस करने और सार पीट करने वाले पुरुष नहीं हैं, वह राजा धर्म वा सत्यलोक का भागी होता है ( एक पुस्तक में " सत्यलोकभाक् " पाठभेद है ) ॥ ३८६ ॥

एतेपांनिग्रहोराज्ञः पञ्चानां विषयेस्वके । साम्राज्यकृतसजात्येषु लोके चैव यशस्करः ॥३८७॥ ऋत्विजं यस्त्यजेदाज्यो याज्यं च-  
र्त्विक्त्व्यजेदादि । शक्तं कर्मण्यदुष्टं च तयोर्दण्डः शतं शतम् ॥३८८॥

अर्थ-इन पांचों का अपने राज्य में निग्रह करना राजा को अपने साथी राजाओं में साम्राज्य कराने वाला और लोगों में यश करने वाला है ॥३८७॥ जो यजमान ऋत्विज् को छोड़े जो कि कर्म करने में समर्थ और दुष्ट न हो और जो ऋत्विक् यजमान को छोड़े, उन दोनों को सौ सौ पण दण्ड होना चाहिये ॥

नमातानपितानस्त्री नपुत्रस्त्यागमर्हति । त्यजन्नपतितानेतान् राज्ञादण्डः शतानिषट् ॥३८९॥ आश्रमेषु द्विजातीनां कार्यविव-  
दतामिथः । न विब्रूयान्नृपो धर्मं चिकीर्षन् हितमात्मनः ॥३९०॥

अर्थ-माता पिता पुत्र और स्त्री त्याग करने के योग्य नहीं हैं । जो इन बिना पतित हुवों का त्याग करे उस को राजा छः सौ पण दण्ड दे ॥ ३८९ ॥ वान-प्रस्थाश्रमी कार्य में परस्पर झगड़ा करने वाले द्विजों के बीच में, अपना हित करना चाहने वाला राजा धर्म ( न्याय ) न करे ( अर्थात् ऐसे कामों में बलपूर्वक राजा का हस्तक्षेप न हो ) ॥ ३९० ॥

यथार्हमेतानभ्यर्च्य ब्राह्मणैः सह पार्थिवः । सान्त्वेन प्रशमय्यादौ स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥३९१॥ प्रतिवेश्यानुवेश्यौ च कल्याणे विंशति-  
द्विजे । अर्हा विभोजयन् विप्रो दण्डमर्हति साधकम् ॥ ३९२ ॥

अर्थ-जो जैसा पूजा के योग्य है उस की वैसी पूजा करके ब्राह्मणों के साथ प्रथम उन को समझावे, उस के अनन्तर स्वधर्म बता देवे ॥ ३९१ ॥ निरन्तर अपने सकान में रहने वाले; और कभी आने जाने वाले; इन दोनों योग्यों को उत्सव में बीस ब्राह्मणों के भोजन कराने में जो ब्राह्मण, भोजन न करावे तो उसे १ रौप्य साधक दण्ड देना योग्य है ॥ ३९२ ॥



श्रोत्रियः श्रोत्रियं साधुं भूतिकृत्येष्वभोजयन्। तदन्नं द्विगुणं दाप्यो  
हिरण्यं चैव माषकम् ॥३९३॥ अन्योजडः पीठसर्पी सप्तत्यास्य-  
विरश्चयः। श्रोत्रियेषूपकुर्वन् न दाप्याः केनचित्करम् ॥३९४॥

अर्थ-यदि श्रोत्रिय विभवकार्य में एक साधु श्रोत्रिय को भोजन न करावे तो उस अन्न से दूना अन्न और "हिरण्यमाषक" दण्ड दिलाना योग्य है ॥ ३९३॥ अन्य, बधिर, पन्धु और सत्तर वर्ष का वृद्ध तथा श्रोत्रियों के उपकार करने वाला, इन से किसी को कर दिलाना योग्य नहीं है ॥ ३९४॥

श्रोत्रियं व्याधिताती च बालवृद्धावकिञ्चनम्। महाकुलीनमार्यं च  
राजा संपूजयेत्सदा ॥३९५॥ शालमलीफलके श्लक्षणे नेनिज्यान्ने-  
जकः शनैः। न च वासांसि वासोभिर्निर्हरेन् च वासयेत् ॥३९६॥

अर्थ-श्रोत्रिय, रोगी, आतं, बालक, वृद्ध, दरिद्र और बड़े कुल वाले आर्य का राजा सदा सम्मान करे ॥ ३९५॥ सेमर की चिकनी पटिया पर घोबी धीरे धीरे कपड़ों को धोवे और दूसरों के कपड़ों से औरों के कपड़े न बदले जावें और न बहुत दिन पड़े रखे ॥ ३९६॥

तन्तुवायोदशपलं दद्यादेकपलाधिकम्। अतोऽन्यथावर्तमानो  
दाप्योद्वादशकं दमम् ॥३९७॥ शुल्कस्थानेषुकुशलाः सर्वपण्य-  
विचक्षणाः। कुर्युरर्घ्यं यथा पण्यं ततोविंशं नृपोहरेत् ॥३९८॥

अर्थ-जुलाहा दश १० पल सूत लेके एकादश ११ पल (मांडी से बढ़ने के कारण) वस्त्र तौल देवे, इस से विपरीत करे तो (राजा) बारह पण दण्ड दिलावे ॥३९७॥ जो चुङ्गी आदि के विषय में कुशल और हर एक प्रकार के लेने देने में चतुर हों उन सौदागरों को जो लाभ हो उस का बीसवां भाग राजा ले ॥ ३९८॥

राज्ञः प्रख्यातभाग्डानि प्रतिषिद्धानि यानि च। तानि निर्हरतो  
लोभात्सर्वहारं हरेन्नृपः ॥३९९॥ शुल्कस्थानं परिहरन् काले क्रय-  
विक्रयी। मिथ्यावादी च संस्थाने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम् ॥४००॥

अर्थ-राजा के जो प्रसिद्ध निजविक्रय द्रव्य और जो राजा ने बेचने से निषेध किये हुये द्रव्य हैं, उन को लोभ के कारण और जगह लेजाकर बेचने



घाले का सर्वस्व राजा हरण करले ॥ ३९९ ॥ चुङ्गी की जगह से हट कर (चोरी से) और जगह माल लेजाने वाला, बेसमय बेचने खरीदने वाला और गिनती वा तौल में झूठ बोलने वाला उचित राजकर का ८ गुणा वा जितने का झूठ बोला हो उस का आठ गुणा दण्ड दे ॥ ४०० ॥

आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ । विचार्य सर्व-  
पण्यानां कारयेत्क्रयविक्रयौ ॥ ४०१ ॥ पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्षे  
पक्षेऽथवा गते । कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः ॥ ४०२ ॥

अर्थ-आने और जाने का खर्च, स्थान तथा वृद्धि और क्षय दोनों; इनको विचार कर सब वस्तुओं को खरीदने बेचने का भाव करावे ॥ ४०१ ॥ पांच २ दिन वा पक्ष (१५वें) दिन के भाव को राजा प्रत्यक्ष नियत करावे ॥ ४०२ ॥

तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुलक्षितम् । षट्सु षट्सु च  
मासेषु पुनरेव परीक्षयेत् ॥ ४०३ ॥ पणं यानं तरे दाप्यं पौरुषो-  
ऽर्धपणं तरे । पादं पशुश्च योपिञ्च पादार्धं रिक्तकः पुमान् ॥ ४०४ ॥

अर्थ-तुला की तौल और नापों को अच्छे प्रकार देखे और छः छः सहीने में फिर से देखावे ॥ ४०३ ॥ पुल पर गाड़ी का सहसूल १ पण दे और एक आदमी के बोझ का आधा पण और गाय, बैल आदि पशु तथा स्त्री चौपाई पण और खाली आदमी १ पण का ८ वां भाग दे ॥ ४०४ ॥

भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि सारतः । रिक्तभाण्डानि  
यत्किञ्चित्पुमांसश्चापरिच्छदाः ॥ ४०५ ॥ दीर्घाध्वानि यथादेशं यथा-  
कालं तरोभवेत् । नदीतीरेषु तद्विद्यात्समुद्रे नास्ति लक्षणम् ॥ ४०६ ॥

अर्थ-पुल पर मालमरी गाड़ी का सहसूल बोझ के अनुसार दे और खाली सवारी और दरिद्र पुरुषों से सहसूल कुछ थोड़ा लेलेवे ॥ ४०५ ॥ लम्बी उत्तराई का सहसूल देशकालानुसार हो । उस को नदीतीर में ही जाने । समुद्र में यह लक्षण नहीं है ॥ ४०६ ॥

गर्भिणी तु द्विमासादिस्तथा प्रव्रजितो मुनिः । ब्राह्मणालिङ्गिन-  
श्चैव न दाप्यास्तारिकं तरे ॥ ४०७ ॥ यन्नावि किञ्चिद्दासानां विशी-  
र्यतापराधतः । तद्दासैरेव दातव्यं समागम्य स्वतोऽंशतः ॥ ४०८ ॥



अर्थ-दो महीने के ऊपर की गर्भिणी, संन्यासी, वानप्रस्थ और ब्रह्म-  
चारी ब्राह्मण खेवट की खेवाई न दें ॥ ४०७ ॥ नाव पर बैठने वालों की खेवने  
घालों के अपराध से जो कुछ हानि हो वह अपने भाग में से सब खेवने  
वालों को मिलकर देनी चाहिये ॥ ४०८ ॥

एष नौयायिनामुक्तो व्यवहारस्य निर्णयः । दासापराधतस्तोये  
दैविके नास्ति निग्रहः ॥ ४०९ ॥ वाणिज्यं कारयेद्वैश्यं कुसीदं  
कृषिमेव च । पशूनां रक्षणं चैव दास्यं शूद्रं द्विजन्मनाम् ॥ ४१० ॥

अर्थ-सन्नाहों के अपराध से पानी में हानि हो तौ वे देवें । यह नाव  
से उतरने वालों के व्यवहार का निर्णय कहा । परन्तु दैवी तूफान में सन्नाहों  
को दण्ड नहीं है ॥ ४०९ ॥ वाणिज्य, गिरवी, बहा, खेती और पशुओं की  
रक्षा वैश्यों से और शूद्र से द्विजों की सेवा ( राजा ) करावे ॥ ४१० ॥

क्षत्रियं चैव वैश्यं च ब्राह्मणो वृत्तिकर्षितौ । विभृयादानृशंस्येन  
स्वानिकर्माणिकारयन् ४११ दास्यं तु कारयन् लोभाद्ब्राह्मणः संस्कृता-  
न्द्विजान् । अनिच्छतः प्राभवत्याद्राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥ ४१२ ॥

अर्थ-क्षत्रिय और वैश्य वृत्ति के अभाव से पीडित हों तौ दया से अपने  
अपने कर्मों को कराता हुआ ब्राह्मण उन का पोषण करे ॥ ४११ ॥ ब्राह्मण,  
प्रभुता से वा लोभ से, संस्कार किये हुवे द्विजों से विना इच्छा के दासकर्म  
करावे तौ राजा छः सौ पण दण्ड दिलावे ॥ ४१२ ॥

शूद्रं तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा । दास्यायैव हि सृष्टो सौ  
ब्राह्मणस्य स्वयं भुवा ॥ ४१३ ॥ न स्वामिना निसृष्टोऽपि शूद्रो दा-  
स्याद्विमुच्यते । निसर्गजं हि तत्तस्य कस्तस्मात्तदपोहति ॥ ४१४ ॥

अर्थ-शूद्र से तौ सेवा ही करावे, वह शूद्र खरीदा हो वा न खरीदा हुआ  
हो । क्योंकि ब्राह्मणादि की सेवा के लिये ही ब्रह्मा ने इसे उत्पन्न किया है ॥ ४१३ ॥  
स्वामी से छुटाया हुआ भी शूद्र दास्य से नहीं छूट सकता । क्योंकि वह उस  
का स्वाभाविक धर्म है । उस से उस को कीन हटा सकता है ॥ ४१४ ॥

धत्रजाहतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदत्रिमौ । पैत्रिको दण्डदासश्च  
सप्तैते दासयोनयः ॥ ४१५ ॥ भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः  
स्मृताः । यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तदुनम् ॥ ४१६ ॥



अर्थ-१-युद्ध में जीत कर लाया हुआ २-भक्तदास ३-दासीपुत्र ४-खरीदा हुआ ५-दान में दिया हुआ ६-जो बड़ों से चला आता हो और ७-दण्ड की शुद्धि के लिये जिस ने दासभाव स्वीकृत किया हो, ये सात प्रकार के दास होते हैं ॥ ४१५ ॥ भार्या, पुत्र, और दास; ये तीन निर्धन कहे हैं क्योंकि जो कुछ ये कमाते हैं, वह उस का है, जिस के कि ये हैं ॥ ४१६ ॥

विस्तब्धं ब्राह्मणः शूद्राद् द्रव्योपादानमाचरेत् । न हि तस्यास्ति किञ्चित्स्वं भर्तृहार्यधनो हि सः ॥ ४१७ ॥ वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत् । तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत्

अर्थ-भरोसे से शूद्र=दास से ब्राह्मण धन ग्रहण करले क्योंकि उस का कुछ भी अपना नहीं है, किन्तु उस का धन भर्तृयाच्य है ॥ ४१७ ॥ वैश्य और शूद्रों से प्रयत्न से राजा अपने २ कर्म करावे, नहीं तो वे अपने २ कामों से अलग होकर संपूर्ण जगत् को क्षोभ करा देंगे ॥ ४१८ ॥

अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मान्तान्वाहनानि च । आयव्ययौ च नियता-  
वाकरान्कोशमेव च ॥ ४१९ ॥ एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान्  
समापयन् । व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ४२० ॥

अर्थ-राजा कर्मों की निष्पत्ति ( फल ) और वाहनों तथा आय व्यय और खानि तथा कोष की प्रतिदिन देखे ॥ ४१९ ॥ इस उक्त प्रकार से इन ( ऋणादानादि ) व्यवहारों को ठीक २ निर्णय को पहुंचाता हुआ राजा संपूर्ण पाप को दूर करके परमगति पाता है ॥ ४२० ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे ( भृगुप्रोक्तायां ) संहितायाम्

अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥



ओ३म्

## अथ नवमोऽध्यायः

पुरुषस्य स्त्रियाश्चैव धर्म्ये वत्सर्तुनि तिष्ठतोः। संयोगे विप्रयोगे च  
धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥१॥ अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः  
स्वैर्दिवानिशम्। विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे २

अर्थ-धर्ममार्ग पर चलने वाले स्त्री पुरुषों के साथ रहने और अलग रहने  
के सनातन धर्मों को मैं आगे कहता हूँ ( सुनो ) ॥ १ ॥ पतियों को अपनी  
स्त्रियों सदा स्वाधीन रखनी चाहियें और विषयों में आसक्त होती हुईयों को  
अपने धर्म में रखना चाहिये ॥ २ ॥

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने। रक्षन्ति स्थाविरे पुत्रा  
न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥३॥ कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चा-  
नुपयन्पतिः। मृते भर्तारि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता ॥४॥

अर्थ-बाल्याऽवस्था में पिता रक्षा करता है। यौवन में पति रक्षा करता  
है। बुढ़ापे में पुत्र रक्षा करते हैं। स्त्री स्वतन्त्रता के योग्य नहीं है ॥ ३ ॥  
विवाहकाल ( १६ वें वर्ष ) में कन्यादान न करने वाला पिता और ऋतुकाल  
में स्त्री के पास गमन न करने वाला पति और पति के मरने पर माता की  
रक्षा न करने वाला पुत्र निन्दनीय है ॥ ४ ॥

सूक्ष्मेभ्योपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियोरक्ष्याविशेषतः। द्वयोर्हि कुलयोः  
शोकमावहेयुररक्षिताः ॥५॥ इमं हि सर्ववर्णानां पश्यन्तो धर्म-  
मुत्तमम्। यतन्ते रक्षितुं भार्यां भर्तारो दुर्बला अपि ॥ ६ ॥

अर्थ-थोड़े से भी कुसंग से स्त्रियों की विशेषतः रक्षा करनी चाहिये क्योंकि  
अरक्षित स्त्रियें दोनों कुलों को शोक देने वाली होंगी ॥५॥ इस सब वर्णों के उत्तम  
धर्म को जानने वाले दुर्बल भी पति अपनी स्त्री की रक्षा का यत्न करते हैं ॥६॥  
स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च। स्वं च धर्मं प्रयत्नेन



जायां रक्षन् हि रक्षति ॥ ७ ॥ पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भाभूत्वेह जायते । जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥ ८ ॥

अर्थ-अपनी सन्तान और चरित्र तथा कुल और धर्म; इन सब को यत्न से स्त्री की रक्षा करने वाला ही रक्षित करता है ॥ ७ ॥ एक प्रकार से पति ही स्त्री में प्रवेश करके गर्भरूप होकर संसार में उत्पन्न होता है । जाया का जायात्व यही है जो कि इस में फिर से जन्मता है ॥ ८ ॥

यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम् । तस्मात्प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत प्रयत्नतः ॥ ९ ॥ न कश्चिदोपितः शक्तः प्रसह्य परि रक्षितुम् । एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ॥ १० ॥

अर्थ-जिस प्रकार के पुत्र को स्त्री सेवन करे, उसी प्रकार का पुत्र जनती है । इस कारण प्रजा की शुद्धि के लिये भी प्रयत्न से स्त्री की रक्षा करे ॥ ९ ॥ कोई बलात्कार से स्त्रियों की रक्षा नहीं कर सकता, किन्तु इन उपायों से उन की रक्षा कर सकता है ( कि- ) ॥ १० ॥

अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत् । शौचे धर्मे न्नपत्न्यां च पारिणाह्यस्य चेक्षणे ॥ ११ ॥ अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्त-कारिभिः । आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ॥ १२ ॥

अर्थ-इस ( स्त्री ) की धन के संग्रह, व्यय, शौच, धर्म, रसोई पकाने और घर की वस्तुओं के देखने में योजना करे ॥ ११ ॥ आप्तकारी पुरुषों से घर के परदे में रोकी भी स्त्रियें अरक्षित हैं, किन्तु जो अपने आप ही रक्षा करती हैं वे सुरक्षित हैं ॥ १२ ॥

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् ।

स्वप्नोऽन्यगोहवासश्च नारीणां दूषणानि षट् ॥ १३ ॥

“नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः ।

सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुजते ॥ १४ ॥ ”

अर्थ-मद्यपान और दुर्जनसंसर्ग तथा पति से अलग रहना और इधर उधर घूमना तथा बेवसय सोना और दूधरे के घर में रहना, ये स्त्रियों के



छः दूषण हैं ॥ १३ ॥ “ ये न तौ रूप का विचार करती हैं, न इन के आयु का ठिकाना है, सुरूप अथवा कुरूप पुरुष मात्र हो, उसे ही भोगती हैं ॥ १४ ॥ ”

“ पौश्वल्याच्चलचित्ताच्च नैस्नेह्याच्च स्वभावतः । रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्तृष्वेता विकुर्वते ॥ १५ ॥ एवं स्वभावं ज्ञात्वाऽऽसां प्रजापति-  
निसर्गजम् । परमं यत्नमातिष्ठेत्पुरुषोरक्षणं प्रति ॥ १६ ॥ ”

अर्थ—“ पुरुष पर चलने वाली होने और चित्त की चञ्चलता तथा स्वभाव से ही स्नेहरहिता होने से यत्नपूर्वक रक्षित स्त्रियों भी, पति में विकार कर बैठती हैं ॥ १५ ॥ ब्रह्मा के सृष्टिकाल से साथ रहने वाला इस प्रकार इन का स्वभाव जान कर पुरुष इन की रक्षा का परम यत्न करे ॥ १६ ॥ ”

“ शय्यासनमलङ्कारं कामं क्रोधमनार्जवम् । द्रोहभावं कुचर्यां च स्त्रीभ्योमनुरकल्पयत् ॥ १७ ॥ नास्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैरिति धर्मे व्यवस्थितिः । निरिन्द्रियाह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः ॥ १८ ॥ ”

“ अर्थ—शय्या आसन अलङ्कार काम क्रोध अनार्जव द्रोहभाव और कुचर्या मनु ने स्त्रियों के लिये उत्पन्न किये हैं ॥ १७ ॥ जातकर्मादि क्रिया स्त्रियों की मन्त्रों से नहीं हैं । इस प्रकार धर्मशास्त्र की सर्यादा है । स्त्रियां निरिन्द्रिया और अमन्त्रा हैं और इन की स्थिति असत्य है ॥ १८ ॥ ”

“ तथा च श्रुतयो बह्व्योनिगीतानि गमेष्वपि । स्वालक्षण्यपरी-  
क्षार्थं तासां शृणुत निष्कृतीः ॥ १९ ॥ यन्मे माता प्रलुलुभे विचरन्त्य-  
ऽपतिव्रता । तन्मे रेतः पिता वृक्तामित्यस्यैतन्निर्दर्शनम् ॥ २० ॥ ”

“ अर्थ—व्यभिचारशीला स्त्रियों के स्वभाव की परीक्षार्थ वेदों में बहुत श्रुतियाँ पठित हैं, उन श्रुतियों में जो व्यभिचार के प्रायश्चित्तभूत हैं उन को सुनो ॥ १९ ॥ ( कोई पुत्र माता का मानस व्यभिचार जान कर कहता है कि— ) ‘ जो कि मेरी माता अपतिव्रता हुई परपुरुष को चाहने वाली थी, उस दुष्टता को मेरा पिता शुद्ध वीर्य से शोधन करे, यह उन श्रुतियों में से नमूना दिखाया गया ॥ २० ॥ ”

“ ध्यायत्यनिष्टं यत्किञ्चित्पाणिग्राहस्य चेतसा । तस्यैष व्यभि-  
चारस्य निन्दवः सम्यगुच्यते ॥ २१ ॥ यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत  
यथाविधि । तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा ॥ २२ ॥ ”



अर्थ—“भर्ता के विपरीत जो कुछ स्त्री दूसरे पुरुष के साथ गमन चाहती है उस के इस मानस व्यभिचार को यह अच्छे प्रकार शोधनमन्त्र कहा है ॥२१॥ जिस गुण वाले पति के साथ स्त्री रीति से विवाह करके रहे, वैसे ही गुण वाली वह ( स्त्री ) हो जाती है । जैसे समुद्र के साथ नदी ॥ २२ ॥ ”

“अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा । शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम् ॥ २३ ॥ एताश्चान्याश्चलोकेऽस्मिन्नपकृष्ट-प्रसूतयः । उत्कर्षे योषितः प्राप्ताः स्वैःस्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥ २४ ॥ ”

“अर्थ—अक्षमाला नाम की निरुष्टयोनि स्त्री वसिष्ठ से युक्त हो पूज्यता को प्राप्त हुई, ऐसे ही शारङ्गी मन्दपाल से युक्त होकर (पूज्यता को प्राप्त हुई) ॥२३॥ इस लोक में ये और अन्य अधम योनियों में उत्पन्न हुई स्त्रियों अपने अपने शुभ पतिगुणों से उच्चता को प्राप्त हुई ” ॥

(१४ वें से २४ वें तक ११ श्लोकों में ऐसी कलक है, जैसी कि चाणक्य आदि के समयमें स्त्रियोंकी अत्यन्त अविश्वस्तता की दशा थी। १४ वें में स्त्रियोंको युवा आदि अवस्था और सुरुप पुरुष की आवश्यकता का अभाव लिखा है, जो ३ कालमें कभी नहीं हो सकता कि स्त्रियें युवा और सुरुप पुरुष की इच्छा न करें, केवल पुरुषमात्र जिसे देखें उसे ही भोगने लगे। यदि कहीं अत्यन्त कामासक्ता स्त्री की यह दशा देखी भी जावे, तो पुरुषों की इस से भी बुरी अवस्थायें प्रायः होती हैं। इस लिये स्त्रियों ही की यह निन्दा अनुचित है। १५ वें में स्त्रियों में यह दोष बतलाया है कि उन का चित्त चञ्चल है और पुरुष पर चलता है, उन में स्नेह वा प्रीति नहीं होती। चलचित्तता तो पुरुषों में भी कम नहीं होती। हां, स्नेह तो पुरुषों से स्त्रियों में अधिक होता है। १६ वें में इन के इस दोष को ब्रह्मा का बनाया हुआ स्वाभाविक बताया है। जिस से मानो यह कहा है कि उन का स्वभाव कभी धर्मानुकूल सुधर ही नहीं सकता। इस कथन ने ऐसा कलङ्क स्त्रियों पर लगाया है कि जो प्राचीन काल की सच्चरित्रा देवियों की निन्दा का तो कहना ही क्या है, वर्त्तमान घोर समय में भी पुरुष चाहे कैसे ही घृणिताचार हों, किन्तु स्त्रियों में अब भी अधिकांश सती वर्त्तमान हैं, उन की भी नितान्त असत्य निन्दा इस से होती है॥ १७ वें में जो शय्यासनादि दोष बताये हैं, वे पुरुषों में भी कम नहीं होते। और इस श्लोक में यह जो कहा है कि ( स्त्रीभ्योऽमनुरकल्पयत् ) ये दोष



स्त्रियों के लिये मनु ने रचे । इस से इस प्रकरणगत स्त्रीनिन्दा का अन्यकृत होना ती संशयित हुआ ही, किन्तु यह असत्य भी है कि ये दोष जिन में काम क्रोध अनार्जव और द्रोह भी गिनाये हैं, स्त्रियों के लिये ही मनु ने रचे । क्या ये दोष पुरुषों में नहीं होते ? क्या मनु धर्मव्यवस्थापक होने के अतिरिक्त दोषयुक्त स्त्रीजाति के स्वप्ता भी थे ? १८ वें का यह कहना कि उन के इन्द्रियां नहीं होतीं, कैसा श्वेत भूँट हैं, जब कि उन के प्रत्यक्ष हस्त पादादि इन्द्रियों की सत्ता सर्वजगद्गोचरीभूत है । उस इसी से उन की शानन्त्रक क्रिया के पक्षपात और अज्ञान को भी समझ सकते हैं । १९ वें में कहा है कि इस विषय में वेद की श्रुतियाँ भी प्रमाण हैं । २० वें में भी "किसी पुत्र का अपनी माता के मानस व्यभिचार को वर्णन करना " वेद की श्रुति का नमूना बताया है । परन्तु यह श्रुति वेद में कहीं नहीं, सर्वथा असत्य है । २१ वें में इस असत्य कल्पित श्रुति को मानसी व्यभिचाररूपपाप का प्रायश्चित्त बताया है ॥ २२-२४ तक में इतिहास से वसिष्ठ और मन्दपाल की स्त्री अक्षमाला और शारङ्गी नीचयोनि के उदाहरणों से इस बात को पुष्ट किया है कि पुरुष चाहे जैसी नीच स्त्री को विवाह सकते हैं, वह उन पुरुषों के सङ्ग से पवित्र हो जाती हैं । धन्य ! पुरुष बड़े स्वतन्त्र रहे और पारस की पथरी हो गये !!! और पूर्व जो द्विजों को सवर्णा स्त्री से ही विवाह करना कहा था, उस के विरोध का भी इस रचना करने वाले ने कुछ भय न किया, तथा मन्दपाल के वर्णन को जो मनु जी से बहुत पीछे हुआ है, मनुवाक्य (वा भृगुवाक्य ही सही, यदि मनु और भृगु एक काल में वर्तमान थे तो) में "जगाम" इस परोक्षभूतार्थ लिट् लकार से अत्यन्त प्राचीन वर्णन करने से भी यह असम्भव है ॥ इत्यादि कारणों से हमारी सम्मति में यह रचना पश्चात् की है ॥ और १३ वें का २५ वें से सम्बन्ध भी ठीक मिलता है ) ॥ १४ ॥

एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्रीपुंसयोः शुभा । प्रेत्येह च सुखोद-  
 कान्प्रजाधर्मान्निबोधत ॥ २५ ॥ प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा  
 गृहदीप्तयः । स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ २६ ॥

अर्थ—यह स्त्रीपुरुषसम्बन्धी सदा शुभ लोकाचार कहा । अब इस लोक तथा परलोक में शुभ सुख के वर्धक सन्तानधर्मों को सुनो ॥ २५ ॥ ये स्त्रियाँ बड़ी भाग्यवती, सन्तान की हेतु, संस्कार (पूजन) योग्य, घर की शोभा हैं और घरों में स्त्री तथा लक्ष्मी=श्री में कुछ भेद नहीं है (नर्थात् दोनों समान हैं) ॥ २६ ॥



उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् । प्रत्यहं लोकयात्रायाः  
 प्रत्यक्षं स्त्री निबन्धनम् ॥ २७ ॥ अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा  
 रतिरुत्तमा । दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह ॥ २८ ॥

अर्थ-सन्तान का उत्पन्न करना और हुश्रे का पालन करना तथा प्रति-  
 दिन (अतिथि तथा मित्रों के) सौजनादि लोकाचार का प्रत्यक्ष आधार स्त्री  
 ही है ॥ २७ ॥ सन्तानोत्पादन, धर्मकार्य (अग्निहोत्रादि), शुश्रूषा, उत्तम रति  
 तथा पितरों का और अपना स्वर्ग (सुख), ये सब भार्यों के अधीन हैं ॥ २८ ॥

“पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता । साभर्तृलोकानाप्नोति  
 सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥ २९ ॥ व्यभिचारानुभर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति  
 निन्द्यताम् । शृगालयोनिं चाप्नोति पापयोगैश्च पीड्यते ॥ ३० ॥”

“अर्थ-जो स्त्री मन वाणी और देह से संयमवाली पति से भिन्न व्यभिचार  
 नहीं करती वह पतिलोकों को प्राप्त होती और शिष्ट लोगों से साध्वी कही  
 जाती है ॥ २९ ॥ पुरुषान्तरसंपर्क से स्त्री, लोगों में निन्दा और जन्मान्तर में  
 शृगालयोनि को पाती तथा पाप के रोगों से पीडित होती है ॥” (५ अध्याय  
 के १६४ । १६५ से पुनरुक्त हैं । ठीक यही पाठ और अर्थ वहां है ) ॥ ३० ॥

पुत्रं प्रत्युदितं सद्भिः पूर्वजैश्च महर्षिभिः । विश्वजन्यमिमं  
 पुण्यमुपन्यासं निबोधत ॥ ३१ ॥ भर्तुः पुत्रं विजानन्ति श्रुति-  
 द्वैधं तु भर्तरि । आहुरुत्पादकं केचिदपरे क्षेत्रिणं विदुः ॥ ३२ ॥

अर्थ-पुत्र के विषय में पहले शिष्ट महर्षियों का कहा हुआ यह वक्ष्यमाण  
 पवित्र सर्वजनहितकारी विचार सुनो ॥ ३१ ॥ भर्ता का पुत्र होता है । ऐसा  
 लोग जानते हैं । परन्तु भर्ता के विषय में दो प्रकार की बात सुनते हैं । कोई  
 उत्पन्न करने वाले को लड़के वाला कहते हैं और दूसरे क्षेत्र के स्वामी=पति  
 को लड़के वाला कहते हैं ॥ ३२ ॥ ( आगे इस विवाद का निर्णय है:- )

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान् । क्षेत्रबीजसमा-  
 योगात्संभवः सर्वदेहिनाम् ॥ ३३ ॥ विशिष्टं कुत्रचिद्वीजं स्त्रीयो-  
 निस्त्वेव कुत्रचित् । उभयं तु समं यत्र सा प्रसूतिः प्रशस्यते ॥ ३४ ॥



अर्थ-खेत रूप स्त्री और बीज रूप पुंलिंग होता है। इस कारण खेत और बीज के मिलने से संपूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति होती है ॥३३॥ कहीं बीज प्रधान है और कहीं क्षेत्र। परन्तु जहां दोनों समान हैं, वह उत्पत्ति श्रेष्ठ है ॥ ३४॥ बीजस्य चैव योन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते। सर्वभूतप्रसूतिर्हि बीजलक्षणलक्षिता ॥३५॥ यादृशं तूच्यते बीजं क्षेत्रे कालोप-  
पादिते। तादृग्रीहति तत्तस्मिन्बीजं स्वैर्व्यञ्जितं गुणैः ॥ ३६ ॥

अर्थ-बीज और खेत इन दोनों में बीज प्रधान है, क्योंकि संपूर्ण जीवों की उत्पत्ति बीजों ही के लक्षण से जानी जाती है ॥३५॥ जिस प्रकार का बीज उचित समय (वर्षादि ऋतु) में संस्कृत खेत में बोया जाता है, उस प्रकार का ही बीज अपने रङ्गरूपादि गुणों से युक्त उस खेत में उत्पन्न होता है ॥३६॥ इयं भूमिर्हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते। न च योनिगुणान् कांश्चिद्बीजं पुष्यति पुष्टिषु ॥३७॥ भूमावप्येककेदारैः कालोत्पानि कृषीबलैः। नानारूपाणि जायन्ते बीजानीह स्वभावतः ॥ ३८ ॥

अर्थ-यह भूमि प्राणियों की सनातन योनि कही जाती है, परन्तु बीज भूमि के किन्हीं गुणों को पुष्ट नहीं करता (किन्तु अपने ही गुणों को बढ़ाता है) ॥ ३७ ॥ एक प्रकार की भूमि के खेत में भी किसान लोग समय पर अनेक बीज (यथा धान्यादि) बोते हैं, परन्तु अपने स्वभाव से वे नानारूप उत्पन्न होते हैं (अर्थात् एक भूमि होने से एक रूप नहीं होता, किन्तु बीजों ही के अनुरूप भिन्न २ वृक्षादि होते हैं) ॥ ३८ ॥

ब्रीहयः शालयो मुद्गास्तिला माषास्तथा यवाः। यथा बीजं प्ररोहन्ति लशुनानीक्ष्वस्तथा ॥ ३९ ॥ अन्यदुप्तं जातमन्यदित्येतन्नोपपद्यते। उच्यते यद्वि यद्बीजं तत्तदेवं प्ररोहति ॥ ४० ॥

अर्थ-साठी घान मूंग तिल उड़द यथा लहसुन और गन्ने सब जैसे २ बीज हों, वैसे ही उत्पन्न होते हैं ॥३९॥ बोया कुछ हो और उत्पन्न कुछ हो, ऐसा नहीं होता, जो २ बीज बोया जाता है, वही २ उत्पन्न होता है ॥ ४० ॥

तत्प्राज्ञेन विनीतेन ज्ञानविज्ञानवेदिना।

आयुष्कामेन वप्सव्यं न जातु परयोषिति ॥ ४१ ॥



“अत्र गाथा वायुगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ।

यथा बीजं न वत्तव्यं पुंसां परपरिग्रहे ॥ ४२ ॥”

अर्थ-वह बीज बुद्धिमान् और शिष्ट तथा ज्ञान विज्ञान के जानने वाले और आयु की इच्छा करने वाले को दूसरे की स्त्री में कभी न बाना चाहिये ॥ ४१ ॥ “भूत काल के जानने वाले इस विषय में वायु की कही गाथा (छन्दोविशेषयुक्त वाक्यों) की कहते हैं। यथा-पुरुष को पराई स्त्री में बीज न बोना चाहिये ॥ ४२ ॥”

“नश्यतीपुंर्यथाविद्धः खेविद्धमनुविद्ध्यतः । तथा नश्यति वै क्षिप्रं बीजं परपरिग्रहे ॥ ४३ ॥ पृथोरपीमां पृथिवीं भार्यां पूर्वविदोविदुः । स्थाणुच्छेदस्य केदारमाहुः शल्यवतोमृगम् ॥ ४४ ॥”

“अर्थ-जैसे दूसरे के बींधे मृग को फिर से सारने से बाण निष्फल होता है। ऐसे ही दूसरे की स्त्री में बीज का बोना शीघ्र निष्फल होता है ॥ ४३ ॥ इस पृथिवी को जो पहले राजा पृथु की भार्या थी, (अनेक राजाओं के संबन्ध होते भी) पुराने लोग पृथु की भार्या ही जानते हैं। ऐसे ही लकड़ी आदि काट कर प्रथम खेत बनाने वाले का खेत और जिस ने पहिले शिकार किया उसी का मृग है (ऐसे ही पहिले विवाह करने वाले का पुत्र होता है। पश्चात् केवल उत्पन्न करने वाले का नहीं) ॥ स्पष्ट है कि यह वायुगीता पृथु राजा से पीछे मनु में मिलाई गई ॥ ४४ ॥

एतावानेवपुरुषो यज्जायात्माप्रजेतिह । विप्राः प्राहुस्तथा चैत-  
द्योभर्ता सा स्मृताङ्गना ॥ ४५ ॥ न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या  
विमुच्यते । एवं धर्मं विजानीमः प्राक्प्रजापतिनिर्मितम् ॥ ४६ ॥

अर्थ-स्त्री और आपा तथा सन्तान ये तीनों मिल कर एक पुरुष कहाता है। तथा वेद के जानने वाले विप्र कहते हैं कि जो पति है, वही भार्या है (जैसा कि कुल्लूक ने शतपथ का प्रमाण दिया है कि “अर्थो ह वा एष आत्म-  
नस्तस्माद्यज्जायां न विन्दते” इत्यादि) ॥ ४५ ॥ विक्रय वा त्याग से स्त्री, पति से नहीं छूट सकती, ऐसा पूर्व से प्रजापति का रचा हुवा नित्यधर्म हम जानते हैं ॥ ४६ ॥



सकृदंशोनिपतति सकृत्कन्या प्रदीयते । सकृदाह ददानीति  
त्रीण्येतानि सतां सकृत् ४७ यथागोश्वोष्ट्रदासीषु महिष्यजात्रि-  
कासु च । नोत्पादकः प्रजाभागी तथैवान्याङ्गनास्वपि ॥ ४८ ॥

अर्थ- विभाग एक बार ही किया जाता है और एक ही बार कन्यादान  
होता है और एक ही बार धन दिया जाता है । सज्जनों की ये तीन  
बातें एक ही बार होती हैं ( लौट फेर नहीं होता ) ॥ ४७ ॥ जैसे गाय,  
घोड़ा, ऊँट, दासी, भैंस और भेड़ इन में सन्तान उत्पन्न करने वाला, उस  
का भागी नहीं होता, वैसे ही दूसरे की स्त्री में भी ( जानो ) ॥ ४८ ॥

येऽक्षेत्रिणोबीजवन्तः परक्षेत्रप्रवापिणः । ते वै सस्यस्य जातस्य  
न लभन्ते फलं क्वचित् ॥ ४९ ॥ यदन्यगोषु वृषभो वत्सानां जनये-  
च्छतम् । गोमिनामेव ते वत्सा मोघं स्कन्दितमार्षभम् ॥ ५० ॥

अर्थ-जो बिना खेत के बीज वाले ( अपने बीज को ) दूसरे के खेत में  
बोते हैं, वे उत्पन्न हुये अनाज के भागी कभी नहीं होते ॥ ४९ ॥ जो दूसरे की  
गायों में सांड सौ १०० बछड़े भी पैदा करे, तौ भी वे बछड़े गाय वालों के ही  
होते हैं, सांड का शुक्रसेचन निष्फल होता है ॥ ५० ॥

तथैवाऽक्षेत्रिणोबीजं परक्षेत्रप्रवापिणः । कुर्वन्ति क्षेत्रिणामर्थं  
न बीजी लभते फलम् ५१ फलं त्वनभिसंधाय क्षेत्रिणां बीजिनां  
तथा । प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थो बीजादो निर्गरीयसी ॥ ५२ ॥

अर्थ-उसी प्रकार बिना खेत वाले, बीज को दूसरे के खेत में बोवें तो  
खेत वाले ही का प्रयोजन सिद्ध करते हैं । बीज वाला फल नहीं पाता ॥ ५१ ॥  
जहां पर खेत वाले और बीज वाले इन दोनों के फल के बांट का नियम  
कुछ न हुवा हो, वहां प्रत्यक्ष में खेत वाले का प्रयोजन सिद्ध होता है । इस  
लिये बीज से योनि बहुत बलवती है ॥ ५२ ॥

क्रियाभ्युपगमात्त्वेतद्वीजार्थं यत्प्रदीयते । तस्येह भागिनौ दृष्टौ  
बीजी क्षेत्रिकएव च ॥ ५३ ॥ ओघवाताहतं बीजं यस्य क्षेत्रे  
प्ररोहति । क्षेत्रकस्यैव तद्वीजं न वप्सा लभते फलम् ॥ ५४ ॥



अर्थ-परन्तु "जो इस खेत में उत्पन्न होगा वह हमारा तुम्हारा दोनों का रहेगा" इस नियम पर खेत वाला बोने के लिये बीज वाले को देता है तो उस के दोनों लोग भागी होते देखे गये हैं ॥ ५३ ॥ जो बीज जल के घेस वा वायु से उड़ कर दूसरे के खेत में गिरके उत्पन्न हो, उस के फल का भागी खेत वाला ही होता है, न कि बोने वाला ॥ ५४ ॥

एषधर्मा गवाश्वस्य दास्युष्ट्राजाविकस्य च। विहङ्गमहिषीणां च विज्ञेयः प्रसवं प्रति ॥ ५५ ॥ एतद्वः सारफल्गुत्वं बीजयोन्योः प्रकीर्तितम् । अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि ॥ ५६ ॥

अर्थ-यह ( ५२ से ५४ तक ) व्यवस्था गाय, घोड़ा, दासी, जूट, बकरी, भेड़, पक्षी और भैंस की सन्तति में जाननी चाहिये ॥ ५५ ॥ यह बीज और योनि के प्राधान्य और अप्राधान्य तुम लोगों से कहे । अब स्त्रियों के आपत्काल का धर्म ( अर्थात् सन्तान न होने में क्या करना चाहिये सो ) कहता हूँ ॥ ५६ ॥

भातुर्ज्येष्ठस्य भार्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा । यवीयसस्तु या भार्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता ॥ ५७ ॥ ज्येष्ठो यवीयसो भार्या यवीयान् वाग्रजस्त्रियम् । पतितौ भवतोगत्वा नियुक्तावप्यनापदि ॥ ५८ ॥

अर्थ-बड़े भाई की स्त्री छोटे भाई को गुरुपत्नी के समान है और छोटे की स्त्री बड़े को पुत्रवधू के समान कही है ॥ ५७ ॥ बड़ा भाई छोटे भाई की स्त्री के साथ वा छोटा भाई बड़े भाई की स्त्री के साथ विना आपत्काल के ( सन्तान रहते हुए ) नियोगविधि से भी गमन करने से ( दोनों ) पतित होते हैं ( किन्तु- ) ॥ ५८ ॥

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया । प्रजेप्सिताधिगन्तव्या संतानस्य परिक्षये ॥ ५९ ॥ विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तोवाऽयतोनिशि । एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन ॥ ६० ॥

अर्थ-सन्तान न हो ती, पुत्र की इच्छा से भले प्रकार नियोग की हुई स्त्री को देवर या अन्य सपिण्ड से यथेष्ट सन्तान उत्पन्न करलेनी चाहिये ॥ ५९ ॥ विधवा के साथ नियोग करने वाला शरीर में घृत लगा, मौन होकर रात्रि में ( भोग करे, इस प्रकार ) एक पुत्र उत्पन्न करे, दूसरा कभी नहीं ॥ ६० ॥



द्वितीयमेके प्रजनं मन्यन्ते स्त्रीषु तद्विदः । अनिर्वृत्तं नियोगार्थं  
पश्यन्तो धर्मतस्तयोः ॥ ६१ ॥ विधवायां नियोगार्थं निर्वृत्ते तु  
यथाविधि । गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तयातां परस्परम् ॥ ६२ ॥

अर्थ-दूसरे आचार्य जो नियोग से पुत्री उत्पादन की विधि को जानने वाले  
हैं, उन दोनों स्त्री पुरुषों के नियोग के तात्पर्य को (१ पुत्र से) सिद्ध न होता  
देखते हुये स्त्रियों में दूसरा पुत्र उत्पन्न करना भी धर्म से मानते हैं ॥ ६१ ॥ विधवा  
में नियोग के प्रयोजन (गर्भधारण) की विधि से सिद्ध होजाने पर बड़े और छोटे  
भाई की स्त्रियों से दोनों आपस में गुरुपत्नी और पुत्रवधू के सा व्यवहार करें ॥ ६२ ॥

नियुक्तौ यौविधिं हित्वा वर्तयातां तु कामतः । तावुभौ पतितौ स्या-  
तां स्नुषा गगुरुतत्पगौ ६३ नान्यस्मिन् विधवानारी नियोक्तव्या  
द्विजातिभिः । अन्यस्मिन् हि नियुज्जाना धर्मं हन्युः सनातनम् ॥ ६४ ॥

अर्थ-जो छोटे और बड़े भाई अपनी भौजाइयों के साथ नियोग किये  
हुये भी विधि को छोड़ कर कामवश भोग करें वे दोनों पतित गुरु की स्त्री और  
पुत्रवधू से गमन करने वाले हों ॥ ६३ ॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को विधवा  
स्त्री का दूसरे (वर्ण) के साथ नियोग न करना चाहिये। दूसरे के साथ नियोग  
की हुई ( स्त्रियें ) सनातन धर्म का नाश करती हैं ॥ ६४ ॥

“ नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् । न विवाहविधा-  
वुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥ ६५ ॥ अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो  
विगर्हितः । मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥ ६६ ॥ ”

“ अर्थ-विवाहसम्बन्धी मन्त्रों में कहीं नियोग नहीं कहा है और न  
विवाह की विधि में विधवा का पुनर्विवाह कहा है ॥ ६५ ॥ यह प्रोक्त=विधान  
किया हुआ भी सन्तुष्यों का नियोग, राजा वेन के शासनकाल में विद्वान् द्विजों  
द्वारा पशुधर्म और निन्दायुक्त कहा गया ( क्योंकि:- ) ॥ ६६ ॥ ”

“ स महीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा । वर्णानां संकरं चक्रे  
कामोपहतचेतनः ॥ ६७ ॥ ततः प्रभृति योमोहात्प्रमीतपतिकां  
स्त्रियम् । नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः ॥ ६८ ॥ ”



“ अर्थ—वह वेन राजा जो राजपिंयों में बड़ा और पूर्वकाल में संपूर्ण पृथिवी को भोगता था, काम से नष्टबुद्धि होकर वर्णसङ्कर करने लगा था ॥६७॥ उस ( वेन राजा के ) समय से जो कोई सोह के कारण सन्तान के लिये विधवा स्त्री का नियोग करता है उस की साधु लोग निन्दा करते हैं ( किन्तु वेन से पूर्व इस की निन्दा न थी ॥ ”

यद्यपि ६५ से ६८ तक ४ श्लोक मनु वा श्रुगु के बनाये भी नहीं हैं । क्योंकि स्वायंभुव मनु सृष्टि के आरम्भ में हुये और वेन राजा वह था जिस से पृथु हुवा, ती वेन के वैवस्वत सन्वत्तर में होने वाले जन्म को स्वायंभुव मनु अपने से पूर्व की भांति कैसे कह सकते हैं कि भूतकाल में राजा वेन के राज्यसमय से नियोग की परिपाटी निन्दित होगई । इस लिये निम्नय ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं । परन्तु तथापि इन से नियोग की बुराई वा पूर्व मनुप्रोक्त नियोग से परस्परविरोध नहीं आता । किन्तु यह आशय निकलता है कि वेन राजा ने कामवश नियोग की स्ववर्णानुसारिणी परिपाटी को तोड़ कर एक वर्ण का दूसरे वर्ण में नियोग प्रचरित कर वर्णसङ्कर कर दिया, तब से सज्जनों में नियोग निन्दित समझा जाने लगा । ६५ का आशय नियोग के निषेध में नहीं है, किन्तु यह है कि विवाह और नियोग भिन्न २ हैं, एक बात नहीं हैं, क्योंकि विवाह के मन्त्रों में नियोग नहीं कहा है । किन्तु विवाह से भिन्न प्रकरण के मन्त्रों ( अथर्व ८।५। २१-२८ ॥ ५। ११। ८ ॥ १८। ३। १, ऋ० १०। १८। ८ इत्यादि ) में तो नियोगविधान है । विधवा का पुनर्विवाह विहित नहीं है, इस से नियोग का निषेध नहीं आता, किन्तु पुनर्विवाह का निषेध है । ६६ का तात्पर्य भी यही है कि पहिले द्विजों का सवर्णों में ५९ के अनुसार नियोग चला आता था, परन्तु जब राजा वेन ने एक वर्ण का दूसरे वर्ण से भी प्रचरित कर दिया, तब से यह निन्दित और पशुधर्म कहाने लगा । इस में भी सब से पुराने भाष्यकार मेधातिथि ने ( द्विजैर्हि विद्वद्भिः ) के स्थान में ( द्विजैरऽविद्वद्भिः ) पाठ माना है और यह भाष्य किया है कि ( येऽविद्वद्भिः सम्यक् शास्त्रं न जानन्ति ) जो शास्त्र के न जानने वाले थे उन्होंने पशुधर्म और निन्दित कहना आरम्भ कर दिया । ६७ वें में उस का कारण भी स्पष्ट बताया है कि क्यों यह कर्म निन्दित माना जाने लगा कि उस ने वर्णों का सङ्कर ( घोल मेल ) कर दिया । ६८ वें में स्पष्ट कथन है कि तब से नियोग करने वालों की निन्दा होने लगी है । अर्थात् वेन से पूर्व द्विजों का द्विजों में सवर्ण स्त्री पुरुषों का नियोग निन्दित न था ) ॥ ६८ ॥



यस्याग्नियेतकन्याया वाचासत्येकृतेपतिः । तामनेनविधानेन  
निजोविन्देत देवरः ॥ ६९ ॥ यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां  
शुचित्रताम् । मिथोभजेताप्रसवात्सकृत्सकृद्वृतावृतौ ॥ ७० ॥

अर्थ-जिस कन्या ( पतिसंभोगरहिता ) का सत्य वाग्दान ( कन्यादान  
सङ्कल्प ) करने के पश्चात् पति सरजावे उस को इस विधान से निज देवर  
प्राप्त हो ( कि- ) ॥ ६९ ॥ ( वह देवर ) नियोग विधि से इस को पास जाकर  
श्वेत वस्त्र धारण किये हुई और काय मन वाणी से पवित्र हुई के साथ सन्ता-  
नोत्पत्तिपर्यन्त गर्भाधानकाल में एक एक बार परस्पर गमन करे ( गर्भा-  
धान हो जावे तब मैथुन त्यागदे ) ॥ ७० ॥

नदत्त्वाकस्यचित्कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षणः । दत्त्वापुनःप्रयच्छन्  
हि प्राप्नोतिपुरुषानृतम् ॥ ७१ ॥ विधिवत्प्रतिगृह्यापि रथजेरकन्यां  
विगर्हिताम् । व्याधितांविप्रदुष्टांवा छद्मनाचोपपादिताम् ॥ ७२ ॥

अर्थ-ज्ञानी पुरुष किसी को कन्यादान देकर फिर दूसरे को न देवे ।  
क्योंकि एक को देकर दूसरे को देने वाला मनुष्य की चोरी के दोष को प्राप्त  
होता है ॥ ७१ ॥ विधिपूर्वक ग्रहण की हुई भी निन्दित कन्या का त्याग करदे  
जो कि दुष्टा वा रोगिणी और छल से दी गई हो ॥ ७२ ॥

यस्तुदोषवतींकन्यामनाख्यायोपपादयेत् । तस्यतद्वितथंकुर्यात्  
कन्यादातुर्दुरात्मनः ॥ ७३ ॥ विधाय वृत्तिं भार्यायाः प्रवसेत्  
कार्यवान्तरः । अवृत्तिकर्षिता हि स्त्री प्रदुष्येत्स्थितिमत्यपि ॥ ७४ ॥

अर्थ-जो दोष वाली कन्या का बिना दोष प्रकट किये विवाह करदे उस कन्या  
के देने वाले दुष्ट के कन्यादान को निष्फल करदेवे ( अर्थात् उस का त्याग करदे ) ॥ ७३ ॥  
कार्यवाला पुरुष स्त्री के भोजन कपड़े आदि का विधान करके परदेश जावे,  
क्योंकि भोजन आदि से पीडित शीलवती भी स्त्री बिगड़ सकती है ॥ ७४ ॥  
विधायप्रोषितेवृत्तिं जीवेन्निधिममास्थिता । प्रोषितेतवविधा-  
यैव जीवेच्छित्पैरगर्हितैः ॥ ७५ ॥ प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्यो-  
ष्टीनरः समाः ॥ विदार्थं षड् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥ ७६ ॥



अर्थ-भोजन आच्छादनादि देकर पति के देशान्तर जाने पर स्त्री शरीर के शृङ्गारत्यागादि नियम से निर्वाह करे और जो बिना प्रबन्ध किये जावे तो अग्निन्दिता शिल्पों से ( निर्वाह करे ) ॥ ७५ ॥ धर्मकार्य के लिये परदेश गये नर की स्त्री आठ ८ वर्ष पर्यन्त, यश और विद्या के लिये गया हो तो छः ६ वर्ष, और काम को गया हो तो ३ तीन वर्ष प्रतीक्षा करे ॥ ७६ ॥

संवत्सरप्रतीक्षेत द्विषन्तीं योषितं पतिः । ऊर्ध्वसंवत्सरात्त्वेनां  
दायं हृत्वा न संवसेत् ॥ ७७ ॥ अतिक्रामेत्प्रमत्तं वा मत्तं रोगार्त्त-  
मेव वा । सा त्रीन्मासान्परित्याज्या विभूषणपरिच्छदा ॥ ७८ ॥

अर्थ-द्वेष करने वाली स्त्री की एकवर्षपर्यन्त पति प्रतीक्षा करे । फिर उस के अलङ्कारादि सब छीन ले और उस के साथ न रहे ( केवल अन्न वस्त्र मात्र दे )  
॥ ७७ ॥ जो स्त्री प्रमादी वा मदमत्त वा चन्मादी वा रोगी पति की आज्ञा भङ्ग करे वह वस्त्र भूषण उतार कर तीन महीने तक त्यागने योग्य है ॥ ७८ ॥

उन्मत्तपतितं क्लीबमञ्जीरं पापरोगिणम् । न त्यागोऽस्ति द्विष-  
न्त्याश्च न च दायापश्चर्त्तनम् ७९ मद्यपाऽसाधुवृत्ताश्च प्रतिकूला  
च या भवेत् । व्याधिता वा धिक्चेत्तव्या हिंसा र्थं घ्नी च सर्वदा ॥ ८० ॥

अर्थ-पागल और पतित तथा नपुंसक और बीजरहित और पापरोगी, इन से द्वेष करने वाली का त्याग नहीं है और न उस का धन छीनना उचित है  
॥ ७९ ॥ मद्य पीने वाली और बुरे चलन वाली तथा पति के विरुद्ध चलने वाली और सदा बीमार और मारने वाली और सदा धन का नाश करने वाली स्त्री हो तो उस के रहते छुवे भी दूसरी स्त्री करनी उचित है ॥ ८० ॥

वन्ध्याऽष्टमे धिवेदाब्दे दशमे तु मृतप्रजा । एकादशे स्त्रीजननी  
सद्यस्त्वप्रियवादिनी ॥ ८१ ॥ यारोगिणी स्यात्तुहिता संपन्ना चैव  
शीलतः । सानुज्ञाप्या धिक्चेत्तव्या नावमान्या च कर्हिंचित् ॥ ८२ ॥

अर्थ-आठ वर्ष तक कोई सन्तान न हो तो दूसरी स्त्री करले और सन्तान होकर मरते ही रहें तो दशवर्ष में और लड़की ही होती हों तो ग्यारह वर्ष के पश्चात्, तथा अप्रिय बोलने वाली हो तो उसी समय ( दूसरी करले ) ॥ ८१ ॥ जो सदा बीमार रहे, परन्तु पति के अनुकूल और शीलवती हो तो उस से आज्ञा लेकर दूसरी स्त्री करले और उसका अपमान करना कभी उचित नहीं है ॥ ८२ ॥



अधिविन्नातुयानारी निर्गच्छेदरुषितागृहात् । सासदाःसन्नि-  
रोद्धव्या त्याज्यावाकुलसन्निधौ ॥८३॥ प्रतिपिद्वापि चेदातुमदा-  
मभ्युदयेष्वपि।प्रेक्षासमाजंगच्छेद्वा सादण्ड्याकृष्णलानिषट् ८४

अर्थ-दूसरी स्त्री आने से झूठी हुई पूर्व स्त्री घर से निकल जावे तो वह उसी समय रोक कर रखनी चाहिये या मा बाप के घर पहुंचा देवे ॥८३॥ जो स्त्री विवाहादि उत्सवों में निषेध करने पर भी मद्य पीवे या नाच तमाशे में जावे तो पूर्वोक्त दंडः ६ " कण्डाल " राजदण्ड योग्य है ॥ ८४ ॥

“यदि स्वाश्रापराश्रैव विन्देरन्योषितो द्विजाः । तासां वर्णक्रमेण स्याज्ज्यैष्ठ्यं पूजा च वेश्म च ॥८५॥ भर्तुः शरीरशुश्रूषां धर्मकार्यं च नैतिकम् । स्वा चैव कुर्यात्सर्वेषां नाऽस्वजातिः कथंचन ॥८६॥”

अर्थ-“यदि द्विजाति ( ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ) अपनी जाति वाली वा दूसरी जातिवालों से विवाह करें तो उन की बड़ाई और मान तथा घर वर्णक्रम से हो ( २ पुस्तकों में “ वेश्मनः ” पाठ है ) ॥ ८५ ॥ पति के शरीर की सेवा और नैतिक धर्मकार्य को सब की स्वजातीय स्त्रियां ही करें, अन्य जाति की कभी न ( करें ) ॥ ८६ ॥”

“ यस्तु तत्कारयेन्मोहात्सजात्या स्थितयाऽन्यथा ।

यथा ब्राह्मणचण्डालःपूर्वदृष्टस्तथैव सः ॥ ८७ ॥ ”

अर्थ-“जो स्वजातीय के रहते हुवे दूसरी से पूर्वोक्त तीन कर्म मोहवश करावे वह जैसा ब्राह्मण चण्डाल पुरातन मुनियों ने कहा है वैसा ही है ॥ ” ( ८५ । ८६ । ८७ वें श्लोक इस लिये माननीय नहीं कि ये द्विजों के लिये अध्याय ३ के श्लोक १५ । १६ के अनुसार पतित कराने वाले और सवर्ण के साथ विवाह की विवाहप्रकरणोक्त “सवर्णं लक्षणा” इत्यादि मनु की पूर्वाज्ञा के विरुद्ध हैं ) ॥ ८७ ॥

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च ।

अप्राप्तमपि तां तस्मै कन्यां दद्यादथविधि ॥ ८८ ॥

अर्थ-कुल आचारादि से उच्च और सुन्दर तथा गुणों में बराबर वर के लिये कुछ कम आयु वाली भी कन्या यथाविधि दे देवे ॥ ( ८८ वें से आगे ४ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक प्रसिद्ध है-



[ प्रयच्छेन्नग्रिकां कन्यामृतुकालभयान्वितः ।

ऋतुमत्यां हि तिष्ठन्त्यामेनो दातारमृच्छति ॥ ]

ऋतुकाल के समय से अमृतुमती कन्या का ही दान करवे । क्योंकि ऋतु-  
मती के बैठे रहने से दाता को पाप चढ़ता है ) ॥ ८८ ॥

काममामरणात्तिष्ठेद्गृहे कन्यर्तुमत्यपि । न चैवैनां प्रयच्छेत्तु  
गुणहीनाय कर्हिचित् ॥ ८९ ॥ श्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती  
सती । ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत् सदृशं पतिम् ॥ ९० ॥

अर्थ-चाहे कन्या ऋतु वाली होकर मरने तक घर में बैठी रहे परन्तु  
गुणहीन के लिये इस का कभी दान न करे ॥ ८९ ॥ राजखला कन्या तीन वर्ष  
तक प्रतीक्षा करे, फिर अपने बराबर गुण वाले पति को विवाह ले ॥ ९० ॥  
अदीयमानाभर्तारमधिगच्छेदादिस्वयम् । नैनः किञ्चिद्वाप्नोति  
न च यं साऽधिगच्छति ॥ ९१ ॥ अलङ्कारं नाददीत पित्र्यं कन्या  
स्वयंवरा । मातृकं भ्रातृदत्तं वा स्तेना स्याद्यदि तं हरैत् ॥ ९२ ॥

अर्थ-( यदि पिता आदि की ) न दी हुई कन्या आप ही पति को वर  
ले तो कन्या को कुछ पाप नहीं और न जिस (पति) को वह व्याही जाती  
है (उसे कुछ पाप होता है) ॥ ९१ ॥ परन्तु स्वयं विवाह करने वाली कन्या, पिता  
और माता या भाई का दिया हुआ आभूषण न ले, यदि उसे ले तो चोर हो ॥ ९२ ॥  
“पित्रे न दद्याच्छुल्कं तु कन्यामृतुमतीं हरन् । स हि स्वाम्यादति-  
क्रामेदृतूनां प्रतिरोधनात् ॥ ९३ ॥ त्रिंशद्वर्षोदहेत्कन्यां हव्यां द्वादश  
वार्षिकीम् । त्रयष्टवर्षोऽष्टवर्षा वा धर्मे सीदति सत्वरः ॥ ९४ ॥ ”

अर्थ-“ऋतु वाली कन्या को हरण करता हुआ उस के पिता को शुल्क  
न दे । क्योंकि राजों के रोकने से वह स्वामित्व से हीन हो जाता है । ( धन्य !  
क्या बिना ऋतुमती का पिता “स्वामी” या ।।। ) ॥ ९३ ॥ तीस वर्ष का पुरुष  
बारह वर्ष की मनोहारिणी कन्या से विवाह करे वा चौबीस वर्ष वाला  
आठ वर्ष वाली से करे, जब कि शीघ्र न करने से धर्म पीड़ित होता हो ”  
( ९३ । ९४ के श्लोक इस लिये माननीय नहीं जान पड़ते हैं कि इन में कन्या का  
मूल्य ऋतुमती होने पर न देना कहा है तो क्या बिना ऋतुमती का विवाह हो



सकता है ? और क्या विना ऋतुसती का मूल्य देना ही चाहिये ? विना ऋतु के विवाह करना ९० के विरुद्ध है और मूल्य लेना ९८ के विरुद्ध है ) ॥ ९४ ॥

देवदत्तां पतिर्भार्यां विन्दते नेच्छयात्मनः । तां साध्वीं विभ्रया-  
न्नित्यं देवानां प्रियमाचरन् ॥ ९५ ॥ प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः संतानार्थं  
च मानवाः । तस्मात्साधारणी धर्मः श्रुतीपत्न्या सहोदितः ॥ ९६ ॥

अर्थ- ( "भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वाद्गुर्गर्हपत्याय देवाः" इत्यादि  
अन्वयानुसार ) देवतों की दी हुई भार्या को पति पाता है, कुछ अपनी इच्छा  
से ( ही ) नहीं, इस लिये देवतों का प्रिय आचरण करता हुआ उस सती का  
नित्य पालन करे ॥ ९५ ॥ गर्भधारण करने के लिये स्त्रियों को ( ईश्वर ने )  
उत्पन्न किया और वीर्यसन्तान के लिये पुरुष उत्पन्न किये हैं । इससे स्त्री के  
साथ पुरुष का घेद में समान धर्म कहा है ॥ ९६ ॥

“ कन्यायां दत्तशुल्कायां म्रियेत यदि शुल्कदः ।

देवराय प्रदातव्या यदि कन्याऽनुमन्यते ॥ ९७ ॥ ”

आददीत न शूद्रोऽपि शुल्कं दुहितरं ददन् ।

शुल्कं हि गृह्णन्कुरुते छद्मं दुहितृविक्रयम् ॥ ९८ ॥

अर्थ- “कन्या का शुल्क देने पर यदि शुल्क देने वाला मर जावे तो देवर को  
कन्या दे देने चाहिये । यदि कन्या स्वीकार करे तो ( यह भगले ही ९८ के विरुद्ध  
है ) ॥ ९७ ॥ ” शूद्र भी ( द्विजों की तो कथा ही क्या है ) लड़की देता हुआ शुल्क ग्रहण  
न करे । शुल्क ग्रहण करने वाला छिपा हुआ कन्या का विक्रय करता है ॥ ९८ ॥

एतत्तु न परे चक्रुर्नापरे जातु साधवः । यदन्यस्य प्रतिज्ञाय  
पुनरऽन्यस्य दीयते ॥ ९९ ॥ नानुशुभ्रम जात्वेतत्पूर्वेष्वपि हि  
जन्मसु । शुल्कसंज्ञेन मूल्येन छद्मं दुहितृविक्रयम् ॥ १०० ॥

अर्थ- यह पहिले शिष्ट पुरुष कभी नहीं करते थे और न कोई ( शिष्ट )  
इस समय करते हैं, जो कि एक के लिये कन्या दान करके दूसरे को दी जावे  
॥ ९९ ॥ पूर्व जन्मों में भी हमने कभी शुल्कसंज्ञक मूल्य से छिपा लड़की का  
वैचना नहीं सुना ॥ १०० ॥



अन्योन्यस्याव्यभिचारोभवेदामरणान्तिकः। एषधर्मःसमासेन  
ज्ञेयःस्त्रीपुंसयोःपरः ॥१०१॥ तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु  
कृतक्रियौ। यथा नाभिचरेतां तौ विद्युक्तावितरेतरम् ॥१०२॥

अर्थ-भार्या पति का मरण पर्यन्त आपस में व्यभिचार न होना ही स्त्री  
पुरुषों का संक्षेप से श्रेष्ठ धर्म जानना चाहिये ॥१०१॥ विवाह वाले स्त्री पुरुषों  
को सदा ऐसा यत्न करना चाहिये जिस में कभी आपस में जुदाई न हो ॥१०२॥  
एषस्त्रीपुंसयोरुक्तो धर्मोवीरतिसंहितः। आपदपत्यप्राप्तिश्च  
दायभागं निबोधत ॥१०३॥ ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः  
समम्। भजेरन्पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः ॥१०४॥

अर्थ-यह भार्या और पति का आपस में प्रीतियुक्त धर्म और सन्तान के  
न होने में सन्तान की प्राप्ति भी तुम से कही। अब दायभाग की सुनो ॥१०३॥  
माता पिता के मरने पर भाई लोग मिलकर बाप के रिक्थ (जायदाद आदि)  
को बराबर भाग करें। उन के जीवते पुत्रों को अधिकार नहीं ॥ १०४ ॥

ज्येष्ठएव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः। शेषास्तमुपजीवेयु-  
र्यथैव पितरं तथा ॥ १०५ ॥ ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति  
मानवः। पितृणामनृणश्चैव स तस्मात्सर्वमर्हति ॥ १०६ ॥

अर्थ-(अथवा) पिता के सम्पूर्ण धन को ज्येष्ठ पुत्र ही ग्रहण करे और  
शेष छोटे भाई खाना कपड़ा लेंगे, जैसे पिता के सामने रहते थे ॥१०५॥ ज्येष्ठ  
के उत्पन्न होने मात्र से मनुष्य पुत्र वाला कहलाता और पितृऋण से छूट  
जाता है। इस कारण ज्येष्ठ पुत्र सम्पूर्ण धन लेने योग्य है ॥ १०६ ॥

यस्मिन्ननृणं सन्नयति येन चानन्त्यमश्नुते। स एव धर्मजःपुत्रः  
कामजानितरान्विदुः १०७॥ पितेवपालयेत्पुत्रान् ज्येष्ठोभ्रातृन्  
यवीयसः। पुत्रवच्चापि वर्त्तेरन् ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः ॥१०८॥

अर्थ-जिस के उत्पन्न होने से (पितृ) ऋण दूर होता है और मोक्ष प्राप्त होता  
है उसी को धर्मज पुत्र जाने। औरों को कामज कहते हैं ॥ १०७ ॥ ज्येष्ठ भ्राता  
छोटे भाइयों का पिता, पुत्र के समान पालन करे और छोटे भाई भी बड़े  
भाई को धर्म से पिता के समान मानें ॥ १०८ ॥



ज्येष्ठः कुलं वर्धयति विनाशयति वा पुनः । ज्येष्ठः पूजयत मोलुके  
ज्येष्ठः सद्विरगर्हितः १०९ योज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यान्मातेव सपि-  
तेवसः । अज्येष्ठवृत्तिर्यस्तु स्यात्स संपूजयस्तु बन्धुवत् ॥ ११० ॥

अर्थ-ज्येष्ठ कुल को बढ़ाता है, ज्येष्ठ ही कुल का नाश करता है, ज्येष्ठ ही लोगों में अतिपूज्य है और ज्येष्ठ सत्पुरुषों से निन्दा को नहीं पाता ॥ १०९ ॥ जो ज्येष्ठ भाई ज्येष्ठवृत्ति हो ( पितृवत् पोषणादि करे ) वह माता पिता के समान पूज्य है और यदि माता पिता के तुल्य पोषणादि न करे तो बन्धुवत् पूजनयोग्य है ॥ ११० ॥

एवं सह वसैयुर्वा पृथग्वा धर्मकाम्यया । पृथग्विवर्धते धर्म-  
स्तस्माद्गम्या पृथक्क्रिया १११ ज्येष्ठस्य विंशउद्धारः सर्वद्रव्याञ्च  
यद्वरम् । ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः ॥ ११२ ॥

अर्थ-इस प्रकार विना बांटे सब भाई साथ रहें अथवा धर्म की इच्छा से सब भाई विभाग करके अलग रहें । अलग २ में धर्म बढ़ता है, इस लिये विभाग धर्मानुकूल है ॥ १११ ॥ उद्धार ( जो निकालकर-भाग के अतिरिक्त भेंट दिया जाय ) बड़े का द्रव्यों में से उत्तम बीसवां भाग होना चाहिये और बिचले का चालीसवां तथा छोटे का ८० वां भाग होना चाहिये ( जो बचे उस को ११६ के अनुसार सब बराबर बांट लें ) ॥ ११२ ॥

ज्येष्ठश्चैव कनिष्ठश्च संहरेतां यथोदितम् । येऽन्ये ज्येष्ठकनिष्ठाभ्यां  
तेषां स्यान्मध्यमं धनम् ॥ ११३ ॥ सर्वेषां धनजातानामाददी-  
ताग्रयमग्रजः । यच्च सातिशयं किञ्चिद्दशतश्चाप्नुयाद्वरम् ॥ ११४ ॥

अर्थ-ज्येष्ठ और कनिष्ठ, पूर्व श्लोकानुसार उद्धार ग्रहण करें और ज्येष्ठ तथा कनिष्ठों से जो अतिरिक्त हों उन ( मध्यमों ) का मध्यम भाग होना चाहिये ॥ ११३ ॥ सब प्रकार के धनों में जो श्रेष्ठ धन हो उस को और जो सब से अधिक हो उस को तथा जो एक वस्तु १० वस्तुओं में अधिक उत्तम हो उस को भी ज्येष्ठ ग्रहण करे ॥ ११४ ॥

उद्धारो न दशस्वस्ति संपन्नानां स्वकर्मसु । यत्किञ्चिदेव देयं तु  
ज्यायसे मानवर्धनम् ॥ ११५ ॥ एवं समुद्धृतोद्दारे समानं शान्



प्रकल्पयेत् । उद्गारेऽनुदधृते त्वेषामियं स्यादंशकल्पना ॥११६॥

अर्थ-पूर्व श्लोक में दश में श्रेष्ठ वस्तु बड़ा पावे, इत्यादि उद्गार कहा, परन्तु यह स्वकर्मा में समुद्र आताओं का नहीं है किन्तु वे जो कुछ ज्येष्ठ को देदेवें वही सम्मानार्थ है ॥११५॥ पूर्वोक्त प्रकार से उद्गार निकालने पर बराबर भाग करें । यदि कोई उद्गार न निकाले तो भागे कहे अनुसार भाग बाँटें ॥११६॥

एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठः पुत्रोऽध्यर्धं ततोनुजः । अंशमंशं यवीयांस  
इति धर्माव्यवस्थितः ॥११७॥ स्वभ्योऽशेभ्यस्तुकन्याभ्यः प्रदत्तुर्भा-  
तरः पृथक् । स्वात्सयादंशाञ्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः ॥११८॥

अर्थ-ज्येष्ठ पुत्र एक भाग अधिक (अर्थात् दो भाग) और उस से छोटा डेढ़ भाग और शेष छोटे सब एक एक भाग ग्रहण करें । इस प्रकार धर्म की व्यवस्था है ॥ ११७ ॥ भाई लोग अपने अपने भागों में से चौथा भाग बहनों को दें । यदि देना न चाहें तो पतित हों ॥ ११८ ॥

अजाविकं सैकशफं न जातु विषमं भजेत् । अजाविकंतु विषमं  
ज्येष्ठस्यैव विधीयते ॥११९॥ यवीयान् ज्येष्ठभार्यायां पुत्रमुत्पाद-  
येद्वादि । समस्तत्र विभागः स्यादिति धर्माव्यवस्थितः ॥१२०॥

अर्थ-बकरी, भेड़ तथा घोड़ा आदि एक खुर वाले पशु का विषम संख्या होने पर कभी भाग न करे । किन्तु वह ज्येष्ठ पुत्र का ही है ॥११९॥ यदि कनिष्ठ भाई, ज्येष्ठ की भार्या में (नियोगविधिसे) पुत्र उत्पन्न करे तो वहाँ उस विभाग होना चाहिये । ऐसी धर्म की व्यवस्था है ॥ १२० ॥

॥११९॥ उपसर्जनं प्रधानस्य धर्मतो नोपपद्यते ।

पिता प्रधानं प्रजने तस्माद्दुर्मेण तं भजेत् ॥१२१॥

“ पुत्रः कनिष्ठोज्येष्ठायां कनिष्ठायां च पूर्वजः ।

कथं तत्र विभागः स्यादिति चेत्संशयो भवेत् ॥१२२॥ ”

अर्थ-प्रधान की अप्रधानता धर्मानुकूल सिद्ध नहीं है । और उत्पादन में पिता प्रधान है । इस कारण धर्म से उस की सेवा करे ॥ १२१ ॥ “प्रथम विवाहिता में कनिष्ठ पुत्र और द्वितीय विवाहिता में ज्येष्ठ पुत्र होवे तो वहाँ किस प्रकार विभाग होना चाहिये ? यदि इस प्रकार का संशय हो तो:- ॥१२२॥”



“एकं वृषभमुद्धारं संहरेत स पूर्वजः । ततोऽपरे ज्येष्ठवृषास्तदूनानां  
स्वमातृतः ॥ १२३ ॥ ज्येष्ठस्तु जातो ज्येष्ठायां हरेद्वृषभषोडशाः ।

ततः स्वमातृतः शेषा भजेरन्निति धारणा ॥ १२४ ॥ ”

अर्थ-पहिली में उत्पन्न हुवा वह कनिष्ठ भी एक ज्येष्ठ बैल भैंस में ग्रहण करे । उस के अनन्तर कनिष्ठाओं से उत्पन्न हुवे पुत्र क्रम से अपनी माताओं के विवाहक्रमानुसार ज्येष्ठ हों, वे एक एक वृषभ ग्रहण करें ॥ १२३ ॥ (इस श्लोक का पाठ भी अस्तव्यस्त है) यदि ज्येष्ठ पुत्र ज्येष्ठा में उत्पन्न हो तो १ बैल के साथ पन्द्रह गाय ग्रहण करे । उस के अनन्तर अपनी माता की छोटाई के हिसाब से शेष सब भाग बांट लेवे, यह निर्णय है ॥ १२४ ॥ ”

“सदृशस्त्रीषु जातानां पुत्राणामविशेषतः ।

न मातृतोज्यैष्ठ्यमस्ति जन्मतोज्यैष्ठ्यमुच्यते ॥ १२५ ॥ ”

जन्मज्यैष्ठ्येन चाह्वानं सुब्रह्मण्यास्वपि स्मृतम् ।

यमयोश्चैव गर्भेषु जन्मतोज्येष्ठता स्मृता ॥ १२६ ॥ ”

अर्थ-“समस्त समान जाति की स्त्रियों में उत्पन्न हुवे पुत्रों की माता की ज्येष्ठता से ज्येष्ठता नहीं, किन्तु जन्म से ज्येष्ठता कहाती है ॥ ”

( १२२ से १२५ तक ४ श्लोक अवहित शास्त्रविरुद्ध अनेक तथा असवर्णा से विवाहों के समर्थक और ३ । १५-१६ के विरुद्ध होने से त्याज्य हैं ) ॥ १२५ ॥ ”

सुब्रह्मण्याख्य मन्त्र ( “ सुब्रह्मण्यो ३ इन्द्र आगच्छ ” इत्यादि ज्योतिष्म में इन्द्र की बुलाने में पढ़ते हैं । उस ) में ज्येष्ठ पुत्र के नाम से कहते हैं ( कि अमुक का पिता यज्ञ करता है ) सो वहां भी और जीढ़िया दो पुत्रों में से गर्भों में, प्रथम जन्मने वाले को ज्येष्ठता कही है ॥ १२६ ॥ ”

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम् ।

यदपर्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम् ॥ १२७ ॥ ”

अर्थ-विना पुत्र वाला इस विधि से कन्या को “पुत्रिका” करे कि विवाह के समय में ( जामाता से ) कहे कि जो पुत्र इस के होगा वह मेरा जलादि दान करने वाला हो ( ऐसी प्रतिज्ञा करके विवाह करे ॥

१२७ वे के आगे १ श्लोक ३ पुस्तकों में अधिक पाया जाता है:-



[अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम् ।

अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रोभवेदिति ] ॥

भ्राता से रहिता अलंकृता कन्या आप को दूंगा, परन्तु इस में जो पुत्र उत्पन्न हो, वह मेरा पुत्र हो जावे, यह ) ॥ १२७ ॥

“अनेन तु विधानेन पुरा चकेऽथ पुत्रिकाः ।

विवृद्धयर्थं स्ववंशस्य स्वयं दक्षः प्रजापतिः ॥१२८॥ ”

अर्थ-“ पहिले अपने वंश की वृद्धि के लिये आप दक्ष प्रजापति ने भी इस विधान से पुत्रिकाएं किई थीं ॥ १२८ ॥ ” ( यह दक्ष के पश्चात् की रचना १२८ । १२९ में है ) ॥

“ददौ स दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश ।

सोमाय राज्ञे सत्कृत्य प्रीतात्मा सप्तविंशतिम् ॥१२९॥ ”

अर्थ-“ उस प्रीतात्मा दक्ष प्रजापति ने सत्कार करके दश धर्म को और तेरह कश्यप को तथा सत्ताईस कन्या चन्द्रमा को (पुत्रिका धर्म से) दी थीं ॥ १२९ ॥ ”

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा ।

तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्योधनं हरेत् ॥१३०॥

अर्थ-जैसा आपा वैसा पुत्र और पुत्र के समान कन्या है । फिर भला उस के होते हुये अपने यहां का धन दूसरा कैसे हरे ? ॥ १३० ॥

मातुस्तु यौतकं यत्स्यात्कुमारीभागएव सः । दौहित्रएव च हरे-  
दपुत्रस्याखिलं धनम् ॥१३१॥ दौहित्रोह्यखिलं रिक्थमपुत्रस्य  
पितुर्हरेत् । सएव दद्याद् दौ पिण्डौ पित्रे मातामहाय च ॥१३२॥

अर्थ-माता का कोढ़या कुमारी का ही भाग है और अपुत्र का सम्पूर्ण धन दौहित्र ही लेवे ॥ १३१ ॥ दौहित्र ही अपुत्र पिता का सम्पूर्ण धन ले और वही पिता और नाना इन दोनों को पिण्ड देवे । ( पिण्डदान का तात्पर्य वृद्धावस्था में सेवार्थ भोजन यासादि देना जानो ) ॥ १३२ ॥

पौत्रदौहित्रयोर्लोकेन विशेषोऽस्ति धर्मतः । तयोर्हिमातापितरौ  
संभूतौ तस्य देहतः १३३ पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजा-  
यते । समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः ॥१३४॥



अर्थ-लोक में पुत्र और दौहित्रों की धर्म से विशेषता नहीं है क्योंकि उन के माता पिता उसी के देह से उत्पन्न हैं ॥१३३॥ पुत्रिका करने पर यदि पीछे से पुत्र हो जावे तो वहां (पुत्र तथा दौहित्र के) सम विभाग करे । क्योंकि स्त्री की ज्येष्ठता नहीं है ॥ १३४ ॥

अपुत्रायां मृतायां तु पुत्रिकायां कथञ्चन । धनं तत्पुत्रिकाभर्ता  
हरेतैवाऽविचारयन् ॥१३५॥ अकृता वा कृता वापि यं विन्देत्सदृ-  
शात्सुतम् । पौत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरेद्दुनम् ॥१३६॥

अर्थ-“पुत्रिका” कदाचित् पुत्ररहिता ही मर जावे तो उस धन को पुत्रिका का पति ही बिना विचार किये लेले ॥१३५॥ पुत्रिका का विधान किया हो या न भी किया हो, अपने समान जातिवाले जामाता से जिस पुत्र को पावे, उसी से मातामह पौत्र वाला कहावे और वही पिण्ड दे और धन ले ॥ १३६ ॥

पुत्रेण लोकान्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते । अथ पुत्रस्य पौत्रेण  
ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥ १३७ ॥ पुन्नाम्नोनरकादस्मात्त्रायते  
पितरं सुतः । तस्मात्पुत्रइति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥१३८॥

अर्थ-पुत्र के होने से लोकों को जीतता और पौत्र के होने से चिरकाल पर्यन्त सुख में निवास करता है । और पुत्र के पौत्र (प्रपौत्र) से तो मानों आदित्यलोक को पाता है ॥१३७॥ जिस कारण पुन्नास नरक से पुत्र (सेवा करके) पिता को बचाता है, इस कारण आप ही ब्रह्मा ने “पुत्र” कहा है ॥ १३८ ॥ पौत्रदौहित्रयोर्लोक विशेषो नोपपद्यते । दौहित्रोपि ह्यमुत्रैनं संतारयति पौत्रवत् ॥१३९॥ मातुः प्रथमतः पिण्डं निर्वपेत्पुत्रिकासुतः । द्वितीयं तु पितुस्तस्यास्तृतीयं तत्पितुः पितुः ॥१४०॥

अर्थ-लोक में पौत्र और दौहित्र में कुछ विशेषता नहीं समझी जाती । क्योंकि दौहित्र भी इस (मातामह) को पौत्रवत् ही परलोक पहुंचाता है ॥१३९॥ पुत्रिका का पुत्र, प्रथम माता का पिण्ड करे और दूसरा मातामह का, तीसरा मातामह के पिता का (इस प्रकार तीनों की अन्नादि से सेवा करे) ॥१४०॥ उपपन्नोगुणैः सर्वैः पुत्रो यस्य तु दत्त्रिमः । स हरेतैव तद्विषयं संप्राप्नोऽप्यन्यगोत्रतः ॥१४१॥ गोत्रविषये जनयितुर्न हरेद्दत्त्रिमः कश्चित् । गोत्रविषयानुगः पिण्डोव्यपैति ददतः स्वधा ॥१४२॥



अर्थ-जिस का दत्तक पुत्र (अध्ययनादि) सम्पूर्ण गुणों से युक्त है, वह दूसरे गोत्र से प्राप्त हुवा भी उस के भाग को ग्रहण करे ॥१४१॥ (जो उत्पादक पिता ने अन्य को दे दिया उस) उत्पन्न करने वाले पिता के गोत्र और धन को दत्तक कभी न पावे, क्योंकि पिण्ड=यास आदि देना ही गोत्र और धन का अनुगामी है और दिये हुवे पुत्र का पिण्डादि उस जनक पिता से छूट जाता है ॥१४२॥ अनियुक्तासुतश्चैव पुत्रिण्याप्सश्चदेवरात् । उभौ तौ नार्हन्तोभागं जारजातककामजौ ॥१४३॥ नियुक्तायामपि पुमान्नार्यां जातोऽविधानतः । नैवार्हः पैतृकं रिक्थं पतितोत्पादितो हि सः ॥१४४॥

अर्थ-विना नियोगविधि से उत्पन्न हुवा पुत्र और लहके वाली का नियोगविधि से भी देवर से उत्पन्न हुवा पुत्र, ये दोनों भाग को नहीं पाते । क्योंकि ये दोनों जार से उत्पन्न और कामज हैं ॥१४३॥ नियुक्ता स्त्री में भी विना विधान उत्पन्न हुवा पुत्र ( अर्थात् पृतादि लगाकर जिस नियम से रहना चाहिये, उस को विपरीत करने वालों से उत्पन्न पुत्र ) क्षेत्रवाले पिता के धन को पाने योग्य नहीं है । क्योंकि वह पतित से उत्पन्न हुवा है ॥ १४४ ॥

हरेत्तत्र नियुक्तायां जातः पुत्रो यथौरसः । क्षेत्रिकस्य तु तद्वीजं धर्मतः प्रसवश्च सः ॥१४५॥ धनं यो विभृयाद्भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेव च । सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पादा ददात्तस्यैव तद्वनम् ॥ १४६ ॥

अर्थ-नियुक्ता में उत्पन्न हुवा पुत्र, क्षेत्रवाले पिता का धन लेवे, जैसे औरस पुत्र लेता है क्योंकि वह धर्म से उत्पन्न हुवा, इस कारण क्षेत्रवाले का बीज समझा जाता है ॥१४५॥ जो मरे भाई की स्त्री तथा धन का धारण करे वह (नियोगविधि से) भाई का पुत्र उत्पन्न करके उस धन को उसी को दे देवे ॥१४६॥

याऽनियुक्ताऽन्यतः पुत्रं देवराद्वाऽप्यऽवामुयात् ।

तं कामजमऽरिक्थीयं वृषोत्पन्नं प्रचक्षते ॥ १४७ ॥

“ एतद्विधानं विज्ञेयं विभागस्यैकयोनिषु ।

बह्वीषु चैकजातानां नानास्त्रीषु निबोधत ॥१४८॥ ”

अर्थ-जो स्त्री विना नियोग देवर से वा दूसरे से पुत्र को प्राप्त हो, उस कामज को द्रव्य का भागी नहीं कहते ॥१४७॥ “समान जाति वाली भार्या में



एक पति से उत्पन्न पुत्रों के विभाग का यह विधान जानना चाहिये । अब जाना जाति की बहुत स्त्रियों में एक पति से उत्पन्न पुत्रों का (विभाग) सुनी १४८ "

"ब्राह्मणस्यानुपूर्व्येण चतस्रस्तु यदि स्त्रियः । तासां पुत्रेषु जातेषु विभागेऽयं विधिः स्मृतः ॥ १४९ ॥ कीनाशोगोवृषोयानमलङ्कारश्च वेश्म च । विप्रस्यौद्धारिकं देयमेकांशश्च प्रधानतः ॥ १५० ॥ "

"अर्थ—ब्राह्मण की कम से (ब्राह्मणी से आदि लेके) यदि चार भार्या होवें तो उन के पुत्रों में यह विभाग विधि कही है किः—॥ १४९ ॥ कृषिवाला बैल, अश्ववादि सवारी, आसूषण, घर और प्रधान अंश, प्रधानभूत ब्राह्मणी के पुत्र को देवे (औरों को आगे कहे अनुसार दे) ॥ १५० ॥ "

"अयंशं दायद्वारेद्विप्रोद्वावंशौ क्षत्रियासुतः । वैश्याजः सार्धमेवांश-मंशं शूद्रासुतोहरेत् ॥ १५१ ॥ सर्वं वा रिक्थजातं तदशधा परिकल्प्य च । धर्म्यं विभागं कुर्वीत विधिनाऽनेन धर्मवित् ॥ १५२ ॥

"अर्थ—पिता के धन से ब्राह्मणी का पुत्र तीन अंश लेवे और क्षत्रिया का सुत दो अंश तथा वैश्या का पुत्र डेढ़ अंश और शूद्रा का एक अंश लेवे ॥ १५१ ॥ अथवा ( धिमा चहार के निकाले ) संपूर्ण धन के दश भाग करके धर्म का जानने वाला इस विधि से धर्म्य विभाग करे किः—॥ १५२ ॥ "

"चतुरोशान्हरेद्विप्रस्त्रीनिशान्क्षत्रियासुतः । वैश्यापुत्रोहरेद्द्वयंश-मंशं शूद्रासुतोहरेत् ॥ १५३ ॥ यद्यपि स्यात्तु सत्पुत्रोऽप्यसत्पुत्रोऽपि वा भवेत् । नाधिकं दशमादद्याच्छूद्रापुत्राय धर्मतः ॥ १५४ ॥ "

"अर्थ—(१० भागों में से) चार अंश ब्राह्मणी का पुत्र और क्षत्रिया का तीन अंश तथा वैश्या का पुत्र दो अंश और शूद्रा का पुत्र एक अंश ले ॥ १५३ ॥ यद्यपि सत्पुत्र हो वा असत्पुत्र हो परन्तु धर्म से शूद्रा के पुत्र को दशमांश से अधिक न दे ॥ १५४ ॥ "

"ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्रापुत्रो न रिक्थभाक् । यदेवास्य पिता दद्यात्तदेवास्य धनं भवेत् ॥ १५५ ॥ समवर्णासु ये जाताः सर्वेपुत्रा द्विजन्मनाम् । उद्धारं ज्यायसे दत्त्वा भजैरन्नितरे समम् १५६ "



“अर्थ-ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों का शूद्रा से उत्पन्न हुआ पुत्र धन का भागी नहीं, किन्तु जो कुछ उस का पिता देदे, वही उस का धन हो ॥१५५॥ समान जाति की भार्या में द्विजातियों से उत्पन्न हुवे सब पुत्र ज्येष्ठ को उद्धार देकर शेष को सम भाग करके बांट लें ॥ १५६ ॥”

“शूद्रस्य तु सवर्णैव नान्या भार्या विधीयते । तस्यां जाताः समांशाः स्युर्यदि पुत्रशतं भवेत् ॥१५७॥ पुत्रान् द्वादश यानाह नृणां स्वायं-भुवोमनुः । तेषां षड् बन्धुदायादाः षडऽदायादवान्धवाः ॥१५८॥”

“अर्थ-शूद्र को समान जाति ही की भार्या कही है, दूसरे वर्ण की नहीं कही । उस शूद्र में यदि १०० पुत्र भी उत्पन्न हों तो भी समान अंश वाले ही हों ॥ १५७ ॥ जो मनुष्यों के द्वादश पुत्र स्वायम्भुव मनु ने कहे हैं उन में छः बन्धुदायाद हैं और छः अदायाद बान्धव हैं ॥”

( १४८ से १५८ तक ११ श्लोक भी हमारी समिति में असान्य हैं । क्योंकि यथार्थ में मनु की आज्ञा से द्विजों को सवर्णा से ही विवाह कहा है । अस-वर्णा से विवाह करने पर पतित हो जाते हैं । तब ब्राह्मणत्वादि द्विजत्व ही नहीं रहता । १४८ में इन असवर्णाओं के दायभाग की प्रस्तावना है । १४९ से १५४ तक ब्राह्मण की ४ स्त्रियों के, जो चारों वर्णों में से एक २ हों, पुत्रों का दायभाग है । फिर १५५ में शूद्रापुत्र को दायभागित्व का निषेध करके ये असान्य श्लोक आपस में भी लड़ते हैं । तथा ब्राह्मण की चारों वर्ण की ४ स्त्रियों के पुत्रों का ती वर्णन किया, परन्तु क्षत्रिय की ३ वर्ण की ३ स्त्रियों और वैश्य की २ वर्ण की २ स्त्रियों के पुत्र कोरंकोर ही रखे हैं । १५८ वां स्पष्ट ही अन्यकृत है जो इन अपने से पूर्व छे १० के भी अन्यकृत होने की पुष्टि करता है ) ॥ १५८ ॥”

औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिमएव च । गूढोत्पन्नोऽपविदुश्च दायादावान्धवाश्च षट् ॥१५९॥ कानीनश्च सहोदश्च क्रीतः पौन-र्भवस्तथा । स्वयंदत्तश्च शूद्रश्च षडऽदायादवान्धवाः ॥१६०॥

अर्थ-औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूढोत्पन्न, अपविदुः ये छः धन के भागी बान्धव हैं ॥१५९॥ कानीन, सहोद, क्रीत, पौनर्भव, स्वयंदत्त और शूद्र; ये छः धन के भागी नहीं किन्तु केवल बान्धव हैं (इन के लक्षण १६६ से कहेंगे) ॥१६०॥ यादृशं फलमाप्नोति कुप्लवैः संतरज्जलम् । तादृशं फलमाप्नोति



कुपुत्रैः संतरंस्तमः ॥ १६१ ॥ यद्वेकरिविधिनौ स्यातामौरसक्षेत्रजौ  
सुतौ । यस्य यत्पैतृकं रिक्थं स तद् गृह्णीत नेतरः ॥ १६२ ॥

अर्थ-बुरी (टूटी फूटी) नावों से जल में तरता हुवा जिस प्रकार के फल  
को पाता है, उसी प्रकार का फल कुपुत्रों से दुःख को तिरने वाला पाता है  
॥ १६१ ॥ यदि अपुत्र के क्षेत्र में नियोगविधि से एक पुत्र हो, और किसी प्रकार  
दूसरा औरस पुत्र भी होजावे तो दोनों अपने २ पिता के धन को ग्रहण करें,  
अन्य को अन्य का पुत्र न ले ॥ १६२ ॥

एकएवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः । शेषाणामानृशंस्यार्थं  
प्रदद्यात्तु प्रजीवनम् ॥ १६३ ॥ पष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृका-  
दुनात् । औरसो विभजन्दायं पित्र्यं पञ्चममेव वा ॥ १६४ ॥

अर्थ-एक औरस पुत्र ही पिता के धन का भागी होता है, शेष सब को  
दया से भोजन वस्त्रादि देदेवे ॥ १६३ ॥ औरस पुत्र दाय का विभाग करता  
हुवा, क्षेत्रज को छठा वा पांचवां भाग पितृधन से देदेवे ॥ १६४ ॥

औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ पितृरिक्थस्य भागिनौ । दशापरे तु क्रमशो  
गोत्ररिक्थांशभागिनः ॥ १६५ ॥ स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पा-  
येद्दि यम् । तमौरसं विजानीयात्पुत्रं प्रथमकल्पितम् ॥ १६६ ॥

अर्थ-औरस और क्षेत्रज ये दोनों पुत्र (उक्त प्रकार से) पितृधन के लेने  
वाले हों और क्रमशः शेष दश पुत्र गोत्रधन के भागी हों ॥ १६५ ॥ विवाहादि  
संस्कार किये हुवे अपने क्षेत्र में आप जिस को उत्पन्न करे, उस को पहिले  
कहा हुवा "औरस" पुत्र जानिये ॥ १६६ ॥

यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा । स्वधर्मेण नियु-  
क्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः ॥ १६७ ॥ मातापितावाददातां यमद्विः  
पुत्रमापदि । सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयोदत्तमः सुतः ॥ १६८ ॥

अर्थ-जो मृतक वा नपुंसक वा प्रसवविरोधी व्याधि से युक्त की स्त्री में  
नियोगविधि से उत्पन्न होवे वह "क्षेत्रज" पुत्र कहा है ॥ १६७ ॥ माता वा  
पिता आपत्काल में जिस समान जाति वाले प्रीतियुक्त पुत्र को संकल्प करके  
देदे, वह "दत्तम" पुत्र (दत्तक) जानने योग्य है ॥ १६८ ॥



सदृशं तु प्रकुर्यादं गुणदोषविचक्षणम् । पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं  
सविज्ञेयश्च कृत्रिमः ॥१६९॥ उत्पद्यते गृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्य  
सः । स गृहे गूढउत्पन्नस्तस्य स्यादस्य तल्पजः ॥ १७० ॥

अर्थ-जो समान जाति वाला और गुण दोष का जानने वाला तथा पुत्र  
के गुणों से युक्त पुत्र कर लिया जावे उस को "कृत्रिम" पुत्र जानना चाहिये  
॥१६९॥ जिस के घर में उत्पन्न होवे और न जाना जाय कि वह किस का है,  
वह घर में "गूढोत्पन्न" उस का पुत्र है, जिस की कि स्त्री ने जना है ॥१७०॥

मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोश्चन्यतरेण वा । यं पुत्रं परिगृह्णीया-  
दपविदुः स उच्यते ॥१७१॥ पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनये-  
द्रहः । तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्रवम् ॥ १७२ ॥

अर्थ-जो माता पिता का अथवा उन दोनों में से किसी एक का छोड़ा  
हुया है, उस पुत्र को जो ग्रहण करे, उस को उस का "अपविदुः" पुत्र कहते  
हैं ॥ १७१ ॥ पिता के घर में जो कन्या बिना प्रकट किये पुत्र को जने, उस  
कन्योत्पन्न को उस के पति का "कानीन" पुत्र नाम से कहें ॥ १७२ ॥

यागर्भिणीसंस्क्रियते ज्ञाताऽज्ञातापि वा सती । वोढुः सगर्भी भवति  
सहोढ इति चोच्यते ॥१७३॥ क्रीणीयादस्त्वपत्यार्थं मातापित्रो-  
र्यमन्तिकात् । स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा ॥१७४॥

अर्थ-जो ज्ञात वा अज्ञात गर्भिणी के साथ विवाह किया जावे, वह  
उसी पति का गर्भ है और उस को "सहोढ" कहते हैं ॥ १७३ ॥ सन्तान  
चलाने के लिये माता पिता के पास से जिसे मोल लेलेवे, वह उस के सदृश  
हो वा असदृश हो, उस को उस का "क्रीतक" पुत्र कहते हैं ॥ १७४ ॥

यापत्यावापरित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया । उत्पादयेत्पुनर्भू-  
त्वा सपौनर्भव उच्यते ॥१७५॥ सा चेदक्षतयोनिः स्याद् गतप्रत्या-  
गतापि वा । पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥१७६॥

अर्थ-जो पति की छोड़ी हुई वा विधवा स्त्री अपनी इच्छा से दूसरे  
की भार्या होकर पुत्र को जने उस को "पौनर्भव", पुत्र कहते हैं ॥ १७५ ॥  
वह स्त्री यदि पूर्वपुरुष से संयुक्त न हुई हो तो दूसरे पौनर्भव पति से फिर



विवाह संस्कार करने के योग्य है । ( अथवा फिर से उसी के पास जावे तो भी पुनः विवाहसंस्कार करना योग्य है ) ॥ १७६ ॥

मातापितृविहीनोयस्त्यक्तोवास्यादकारणात् । आत्मानंरुपर्शये-  
दास्मै स्वयंदत्तस्तुसस्मृतः ॥ १७७ ॥ यं ब्राह्मणस्तुशूद्रायांकामादु-  
त्पादयेत्सुतम् । स पारशब्देव शवस्तस्मात्पारशवःस्मृतः ॥ १७८ ॥

अर्थ-जो माता पिता से हीन या घिना अपराध निकाला हुआ अपने को जिसे देदे, वह " स्वयंदत्त " कहा है ॥ १७७ ॥ जिस को ब्राह्मण शूद्रा में काम से उत्पन्न करे वह जीता हुआ भी शव ( स्मृतक ) के तुल्य है, इस से उस को " पारशव " ( या " शौद्र " ) कहा है ॥ १७८ ॥

दास्यांवादासदास्यांवा यः शूद्रस्य सुतोभवेत् । सोऽनुज्ञातोहरेदंश-  
मिति धर्माव्यवस्थितः ॥ १७९ ॥ क्षेत्रजादीन्सुतानेतानेकादश  
यथोदितान् । पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान्मनीषिणः ॥ १८० ॥

अर्थ-दासी में वा दास की स्त्री में जो शूद्र का पुत्र हो वह ( पिता की आज्ञा से ) भाग लेवे । यह शास्त्र की मर्यादा है ॥ १७९ ॥ इन उक्त क्षेत्रजादि एकादश पुत्रों की ( सेवादि ) क्रिया का लोप न हो, इस कारण पुत्र का प्रतिनिधि बुद्धिमानों ने कहा है ॥ १८० ॥

यएतेऽभिहिताः पुत्राः प्रसङ्गादन्यबीजजाः । यस्यतेबीजतोजाता  
स्तस्य ते नेतरस्य तु ॥ १८१ ॥ भ्रातृणामेकजातानामेकश्चेत्पुत्र-  
वान्भवेत् । सर्वास्तांस्तेन पुत्रेण पुत्रिणोमनुरव्रवीत् ॥ १८२ ॥

अर्थ-जो ये ( औरस स्त्री ) प्रसङ्ग से दूसरे के बीज से उत्पन्न हुवे पुत्र कहे हैं, वे जिस के बीज से उत्पन्न हुवे हों उसी के हैं, दूसरे के नहीं ॥ १८१ ॥ सहोदर भाइयों में एक भाई भी पुत्रवान् हो तो उन सब को पुत्रवाला ( मुक्त ) मनु ने कहा है ( अर्थात् अन्य भाइयों को नियोग वा पुनर्विवाहादि नहीं करना चाहिये ) ॥ १८२ ॥

सर्वासामेकपत्नीनामेकाचेत्पुत्रिणीभवेत् । सर्वास्तास्तेन पुत्रेण  
प्राह पुत्रवतीर्मनुः ॥ १८३ ॥ श्रेयसः श्रेयसोऽलाभे पापीयान्  
रिक्थमर्हति । बहवश्चेत्तु सदृशाः सर्वे रिक्थस्य भागिनः ॥ १८३ ॥



अर्थ-एक पुरुष की कई स्त्रियों में यदि एक पुत्र वाली हो तो उस पुत्र से उन सब को ( सुभ्र ) मनु ने पुत्र वाली कहा है ॥ १८३ ॥ औरसादि पुत्रों में पूर्व २ के अभाव में दूसरे २ नीच पुत्र धन को पाने योग्य हैं और यदि बहुत से समान हों तो सब धन के भागी होंगे ॥ १८४ ॥

न भ्रातरोन पितरः पुत्रारिक्थहराःपितुः । पिता हरेदऽपुत्रस्य रिक्थं भ्रातरएव च ॥ १८५ ॥ त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्तते । चतुर्थः संप्रदातैषां पञ्चमोनोपपद्यते ॥ १८६ ॥

अर्थ-न सहोदर भाई, न पिता धन को लेने वाले हैं किन्तु पुत्र ही धन के लेने वाले हैं, परन्तु अपुत्र का धन पिता और भाई छे लेंगे ॥ १८५ ॥ पित्रादि तीनों को जल और पिण्ड (भोजन देवे, चौथा पिण्ड वा उदक का देने वाला है। पाँचवें का यहां (सेवादि कार्य में) सम्बन्ध ही नहीं हो सक्ता ॥ १८६ ॥

( १८६ से आगे यह श्लोक केवल एक पुस्तक में ही मिलता है, अनुमान है कि अन्यो में से जाता रहा:-

[असुतास्तु पितुः पत्न्यः समानांशाः प्रकीर्तिताः ।

पितामहश्च ताः सर्वा मातृकल्पाः प्रकीर्तिताः ]

अर्थात्-अपने पिता की जो अन्य अपुत्र भार्या (अपनी मासी) हों वे सब समान अंश की भागिनी हैं और पितामही भी । ये सब माता के समान ही ही कही हैं ) ॥ १८६ ॥

अनन्तरःसपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत् । अत ऊर्ध्वं सकुल्यः स्यादाचार्यःशिष्यएव वा ॥ १८७ ॥ सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणारिक्थभागिनः।त्रैविद्याःशुचयोदान्तास्तथा धर्मान्हीयते १८८

अर्थ-सपिण्डों में जो २ बहुत समीपी हो, उस २ का धन हो और इस के उपरान्त ( सपिण्ड न हो तो ) आचार्य, इस के अनन्तर शिष्य धनभागी हो ॥ १८७ ॥ और यदि ये भी न हों तो उस धन के भागी ब्राह्मण हैं । वे ब्राह्मण वेदत्रय के जानने वाले और पवित्र तथा जितेन्द्रिय हों तो धर्म नष्ट नहीं होता ॥ १८८ ॥ अहार्यंब्राह्मणद्रव्यं राज्ञानित्यमितिस्थितिः । इतरेषांतुवर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृपः ॥ १८९ ॥ संस्थितस्थानपत्यस्य सगोत्रात्पुत्रमाहरेत् । तत्र यद्विक्थजातं स्यात्तत्तस्मिन्प्रतिपादयेत् ॥ १९० ॥



अर्थ ब्राह्मण का धन राजा कभी भी न ले । यह शास्त्र की नित्य मर्यादा है ( अर्थात् बेवारिस ब्राह्मण का धन ब्राह्मणों ही को देदेवे ) अन्य सब वर्गों का धन दायभागी न हो तौ राजा ले लेवे ॥ १८९ ॥ राजा, अपुत्र सरे ब्राह्मण की सन्तति के लिये समान गोत्र वाले से पुत्र दिला कर उस ब्राह्मण का जो कुछ धन हो वह उस पुत्र को देदेवे ॥ १९० ॥

द्वौतुयौविवदेयातां द्वाभ्यांजातौस्त्रियाधने । तथोर्यदस्यपित्र्यं स्यात्तत्स गृह्णीतनेतरः ॥ १९१ ॥ जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः । भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः ॥ १९२ ॥

अर्थ दो पिताओं से एक माता में उत्पन्न हुवे दो पुत्र यदि स्त्रीधन के लिये लड़ें, तौ उन में जो जिस के पिता का धन हो, वह उस को ग्रहण करे अन्य न लेवे ॥ १९१ ॥ माता के मरने पर सब सहोदर भाई और सहोदरा भगिनी मिल कर मातृधन को बराबर बांट लेवें ॥ १९२ ॥

यास्तासांस्युर्दुहितरस्तासामपियथार्हतः । मातामह्याधनात्किञ्चित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम् ॥ १९३ ॥ अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तंच प्रीतिकर्मणि । भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥ १९४ ॥

अर्थ-उन लड़कियों की जो ( अविवाहिता ) कन्या हों उन को भी यथायोग्य मातामही के धन से प्रीतिपूर्वक थोड़ा सा धन देना चाहिये ॥ १९३ ॥ १ विवाह काल में अग्नि के सन्निधि में पित्रादिका दिया हुआ धन, २ बुलाकर दिया हुआ, ३ प्रीतिकर्म में तथा समयान्तर में पति का दिया हुआ, ४ पिता ५ भ्राता ६ माता से पाया हुआ । यह ६ प्रकार का स्त्रीधन कहा है ॥ १९४ ॥

अन्वाधेयंच यदुत्तं पत्याप्रीतेन चैव यत् । पत्यौ जीवति वृत्तायाः प्रजायास्तद्वनं भवेत् ॥ १९५ ॥ ब्राह्मदैवार्षगान्धर्वप्राजापत्येषु यद्वसु । अप्रजायामतीतायां भर्तुरेव तदिष्यते ॥ १९६ ॥

अर्थ-( विवाह के ऊपर पति के कुल में स्त्री जो धन पावे वह ) अन्वाधेय धन और जो पति ने प्रीतिकर्म में दिया हो, पति के जीते हुवे मरी स्त्री का वह सम्पूर्ण धन, सन्तान का हो ॥ १९५ ॥ ब्राह्म, दैव, आर्ष, गान्धर्व और प्राजापत्य, इन पांच प्रकार के विवाहों में जो ( स्त्रियों का छः प्रकार का ) धन है वह अपुत्रा स्त्री के मरने पर पति का ही कहा है ॥ १९६ ॥



यत्त्वस्याः स्याद्वनं दत्तं विवाहेष्वासुरादिषु । अप्रजायामती-  
तायां मातापित्रोस्तदिष्यते ॥१९७॥ स्त्रियां तु यद्वेद्वित्तं पित्रा  
दत्तं कथञ्चन । ब्राह्मणी तदुरेत्कन्या तदपत्यस्य वा भवेत् ॥१९८॥

अर्थ-परन्तु आसुरादि ( ३ ) विवाहों में जो स्त्री को दिया धन है, उस स्त्री के अपुत्रा मरने पर वह (धन) माता पिता का है ॥१९७॥ स्त्री के पास जो कुछ धन किसी प्रकार पिता का दिया हो, वह उसकी ब्राह्मणी कन्या ग्रहण करे, अथवा उसकी सन्तान का हो जावे ॥ १९८ ॥

न निर्हारं स्त्रियः कुर्युः कुटुम्बाद्बहुमध्यगात् । स्वकादपि च वित्तादि  
स्वस्य भर्तुरनाज्ञया ॥१९९॥ पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलङ्कारो  
धृतो भवेत् । न तं भजेरन्दायादा भजमानाः पतन्ति ते ॥२००॥

अर्थ-बहुत कुटुम्ब के धन से स्त्रियें धनसञ्चय ( कोरचा ) न करें और न अपने धन से विना पति की आज्ञा अलङ्कारादि ( कोरचा ) करें ॥ १९९ ॥ पति के जीवते हुवे ( उसकी सम्मति से ) जो कुछ अलङ्कार स्त्रियों ने धारण किया हो, उसको ( पति के मरने पर ) दायाद लोग न बांटें । जो उसको बांटते हैं वे पतित होते हैं ॥ २०० ॥

अनंशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा । उन्मत्तजडमूकाश्च  
ये च केचिन्निरिन्द्रियाः ॥२०१॥ सर्वेषामपितुन्यायं दातुं शक्त्या  
मनीषिणा । ग्रासाच्छादनमत्यन्तं पतितो ह्यददद्भवेत् ॥२०२॥

अर्थ-नपुंसक, पतित, जन्मान्ध, बधिर, उन्मत्त, जड़, मूक और जो कोई जन्म से निरिन्द्रिय हों; ये सब ( पिता के धन के ) भागी नहीं हैं ॥२०१॥ इन सब ( नपुंसकादि ) की आयुःपर्यन्त न्याय से अन्न वस्त्र यथाशक्ति शास्त्र के जानने वाले धर्मस्वामी को देना चाहिये । यदि न देवे तो पतित हो ॥२०२॥

यदार्थिता तु दारैः स्यात्क्लीबादीनां कथञ्चन । तेषामुत्पन्नसन्तूना-  
मपत्यं दायमर्हति ॥२०३॥ यत्किञ्चित्पितरि प्रेते धनं ज्येष्ठोऽधि-  
गच्छति । भागो यवीयसां तत्र यदि विद्यानुपालितः ॥ २०४ ॥

अर्थ-यदि कदाचित् नपुंसक को छोड़ कर (अतद्गुणसंविज्ञान बहुब्रीहि समास जानो) पतितादि की विवाह करने की इच्छा हो तो उन सन्तान वालों



के सन्तान धन के भागी हैं ॥२०३॥ पिता के मरने पर ज्येष्ठ पुत्र जो कुछ धन पावे, यदि छोटा भाई विद्वान् हो तो उस में भी उन में से उस का भाग है ॥२०४॥  
अविद्यानां तु सर्वेषामीहातश्चेद्वनं भवेत् । समस्तत्र विभागः  
स्यादपित्र्यइति धारणा ॥२०५॥ विद्याधनं तु यदस्य तत्तस्यैव  
धनं भवेत् । मैत्र्यमौद्वाहिकं चैव माधुपर्किकमेव च ॥२०६॥

अर्थ—सब विद्वान् भाइयों का यदि कृषि वाणिज्यादि से कमाया हुआ धन हो तो उस में पिता के कमाये धन को छोड़कर सम विभाग करें (अर्थात् ज्येष्ठ को कुछ निकाल कर देवें) यह निश्चय है ॥ २०५ ॥ विद्या, मैत्री, विवाह; इन से सम्पादित और माधुपर्कदान के काल में प्राप्त धन जिस को मिला हो उसी का हो ॥ २०६ ॥

भ्रातृणां यस्तु नेहेत धनं शक्तः स्वकर्मणा । सनिर्भाज्यः स्वका-  
दंशात्किञ्चिद्द्रव्योपजीवनम् ॥२०७॥ अनुपन्ननिपतद्रव्यं श्रमेण  
यदुपार्जितम् । स्वयमीहितलब्धं तन्नाकामोदातुमर्हति ॥२०८॥

अर्थ—जो अपने पुरुषार्थ से धन कमा सकता है और भाइयों के साधारण धनों को नहीं चाहता, उस को अपने भाग में से कुछ निर्वाहयोग्य धन देकर अलग करें (जिस से सब भाइयों के सामूले कमाये धन में उस भाग न चाहने वाले के पुत्रादि झगडा न करें) ॥२०७॥ पिता के धन को न गसाता हुआ अपने श्रम से जो धन उपार्जित करे, वह धन न चाहे तो भाइयों को न दे ॥२०८॥  
पैत्रिकं तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात् । न तत्पुत्रैर्भजेत्सार्ध-  
मकामः स्वयमर्जितम् ॥२०९॥ विभक्ताः सह जीवन्तो विभजेरन्  
पुनर्यदि । समस्तत्र विभागः स्याज्जयैष्ठ्यं तत्र न विद्यते ॥२१०॥

अर्थ—पिता अपने न पाये हुवे पैत्रिक द्रव्य को यदि फिर बड़े परिश्रम से पावे तो बिना इच्छा के उस अपने कमाये धन को पुत्रों को न बांटे ॥२०९॥ पहिले अलग हुवे हों और पश्चात् एकत्र हो व्यापारादि करते रहें और फिर यदि विभाग करें तो उस में सम विभाग ही, उस में बड़े का उद्धार नहीं है ॥२१०॥  
येषां ज्येष्ठः कनिष्ठोवा हीयेतांशप्रदानतः । श्रियेतान्यतरोवापि  
तस्य भागोन लुप्यते ॥२११॥ सोदर्याविभजेरंस्तं समेत्य सहिताः



समम् । भ्रातरोये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभयः ॥ २१२ ॥

अर्थ-जिन भाइयों के बीच में कोई छोटा वा बड़ा भाई विभागकाल में संन्यासादि कारण से अपने अंग से छूट जावे अथवा मरजावे तो उस का भाग लुप्त न होगा ॥ २११ ॥ किन्तु सहोदर भाई और सहोदर भगिनी और जो मिले हुए भाई हैं वे भी सब मिलकर उन में सनाभ विभाग कर लें ॥ २१२ ॥

योज्येष्टो विनिकुर्वीत लोभाद्भातृन्यवीयसः । सोऽज्येष्ठः स्याद्भागश्च नियन्तव्यश्च राजभिः ॥ २१३ ॥ सर्वएव विकर्मस्था नार्हन्ति भ्रातरो धनम् । न चादत्त्वा कनिष्ठेभ्यो ज्येष्ठः कुर्वीत यौतकम् ॥ २१४ ॥

अर्थ-जो ज्येष्ठ भ्राता लोभ से कनिष्ठ भाइयों की वञ्चना ( ठगई ) करे, वह ज्येष्ठ भ्राता अपने ( ज्येष्ठ ) भाग से रहित और राजों के दण्ड योग्य होवे ॥ २१३ ॥ विरुद्ध कर्म करने वाले सब भाई धन का भाग पाने योग्य नहीं और ज्येष्ठ, कनिष्ठों को न देकर कोरबा न करे ॥ २१४ ॥

भ्रातृणामविभक्तानां यद्युत्थानं भवेत्सह । न पुत्रभागं विषमं पिता दद्यात्कथञ्चन ॥ २१५ ॥ ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद्गुणम् । संसृष्टास्तेन वा ये स्युर्विभजेत स तैः सह ॥ २१६ ॥

अर्थ-भाइयों के साथ रहने वाले सांझले भाई यदि ( धन के उपार्जन को ) साथ ही उत्थान करें तो विभागकाल में पिता पुत्रों का विषम विभाग कभी न करे ॥ २१५ ॥ ( यदि जीवते ही पिता ने पुत्रों की इच्छा से विभाग कर दिया हो ) उस विभाग के पश्चात् पुत्र उत्पन्न हुवा, तो वह पुत्र पिता ही का भाग लेवे अथवा जो फिर से पिता के साथ रहते हों, उन के साथ विभाग करे ॥ २१६ ॥

अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् । मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्गुणम् ॥ २१७ ॥ ऋणे धनं च सर्वस्मिन्प्रविभक्ते यथाविधि । पश्चाद् दृश्येत यत्किञ्चित्तत्सर्वं समतां नयेत् ॥ २१८ ॥

अर्थ-सन्तानरहित पुत्र का दाय माता ग्रहण करे और माता के भी मरने पर पिता की माता ग्रहण करे ॥ २१७ ॥ ऋण और धन सब में यथाशास्त्र विभाग हो जाने पर पीछे से जो कुछ पता लगे तो उस सब को भी बराबर बांट लें ( अर्थात् पता लगाने का वा ज्येष्ठ का उद्धार देना योग्य नहीं है ) ॥ २१८ ॥



वस्त्रं पत्रमलङ्कारं कृतान्नमुदकं स्त्रियः । यौगक्षेमं प्रचारं च न  
विभाज्यं प्रचक्षते ॥२१९॥ अयमुक्तो विभागो यः पुत्राणां च क्रिया-  
विधिः । क्रमशः क्षेत्रजादीनां द्यूतधर्मं निबोधत ॥ २२० ॥

अर्थ-वस्त्र, वाहन, आभरण और पकाया हुआ अन्न, पानी (कूपादि) तथा स्त्री और निर्वाह की अत्यन्तोपयोगी वस्तु और प्रचार (मार्ग) ये विभाग योग्य नहीं हैं (अर्थात् जो जिस के काम में जिस प्रकार आरहा है, वही उसे वैसे ही रखे) ॥२१९॥ यह क्षेत्रजादि पुत्रों का क्रम से विभाग करने का प्रकार और क्रियाविधान तुम्हारे प्रति कहा । अब आगे द्यूतधर्म की सुनो ॥२२०॥

द्यूतं समाह्वयं चैव राजाराष्ट्रान्निवारयेत् । राज्यान्तकरणावेतौ  
द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम् ॥२२१॥ प्रकाशमेतत्तात्पर्यं यद्वेदन-  
समाह्वयौ । तयोर्नित्यं प्रतीघाते नृपतिर्यत्नवान्भवेत् ॥२२२॥

अर्थ-द्यूत और समाह्वय (देखो २२३) को राजा राज्य में न होने देवे क्योंकि ये दोनों दोष राजाओं के राज्य का नाश करने वाले हैं ॥२२१॥ ये द्यूत और समाह्वय प्रकट चौर्य हैं । इन के दूर करने में राजा नित्य यत्न वाला होवे ॥२२२॥

अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते । प्राणिभिः क्रियते यस्तु  
स विज्ञेयः समाह्वयः ॥२२३॥ द्यूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात्कारयेत्  
वा । तान्सर्वान्घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः ॥ २२४ ॥

अर्थ-(कौड़ी फांसा इत्यादि) बेजान वस्तुओं से जो हार जीत होती है उस को "द्यूत" कहते हैं और (मेंढा मुर्गा इत्यादि) प्राणियों से जो हार जीत होती है उस को "समाह्वय" नामना चाहिये ॥२२३॥ द्यूत और समाह्वय को जो करे वा करावे, उन सब को राजा मरवा देवे (वा अन्य देह दण्ड देवे) और यज्ञोपवीतादि द्विजचिह्न धारण करने वाले शूद्रों को भी यही दण्ड देवे ॥२२४॥

कितवान्कुशीलवान्क्रूरान्पाषण्डस्यांश्च मानवान् । विकर्मस्थान्  
शौण्डिकांश्च क्षिप्रं निर्वासयेत्पुरात् २२५ एते राष्ट्रे वर्तमाना राज्ञः  
प्रच्छन्नतरकराः । विकर्मक्रिययानित्यं बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः २२६



अर्थ-जुवारी, धूर्त, क्रूरता करने वाले, पाषण्डी, विरुद्ध कर्म करने वाले तथा शराबी मनुष्यों को राजा शीघ्र नगर से निकाल देवे ॥२२५॥ क्योंकि राजा के राज्य में ये छिपे चोर रहते हुवे, कुकर्म से सली प्रजाओं को पीड़ा देते हैं ॥२२६॥  
 द्यूतमेतत्पुराकल्पे दृष्टं वैरकरं महद् । तस्माद् द्यूतं न सेवेत  
 हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥२२७॥ प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा तन्निषेवेत  
 योनरः । तस्य दण्डविकल्पः स्याद्यथेष्टं नृपतेस्तथा ॥२२८॥

अर्थ-यह द्यूत पहिले कल्प में बड़ा वैर बढ़ाने वाला देखा गया है, इस कारण बुद्धिमान् हास्यार्थ भी द्यूत न खेले ॥२२७॥ जो मनुष्य इस जुवे को गुप्त वा प्रकट खेले उस के दण्ड का विकल्प जैसी राजा की इच्छा हो वैसा करे ॥२२८॥  
 क्षत्रविट्शूद्रयोनिस्तु दण्ड दातुमशक्नुवन् । आनृण्यं कर्मणा  
 गच्छेद्विप्रोदद्याच्छनैः शनैः २२९ स्त्रीबालोन्मत्तवृद्धानां दरिद्राणां  
 चरोगिणाम् । शिफाविदलरज्ज्वादयैर्विदध्यान्नृपतिर्दमम् २३०

अर्थ-क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र निर्धन होने के कारण दण्ड देने को असमर्थ होवें तौ नौकरी करके दण्ड का ऋण उत्तार दें और ब्राह्मण धीरे धीरे देदे ( अर्थात् ब्राह्मण से नौकरी न करावे ) ॥२२९॥ स्त्री, बाल, उन्मत्त, वृद्ध, दरिद्र और रोगी का कमची, बेत, रस्सी आदि से राजा दमन करे ॥२३०॥  
 येनियुक्तास्तु कार्येषु हन्युः कार्याणि कार्यिणाम् । धनोष्मणापच्य-  
 मानास्तान्निस्स्वान्कारयेन्नृपः ॥२३१॥ कूटशासनकर्तृं प्रकृतीनां  
 चटूपकान् । स्त्रीबालब्राह्मणघ्नांश्च हन्याद्द्विट्सेविनस्तथा ॥२३२॥

अर्थ-जो पुरुष कार्यों (मुकद्दमों) में नियुक्त हो धन की गरमी से पकते हुवे, कार्य वालों के कामों को बिगाड़ें, उन का सर्वस्व राजा हरण करवाले ॥२३१॥ राजा की मोहर करके वा अन्य किसी उल से राजकार्य करने वालों और अमात्यों के भेद करने वालों तथा स्त्री, बालक, ब्राह्मण को मारने वालों और शत्रु से मिले रहने वालों का राजा हनन करे ॥२३२॥

तीरितं चानुशिष्टं च यत्र कचन यद्वेत् ।

कृतं तदुर्मतोविद्वान्न तद् भूयोनिवर्तयेत् ॥२३३॥



अर्थ-जहां कहीं ऋणाऽदानादि व्यवहार (मुकदमे) का न्याय से अन्ततक निर्णय और दण्डादि तब ठीक हो गया हो, तब उस को फिर से न लौटावे ॥

( २३३ से आगे एक श्लोक मिलता है, जो कि अब केवल दो पुस्तकों में पाया गया है । परन्तु यथार्थ में उस की यहां आवश्यकता थी । वह यह है:-

[ तीरितं चानुशिष्टं च यो मन्येत विकर्मणा ।

द्विगुणं दण्डमास्थाय तत्कार्यं पुनरुद्धरेत् ॥ ]

अर्थ-यदि कोई कार्य (मुकदमा) निर्णीत हो चुका हो और दण्ड भी हो चुका हो, परन्तु राजा की समझ में अन्याय हुआ हो तब द्विगुण दण्ड ( राजकर्मचारी पर ) करके उस कार्य को राजा फिर से करे ) ॥ २३३ ॥

अमात्याःप्राड्विवाकोवा यत्कुर्युःकार्यमन्यथा ।

तत्स्वयं नृपतिःकुर्यात्तान्सहस्रं च दण्डयेत् ॥ २३४ ॥

अर्थ-सन्त्री अथवा मुकदमा करनेवाला जिस मुकदमें को अन्यथा करे, उस मुकदमें को राजा आप करे और उन को " सहस्र " दण्ड देवे ॥ २३४ ॥

ब्रह्महा च सुरापश्च स्तेयी च गुरुतल्पगः । एते सर्वे पृथक्क्षेया  
महापातकिनोनराः ॥ २३५ ॥ चतुर्णामपि चैतेषां प्रायश्चित्तमकु-  
र्वताम् । शारीरं धनसंयुक्तं दण्डं धर्म्यं प्रकल्पयेत् ॥ २३६ ॥

अर्थ-ब्राह्मण का मारने वाला, मद्य का पीने वाला, चोर और गुरु की स्त्री से व्यभिचार करने वाला, इन सब प्रत्येक को महापातकी समुष्य जानना चाहिये ॥ २३५ ॥ प्रायश्चित्त न करते हुवे इन चारों को ( राजा ) धर्मानुसार शरीरसम्बन्धी धनयुक्त दण्ड करे ॥ २३६ ॥

गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः । स्तेये श्वपदकं कार्यं  
ब्रह्महण्यशिराःपुमान् ॥ २३७ ॥ असंभोज्याह्यसंयाज्या असंपा-  
ठ्याऽविवाहिनः । चरेयुःपृथिवीदीनाः सर्वधर्मबहिष्कृताः ॥ २३८ ॥

अर्थ-गुरुपत्नी के व्यभिचार में पुरुष के ललाट में तप्त लोह से भगाकार चिह्न करना चाहिये और सुरा के पीने में सुरापान के आकार का चिह्न, तथा चोरी करने में कुत्ते के पैर के आकार का चिह्न करना चाहिये और ब्राह्मण के मारने में शिर काटना चाहिये ॥ २३७ ॥ ये ( महापातकी ) पङ्क्ति में भोजन



कराने और यज्ञ कराने तथा पढ़ाने और विवाह सम्बन्ध के भी अयोग्य सम्पूर्ण धर्मों से बहिष्कृत हुवे दीन (गरीब) पृथिवी पर पर्यटन करें ॥२३८॥

ज्ञातिसंबन्धिभिरतन्त्रे ते त्यक्तव्याः कृतलक्षणाः । निर्दयानिर्नम-  
स्कारास्तन्मनोरनुशासनम् २३९ प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणाः सर्ववर्णा  
यथोदितम् । नाङ्ग्याराज्ञाललाटेऽयुर्दाप्यास्तूत्तमसाहसम् २४० ✓

अर्थ-ये चिह्न वाले जाति विरादरी से त्यागने योग्य हैं, न इन पर दया करनी चाहिये और न ये नमस्कार करने योग्य हैं । इस प्रकार (मुक्त) मनु की आज्ञा है ॥२३९॥ परन्तु शास्त्रविहित प्रायश्चित्त किये हुवे ये सब वर्ण राजा को ललाट में चिह्न करने योग्य नहीं हैं किन्तु “उत्तमसाहस” के दण्डयोग्य हैं ॥२४०॥

आगःसु ब्राह्मणस्यैव कार्यमिध्यमसाहसः । विवास्योवाभवेद्रा-  
ष्ट्रात्सद्रव्यः सपरिच्छदः ॥२४१॥ इतरे कृतवन्तस्तु पापान्येतान्य-  
उकामतः । सर्वस्वहारमर्हन्ति कामतस्तु प्रवासनम् ॥ २४२ ॥

अर्थ-इन अपराधों में ब्राह्मण को ही “मध्यम साहस” दण्ड करना चाहिये अथवा घन धान्यादि के सहित राज्य से निकाल देने योग्य है ॥२४१॥ ब्राह्मण से अन्य क्षत्रियादि ने यदि इन पापों को अनिच्छा से किया हो तो सर्वस्व हरण योग्य हैं और यदि इच्छा से किया हो तो देश से निकालने के योग्य हैं ॥२४२॥

नाददीतनृपः साधुर्महापातकिनोधनम् । आददानस्तु तल्लोभा-  
त्तेन दोषेण लिप्यते ॥२४३॥ अस्मिन् प्रवेश्य तं दण्डं वरुणायो-  
पपादयेत् । श्रुतवृत्तोपपन्ने वा ब्राह्मणे प्रतिपादयेत् ॥२४४॥

अर्थ-धार्मिक राजा महापातकी के धन को ग्रहण न करे; लोभ से उस को लेता हुवा उस पाप से लिप्त होता है ॥२४३॥ किन्तु उस दण्डधन को पानी में धुलवा कर वरुण के यज्ञ में लगा देवे अथवा वेदसम्पन्न ब्राह्मण को देदेवे ॥२४४॥ ईशोदण्डस्य वरुणो राज्ञां दण्डधरो हिसः । ईशः सर्वस्य जगतो ब्राह्मणो वेदपारगः ॥२४५॥ यत्र वर्जयते राजा पापकृद्दयोधना-  
गमम् । तत्र कालेन जायन्ते मानवा दीर्घजीविनः ॥ २४६ ॥



अर्थ—दण्ड का स्वामी वरुण है क्योंकि राजाओं को भी दण्ड का धर्ता (प्रभु) वरुण है । सम्पूर्ण वेद का जानने वाला ब्राह्मण सब जगत् का स्वामी है ( इस से दोनों दण्डधन लेने के योग्य हैं ) ॥ २४५ ॥ जिस देश में राजा इन महापातकियों के धन को नहीं ग्रहण करता, उस देश में मनुष्य काल से दीर्घ आयु वाले होते हैं ॥ २४६ ॥

निष्पद्यन्ते च सस्यानि यथोप्तानि विशां पृथक् । बालाश्च न प्रमीयन्ते विकृतं न च जायते ॥ २४७ ॥ ब्राह्मणान्बाधमानं तु कामादऽवरवर्णजम् । हन्याच्चित्रैर्वधोपायैरुद्वेजनकरैर्नृपः ॥ २४८ ॥

अर्थ—और प्रजाओं के धान्यादि जैसे बीए गये वैसे ही अलग अलग उत्पन्न होते हैं और बालक नहीं सरते और कोई विकार नहीं होता ॥ २४७ ॥ और जान बूझ कर ब्राह्मणों को पीड़ा देने वाले शूद्र को भयानक कई प्रकार के मार पीट के उपायों से राजा दमन करे ॥ २४८ ॥

यावानऽवध्यस्य वधे तावान्वध्यस्य मोक्षणे । अधर्मानृपतेर्दृष्टो धर्मस्तु विनियच्छतः ॥ २४९ ॥ उदितोऽयं विस्तरशो मिथो विवद-मानयोः । अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णयः ॥ २५० ॥

अर्थ—अवध्य के वध में जैसा अधर्म शास्त्र से देखा गया है वैसा ही वध्य के छोड़ने में भी राजा को अधर्म होता है और नियम करने में धर्म होता है ॥ २४९ ॥ यह अठारह प्रकार के मार्गों में परस्पर विवादियों ( मुद्दई मुद्दमाइलह ) के मुकदमें का निर्णय विस्तार के साथ कहा ॥ २५० ॥

एवं धर्म्याणि कार्याणिसम्यक्कुर्वन्महीपतिः । देशानलब्धां लिप्सेत लब्धांश्च परिपालयेत् ॥ २५१ ॥ सम्यङ्निविष्टदेशस्तु कृतदुर्गश्च शास्त्रतः । कण्टकोदुरणे नित्यमातिष्ठेत्तत्तमुत्तमम् ॥ २५२ ॥

अर्थ—इस प्रकार धर्म्य कार्यों को अच्छे प्रकार करता हुआ राजा अलब्ध देशों को पाने की इच्छा करे और लब्धों का परिपालन करे ॥ २५१ ॥ अच्छे प्रकार बसे देश में ( सप्तमाध्याय में कही रीति के अनुसार ) क़िले बना कर चोर डाकू आदि कण्टकों के उद्धार में सर्वदा उत्तम यत्न करे ॥ २५२ ॥



रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात् । नरेन्द्रास्त्रिदिवं  
यान्ति प्रजापालनतत्पराः ॥२५३॥ अशासंस्तस्करान्यस्तु बलिं  
गृह्णाति पार्थिवः । तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते ॥२५४॥

अर्थ-अच्छे आचरण वालों की रक्षा और चौरादि के शोधन से प्रजा-  
पालन में तत्पर राजा स्वर्ग को प्राप्त होते हैं ॥ २५३ ॥ जो राजा चौरादि को  
दण्ड न करके अपनी बलि ( मालगुजारी ) लेता है, उस की प्रजा उस से  
बिगड़ती है और वह स्वर्ग से भी हीन होजाता है ॥ २५४ ॥

निर्भयं तु भवेदस्य राष्ट्रं बाहुबलाश्रितम् । तस्य तद्वर्धते नित्यं  
सिच्यमान इव द्रुमः ॥२५५॥ द्विविधांस्तस्करान्विद्यात्परद्रव्या-  
ऽपहारकान् । प्रकाशांश्चाऽप्रकाशांश्च चारचक्षुर्महीपतिः ॥२५६॥

अर्थ-जिस राजा के बाहुबल के आश्रय से प्रजा ( चौरादि से ) निर्भय  
रहती है, उस राजा का राज्य नित्य सिंचते हुवे वृक्ष के समान बढ़ता है ॥२५५॥  
चार (गुप्त दूत) रूपी चक्षु वाला राजा दो प्रकार के परद्रव्य के हरण करने वाले  
चोरों को जाने । एक प्रकट, दूसरे अप्रकट ॥ २५६ ॥

प्रकाशवज्रकास्तेषां नानापण्योपजीविनः । प्रच्छन्नवज्रकास्त्वेते  
ये स्तेनाऽटविकादयः ॥२५७॥ उत्कोचकाश्चोपधिका वज्रकाः  
कितवास्तथा । मङ्गलादेशवृत्ताश्च भद्राश्चेक्षणिकैः सह ॥२५८॥

अर्थ-उन (चौरादि) में नाना प्रकार की दुकानदारी से जीवन करने वाले  
प्रकाशवज्रक ( खुले ठग ) हैं और चोर तथा जङ्गल आदि के लुटेरे रूपे वज्रक  
हैं ॥ २५७ ॥ उत्कोचक=रिश्वतखोर । उपधिक=भय दिखाकर धन लेने वाले ।  
वज्रक=ठग । कितव=जुवारी आदि । मङ्गलादेशवृत्त="तुम्हारी भलाई होने  
वाली है " इत्यादि प्रकार प्रलोभन देने वाले । भद्र=भलमनसाहत से ठगई  
करने वाले । ईक्षणिक=हाथ देखने वाले आदि ॥ २५८ ॥

असम्यक्कारिणश्चैव महामात्राश्चिकित्सकाः । शिल्पोपचारयु-  
क्ताश्च निपुणाः पण्ययोपितः २५९ एवमादीन्विजानीयात्प्रकाशां-  
ल्लोककण्टकान् । निगूढचारिणश्चान्याननार्यानार्यलिङ्गिनः २६०



अर्थ-बुरा करने वाले उच्च कर्मचारी, वैद्य, शिल्पादिजीवी और चालाक वेश्याओं-॥ २५९ ॥ इत्यादि प्रकार के प्रत्यक्ष ठगों और दूसरे ( ठग ) आर्य-वेष धारण करने वाले अनायाँ को भी ( राजा ) जानता रहे ॥ २६० ॥  
तान्त्रिदित्वासुचरितैर्गूढैस्तत्कर्मकारिभिः। चारैश्चानेकसंस्थानैः  
प्रोत्साद्य वशमानयेत् ॥ २६१ ॥ तेषां दोषानभिख्याप्य स्वे स्वे कर्मणि  
तत्त्वतः । कुर्वीत शासनं राजा सम्यक्सारापराधतः ॥ २६२ ॥

अर्थ-उन पूर्वोक्त वज्रकों को सम्यग्, गुप्त, प्रकट में उस काम को करने वाले तथा कई जगह रहने वाले चारों (जासूसों) के द्वारा राजा चौक्यादि में प्रवृत्त कराकर ( सजा देकर ) वश करे ॥ २६१ ॥ उन प्रकाश और अप्रकाश तस्करों के उन २ चौक्यादि दोषों को ठीक २ प्रकट करके उन के धन शरीरादि सामर्थ्य और अपराध के अनुसार राजा सम्यक् दण्ड देवे ॥ २६२ ॥

न हि दण्डादृते शक्यः कर्तुं पापविनिग्रहः । स्तेनानां पापबुद्धीनां  
निभृतं चरतां क्षितौ ॥ २६३ ॥ सभाप्रपापूपशाला वेशमदान्न-  
विक्रयाः । चतुष्पथाश्चैत्यवृक्षाः समाजाः प्रेक्षणानि च ॥ २६४ ॥

अर्थ-पृथिवी में विनीत वेष करके रहने वाले पापाचरणबुद्धि चोरों को दण्ड के अतिरिक्त पाप का निग्रह नहीं हो सकता ॥ २६३ ॥ सभा, प्याऊ, हलवाई की दूकान, रखी का मकान, कलाली, अनाज बिकने की जगह, चौराहे, बड़े और प्रसिद्ध वृक्ष, जनसमूहों के स्थान तथा तमाशे देखने की जगह ॥ २६४ ॥

जीर्णादानान्यरण्यानि कारुकावेशनानि च । शून्यानि चाप्य-  
गाराणि वनान्युपवनानि च ॥ २६५ ॥ एवंविधान्नृपो देशान्गुल्मैः  
स्थावरजङ्गमैः । तस्करप्रतिषेधार्थं चारैश्चाप्यनुचारयेत् ॥ २६६ ॥

अर्थ-जीर्ण वाटिका, वन, शिल्पगृह, शून्यगृह तथा बाग बगीचे ॥ २६५ ॥ इस प्रकार के देशों को राजा एक स्थान में स्थित सिपाहियों की चौकी और घूमने वाले चौकी पहरों और गुप्त चरों से चोरों के निवारणार्थ विवरित करावे ( क्योंकि प्रायः तस्कर इन स्थानों में पड़ते हैं ) ॥ २६६ ॥

तत्सहायैरनुगतैर्नानाकर्मप्रवेदिभिः । विद्यादुत्सादयेच्चैव नि-



पुणैः पूर्वतस्करैः ॥ २६७ ॥ भक्ष्यभोज्योपदेशैश्च ब्राह्मणानां च  
दर्शनैः । चौर्यकर्मापदेशैश्च कुर्युस्तेषां समागमम् ॥ २६८ ॥

अर्थ-चन की सहायता करने वाले और चन के पीछे चलने वाले और  
सैंध आदि अनेक कर्मों को जानने वाले पहिले चोर और उस कर्म में निपुण  
गुप्त चारों द्वारा (राजा) चोरों को जाने और निर्मूल करे ॥ २६७ ॥ वे (जासूस)  
चन चोरों को खाने पीने के बहानों और ब्राह्मणों के दर्शन के मित्र और  
शूरवीरता के कान के बहाने से राजद्वार में लिवालाकर पकड़वा दें ॥ २६८ ॥

ये तत्र नोपसर्पेयुर्मूलप्रणिहिताश्च ये । तान्प्रसह्य नृपोहन्यात्  
समित्रज्ञातिबान्धवान् ॥ २६९ ॥ न होढेन विना चौरं घातये-  
द्दार्मिको नृपः । सहोढं सोपकरणं घातयेदऽविचारयन् ॥ २७० ॥

अर्थ-जो वहां पर पकड़े जाने की शङ्का से न जावे और चन गुप्त राजदूतों  
के साथ चालाकी-सावधानी से रहकर आपे को बचाते हों चन को राजा बला-  
त्कार से पकड़ कर मित्र जाति भाइयों सहित बध करे ॥ २६९ ॥ धार्मिक राजा  
विना माल और सैंध आदि प्रमाण के चोर का बध न करे और माल तथा  
सैंध आदि के प्रमाणसहित हों तौ विना विचारे मरवा देवे ॥ २७० ॥

ग्रामेष्वपि चयेकेचिच्चौराणां भक्तदायकाः । भाण्डावकाशदाश्चैव  
सर्वांस्तानपि घातयेत् ॥ २७१ ॥ राष्ट्रं पुरक्षाधिकृतान्सामन्तांश्चैव  
चोदितान् । अभ्याघातेषु मध्यस्थान् शिष्याच्चौरानिवद्रुतम् ॥ २७२ ॥

अर्थ-ग्रामों में भी जो चोरों के भोजनादि (सदत्) देने वाले और पता  
वा जगह देने वाले हों चन सब को भी (राजा) मरवा देवे ॥ २७१ ॥ राज्य में  
रक्षा को नियुक्त ( पुलिस ) और सीमा पर रहने वालों में जो क्रूर चौरादि  
की घात के उपदेश में मध्यस्थ हों चन को भी चौरवत् शीघ्र दण्ड देवे ॥ २७२ ॥

यश्चापि धर्मसमयात् प्रच्युतो धर्मजीवनः । दण्डेनैव तमप्योषेत्  
स्वकाहुर्माद्विविच्युतम् ॥ २७३ ॥ ग्रामघाते हितामङ्गे पथियोषा-  
मिमर्शनी शक्तितो नाभिधावन्तो निर्वास्याः सपरिच्छदाः ॥ २७४ ॥



अर्थ-जो कचहरी करने वाला (हाकिम) धर्म की मर्यादा से भ्रष्ट हो उस स्वधर्म से पतित को भी दण्ड से ही क्षेप दे ॥२९३॥ डांकू चोर आदि से गांव के लुटने और पुल के टूटने और मार्ग के चोरों की खोज में, स्त्री के साथ बलात्कार में जो आस पास के रहने वाले यथाशक्ति राजा की सहायतायें दौड़ धूप नहीं करते उन को असबाब के सहित (ग्राम से) निकाल देवे ॥२९४॥  
 राज्ञःकोषापहर्तृश्च प्रतिकूलेषुचस्थितान्। घातयेद्विविधैर्दण्डै-  
 ररीणांचोपजापकान् ॥२९५॥ सन्धिं छित्वा तु येचौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति  
 तस्कराः। तेषां छित्त्वानृपो हस्तौ तीक्ष्णशूले निवेशयेत् ॥ २९६ ॥

अर्थ-राजा के खजाने में चोरी करने वालों तथा आज्ञा भङ्ग करने वालों और शत्रु को भेद देने वालों को नाना प्रकार के दण्ड देकर मारे ॥ २९५ ॥ जो चोर रात को संधि देकर चोरी करें, राजा उन के हाथ काट कर तेज शूली पर चढ़ावे ॥ २९६ ॥

अङ्गुलीर्ग्रन्थिभेदस्य छेदयेत्प्रथमे ग्रहे । द्वितीये हस्तचरणौ  
 तृतीये वधमर्हति ॥२९७॥ अग्निदान्भक्तदांश्चैव तथा शस्त्रावका-  
 शदान् । संनिधातृश्च मोषस्य हन्याच्चौरमिवेश्वरः ॥ २९८ ॥

अर्थ-गांठ काटने वाले की पहिली वार चोरी करने में अङ्गुलियाँ और दूसरी वार करने में हाथ पैर कटवादे और तीसरी वार में वध के योग्य है ॥ २९७ ॥ उन चोरों को अग्नि, अन्न, शस्त्र, स्थान देने वालों और चोरी का धन पास रखने वालों को भी राजा चोरवत् दण्ड देवे ॥ २९८ ॥

तडागभेदकं हन्यादप्सु शुद्धवधेन वा । यद्वापि प्रतिसंस्कुर्याद्  
 दाप्यस्तूतमसाहसम् ॥२९९॥ कोष्ठागारायुधागार-देवतागार-  
 भेदकान् । हस्त्यश्वरथहर्तृश्च हन्यादेवाऽविचारयन् ॥ ३०० ॥

अर्थ-जो तालाब के जल को तोड़े उस को जल में डुबा कर वा सीधा ही मार डाले और यदि वह उस को फिर बनवा देवे तो "सहस्रपण" दण्ड दे ॥ २९९ ॥ राजा के धान्यागार ( गोदाम ) वा हथियारों के सक्कान अथवा यज्ञमन्दिर को तोड़ने वालों और हाथी, घोड़ा और रथ चुराने वालों को बिना विचारे हनन करे ॥ ३०० ॥



यस्तु पूर्वनिविष्टस्य तडागस्योदकं हरेत् । आगमं वाप्यपां  
भिन्द्यात्सदाप्यः पूर्वसाहसम् ॥ २८१ ॥ समुत्सृजेद्वाजमार्गं यस्त्वऽ-  
मेध्यमनापदि । स द्वौ कार्पापणौ दद्यादमेध्यं चाशुशोधयेत् ॥ २८२ ॥

अर्थ-जो कोई पहले बने तालाब का (सब) पानी हर ले या पानी के  
स्रोत वा आगमन को बन्द करे, वह "प्रथम साहस" दण्ड देने योग्य है ॥ २८१ ॥  
जो रोगादिरहित सरकारी सड़क पर मैला ढाले वह दोसौ कार्पापण दण्ड  
दे और उस मैले को शीघ्र रूठवा देवे ॥ २८२ ॥

आपद्रुतोऽथवा वृद्धो गर्भिणी बालएव वा । परिभाषणमर्हन्ति  
तच्च शोधयामिति स्थितिः ॥ २८३ ॥ चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्या  
प्रचरतां दमः । अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यमः ॥ २८४ ॥

अर्थ-(परन्तु) व्याधित, वृद्ध, बालक, गर्भिणी; ये घसकाने और उस मैले को  
साफ कराने योग्य हैं (दण्डयोग्य नहीं) यह सर्वादा है ॥ २८३ ॥ वे पढ़े उलटी  
चिकित्सा करने वाले सब वैद्यों को दण्ड करना चाहिये । उस में गाय बैल  
आदि की वृषा चिकित्सा करने वालों को "प्रथम साहस" और मनुष्य की उलटी  
चिकित्सा करने वालों को "मध्यम साहस" दण्ड होना चाहिये ॥ २८४ ॥

संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानां च भेदकः । प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं  
पञ्च दद्याच्छतानि च ॥ २८५ ॥ अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे  
भेदने तथा । मणीनामपवेधे च दण्डः प्रथमसाहसः ॥ २८६ ॥

अर्थ-लकड़ी के छोटे पुल वा ध्वजा की लकड़ी और किसी प्रतिमा को  
तोड़नेवाला, उन सब को फिर बनवादेवे और पांचसौ पण दण्ड देवे ॥ २८५ ॥  
अच्छी वस्तु को दूषित (खराब) करने, तोड़ने और मणियों के बुरा बींघने  
में "प्रथम, साहस" दण्ड होना चाहिये ॥ २८६ ॥

समैर्हि विषमं यस्तु चरेद्द्वै मूल्यतोऽपि वा । समाप्नुयाद्दमं पूर्वं  
नरो मध्यममेव वा ॥ २८७ ॥ बन्धनानि च सर्वाणि राजा मार्गे  
निवेशयेत् । दुःखिता यत्र दृश्येरन्विकृताः पापकारिणः ॥ २८८ ॥

अर्थ-बराबर की वस्तुओं वा मूल्य से जो घटिया बढ़िया वस्तु देने का  
व्यवहार करे उस को "पूर्व" या "मध्यम" साहस दण्ड मिले ॥ २८७ ॥ राजा



मार्ग में बन्धनगृहों को बनावे, जहां दुःखित और विकृत पाप करने वाले ( सब को ) दीखें ॥ २८८ ॥

प्राकारस्य च भेत्तारं परिखाणां च पूरकम् ।

द्वाराणां चैव भङ्क्तारं क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥ २८९ ॥

अर्थ-प्राकार (सफील) को तोड़ने वाले और उसी की खाई को भरने वाले और उसी के द्वारों के तोड़ने वाले को शीघ्र ही ( देश से ) निकाल दे ॥ ( २८९ के पूर्वार्ध से आगे ( बीच में ) यह श्लोक एक पुस्तक में देखा जाता है:-

[ एतेनैव तु कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः ।

कर्माण्यारभमाणं तु पुरुषं श्रीर्निषेवते ॥ ]

परन्तु यह सर्वथा असंबद्ध सा है । इस का बीच में कोई प्रसङ्ग समझ में नहीं आता, किन्तु इसी आशय का आगे ३८० वां श्लोक है सो वहीं ठीक है ) ॥ २८९ ॥

अभिचारेषु सर्वेषु कर्तव्योद्विशतोदमः ।

मूलकर्मणि चानाम्नेः कृत्यासु विविधासु च ॥ २९० ॥

अर्थ-सम्पूर्ण अभिचारों ( मारणादि ) में यदि जिस का मारना चाहा हो वह मरे नहीं और नाना प्रकार के ( औषधादि द्वारा ) उच्चाटनादि में दोसौ पण दण्ड होना चाहिये ॥ २९० ॥

अबीजविक्रयी चैव बीजोत्कृष्टं तथैव च । मर्यादाभेदकश्चैव विकृतं प्राप्नुयाद्धम् ॥ २९१ ॥ सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारं तु पार्थिवः । प्रवर्त्तमानमन्याये छेदयेत्त्ववशः क्षुरैः ॥ २९२ ॥

अर्थ-योथे बीज को बेचने वाला, उसी प्रकार अच्छे बीज को बुरे के साथ मिलाकर बेचने वाला तथा सीमा ( मर्यादा ) का तोड़ने वाला; विकृत वध को प्राप्त हो ॥ २९१ ॥ सब ठगों में अतिशय ठग अन्याय में चलने वाले सुनार की सी राजा चाकुओं से बोट्टी बोट्टी कटवावे ॥ २९२ ॥

सीताद्रव्यापहरणे शस्त्राणामौषधस्य च । कालमासाद्यकार्यं च राजा दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ २९३ ॥ स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोश-दण्डौ सुहृत्तथा । सप्त प्रकृतयोह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥ २९४ ॥



अर्थ-हल, कुदाल आदि और शस्त्रों तथा दवा के चुराने में समय और किये हुये अपराध को विचार कर राजा दण्ड नियत करे ॥२९३॥ राजा, सन्त्री पुर, राष्ट्र, कोश, दण्ड, और मित्र, ये सात प्रकृति राज्य के सप्ताङ्ग कहाती हैं ॥२९४॥ सप्तानां प्रकृतीनां तु राज्यस्यासां यथाक्रमम् । पूर्वं पूर्वं गुरुतरं जानीयाद्व्यसनं महत् ॥२९५॥ सप्ताङ्गस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत् । अन्योन्यगुणवैशेष्यान् किञ्चिदतिरिच्यते ॥२९६॥

अर्थ-राज्य की इन सात प्रकृतियों में क्रम से पहिली २ को अतिशय बड़ा भारी व्यसन ( उत्तरोत्तर एक से एक को अधिक ) बिगड़ने पर बुरा जाने ॥ २९५ ॥ जैसे तीन दण्ड परस्पर एक दूसरे के सहारे ठहरे हों ऐसे ही यह सप्ताङ्ग राज्य ७ प्रकृतियों में एक दूसरे के सहारे ठहरा है। इन सातों में अपने २ गुण की विशेषता से कोई भी एक दूसरे से अधिक नहीं है ( अर्थात् यद्यपि पूर्व श्लोक में एक से दूसरे को अधिक कहा था परन्तु पूर्व पूर्व इस शूल में भी न रहे कि अगले अगले हमारा कुछ कर ही नहीं सकते ) ॥ २९६ ॥

तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदङ्गं विशिष्यते । येन यत्साध्यते कार्यं तत्तस्मिन् श्रेष्ठमुच्यते ॥ २९७ ॥ चारेणोत्साहयोगेन क्रिययैव च कर्मणाम् । स्वशक्तिं परशक्तिंच नित्यं विद्यान्महीपतिः ॥२९८॥

अर्थ-उन उन कामों में वही २ अङ्ग बड़ा है, जिस २ से जो २ काम सिद्ध होता है, वह उस में श्रेष्ठ कहाता है ॥ २९७ ॥ ( सप्तमाध्याय में कहे ) चारों ( जासूसों ) से, उत्साहयोग और कामों की कार्रवाई से अपने तथा शत्रु के सामर्थ्य को राजा नित्य जानता रहे ॥ २९८ ॥

पीडनानि च सर्वाणि व्यसनानि तथैव च । आरभेत ततः कार्यं संचिन्त्य गुरुलाघवम् ॥२९९॥ आरभेतैव कर्माणि श्रान्तःश्रान्तः पुनःपुनः । कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते ॥ ३०० ॥

अर्थ-काम क्रोध से हुये सम्पूर्ण दुःखों और व्यसनों और गौरव लाघवों को सोच कर काम का आरम्भ करे ॥ २९९ ॥ राज्य की वृद्धि होने के काम राजा दम ले २ कर फिर २ करता ही रहै क्योंकि कामों के आरम्भ करने वाले पुरुष को ही लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥ ३०० ॥



कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च । राज्ञोवृत्तानि सर्वाणि  
राजा हि युगमुच्यते ॥३०१॥ कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रदुद्वापरं  
युगम् । कर्मस्वभ्युदयतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ॥ ३०२ ॥

अर्थ-सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग सब राजा ही के चेष्टा  
विशेष हैं, क्योंकि राजा भी युग कहाता है ॥३०१॥ जब राजा निरुद्यम होता  
है, वह कलियुग है और जब जागता हुआ भी कर्म नहीं करता, वह द्वापर है,  
जब कर्मानुष्ठान में उद्यत होता है, उस समय त्रेता है और जब यथाशास्त्र  
कर्मों का अनुष्ठान करता हुआ विचरता है, उस समय सत्य युग है ॥ ३०२ ॥

इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च । चन्द्रस्याग्नेः पृथि-  
व्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत् ॥३०३॥ वार्षिकंश्चतुरो मासान्यथे-  
न्द्रोऽभिप्रवर्षति । तथा भिषर्षेत्स्वराष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन् ३०४

अर्थ-इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्र, अग्नि और पृथिवी के  
सामर्थ्यरूप कर्म को राजा करे ॥ ३०३ ॥ वर्षा ऋतु के चार मास में जैसे इन्द्र  
( वायुविशेष ) वर्षा करता है, वैसे ही इन्द्र के काम को करता हुआ राजा  
स्वदेश में ( इच्छित पदार्थों को ) वर्षावे ॥ ३०४ ॥

अष्टौ मासान्यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः । तथा हरेत्करं रा-  
ष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत् ॥३०५॥ प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति  
मारुतः । तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥ ३०६ ॥

अर्थ-आठ महीने जैसे सूर्य किरणों से जल लेता है, वैसे (राजा) राज्य से  
कर लेवे, यही नित्य सूर्य का काम है ॥ ३०५ ॥ जैसे वायु सब मनुष्यादि में  
प्रविष्ट रहता है वैसे राजा दूतों द्वारा सब में प्रवेश करे ( अर्थात् सब के  
चित्तवृत्तान्त ज्ञात कर लेवे ) यही वायु का काम है ॥ ३०६ ॥

यथायमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति । तथाराज्ञानियन्तव्या  
प्रजास्तद्धि यमव्रतम् ॥ ३०७ ॥ वरुणेन यथा पाशैर्बहु एवा-  
भिदृश्यते । तथा पापान्निगृह्णीयाद्व्रतमेतद्धि वारुणम् ॥३०८॥



अर्थ—जैसे यम ( मृत्यु वा परमात्मा ) प्राप्तकाल में मित्र, शत्रु सब का निग्रह करता है वैसे ही राजा को अपराधकाल में प्रजा दण्डनीय होनी चाहिये । यम का यही व्रत है ॥३०७॥ जैसे वरुण ( वायुविशेष ) के पाशों से प्राणी बंधे हुवे दीखते हैं, वैसे ही राजा पापियों का शासन करे । वरुण का यही व्रत है ॥३०८॥  
परिपूर्णं यथाचन्द्रं दृष्ट्वाहृष्यन्तिमानवाः । तथाप्रकृतयोयस्मिन्  
सचान्द्रव्रतिकीनृपः ॥३०९॥ प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्पाप-  
कर्मसु । दुष्टसामन्तहिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम् ॥ ३१० ॥

अर्थ—जैसे पूर्ण चन्द्र को देखकर मनुष्य हर्ष को प्राप्त होते हैं वैसे ही अमा-  
त्यादि जिस राजा के देखने से प्रसन्न हों, वह राजा चन्द्रव्रत करने वाला  
है ॥३०९॥ पाप करने वालों पर सदा अग्निवत् जाज्वल्यमान रहे, तथा दुष्ट  
वीरों की भी हिंसा के स्वभाववाला हो । यह अग्नि का व्रत है ॥ ३१० ॥

यथासर्वाणिभूतानि धराधारयतेसमम् । तथासर्वाणिभूतानि  
विभ्रतःपार्थिवं व्रतम् ॥३११॥ एतैरुपायैरन्यैश्च युक्तो नित्य-  
मतन्द्रितः । स्तेनान्राजानिगृह्णीयात्स्वराष्ट्रे परएषच ॥३१२॥

अर्थ—जैसे पृथिवी सब को बराबर धारण करती है, वैसे राजा भी सब  
प्राणियों का बराबर पालन पोषण करे । यह पृथिवी का काम है ॥ ३११ ॥  
इन उपायों तथा अन्य उपायों से सदा आलस्यरहित राजा चोरों को जो  
अपने या दूसरे के राज्य में ( भाग गये ) हों, वश में करे ॥ ३१२ ॥

परामप्यापदं प्राप्तो ब्राह्मणान् प्रकोपयेत् ।

ते ह्येनं कुपिता हन्युः सदाः सबलवाहनम् ॥ ३१३ ॥

“यैः कृतः सर्वभक्षोऽग्निरपेयश्च महोदधिः ।

क्षयी चाप्यायितः सोमः कोन नश्येत्प्रकोप्य तान् ॥३१४॥”

अर्थ—(कोशक्षयादि) बड़ी विपत्ति को प्राप्त हुवा भी राजा ब्राह्मणों को  
रुष्ट न करे क्योंकि वे बिगड़े हुवे, सेना हाथी घोड़ा आदि सहित इस राजा  
को शीघ्र नष्ट कर सकते हैं ( दीर्घदृष्टि से विचारा जावे तो निश्चन्देह विद्या  
और विद्वानों के विरोधी का राज्य बहुत दिन तक नहीं रह सकता ) ॥३१३॥  
“जिन्होंने ने अग्नि को सर्वभक्षी और समुद्र को खारा कर दिया और क्षयी  
चन्द्र को आप्यायित किया उन को रुष्ट करके कौन नाश को प्राप्त न हो ? ॥३१४॥”



“लोकानन्यान्सृजेयुर्धे लोकपालांश्च कोपिताः । देवान्कुर्युरदेवांश्च  
कक्षिण्वंस्तान्समृध्नुयात् ॥३१५॥ यानुपाश्रित्य तिष्ठन्ति लोका  
देवाश्च सर्वदा । ब्रह्म चैव धनं येषां कोहिंस्यात्तान्जिजीविषुः ३१६”

“ अर्थ—जो कोप को प्राप्त हुवे दूसरे लोकों को उत्पन्न करदें, ऐसी सम्भावना है । और देवतों को अदेव करदें, तब उन को पीड़ा देता हुवा कौन वृद्धि को प्राप्त होगा ? ॥ ३१५ ॥ जिन का आश्रय करके सर्वदा देव तथा लोक ठहरे हुवे हैं और वेद है धन जिन का, उन को जीने की इच्छा करने वाला कौन दुःखी करेगा ? ॥ ३१६ ॥ ”

“ अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणोदैवतं महत् । प्रणीतश्चाऽप्रणीतश्च  
यथाऽग्निदैवतं महत् ॥ ३१७ ॥ श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको  
नैव दुष्यति । हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्धते ॥३१८॥ ”

“ अर्थ—जैसे अग्नि प्रणीत हो, वा अप्रणीत हो—महती देवता है, ऐसे ही सूर्य ब्राह्मण हो वा विद्वान् हो—महती देवता है ॥ ३१७ ॥ तेज वाला अग्नि श्मशानों में भी ( शव को जलाता हुवा ) दोषयुक्त नहीं होता, किन्तु फिर से यज्ञ में हवन किया हुवा वृद्धि को पाता है ॥ ३१८ ॥ ”

“ एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु ।

सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत् ॥३१९॥ ”

“ अर्थ—यद्यपि इस प्रकार सम्पूर्ण कुत्सित कर्मों में रहते हैं तथापि ब्राह्मण सर्व प्रकार से पूजनयोग्य हैं, क्योंकि वे महती देवता हैं ॥ ”

( ३१४ से ३१९ तक ६ श्लोक ब्राह्मणों की असम्भवं प्रशंसा से युक्त हैं क्योंकि अग्नि को सर्वभक्षी और समुद्र को अपेय ( खारा ) ब्राह्मणों ने नहीं किन्तु प्रथमाऽध्याय के अनुसार परमात्मा ने ही इन को अपने स्वभावयुक्त बनाया है । और चन्द्रमा की साथ वृद्धि भी सूर्य के प्रकाश पहुँचने में विलक्षणता के कारण होती है । यह विषय निरुक्तादि के प्रमाणपूर्वक हमने सामवेदभाष्य में लिखा है ॥ ब्राह्मणों का नवीनसृष्टि बना सकना भी कितनी अत्युक्ति नहीं वरन् असंभव है ॥ अविद्वान् को ब्राह्मण और पूज्य मानना भी पक्षपातपूर्वक लेख तथा “यथा काष्ठमयोहस्ती” इत्यादि पूर्वोक्त मनुवचनों से विरुद्ध है । यज्ञ में शूद्र के घर का अग्नि भी वर्जित है, तब श्मशान ( चिता ) के अग्नि को



निर्दोष मानना और उस दृष्टान्त से कुकर्मी ब्राह्मण को भी निर्दोष सिद्ध करना पूर्वोक्त अनेक मनुवचनों के साक्षात् विरुद्ध है ) ॥ ३१९ ॥

क्षत्रस्यातिप्रवृद्धस्य ब्राह्मणान्प्रति सर्वशः ।

ब्रह्मैव संनियन्तु स्यात्क्षत्रं हि ब्रह्मसंभवम् ॥ ३२० ॥

अर्थ-ब्राह्मणों को सर्वथा पीड़ा देने में प्रवृत्त क्षत्रियों को ब्राह्मण ही अच्छे प्रकार नियम में रखें, क्योंकि क्षत्रिय ब्राह्मणों से ( संस्कार के जन्म से ) उत्पन्न हैं ॥ ३२० ॥

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतःक्षत्रमश्मनोलोहमुत्थितम् । तेषांसर्वव्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥ ३२१ ॥ नाऽब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाऽक्षत्रं ब्रह्मवर्धते । ब्रह्मक्षत्रं च संयुक्तमिह चामुत्र वर्धते ॥ ३२२ ॥

अर्थ-जल ब्राह्मण और पाषाण से उत्पन्न हुये क्रम से अग्नि, क्षत्रिय और शस्त्रों का तेज सब जगह तीव्रता करता है, परन्तु अपने उत्पन्न करने वाले कारणों में शान्त हो जाता है ॥ ३२१ ॥ ब्राह्मणरहित क्षत्रिय वृद्धि को प्राप्त नहीं होता वैसे ही क्षत्रियरहित ब्राह्मण भी वृद्धि को नहीं प्राप्त होता । इस लिये ब्राह्मण क्षत्रिय मिले हुये इस लोक तथा परलोक में वृद्धि को पाते हैं ॥ ३२२ ॥

दत्त्वा धनं तु विप्रेभ्यः सर्वदण्डसमुत्थितम् । पुत्रे राज्यं समासृज्य कुर्वीत प्रायणं रणे ॥ ३२३ ॥ एवं चरन्सदा युक्तो राजधर्मेषु पार्थिवः । हितेषु चैव लोकस्य सर्वान्भृत्यान्वियोजयेत् ॥ ३२४ ॥

अर्थ-दण्ड का सम्पूर्ण धन ब्राह्मणों को देकर और पुत्र को राज्य समर्पण करके राजा रण में प्राणत्याग करे ॥ ३२३ ॥ राजधर्म में सदा युक्त रह इस प्रकार आचरण करता हुवा राजा सब लोगों के हित के लिये सम्पूर्ण नौकर चाकरों की योजना करे ॥ ३२४ ॥

एषोऽखिलः कर्मविधिरुक्तो राज्ञः सनातनः । इमं कर्मविधिं विद्यात्क्रमशो वैश्यशूद्रयोः ॥ ३२५ ॥ वैश्यस्तुकृतसंस्कारः कृत्वादारपरिग्रहम् । वार्त्तायां नित्ययुक्तः स्यात्पशूनां चैव रक्षणे ॥ ३२६ ॥



अर्थ-यह राजा की संपूर्ण सनातन कर्मविधि कही । अब ( आगे कही ) यह वैश्य शूद्रों की कर्मविधि जाने ॥ ३२५ ॥ उपनयनादि संस्कार किया हुआ वैश्य विवाह करके व्यापार तथा पशुपालन में सदा युक्त होवे ॥ ३२६ ॥

प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददे पशून् । ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजाः ॥ ३२७ ॥ न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं पशूनिति । वैश्ये चेच्छति नाऽन्येन रक्षितव्याः कथञ्चन ॥ ३२८ ॥

अर्थ-क्योंकि ब्रह्मा ने पशु उत्पन्न करके ( रक्षा के लिये ) वैश्य को देदिचे और ब्राह्मण तथा राजा को सब प्रजा ( रक्षा के लिये ) देदी है ॥ ३२७ ॥ मैं पशुओं की रक्षा नहीं करूँ, ऐसी वैश्य की इच्छा न होनी चाहिये । और वैश्य के चाहते हुये दूसरे को पशुपालनवृत्ति कभी न करनी चाहिये ॥ ३२८ ॥

मणिमुक्ताप्रवालानां लोहानां तान्त्वस्य च । गन्धानां च रसानां च विद्यादर्घ्यबलाबलम् ॥ ३२९ ॥ बीजानामुप्तिविच्चस्यात्क्षेत्रदोषगुणस्य च । मानयोगं च जानीयात्तुलायोगांश्च सर्वशः ॥ ३३० ॥

अर्थ-मणि, मोती, मूंगा, लोहा और कपड़ा तथा कर्पूरादि गन्ध और लवणादि रसों का घटी बड़ी का भाव वैश्य जाने ॥ ३२९ ॥ सब बीजों के बोने की विधि और खेत के गुण दोष और सब प्रकार के माप तोल का भी जानने वाला ( वैश्य ) हो ॥ ३३० ॥

सारासारं च भाण्डानां देशानां च गुणागुणान् । लाभालाभं च पण्यानां पशूनां परिवर्धनम् ॥ ३३१ ॥ भृत्यानां च भृतिं विद्याद्वाषाश्च विविधानृणाम् । द्रव्याणां स्थानयोगांश्च क्रयविक्रयमेव च ॥ ३३२ ॥

अर्थ-अन्न के अच्छे बुरे का हाल और देशों में सस्ते महंगे आदि गुण अवगुण का भाव और विक्री के लाभ हानि का वृत्तान्त तथा पशुओं के बढ़ने का उपाय ( जाने ) ॥ ३३१ ॥ और नौकरों की तनख्वाहों तथा नाना देश के मनुष्यों की बोली और माल के रखने की विधि तथा बेचने खरीदने का ढङ्ग ( वैश्य को जानना चाहिये ) ॥ ३३२ ॥

धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद्यत्तमुत्तमम् । दद्याच्च सर्वभूतानां मन्त्रमेव प्रयत्नतः ॥ ३३३ ॥ विप्राणां वेदविदुषां गृहस्थानां



यशस्विनाम् । शुश्रूषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैश्रेयसः परः ॥ ३३४ ॥

अर्थ-(वैश्य) धर्म से धन के बढ़ाने में पूरा यत्न करे और सब प्राणियों को यत्न से अन्न अवश्य पहुंचावे ॥ ३३३ ॥ वेद के जानने वाले विद्वान् गृहस्थ यशस्वी ब्राह्मणादि की सेवा ही शूद्र का परमसुखदायी धर्म है ॥ ३३४ ॥

शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागऽनहङ्कृतः । ब्राह्मणाद्याश्रयोनित्य-  
मुत्कृष्टां जातिमश्नुते ॥ ३३५ ॥ एषोऽनापदि वर्णानामुक्तः कर्म-  
विधिः शुभः । आपदापि हि यस्तेषां क्रमशस्तं निबोधत ॥ ३३६ ॥

अर्थ-स्वच्छ रहने वाला, अच्छा मेहनती और नम्रता से बोलने वाला तथा अहङ्काररहित, नित्य ब्राह्मणादि की सेवा करने वाला शूद्र उच्च जाति को प्राप्त हो जाता है ॥ ३३५ ॥ यह वर्णों की आपत्तिरहित समय में शुभ कर्मविधि कही, अब जो उन की आपत्काल की कर्मविधि है (दशमाध्याय में) उस को सुनो ॥ ३३६ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे (भृगुप्रोक्तायां संहितायां)

नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे

नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥



ओ३म्

## अथ दशमोऽध्यायः

अधीयीरंस्त्रयोवर्णाः स्वकर्मस्थाद्विजातयः । प्रब्रूयाद्ब्राह्मण-  
स्त्वेषां नेतराविति निश्चयः ॥१॥ सर्वेषां ब्राह्मणो विद्वाद् वृत्त्यु-  
पायान्यथाविधि । प्रब्रूयादितरेभ्यश्च स्वयं चैव तथा भवेत् ॥२॥

अर्थ-अपने कर्म में स्थित द्विजाति ( ब्राह्मणादि ) तीन वर्ण ( वेद )  
पढ़ें और ब्राह्मण इन को पढ़ावे । इतर ( क्षत्रिय वैश्य ) न पढ़ावें । यह  
निर्णय है ॥ १ ॥ ब्राह्मण सब वर्णों का जीवनोपाय यथाशास्त्र जाने और उन  
को बतावे और आप भी यथोक्त कर्म करे ॥ २ ॥

वैशेष्यात्प्रकृतिश्रैष्ठ्यान्नियमस्य च धारणात् । संस्कारस्य विशेष-  
णाच्च वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ३ ॥ ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो-  
वर्णाद्विजातयः । चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः ॥४॥

अर्थ-विशेषता, स्वाभाविक श्रेष्ठता, नियम के धारण करने तथा संस्कार  
की अधिकता से सब वर्णों का ब्राह्मण प्रभु है ॥ ३ ॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य  
ये तीन वर्ण द्विजाति हैं, चौथा शूद्र एकजाति है, पञ्चम वर्ण नहीं है ॥ ४ ॥  
सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु । आनुलोम्येन संभूता  
जात्या ज्ञेयास्त एव ते ॥५॥ स्त्रीष्वनन्तरजातासु द्विजैरुत्पादि-  
तान्सुतान् । सदृशानेव तानाहुर्मातृदोषविगर्हितान् ॥ ६ ॥

अर्थ-ब्राह्मणादि चार वर्णों में अपने समान वर्ण की (विवाह से पूर्व) पुरुष  
सम्बन्ध से रहित पत्नियों में क्रम से जो सन्तान उत्पन्न हों उन को जाति से वे ही  
जानना चाहिये । ( इस प्रकरण में जो जातियों का विचार है सो इस लिये है कि  
गर्भाधान से लेकर जन्मपर्यन्त हुवे संस्कारों के प्रभाव से जन्मकाल में वह उस २  
नाम से पुकारने योग्य है परन्तु यह कथन उस अपवाद का बाधक नहीं जो कि  
विपरीत आचरणादि से वर्णव्यवस्थापन में मानव शास्त्र का सिद्धान्त है ) ॥५॥  
क्रम के साथ अपने से ( अर्थात् ब्राह्मण से क्षत्रिया में, क्षत्रिय से वैश्या में, इस



प्रकार ) एक नीचे की हीन जाति की स्त्रियों में द्विजों के उत्पन्न किये हुये सन्तानों को माता की जाति से निन्दित, पिता के समान ही (पतित) कहते हैं ॥६॥

अनन्तरासुजातानां विधिरेष सनातनः। द्व्येकान्तरासुजातानां धर्म्यं विद्यादिसं विधिम् ॥ ७ ॥ ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामम्बष्ठो नाम जायते। निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते ॥ ८ ॥

अर्थ-अपने से एक वर्णहीना स्त्रियों में उत्पन्न हुओं की यह सनातन विधि कही, अब दो वर्णहीना स्त्रियों में (जैसे ब्राह्मण से वैश्या में) उत्पन्न हुओं की यह धर्मविधि जाने कि-॥७॥ ब्राह्मण से वैश्या कन्या में "अम्बष्ठ" नाम उत्पन्न होता है और ब्राह्मण से शूद्रा कन्या में "निषाद" जिस को "पारशव" भी कहते हैं ॥ ८ ॥

क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां क्रूराचारविहारवान्। क्षत्रशूद्रवपुर्जन्तु रुग्णोनाम प्रजायते ॥ ९ ॥ विप्रस्य त्रिषु वर्णेषु नृपतेर्वर्णयो-  
र्द्वयोः। वैश्यस्य वर्णं चैकस्मिन्पडेतेऽपसदाः स्मृताः ॥ १० ॥

अर्थ-क्षत्रिय से शूद्र कन्या में क्रूर आचार विहार वाला और क्षत्रिय शूद्र शरीर वाला "उग्र" नामक उत्पन्न होता है ॥ ९ ॥ ब्राह्मण के तीन वर्ण (की क्षत्रियादि स्त्रियों) में और क्षत्रिय के २ (वैश्या वा शूद्रा) में, तथा वैश्य के १ (शूद्रा) में (उत्पन्न हुये) ये छः "अपसद" कहे गये हैं ॥ १० ॥

क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतोभवति जातितः। वैश्यान्मागधवैदेहौ राजविप्राङ्गनासुतौ ॥ ११ ॥ शूद्रादायोगवःक्षत्ता चण्डालश्चा-  
ऽधमो नृणाम्। वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसंकराः ॥ १२ ॥

अर्थ-(ये अनुलोम कहकर, अब प्रतिलोम कहते हैं) क्षत्रिय से ब्राह्मण की कन्या में "सूत" नाम जाति से होता है और वैश्य से क्षत्रिया में "मागध" तथा वैश्य से ब्राह्मणी में "वैदेह" नाम उत्पन्न होते हैं ॥ ११ ॥ शूद्र से वैश्या, क्षत्रिया तथा ब्राह्मणी में क्रम के साथ "आयोगव", "क्षत्ता" और "चण्डाल" अधम, ये (श्लोक ६ से यहां तक कहे) मनुष्यों में वर्णसङ्कर उत्पन्न होते हैं ॥ १२ ॥

एकान्तरे त्वानुलोम्यादम्बष्ठोग्रौ यथास्मृतौ। क्षत्तुवैदेहकौ



तद्वत्प्रातिलोभ्येऽपि जन्मनि ॥१३॥ पुत्रायेऽनन्तरस्त्री जाः क्रमेणो-  
क्ता द्विजन्मनाम् । ताननन्तरनाम्नस्तु मातृदोषात्प्रचक्षते ॥१४॥

अर्थ-एक के अन्तर वाले वर्ण में अनुलोम से जैसे अम्बष्ठ और उग्र कहे हैं, वैसे ही प्रतिलोम से जन्म में "क्षत्ता" और "वैदेह" कहे हैं ॥ १३ ॥ द्विजन्माओं के क्रम से कहे हुवे अनन्तर ( एक वर्ण नीची ) स्त्री से उत्पन्न हुवे पुत्रों को माता के दोष से "अनन्तर" नाम से कहते हैं ॥ १४ ॥

ब्राह्मणादुग्रकन्यायामावृतोनामजायते । आभीरोऽम्बष्ठकन्या-  
यामायोगव्यांतुधिग्वणः ॥१५॥ आयोगवश्चक्षत्ताच चण्डालश्चा-  
ऽधमो नृणाम् । प्रातिलोभ्येन जायन्ते शूद्रादपसदास्त्रयः ॥१६॥

अर्थ-ब्राह्मण से "उग्र" कन्या में "आवृत" नाम सन्तान और "अम्बष्ठ" कन्या में "आभीर" नाम उत्पन्न होता है तथा "आयोगव" कन्या में उत्पन्न हुवा "धिग्वण" कहाता है ॥ १५ ॥ आयोगव, क्षत्ता, चण्डाल; ये मनुष्यों में तीन अधम प्रतिलोम से उत्पन्न शूद्र से भी निकष्ट हैं ॥ १६ ॥

वैश्यान्मागधवैदेहौ क्षत्रियात्सूतएव तु । प्रतीपमेते जायन्ते  
परेऽप्यपसदास्त्रयः ॥१७॥ जातोनिषादाच्छूद्रायां जात्या भवति  
पुक्कसः । शूद्राज्जातोनिषादां तु स वै कुक्कुटकः स्मृतः ॥१८॥

अर्थ-पूर्वोक्त प्रकार वैश्य से मागध और वैदेह तथा क्षत्रिय से सूत; ये भी प्रतिलोम से अन्य ३ निकष्ट उत्पन्न होते हैं ॥ १७ ॥ निषाद से शूद्रा में उत्पन्न हुवा "पुक्कस" जाति से होता है और शूद्र से निषाद की कन्या में उत्पन्न हुवा "कुक्कुटक" कहा गया है ॥ १८ ॥

क्षत्तुर्जातस्तथोग्रायां श्वपाक इति कीर्त्यते । वैदेहकेन त्वम्ब-  
ष्ठ्यामुत्पन्नोवेण उच्यते ॥१९॥ द्विजातयः सवर्णासु जनयन्त्यव्रतां-  
स्तुयान् । तान्सावित्रीपरिभ्रष्टान् व्रात्यानिति विनिर्दिशेत् ॥२०॥

अर्थ-ऐसे ही क्षत्ता से उग्र की कन्या में उत्पन्न हुवा "श्वपाक" कहाता और वैदेह से अम्बष्ठी में ( उत्पन्न हुवा ) "वेण" कहाता है ॥ १९ ॥ द्विजाति अपने वर्ण की स्त्री में संस्काररहित जिन पुत्रों को उत्पन्न करते हैं उन समय पर उपनयनवेदारम्भरहितों को "व्रात्य" कहे ॥ २० ॥



ब्राह्म्यान्तु जायते विप्रात्पापात्मा भूर्जकण्टकः । आवन्त्यवाट-  
धानौच पुष्पधः शैखएव च ॥ २१ ॥ ऋत्नीमल्लश्च राजन्याद् ब्राह्म्या-  
न्निच्छिविरेव च । नटश्च करणश्चैव खसोद्विडएव च ॥ २२ ॥

अर्थ-ब्राह्म्य ब्राह्मण से पापात्मा “ भूर्जकण्टक ” उत्पन्न होता है और उसी को ( देशभेद से ) आवन्त्य, वाटधान, पुष्पध और शैख भी कहते हैं ॥ २१ ॥ (ब्राह्म्य) क्षत्रिय से ऋत्न, मल्ल, निच्छिवि, नट, करण, खस और द्विड नामक उत्पन्न होते हैं ॥ २२ ॥

वैश्यान्तु जायते ब्राह्म्यात्सुधन्वाचार्यएव च । कारूपश्च विजन्मा च  
मैत्रः सात्वतएव च ॥ २३ ॥ व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेद-  
नेन च । स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसङ्कराः ॥ २४ ॥

अर्थ-ब्राह्म्य वैश्य से सुधन्वाचार्य, कारूप, विजन्मा, मैत्र और सात्वत नाम वाले उत्पन्न होते हैं ( ये सब नाम पर्यायवाची देशभेद से समझें ) ॥ २३ ॥ ब्राह्मणादि वर्णों से अन्योन्य स्त्री के गमन और सगोत्रादि अगम्या में विवाह करने तथा अपने कर्म के छोड़ने से वर्णसङ्कर उत्पन्न होते हैं ॥ २४ ॥

संकीर्णयोनि योये तु प्रतिलोमाऽनुलोमजाः । अन्योन्यव्यति-  
षक्ताश्च तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ २५ ॥ सूतोवैदेहकश्चैव चण्डा-  
लश्च नराधमः । मागधः क्षत्तृजातिश्च तथाऽऽयोगवएव च ॥ २६ ॥

अर्थ-जो संकीर्णयोनि प्रतिलोम अनुलोम के परस्पर सम्बन्ध से उत्पन्न होती हैं, उन को विशेष करके मैं आगे कहता हूँ ॥ २५ ॥ सूत, वैदेह, चण्डाल, ये अधम मनुष्य और मागध, क्षत्तृ तथा आयोगव- ॥ २६ ॥

एते षट्सदृशान्वर्णाञ्जनयन्ति स्वयोनिषु । मातृजात्यां प्रसूयन्ते  
प्रवरासु च योनिषु ॥ २७ ॥ यथा त्रयाणां वर्णानां द्वयोरात्मा  
ऽस्य जायते । आनन्तर्यात्स्वयोन्यां तु तथावाह्येष्वपि क्रमात् ॥ २८ ॥

अर्थ-ये छः स्वयोनि में स्वतुल्य सुतोत्पत्ति करते हैं और अपने से उत्तम योनियों में जन्म तो मातृजाति में गिने जाते हैं ॥ २७ ॥ जैसे तीनों वर्णों में दो में से इस पुरुष का आत्मा उत्पन्न होता है और अनन्तर होने से अपनी योनि में गिना जाता है, वैसे ही इन बाह्य वर्णसङ्करों में भी क्रम से जानो ॥ २८ ॥



ते चापि बाह्यान्सुब्रह्मस्ततोऽप्यधिकदूषितान् । परस्परस्य  
दारेषु जनयन्ति विगर्हितान् ॥२९॥ यथैव शूद्रो ब्राह्मण्यां बाह्यं  
जन्तुं प्रसूयते । तथा बाह्यतरं बाह्यश्चातुर्वर्ण्ये प्रसूयते ॥ ३० ॥

अर्थ-वे (पूर्वोक्त) आयोगवादि भी परस्पर जाति की स्त्री में बहुत से  
उन से भी अधिक दुष्ट और निन्दित सन्तान उत्पन्न करते हैं ॥ २९ ॥ जैसे  
शूद्र ब्राह्मणी में अधम जीव को उत्पन्न करता है, वैसे ही चारों वर्णों में वे  
अधम उन से भी अधमों को उत्पन्न करते हैं ॥ ३० ॥

प्रतिकूलवर्त्तमाना बाह्याबाह्यतरान्पुनः । हीनाहीनान्प्रसूयन्ते  
वर्णान्पञ्चदशैव तु ॥ ३१ ॥ प्रसाधनोपचारज्ञमदासं दासजीव-  
नम् । सैरिन्द्रं वागुरावृत्तिं सूते दस्युरयोगवे ॥ ३२ ॥

अर्थ-प्रतिकूल चलने वाले अधम चण्डालादि तीन, चारों वर्णों की स्त्रियों  
में अपने से अधिक अधम सन्तान को उत्पन्न करते हैं, ती एक से एक हीन  
पन्द्रह वर्ण उत्पन्न होते हैं (चार वर्णों की स्त्रियों में तीन अधमों के तीन, तीन  
ऐसे बारह निकृष्ट सन्तान और उन के पिता तीन अधम, ऐसे पन्द्रह अधम  
उत्पन्न होते हैं) ॥ ३१ ॥ वालों में कंधी आदि करना और चरणादि का धोना  
और स्नानादि करवाना, इस प्रकार के काम से वा जाल फांसे बांध कर जीने  
वाला "सैरिन्द्र" नाम (आगे कहे हुवे) दस्यु से आयोगव में उत्पन्न होता है ॥ ३२ ॥

मैत्रेयकं तु वैदेही माधूकं संप्रसूयते । नन्प्रशंसत्यजस्रं यो  
घण्टाताडोऽरुणोदये ॥ ३३ ॥ निषादो मार्गवं सूते दासं नौकर्म-  
जीविनम् । कैवर्त्तमिति यं प्राहुरार्यावर्तनिवासिनः ॥ ३४ ॥

अर्थ-आयोगवी वैदेह से सधुरभाषी "मैत्रेयक" को उत्पन्न करती है  
जो कि प्रातःकाल घण्टा बजा कर राजा आदिकों की निरन्तर स्तुति करता  
है ॥ ३३ ॥ निषाद और आयोगवी से "दास" इस दूसरे नाम वाला नाव के  
चलाने से जीवन वाला "मार्गव" उत्पन्न होता है, जिस को आर्यावर्त  
निवासी लोग "कैवर्त्त" कहते हैं ॥ ३४ ॥

मृतवस्त्रभृत्सुनारीषु गर्हितान्नाशनासुच । भवन्त्यायोगवीष्वेते



जातिहीनाः पृथक्त्रयः ॥ ३५ ॥ कारावरो निषादास्तु चर्मकारः  
प्रसूयते । वैदेहिकादन्ध्रमेदौ बहिर्ग्रामप्रतिश्रयो ॥ ३६ ॥

अर्थ-मृतक के वस्त्र को पहनने वाली और उच्छिष्ट भोजन करने वाली आयोगवी में अलग २ जातिहीन (तीन पुरुषों के भेद से) ये तीन उत्पन्न होते हैं ॥ ३५ ॥ निषाद से तौ कारावराख्य "चर्मकार" उत्पन्न होता है और वैदेह से "अन्ध्र" और "मेद" ग्राम के बाहर रहने वाले उत्पन्न होते हैं ॥ ३६ ॥

चण्डालात्पाण्डुसोपाकस्त्ववसारव्यवहारवान् । आहिण्डको  
निषादेन वैदेह्यामेव जायते ॥ ३७ ॥ चण्डालेन तु सोपाको मूल-  
व्यसनवृत्तिमान् । पुक्कस्यां जायते पापः सदा सज्जनगर्हितः ॥ ३८ ॥

अर्थ-चण्डाल से वैदेही में "पाण्डु सोपाक" नामक बांस के सूप पंखा आदि बनाके जीने वाला उत्पन्न होता है । और निषाद से वैदेही में ही "आहिण्डक" उत्पन्न होता है ॥ ३७ ॥ चण्डाल से पुक्कसी में पापात्मा सदा सज्जनों से निन्दित और जज्ञाद वृत्ति वाला "सोपाक" उत्पन्न होता है ॥ ३८ ॥

निषादस्त्रीतु चण्डालात्पुत्रमन्त्यावसायिनम् । श्मशानगोचरं  
सूते बाह्यानामपि गर्हितम् ॥ ३९ ॥ सङ्करे जातयस्त्वेताः पितृमातृ  
प्रदर्शिताः । प्रच्छन्नावा प्रकाशावा वेदितव्याः स्वकर्मभिः ॥ ४० ॥

अर्थ-निषाद की स्त्री चण्डाल से अधर्मों में भी निन्दित और चण्डालों से अतिनिकृष्ट श्मशाननिवासी और उसी वृत्ति से जीने वाला पुत्र उत्पन्न करती है ॥ ३९ ॥ वर्णसङ्करों में ये जाति बाप और मा के भेद से दिखाई । इन ढकी या खुली हुडियों को अपने अपने कर्मों से जानना चाहिये ॥ ४० ॥

सजातिजानन्तरजाः षट्सुताद्विजधर्मिणः । शूद्राणां तु सध-  
र्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः ॥ ४१ ॥ तपोबीजप्रभावैस्तु  
ते गच्छन्ति युगे युगे । उत्कर्षे चापकर्षे च मनुष्येष्विह जन्मतः ॥ ४२ ॥

अर्थ-द्विजातियों के समान जाति वाले (तीन पुत्र अर्थात् ब्राह्मण ब्राह्मणी से, इस क्रम से ३ और आनुलोम्य से तीन अर्थात् ब्राह्मण से क्षत्रिया, वैश्या में ये दो और क्षत्रिय से वैश्या में एक मिल के ३ इस प्रकार) ये छः



पुत्र द्विजधर्मी हैं । और ( सूतादि ) प्रतिलोमज सब शूद्रों के समान कहे हैं ॥४१॥ तपःप्रभाव से ( विश्वामित्रवत् ) और बीजप्रभाव से ( ऋष्यशृङ्गादिवत् ) सब युगों में मनुष्यों में जन्म की उच्चता और ( आगे कहे अनुसार ) नीचता को भी प्राप्त होते हैं ॥ ४२ ॥

शनकैस्तुक्रियालोपादिमाक्षत्रियजातयः । वृषलत्वंगतालोके  
ब्राह्मणादर्शनेनच ॥४३॥ पौण्ड्रकाश्रौद्रविडाःकाम्बोजायव-  
नाःशकाः । पारदापल्हवाश्रीनाः किरातादश्दाः खशाः ॥४४॥

अर्थ—ये क्षत्रियजातियें, क्रियालोप से और ( याजन अध्यापन प्रायश्चित्तादि के लिये ) ब्राह्मणों के न मिलने से लोगों में धीरे धीरे शूद्रता को प्राप्त हो गईं ( जैसे— ) ॥ ४३ ॥ पौण्ड्रक, औड्र, द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, अपल्हव, चीन, किरात, दरद और खश ॥ ४४ ॥

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयोऽसहिः । स्नेच्छवाचश्चार्य-  
वाचः सर्वतेदस्यवःस्मृताः ॥४५॥ येद्विजानामपसदा येचापध्वं-  
सजाःस्मृताः । ते निन्दितैर्वर्तयेयुर्द्विजानामैव कर्मभिः ॥४६॥

अर्थ—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रों की ( क्रियालोप से ) अधम जातियें स्नेच्छभाषायुक्त वा आर्यभाषायुक्त सब “दस्यु” कही गईं हैं ॥ ४५ ॥ जो पूर्व द्विजों के अनुलोम से अपसद और प्रतिलोम से अपध्वंसज कहे हैं, वे द्विजों के ही निन्दित कर्मों से आजीवन करें ॥ ४६ ॥

सूतानामश्वसारथ्यमम्बष्ठानांचिकित्सनम् । वैदेहकानांस्त्रीकार्यं  
मागधानां वणिक्पथः ॥४७॥ मत्स्यघातोनिषादानां त्वष्टिस्त्वा-  
योगवस्य च । मेदान्ध्रचुञ्चमद्गूनामारण्यपशुहिंसनम् ॥४८॥

अर्थ—सूतों का ( काम ) अश्व का सारथि होना, अम्बष्ठों का चिकित्सा, वैदेहों का अन्तःपुर का काम और मागधों का वन्यापन, ( इन कामों को करके ये जीवन करते हैं ) ॥ ४७ ॥ निषादों का मच्छ सारना और आयोगव का लकड़ी तोड़ना और मेद अन्ध्र चुञ्च और मद्गुनों का जङ्गली जानवरों को सारना ( पेशा ) है ॥ ४८ ॥



क्षत्तुग्रपुक्कसानां तु बिलौकोवधवन्धनम् । धिग्बणानां चर्म-  
कार्यं वेणानां भाण्डादन्नम् ॥४९॥ चैत्यद्रुमश्मशानेषु शैलेषु-  
पवनेषु च । वसेयुरेते विज्ञाता वर्तयन्तः स्वकर्मभिः ॥ ५० ॥

अर्थ—क्षत्ता, उग्र, पुक्कस; इन का (रोज़गार) बिल के रहने वाले जानवरों  
को मारना और बान्धना और धिग्बणों का चमड़े का काम बनाना और  
वेणों का बाजा बजाना ( काम ) है ॥ ४९ ॥ ग्राम के समीप प्रसिद्ध बड़े २  
वृक्षों के नीचे और श्मशान तथा पर्वत बाग बगीचों के पास अपने २ कामों  
को करने से प्रसिद्ध हुवे ये निवास करें ॥ ५० ॥

चण्डालश्चपचानांतु बहिर्ग्रामात्प्रतिश्रयः । अपपात्राश्च कर्तव्या  
धनमेषां श्वगर्दभम् ॥ ५१ ॥ वासांसि धृतचैलानि भिन्नभाण्डेषु  
भोजनम् । काष्ण्याय समलङ्कारः परिव्रज्या च नित्यशः ॥ ५२ ॥

अर्थ—चण्डालों और श्वपचों का निवास ग्राम के बाहर हो और निषिद्ध  
पात्र वाले रखने चाहियें और इन का धन कुत्ता और गधा है ॥ ५१ ॥ इन के  
कपड़े मुरदे के वस्त्र वा पुराने चिथड़े हों तथा फूटे बरतनों में भोजन, लोहे  
के आभूषण और घूमना स्वभाव ( यह इन का लक्षण है ) ॥ ५२ ॥

नतैः समयमन्विच्छेत्पुरुषो धर्ममाचरन् । व्यवहारो मिथस्तेषां  
विवाहः सदृशैः सह ॥ ५३ ॥ अन्नमेषां पराधीनं देयं स्याद्  
भिन्नभाजने । रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च ॥ ५४ ॥

अर्थ—धर्मानुष्ठान के समय में इन ( चण्डाल श्वपाक इत्यादि ) के साथ  
देखना बोलना आदि व्यवहार न करे । उन का व्यवहार और विवाह बराबर  
वालों के साथ हो ॥ ५३ ॥ इन को खपरे आदि में रख के अलग से पराधीन  
अन्न देना चाहिये और वे रात को ग्रामों और नगरों में न घूमें ॥ ५४ ॥

दिवाचरेयुः कार्यार्थं चिह्निताराजशासनैः । अवान्धवं शवं चैव  
निर्हरेयुरिति स्थितिः ॥ ५५ ॥ वध्यांश्च हन्युः सततं यथाशास्त्रं  
नृपाज्ञया । वध्यवासांसि गृह्णीयुः शय्याश्चाभरणानि च ॥ ५६ ॥



अर्थ-वे राजा की आज्ञा से चपड़ास पाये हुवे काम के लिये दिन में घूमें और बेवारिस मुरदे को लेजावें। यह मर्यादा है ॥५५॥ यथाशास्त्र राजा की आज्ञा से निरन्तर फांसी के योग्यों को फांसी दें और उस वध्य के कपड़े, शय्या और आभरणों को ग्रहण करें ॥

( ३९ वें तक मनु ने व्यभिचारोत्पन्न वर्णसङ्करों की नाना प्रकार के नामों से उत्पत्ति कही। उस का तात्पर्य यह है कि उन की व्यभिचारजनित वर्ण-सङ्करता की प्रसिद्धि रहे, आगे की लोग व्यभिचार न करें, वर्णसङ्करों को उत्पन्न न करें, आर्यसन्तान की उत्तरोत्तर उन्नति हो। परन्तु ४२ वें में यह बता दिया है कि तप आदि के प्रभाव से नीचे ऊंच हो जाते हैं। तथा ४३।४४ में पौण्ड्रकादि का ऊंचे से नीचा होजाना कहा है। ४६ से ५६ तक वर्णसङ्करों के नीचे तथा निन्दित काम राजद्वारा नियत किये हैं, जिस से उन की नीचे दशा को देखकर अन्यो को नीचत्व के भय के कारण व्यभिचारादि से घृणा हो ) ॥५६॥

वर्णापेक्षमविज्ञातं नरं कलुषयोनिजम् । आर्यरूपमिवानार्यं  
कर्मभिः स्वैर्विभावयेत् ॥ ५७ ॥ अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता  
निष्क्रियात्मता । पुरुषं व्यञ्जयन्ती ह लोके कलुषयोनिजम् ॥ ५८ ॥

अर्थ-( सङ्कर से हुवे ) रङ्ग बदले और नहीं पहचाने जाते हुवे देखने में आर्य से परन्तु यथार्थ में अनार्य, अधम पुरुष का निज २ कर्मों से निश्चय करे ॥ ५७ ॥ असम्पन्न और कठोरभाषणशीलता तथा कर्मानुष्ठान से रहितता; ये लक्षण इस लोक में नीचयोनिज पुरुष को प्रकट करते हैं ॥ ५८ ॥

पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा । न कथंचन दुर्योनिः  
प्रकृतिं स्वां नियच्छति ॥ ५९ ॥ कुले मुख्येऽपि जातस्य यस्य स्या-  
दोनिःसङ्करः । संप्रयत्येव तच्छीलं नरोऽल्पमपि वा बहु ॥ ६० ॥

अर्थ-यह वर्णसङ्कर से उत्पन्न हुवा पुरुष, पितृसम्बन्धी दुष्टस्वभाव का अथवा माता का या दोनों का स्वभाव स्वीकार करता है, किन्तु अपनी असंलियत छिपा नहीं सकता ॥ ५९ ॥ बड़े कुल में उत्पन्न हुवे का भी जिस का योनि से सङ्कर ( ढका छिपा ) हुवा है, वह अनुप्य योनि का स्वभाव थोड़ा या बहुत प्रकटता ही है ॥ ६० ॥



यत्र त्वेते परिध्वंसाज्जायन्ते वर्णदूषकाः। राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं  
क्षिप्रमेव विनश्यति ॥६१॥ ब्राह्मणार्थं गवार्थं वा देहत्यागोऽनुप-  
स्कृतः। स्त्रीबालाभ्युपपत्तौ च बाह्यानां सिद्धिकारणम् ॥६२॥

अर्थ-जिस राज्य में ये वर्णसङ्कर बहुत उत्पन्न होते हैं, वह राज्य वहाँ  
के निवासियों के सहित शीघ्र ही नाश को प्राप्त होजाता है ॥६१॥ ब्राह्मण,  
गाय, स्त्री, बालक, इन की रक्षा में दुष्ट प्रयोजन से रहित होकर प्रतिलोभजों  
का प्राणत्याग सिद्धि ( उच्चता ) का हेतु है ॥ ६२ ॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥ ६३ ॥

“ शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसाचेत्प्रजायते ।

अश्रेयान्श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद्युगात् ॥६४॥ ”

अर्थ-हिंसा न करना, सत्यभाषण, दूसरे का धन अन्याय से न लेना,  
पवित्र रहना और इन्द्रियों का निग्रह करना, यह संक्षेप से चारों वर्णों का  
धर्म ( मुक्त ) मनु ने कहा है ॥ ६३ ॥ “ शूद्रा में ब्राह्मण से पारशवाख्य वर्ण  
उत्पन्न होता है, यदि वह दैववश से स्त्रीगर्भ हो और वह स्त्री दूसरे ब्राह्मण  
से विवाह करे और फिर उस की कन्या तीसरे ब्राह्मण से विवाह करे, इस  
प्रकार सातवें जन्म में ब्राह्मणता को प्राप्त होता है ॥ ”

( यह श्लोक इस लिये असान्य है कि शूद्रागामी ब्राह्मण तृतीयाध्याया-  
नुसार पतित हो जाता है, तो ऐसे सात ब्राह्मणों को ७ पीढ़ी तक पतित  
कराने वाला श्लोक मनु का सम्मत हो, सो ठीक नहीं जान पड़ता ) ॥६४॥

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्। क्षत्रियाज्जातमेवंतु  
विदाद्वैश्यात्तथैव च ॥६५॥ अनार्यायां समुत्पन्नो ब्राह्मणात्तु  
यदृच्छया। ब्राह्मण्यामप्यनार्यात्तु श्रेयस्त्वं क्वेति चेद्वेत् ॥६६॥

अर्थ-ब्राह्मण शूद्रता को प्राप्त होजाता है और शूद्र ब्राह्मणता को प्राप्त हो  
जाता है। क्षत्रिय से उत्पन्न हुवा भी इसी प्रकार और वैसे ही वैश्य से हुवा पुरुष  
भी अन्य वर्ण को प्राप्त होता जानना चाहिये ॥६५॥ जो संयोगवश से ब्राह्मण से  
शूद्रा में उत्पन्न हुवा और जो शूद्र से ब्राह्मणी में उत्पन्न हुवा, इन दोनों में  
अच्छापन किस में है ? यदि यह संशय हो ( तो उत्तर यह है कि:- ) ॥६६॥



जातो नार्याम नार्यायामार्यादार्याभवेद्गुणैः । जातोऽप्यनार्या-  
दार्यायामनार्य इति निश्चयः ॥ ६७ ॥ तावुभावप्यसंस्कार्याविति  
धर्माव्यवस्थितः । वैगुण्याज्जन्मनःपूर्व उत्तरःप्रतिलोमतः ॥ ६८ ॥

अर्थ-१ अनार्या स्त्री में आर्य से उत्पन्न हुवा, गुणों से आर्य हो सकता है और दो २ शूद्र से ब्राह्मणी स्त्री में उत्पन्न हुवा गुणों से शूद्र उत्पन्न होना संभव है । यह निश्चय है ॥ ६७ ॥ धर्म की मर्यादा है कि १ पहला शूद्रा में उत्पन्न होने के रूप जाति की विगुणता से और २ दूसरा प्रतिलोम से उत्पन्न होने के कारण; ऐसे ये दोनों उपनयन के अयोग्य हैं ॥ ६८ ॥

सुब्रीजं चैव सुक्षेत्रे जातं संपदाते यथा । तथार्थाज्जात आर्यायां  
सर्वं संस्कारमर्हति ॥ ६९ ॥ बीजमेके प्रशंसन्ति क्षेत्रमन्ये मनी-  
षिणः । बीजक्षेत्रे तथैवान्ये तत्रेयं तु व्यवस्थितिः ॥ ७० ॥

अर्थ-जैसे अच्छा बीज खेत में बोया हुआ समृद्ध हो जाता है, वैसे ही आर्या में आर्य से उत्पन्न हुवा संपूर्ण उपनयनादि संस्कार के योग्य है ॥ ६९ ॥ कोई विद्वान् बीज को और कोई खेत को और अन्य कोई दोनों को प्रधान कहते हैं, उन में यह व्यवस्था है कि-॥ ७० ॥

अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरेव विनश्यति ।

अबीजक्रमपि क्षेत्रं केवलं स्थण्डिलं भवेत् ॥ ७१ ॥

“यस्माद्बीजप्रभावेण तिर्यग्जाऋषयोऽभवन् ।

पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद्बीजं प्रशस्यते ॥ ७२ ॥”

अर्थ-ऊपर में बोया हुआ बीज भीतर ही नाश हो जाता है और बीजराहित अच्छा भी खेत कोरा चौतरा ही रहेगा ( इस से दोनों ही अपने २ गुण में मुख्य हैं ॥ यहां तक बीज और क्षेत्र की प्रधानता के विवाद में गुण कर्मों का वर्णन नहीं है किन्तु स्वभाव, जो कि प्रायः रज वीर्य के शुद्धाशुद्ध होने से शुद्धाशुद्ध होता है, उस में ही यह विचार प्रवृत्त किया है कि दोनों में प्रबलता किस को है ) ॥ ७१ ॥ “बीज के साहाय्य से तिर्यग् योनि ( अर्थात् हरिणादि से उत्पन्न हुवे शृङ्गी ऋष्यादि ) ऋषित्व, पूजन और स्तुति को प्राप्त हुवे । इस से बीज की प्रधानता है” ( प्रथम तौ तिर्यग्योनि



में मनुष्ययोनि उत्पन्न नहीं हो सकती । दूसरे शृङ्गी ऋष्यादि की कथायें पीछे की हैं । मनु उन का भूतकाल करके वर्णन नहीं कर सकते थे ) ॥ ७२ ॥

अनार्यमार्यकर्माणमार्यं चानार्यकर्मिणम् ।

संप्रधार्याऽब्रवीद्वाता न समौ नाऽसमाविति ॥ ७३ ॥

अर्थ-द्विज, शूद्रों के कर्म करने वाले और शूद्र, द्विजों के कर्म करने वाले, इन को ब्रह्मा ने विचार कर कहा कि न ये सम हैं, न असम हैं ॥ ( क्योंकि गुणों और स्वभावों के बिना केवल कर्म से, अनार्य आर्य नहीं हो सकते । और गुणों तथा स्वभावों से युक्त आर्य, केवल कर्महीन हो जाने से अनार्य नहीं हो सकता । अर्थात् मनु जी कहते हैं कि केवल कर्म से हम कोई व्यवस्था नहीं दे सकते । किन्तु गुण कर्म स्वभाव सब पर दृष्टि डाल कर व्यवस्थापक विद्वान् वा सभा को व्यवस्था देनी चाहिये । मेधातिथि कहते हैं कि यहां तक वर्णसङ्करों की निन्दा और कर्मों की प्रशंसारूप अर्थवाद ही है । विधि वा निषेध कुछ नहीं ) ॥ ७३ ॥

ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ये स्वकर्मण्यवस्थिताः ।

ते सम्यगुपजीवेयुः षट् कर्माणि यथाक्रमम् ॥ ७४ ॥

अर्थ-जो ब्रह्मयोनिस्थ ब्राह्मण हैं और अपने कर्म से रहते हैं वे क्रम से अच्छे प्रकार ( इन ) छः कर्मों का अनुष्ठान करें ॥ ७४ ॥

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा । दानं प्रतिग्रहश्चैव षट् कर्माण्यग्रजन्मनः ॥ ७५ ॥ षण्णां तु कर्माणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका । याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥ ७६ ॥

अर्थ-१ पढ़ना, २ पढ़ाना, ३ यज्ञ करना और ४ कराना, ५ दान देना, और ६ लेना; ब्राह्मण के ये छः कर्म हैं ॥ ७५ ॥ छः कर्मों में से इस ब्राह्मण की तीन कर्म जीविका हैं । १ यज्ञ कराना, २ पढ़ाना और ३ शुद्ध (द्विजातियों) से दान लेना ॥ ७६ ॥

अथो धर्मानिवर्तन्ते ब्राह्मणात्क्षत्रियं प्रति । अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः ॥ ७७ ॥ वैश्यं प्रति तथैवैते निवर्तेरन्निति स्थितिः । न तौ प्रति हि तान्धर्मान्मनुराह प्रजापतिः ॥ ७८ ॥



अर्थ—ब्राह्मण के धर्मों से क्षत्रिय के तीन धर्म छूटे हैं, १ पढ़ाना, २ यज्ञ कराना और ३ दान लेना ( अर्थात् इन को क्षत्रिय न करे ) ॥ ११ ॥ वैश्य के भी इसी प्रकार तीन धर्म छूटें । इस प्रकार सयादा है क्योंकि क्षत्रिय वैश्यों को जीविकार्थ उन धर्मों को ( मुक्त ) मनु प्रजापति ने नहीं कहा है ॥ १८ ॥  
 शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य वाणिज्यपशुकृषिर्विशः । आजीवनार्थं धर्म-  
 स्तु दानमध्ययनं यजिः ॥ ७६ ॥ वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य  
 च रक्षणम् । वार्ताकर्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु ॥ ८० ॥

अर्थ—क्षत्रियों का शस्त्र अस्त्र धारण करना और वैश्य का व्यापार, गाय बैल आदि का रखना और खेती; ये कर्म दोनों के आजीवनार्थ कहे हैं और दान देना, पढ़ाना, यज्ञ करना, ( दोनों का ) धर्म कहा है ॥ ७९ ॥ ब्राह्मण का वेदाभ्यास करना, क्षत्रिय का रक्षा करना और वैश्य का वाणिज्य करना; अपने अपने कर्मों में विशेष कर्म हैं ॥ ८० ॥

अ जीवस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा । जीवेत्क्षत्रियधर्मेण  
 सहास्यप्रत्यनन्तरः ॥ ८१ ॥ उभाभ्यामप्यजीवस्तु कथं स्यादिति  
 चेद्भवेत् । कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम् ॥ ८२ ॥

अर्थ—ब्राह्मण अपने यथोक्त कर्म से निर्वाह न कर सकता हुवा ( आपत्काल में ) क्षत्रिय के धर्म से अपना आजीवन करे क्योंकि वह इस के समीप है ॥ ८१ ॥ दोनों ( ब्राह्मण और क्षत्रियों की जीविकाओं ) से न जी सकता हुवा कैसे जीवन करे ? ऐसा संशय हो तो कृषि और गोरक्षा करके ( ब्राह्मण ) वैश्य की जीविका करे ॥ ८२ ॥

वैश्यवृत्त्यापि जीवस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा । हिंसाप्रायां  
 पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत् ॥ ८३ ॥ कृषिं साधिव्रतिमन्यन्ते सावृत्तिः  
 सद्विगर्हिता । भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयो मुखम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—ब्राह्मण और क्षत्रिय वैश्यवृत्ति करके जीते हुवे भी बहुत हिंसा वाली और पराधीन खेती को यत्न से छोड़ दें ॥ ८३ ॥ “खेती अच्छी है” ऐसा ( कोई ) कहते हैं । परन्तु यह वृत्ति साधुओं से निन्दित है क्योंकि कुदाल हलादि छोड़ा लगा हुवा काष्ठ मूनि और मूनि के रहने वाले शत्रुओं का भी नाश करता है ॥ ८४ ॥



इदं तु वृत्तिवैकल्यात्त्यजतो धर्मनैपुणम् । विट्पण्यमुदधृतो-  
द्धारं विक्रेयं वित्तवर्धनम् ॥ ८५ ॥ सर्वान् रसानपोहेत कृतानां च  
तिलैः सह । अश्मनोलवणं चैव पशवो ये च मानुषाः ॥ ८६ ॥

अर्थ-ब्राह्मण क्षत्रियों को अपनी वृत्ति के न होने या धर्म की यथोक्त  
निष्ठा को छोड़ते हों तब वैश्य के बेचने योग्य द्रव्यों में से आगे कहे हुवे को  
छोड़कर धनवृद्धिकारक विक्रय करना योग्य है ॥ ८५ ॥ सम्पूर्ण रसों, पकाये  
अनाज तिलों के सहित, पत्थर नमक और मनुष्यों के पालनीय पशु; इन को  
न बेचे ॥ ८६ ॥

सर्वे च तान्त्वन् रक्तं शाणक्षौमाविकानि च । अपि चेतस्युरऽ-  
रक्तानि फलमूले तथौषधीः ॥ ८७ ॥ अपः शस्त्रं विषं मांसं सोमं  
गन्धांश्च सर्वशः । क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं तैलं मधु गुडं कुशान् ॥ ८८ ॥

अर्थ-सब रङ्ग के तथा सन के कपड़े और रेशमी ऊनी कपड़े रंगे वा बिना  
रंगे भी हों और फल मूल तथा औषधियों को (न बेचे) ॥ ८७ ॥ जल, शस्त्र, विष, मांस,  
सोमवल्ली तथा सब प्रकार के गन्ध, दूध, शहद, दही, घी, तेल, मधु ( एक  
पुस्तक में मधु=मज्जा पाठ है ) गुड़ और कुशा ( इन को भी न बेचे ) ॥ ८८ ॥

आरण्यांश्च पशून्सर्वान्दंष्ट्रिणश्च वयांसि च । मद्यं नीलिं च लाक्षां  
च सर्वांश्चैकशफांस्तथा ॥ ८९ ॥ काममुत्पाद्य कृष्यां तु स्वयमेव कृ-  
षीवलः । विक्रीणीत तिलान्शूद्रान्धर्मार्थमचिरस्थितान् ॥ ९० ॥

अर्थ-जङ्गली सब पशु तथा दांतों वाले ( कुत्ते आदि ) और पक्षियों  
तथा मद्य, नील, लाख और एक खुर वाले घोड़े आदि ( इन को भी न बेचे )  
॥ ८९ ॥ खेती वाला आप ही खेती में तिलों को उत्पन्न करके दूसरे द्रव्य से  
बिना मिलाये हुवे तिलों का बहुत दिन न रखकर धर्मकार्य में लगाने निमित्त  
चाहे तो विक्रय करले ॥

“शूद्रान्” की जगह “शूद्रान्” पाठ की ज्यों टीकाकारों ने व्याख्या की है  
“शूद्रान्” की किसी ने नहीं । परन्तु ५ मूल पुस्तकों को छोड़ शेष २५ पुस्तकों  
में मूल का पाठ “शूद्रान्” ही है । ८९ वें से आगे एक पुस्तक में यह श्लोक  
अधिक है कि-



[त्रपु सीसं तथा लोहं तैजसानि च सर्वशः ।

बालांश्चर्म तथाऽस्थीनि सस्नायूनि च वर्जयेत् ]

इस पर नन्दन का भाष्य भी है । अर्थ यह है कि रांग, सीसा तथा लोहा और सब चमकीले धातु और बाल, चमड़ा तथा तांत लिपटी हड्डी ( न बेचे ॥ जैसा महाभाष्य में तैल मांस विक्रय का निषेध और सरसों तथा गौ आदि के विक्रय की विधि कही है वैसा ही यह है । क्योंकि अत्यन्त मलिन और पापजनक वृत्ति से बचना चाहिये ॥ ९० ॥

भोजनाभ्यञ्जनादानाद्यदन्यत्कुरुते तिलैः । कृमिभूतः श्वविष्टायां पितृभिः सह मज्जति ॥ ९१ ॥ सदाः पतनि मांसेन लाक्षया लवणेन च । त्र्यहेण शूद्रीभवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ॥ ९२ ॥

अर्थ-भोजन, अभ्यञ्जन और दान के सिवाय जो कोई तिलों से और कुछ करता है वह कृमि बनकर पितरों के साथ कुत्ते की विष्टा में डूबता है ॥ ९१ ॥ मांस, लाख और लवण के बेचने से ब्राह्मण उसी समय पतित होजाता है और दूध के बेचने से ( ब्राह्मण ) तीन दिन में शूद्रता को प्राप्त होता है ॥ ९२ ॥

इतरेषां तु पश्यानां विक्रयादिह कामतः । ब्राह्मणः सप्तरात्रेण वैश्यभावं नियच्छति ॥ ९३ ॥ रसारसैर्निमातव्या न त्वेव लवणं रसैः । कृतान्नं चाकृतान्नेन तिलाधान्येन तत्समाः ॥ ९४ ॥ \*

अर्थ-ब्राह्मण उक्त मांसादि से अतिरिक्त पश्यों को इच्छापूर्वक बेचने से सात दिन में वैश्य हो जाता है ॥ ९३ ॥ गुड़ादि का घृतादि से बदला कर लेवे परन्तु लवण का दूध से बदला न करे । सिद्ध किया अन्न विना सिद्ध किये अन्न से बदलले और तिल धान्य के समान हैं, ( धान्य से बदल लेवे ) ॥ ९४ ॥ जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः । न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित् ॥ ९५ ॥ योलोभादधमोजात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः । तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥ ९६ ॥

\* यद्यपि ८५ से ९४ तक १० श्लोकों की पहले ४ बार छापे में और इस ५ वीं बार भी सूची में प्रक्षिप्त लिखा गया, परन्तु अब विचार से वह अयुक्त जान कर बदल दिया है ॥ तु० रा० स्वामी



अर्थ-आपत्ति को प्राप्त क्षत्रिय भी इस सब विधि से (वैश्यवत्) जीवन करे, परन्तु कदापि ब्राह्मण की वृत्ति का अभिमान न करे ॥ ९५ ॥ जो निकृष्ट जाति से उत्पन्न हुआ, (विना व्यवस्थापकों से विधिपूर्वक उच्चता पाये, आप ही आप) लोभ से उत्कृष्ट जाति की वृत्ति करे उस को राजा निर्धन करके देश से निकाल देवे ॥ ९६ ॥

वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः । परधर्मेण जीवन्निह सदाः पतति जातितः ॥ ९७ ॥ वैश्योऽजीवन्स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्त्तयेत् । अनाचरन्नकार्याणि निवर्त्तत च शक्तिमान् ॥ ९८ ॥

अर्थ-अपना धर्म (काम छोटा मोटा भी श्रेष्ठ है और दूसरे का अच्छा अनुष्ठान किया हुआ भी श्रेष्ठ नहीं) । क्योंकि पराये धर्म (पेशे) का आचरण करके जीविका करता हुआ उसी समय अपनी जाति से पतित हो जाता है ॥ ९७ ॥ वैश्य अपनी वृत्ति से जीवन न कर सकता हुआ शूद्रवृत्ति (द्विजातियों की सेवा) भी करले परन्तु अकार्य को छोड़ कर, और होसके तो सर्वथा ही बचे ॥ ९८ ॥

अशक्तुर्वस्तुशुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम् । पुत्रदारात्ययं प्राप्नो जीवेत्कारुककर्मभिः ॥ ९९ ॥ यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः । तानिकारुककर्माणि शिल्पानिविविधानि च ॥ १०० ॥

अर्थ-द्विजों की शुश्रूषा करने को असमर्थ शूद्र क्षुधा से पुत्र कलत्र आदि को कष्ट प्राप्त होते हुवे कारुक कर्मों (सूपकारत्वादि) से जीवन करे ॥ ९९ ॥ जिन प्रचरित कर्मों से द्विजातियों की शुश्रूषा करते हैं, उन को और नाना प्रकार के शिल्पों को भी कारुक कर्म कहते हैं ॥ १०० ॥

“वैश्यवृत्तिमनातिष्ठन्ब्राह्मणः स्वे पथि स्थितः । अवृत्तिकर्षितः सीदन्निमं धर्मं समाचरेत् ॥ १०१ ॥ सर्वतः प्रतिगृहीयाद् ब्राह्मण-स्त्वनयं गतः । पवित्रं दुष्यतीत्येतद् धर्मतो नोपपद्यते ॥ १०२ ॥ ”

“अर्थ-अपने मार्ग में स्थित ब्राह्मण जीविका के न होने से पीड़ा को प्राप्त हुआ वैश्यवृत्ति को भी न कर सके तो इस वृत्ति को करे कि:- ॥ १०१ ॥ विपत्ति को प्राप्त हुआ ब्राह्मण सब से दान लेलेवे, क्योंकि पवित्र को दोष लगना धर्म से नहीं पाया जाता ॥ १०२ ॥ ”



“नाध्यापनाद्याजनादा गर्हितादा प्रतिग्रहात् । दोषो भवति विप्राणां  
ज्वलनाम्बुसमाहि ते ॥ १०३ ॥ जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति  
यतस्ततः । आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते ॥ १०४ ॥”

“अर्थ-ब्राह्मणों को निन्दित पढ़ाने और यज्ञ कराने तथा प्रतिग्रह से  
दोष नहीं होता, क्योंकि वे पानी तथा आग के समान हैं (दो पुस्तकों में  
‘ज्वलनार्कसमाहि ते’ और एक में ‘ज्वलनः कंसमाहितः’ भी पाठ भेद है) ॥ १०३ ॥  
जो प्राणात्यय को प्राप्त हुआ जहां तहां अन्न भोजन करता है, वह कीचड़  
से आकाश के समान उस पाप से लिप्त नहीं होता ॥ १०४ ॥”

“अजीगर्तः सुतं हन्तुमुपासर्पद्वुभुक्षितः । न चालिप्यत पापेन  
क्षुत्प्रतीकारमाचरन् ॥ १०५ ॥ श्वमांसमिच्छन्नातोत्तुं धर्माधर्म-  
विचक्षणः । प्राणानां परिरक्षार्थं वामदेवो न लिप्तवान् ॥ १०६ ॥”

“अर्थ-अजीगर्त नाम ऋषि उभुक्षित हुआ, पुत्र को मारने को चला, परन्तु  
क्षुधा के दूर करने को वैसा करता हुआ पाप से लिप्त नहीं हुआ ॥ १०५ ॥ वाम-  
देव धर्म अधर्म का जानने वाला, क्षुधा से पीड़ित हुआ, प्राण की रक्षार्थ कुत्ते  
के मांस खाने की इच्छा करता हुआ पाप से लिप्त नहीं हुआ ॥ १०६ ॥”

“भरद्वाजः क्षुधार्तस्तु सपुत्रो विजने वने । वद्वीर्गाः प्रतिजग्राह  
वृधोस्तक्ष्णो महातपाः ॥ १०७ ॥ क्षुधार्तश्चात्तुमभ्यागादिश्वामित्रः  
श्वजाघनीम् । चण्डालहस्तादादाय धर्माधर्मविचक्षणः ॥ १०८ ॥”

“अर्थ-बड़े तपस्वी पुत्र के सहित निर्जन वन में क्षुधा से पीड़ित हुवे  
भरद्वाज ने वृधनामा बड़ई की बहुत सी गायों को ग्रहण किया ॥ १०७ ॥ धर्म  
अधर्म के जानने वाले विश्वामित्र ऋषि क्षुधा से पीड़ित हुवे, चण्डाल के हाथ  
से लेकर कुत्ते की जांच का मांस लेकर खाने को तैयार हुवे ॥”

(यद्यपि १०१ से १०४ तक भी श्लोक असान्य हैं । क्योंकि आपत्काल में  
भी आपदुर्म से नीचे न गिरना चाहिये और पूर्व सन्तु जी कह भी आये हैं  
कि स्वधर्म त्याग से पतितता होती है, परन्तु यदि यहां आपत्काल का तात्पर्य  
प्राणसङ्कट हो, अर्थात् कभी दैवयोग से कहीं ऐसा अवसर आजावे कि सर्वथा  
ही प्राण न बच सकते हों, तो प्राणरक्षार्थ ये श्लोक मान्य भी समझे जा सकते



हैं और प्राणों को भी चर्मार्थ न्यूद्धावर कर देना तो बहुत ही अच्छा है । परन्तु कोई २ विद्वान् जगत् के सहान् उपकारक हैं, यदि वे अपने प्राणों को परोपकारार्थ बचाते हुवे निषिद्ध प्रतिग्रहादि ले भी लें और इस को धर्म भी मान लिया जावे तो इस में तो सन्देह ही नहीं कि १०५ से १०८ तक के ४ श्लोक तो अवश्य ही मनुप्रोक्त वा भृगुप्रोक्त भी नहीं । जिन में मनु से पश्चात् हुवे अजीगर्त वामदेव आदि की कथा को भूतकाल से वर्णन किया है ) ॥ १०८ ॥

प्रतिग्रहाद्याजनाद्वा तथैवाध्यापनादपि । प्रतिग्रहः प्रत्यवरः  
प्रेत्य विप्रस्य गार्हितः ॥ १०९ ॥ याजनाध्यापने नित्यं क्रियेते संस्कृ-  
तात्मनाम् । प्रतिग्रहस्तु क्रियते शूद्रादप्यन्त्यजन्मनः ॥ ११० ॥

अर्थ-प्रतिग्रह, याजन, अध्यापन; इन में बुरा दान लेना ब्राह्मण को परलोक में बहुत नीचता का हेतु है ( इस लिये याजन अध्यापन से जब तक काम चले तब तक निन्दित प्रतिग्रह न लेवे ) ॥ १०९ ॥ क्योंकि याजन और अध्यापन तो उपनयनादि संस्कार वाले द्विजों ही का सर्वदा किया कराया जाता है परन्तु प्रतिग्रह तो मन्त्य जन्म वाले शूद्र से भी लिया जाता है ॥ ११० ॥

जपहोमैरपैत्येनो याजनाध्यापनैः कृतम् । प्रतिग्रहनिमित्तं तु  
त्यागेन तपसैव च ॥ १११ ॥ शिलोञ्जमप्याददीत विप्रोऽजीवन्य-  
तस्ततः । प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयांस्ततोऽप्युञ्जः प्रशस्यते ॥ ११२ ॥

अर्थ-असत् याजन और अध्यापन से उत्पन्न हुवा पाप तो जप होमों से दूर हो जाता है, परन्तु प्रतिग्रहनिमित्तक पाप, त्याग तथा तप से ही दूर होता है ॥ १११ ॥ ब्राह्मण अपनी वृत्ति से जीवन न कर सकता हुवा इधर उधर से शिलोञ्जों को भी ग्रहण करे ( अर्थात् शिलोञ्जों के होते हुवे निन्दित प्रतिग्रह न ले ) क्योंकि प्रतिग्रह से शिल चुगना श्रेष्ठ है और शिल से भी उञ्ज ( चुगे पर चुगना ) श्रेष्ठ है ॥ ११२ ॥

सीदद्भिः कुप्यमिच्छद्भिर्धनं वा पृथिवीपतिः । याच्यः स्यात्स्ना-  
तकैर्विप्रैरदित्संस्त्यागमर्हति ॥ ११३ ॥ अकृतं च कृतात्क्षेत्राद्  
गौरजाविकमेव च । हिरण्यं धान्यमन्नं च पूर्वं पूर्वमदोषवत् ॥ ११४ ॥



सप्तवित्तागमाधर्म्या दायोलाभः क्रयोजयः । प्रयोगः कर्मयोगश्च  
सत्प्रतिग्रहएवच ॥११५॥ विद्याशिल्पभृतिः सेवा गोरक्षं विपणिः  
कृषिः । धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः ॥ ११६ ॥

अर्थ—धान्य कुप्य और धन की इच्छा करने वाले, कुटुम्बादि पोषण के  
लिये धन के न होने से पीडित हुये स्नातक विप्रों को राजा से याचना करनी  
योग्य है, परन्तु जो राजा देना नहीं चाहता वह याचना करने के योग्य नहीं  
है ॥११३॥ बनाये हुये खेत से बने बनाया खेत, गाय बकरी भेड़, सौना, धान्य  
और अन्न में (यथासंभव) पहिले २ में कम दोष है ॥११४॥ धर्म से प्राप्त इन  
सात प्रकार के धनों का आगम धर्मानुकूल है—प्रथम वंश से चले आये हुये  
धन का दायभाग, दूसरा भूमि आदि में दबा धन मिल जाना, तीसरे बेचना,  
चौथे सद्गाम में जय करना, पांचवें व्याज आदि से बढ़ाना वा खेती करना  
आदि, छठा नौकरी करना और सातवां सज्जन से दान लेना ॥११५॥ ये दश  
जीवन के हेतु हैं—१ विद्या, २ कारीगरी, ३ नौकरी, ४ सेवा, ५ पशुपक्षा,  
६ दुकानदारी, ७ खेती, ८ सन्तोष, ९ भिक्षा और १० व्याज ॥ ११६ ॥

ब्राह्मणः क्षत्रियोवापि वृद्धिर्नैव प्रयोजयेत् । कामंतु खलु धर्मार्थं  
दद्यात्पापीयसेऽल्पिकाम् ॥११७॥ चतुर्थमाददानोऽपि क्षत्रियो  
भागमापदि । प्रजारक्षन्परं शक्त्या किलिबषात्प्रतिमुच्यते ॥११८॥

अर्थ—ब्राह्मण और क्षत्रिय सूद से धन बढ़ाने को न दे । आपत्काल में  
चाहे तो धर्मकर्मनिर्वाहार्थ नीच लोगों को थोड़ा धन दे दे और थोड़ी सी वृद्धि  
ले ले ॥ ११७ ॥ आपत्काल में धनादि का चतुर्थ भाग भी चाहे ग्रहण करता  
हो, परन्तु शक्ति से प्रजा की रक्षा करता हुआ राजा उस (अधिक कर लेने  
के) पाप से छूट जाता है ॥ ११८ ॥

स्वधर्मो विजयस्तस्य नाहवे स्यात्पराङ्मुखः । शस्त्रेण वैश्यान्  
रक्षित्वा धर्म्यमाहारयेद्वलिम् ॥११९॥ धान्येऽष्टमं विशां शुल्कं  
विंशं कार्षापणावरम् । कर्मोपकरणाः शूद्राः कारवः शिल्पिनस्तथा

अर्थ—शत्रु का जय करना राजा का स्वधर्म है । संग्राम में पीठ न देवे ।  
शस्त्र से वैश्यों की रक्षा करके उन से उचित कर लेवे ॥११९॥ वैश्यों के धान्य



में उपचय ( नफे ) में आठवें भाग को राजा ग्रहण करे । और कार्षापण तक सराफ़ी के लाभ पर २० वां भाग ले ( पहिले धान्य का १२ वां और सुवर्णादि का ५० वां कहा था, यहां आपत्काल में अधिक कहा है । तथा शूद्र कारीगर बढ़ई आदि काम करके कार्यरूप ही कर देने वाले हैं ( इन से विपत्ति में भी कर न लेवे ) ॥ १२० ॥

शूद्रस्तुवृत्तिमाकाङ्क्षन्क्षत्रमाराधयेद्यदि धनिनं वा पशुपाराध्य वैश्यं शूद्रोजिजीविषेत् ॥१२१॥ स्वर्गार्थमुभयार्थं वा विप्रानाराधयेत्तु सः । जातब्राह्मणशब्दस्य साहाय्यकृतकृत्यता ॥१२२॥

अर्थ शूद्र यदि जीविका चाहे तौ क्षत्रिय की सेवा करे अथवा धनी वैश्य की सेवा करके निर्वाह करे ॥ १२१ ॥ स्वर्ग और अपनी वृत्ति की इच्छा वाला शूद्र ब्राह्मण की सेवा करे । “ ब्राह्मण का सेवक ” इस शब्द ही से इस की कृतकृत्यता है ( “ या तु ब्राह्मणसेवाऽस्य ” यह एक पुस्तक में तृतीयपाद का पाठान्तर है ) ॥ १२२ ॥

विप्रसैवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते । यदतोऽन्यद्भिः कुरुते तद्व्यत्यस्य निष्फलम् ॥१२३॥ प्रकल्पया तस्य तैर्वृत्तिः स्वकुटुम्बादुपार्हतः । शक्तिं चावेक्ष्य दाक्ष्यं च भृत्यानां च परिग्रहम् ॥१२४॥

अर्थ-क्योंकि ब्राह्मण की सेवा शूद्र को अन्य कर्मों से श्रेष्ठ कर्म कहा है, इस लिये इस से अतिरिक्त जो कुछ करता है, वह इसका निष्फल है ॥ १२३ ॥ उस परिचारक शूद्र की परिचर्या सामर्थ्य और काम में चतुराई तथा उस के घर के पोष्यवर्ग का व्यय देख कर अपने घर के अनुसार उन ( द्विजों ) की जीविका नियत कर देनी चाहिये ॥ १२४ ॥

उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानिवसनानि चापुलाकाश्चैव धान्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदाः ॥१२५॥ न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति । नास्याधिकारो धर्मोऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम् ॥१२६॥

अर्थ-भोजन से बचा अन्न और पुराने कपड़े और धान्यों की छटन तथा पुराना बरतन भाण्डा देना चाहिये ॥ १२५ ॥ सेवक शूद्र को ( द्विजों के घर



का ) कोई पातक नहीं है और न कोई संस्कार योग्य है । क्योंकि न ती ( उन द्विजों के ) धर्म में इस को अधिकार है और न ( अपने ) धर्म से इस को निषेध है ॥ १२६ ॥

धर्मस्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः ।

मन्त्रवर्जं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च ॥ १२७ ॥

अर्थ-धर्म की इच्छा वाले तथा धर्म को जानने वाले शूद्र मन्त्रवर्जित सत्-पुरुषों का आचरण करते हुवे दोष को नहीं किन्तु प्रशंसा को प्राप्त होते हैं ॥

(भाव यह है कि धर्मकार्य यज्ञादि करने का शूद्रों को अधिकार [इस्तहक्काक] नहीं है । अर्थात् यदि द्विज लोग किसी शूद्र को अयोग्य समझ कर रोकें तो उस का यह अधिकार [इस्तहक्काक] नहीं है कि वह राजद्वारादि से कानूनन अपना स्वत्व सिद्ध कर पावे । परन्तु उस को धर्म करने की मनाई भी नहीं है कि शूद्र धर्म करे ही नहीं, किन्तु [धर्मस्सवः] यदि शूद्र धर्म करना चाहें और ( धर्मज्ञाः ) धर्म करना जानते भी हों तो बिना वेदमन्त्रों के उच्चारण ही यज्ञ होमादि कर सकते हैं, उस में उन को असन्त्र होम का कोई दोष नहीं [ क्योंकि वे पढ़ना जानते ही नहीं ] प्रत्युत उन की प्रशंसा होती है कि वे धर्म में श्रद्धा करते हैं ) ॥ १२७ ॥

यथा यथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः ।

तथा तथेमं चामुं च लोकं प्राप्नोत्यऽनिन्दितः ॥ १२८ ॥

अर्थ-निन्दारहित शूद्र जैसे २ गर्व छोड़ कर अच्छे आचरण करता है, वैसे २ इस लोक तथा परलोक में उत्कृष्टता को प्राप्त होता है ॥ १२८ ॥

शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसञ्चयः । शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते ॥ १२९ ॥ एते चतुर्णां वर्णानामापदुर्माः प्रकीर्तिताः । यान्सम्यगनुतिष्ठन्तो ब्रजन्ति परमां गतिम् ॥ १३० ॥

अर्थ-समर्थ शूद्र को भी धनसञ्चय न करना चाहिये क्योंकि शूद्र धनको पाकर ब्राह्मणादि को ही बाधा देता है ॥ १२९ ॥ ये चारों वर्णों के आपत्-काल के धर्म कहे । जिन को अच्छे प्रकार आचरण करते हुवे ( मनुष्य ) मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ १३० ॥



एषधर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्तितः ।

अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तविधिं शुभम् ॥ १३१ ॥

अर्थ—यह सम्पूर्ण चारों वर्णों की कर्मविधि कही । इस के उपरान्त शुभ प्रायश्चित्तविधि कहूंगा ॥ १३१ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे ( भृगुप्रोक्तायां संहितायां )

दशमोऽध्यायः

॥ १० ॥

इति श्री तुलसीराम स्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे

दशमोऽध्यायः

॥ १० ॥





ओ३म्

## अथ एकादशोऽध्यायः

सान्तानिकं यक्ष्यमाणमध्वगं सर्ववेदसम् । गुर्वर्थं पितृमात्रर्थं  
स्वाध्यायार्थमुपतापिनौ ॥ १ ॥ नवैतान्स्नातकान्विद्याब्राह्मणान्  
धर्मभिक्षुकान् । निःस्वेभ्यो देयमेतेभ्यो दानं विद्याविशेषतः ॥ २ ॥

अर्थ—सन्तानार्थ विवाह के प्रयोजन वाला और ज्योतिष्टोमादि यज्ञ करने  
की इच्छा वाला तथा मार्ग चलने वाला और जिस ने सम्पूर्ण धन दक्षिणा  
देकर यज्ञ में लगा दिया वह, और गुरु तथा माता और पिता के लिये धन  
का अर्थी और विद्यार्थी और रोगी ॥ १ ॥ इन ९ स्नातकों को धर्मभिक्षुक  
ब्राह्मण जाने और ये निर्धन हों तो इन को विद्या की विशेषता के अनुसार  
दान देना चाहिये ॥ २ ॥

एतेभ्यो हि द्विजाग्रेभ्यो देयमन्नं सदक्षिणम् । इतरेभ्यो बहि-  
र्वेदि कृतान्नं देयमुच्यते ॥ ३ ॥ सर्वरत्नानि राजा तु यथाहं प्रति-  
पादयेत् । ब्राह्मणान्वेदविदुषो यज्ञार्थं चैव दक्षिणाम् ॥ ४ ॥

अर्थ—इन द्विजश्रेष्ठों को दक्षिणा के साथ अन्न देना चाहिये और दूसरों  
को वेदी के बाहर पका अन्न देना कहा है ॥ ३ ॥ राजा वेद के जानने वाले  
ब्राह्मणों को यज्ञ के लिये सम्पूर्ण रत्न दक्षिणा यथायोग्य देवे ॥ ४ ॥

कृतदारोऽपरान्दारान्भिक्षित्वा योऽधिगच्छति । रतिमात्रं फलं  
तस्य द्रव्यदातुस्तु सन्ततिः ॥ ५ ॥ धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु  
प्रतिपादयेत् । वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते ॥ ६ ॥

अर्थ—जो विवाहित पुरुष भिक्षा मांग कर दूसरा विवाह करता है उस  
को रतिमात्र फल है । और उस की सन्तति द्रव्य देने वाले की है ॥ ५ ॥  
यथाशक्ति वेद के जानने वाले निःसङ्ग ब्राह्मणों को धन देवे ( उस से ) पर-  
लोक में स्वर्ग को पाता है ॥ ६ ॥



यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये । अधिकं वापि विद्वेत्  
स सोमं पातुमर्हति ॥ ७ ॥ अतः स्वल्पीयसि द्रव्ये यः सोमं पिबति  
द्विजः । स पीतसोमपूर्वोऽपि न तस्याप्नोति तत्फलम् ॥ ८ ॥

अर्थ-जिस के आवश्यक व्यय तीन वर्ष तक कुटुम्बियों के निर्वाहयोग्य धन वा इस से अधिक हो, वह सोमयज्ञ करने योग्य है ॥ ७ ॥ इस से कम द्रव्य होने में जो द्विज सोमयज्ञ करता है उस का प्रथम सोमयज्ञ भी नहीं सम्पन्न होता । ( इस से दूसरा यज्ञ करना ठीक नहीं है ) क्योंकि:- ॥ ८ ॥

शक्तः परजने दाता स्वजने दुःखजीविनि । मध्वापातो विषा-  
स्वादः स धर्मप्रतिरूपकः ॥ ९ ॥ भृत्यानामुपरोधेन यत्करोत्यौ-  
र्ध्वदेहिकम् । तद्व्यस्य सुखोदकं जीवतश्च मृतस्य च ॥ १० ॥

अर्थ-जो कुटुम्बियों के दुःखी भूखे मरते हुवे परजन को देता है, वह मधु का त्याग और विष का चाटने वाला धर्मविरोधी है ॥ ९ ॥ पुत्र स्त्री इत्यादि को क्लेश देकर जो परलोक के लिये दानादि करते हैं, वह दान इस लोक तथा परलोक में उत्तरोत्तर दुःख फल देने वाला है ॥

( इस से आगे ५ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक प्रक्षिप्त है:-

[ वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या शिशुः सुतः ।

अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत् ]

अर्थात्-बूढ़े मा बाप, सती स्त्री, बालक पुत्र; इन का भरण पोषण १०० अकाज करके भी करना चाहिये, यह मनु ने कहा है ) ॥ १० ॥

यज्ञश्चेत्प्रतिरुद्धः स्यादेकेनाङ्गेन यज्वनः । ब्राह्मणस्य विशेषेण  
धार्मिके सति राजनि ॥ ११ ॥ यो वैश्यः स्याद्वहुपशुर्हीनक्रतु-  
रसोमपः । कुटुम्बात्तस्य तद् द्रव्यमाहरेदज्ञसिद्धये ॥ १२ ॥

अर्थ-धार्मिक राजा के होते हुवे ( क्षत्रियादि यजमानों का और ) विशेष करके ब्राह्मण का यज्ञ किसी एक अङ्ग से रुका हो तो ॥ ११ ॥ जो वैश्य बहुत से गाय बैल वाला और यज्ञ न करने वाला तथा सोमयज्ञरहित हो, उस के घर से यज्ञ की सिद्धि को वह द्रव्य लेभावे ॥ १२ ॥



आहरेत्रीणिवाद्धे वा कामं शूद्रस्य वेश्मनः । न हि शूद्रस्य यज्ञेषु  
कश्चिदस्ति परिग्रहः ॥ १३ ॥ योऽनाहिताग्निः शतगु-रयज्या  
च सहस्रगुः । तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदऽविचारयन् ॥ १४ ॥

अर्थ-दो अङ्ग अथवा तीन अङ्ग की हीनता में चाहे शूद्र के घर से भी  
अपने यज्ञसिद्धार्थ उन २ वा ३ वस्तुओं को ले आवे क्योंकि शूद्र का यज्ञों में खर्च  
भी कुछ नहीं है ॥ १३ ॥ जो अग्निहोत्री नहीं है और शत १०० गौ परिमित  
धन उस के पास है, तथा जिस ने यज्ञ न किया हो और उस के पास सहस्र  
१००० गौ परिमित धन है, उन दोनों के कुटुम्बों से भी विना विचारे ले आवे ॥ १४ ॥

आदाननित्याच्चादातुराहरेदप्रयच्छतः । तथा यशोऽस्य प्रथते  
धर्मश्चैव प्रवर्धते ॥ १५ ॥ तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडऽन-  
श्नता । अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥ १६ ॥

अर्थ-जिस के यहां (प्रतिग्रहादि से) धन ग्रहण तो नित्य है और दान  
नहीं है, उस से यज्ञ के लिये न देते हुवे से भी ले आवे, ऐसा करने से यश  
फैलता और धर्म बढ़ता है ॥ १५ ॥ तीन दिन के भूखे को छः वार भोजन  
न मिला हो तो ७ वीं वार के भोजनार्थ अगले दिन के लिये न लेकर हीन-  
कर्मों से विना आज्ञा भी लेलेने में दोष नहीं है ॥ १६ ॥

खलात्क्षेत्रादगाराद्वा यतोवाप्युपलभ्यते । आख्यातव्यं तु  
तत्तस्मैपृच्छते यदि पृच्छति ॥ १७ ॥ ब्राह्मणस्त्वं न हर्तव्यं क्षत्रियेण  
कदाचन । दस्युनिष्क्रिययोस्तु स्वमऽजीवन्हर्तुमर्हति ॥ १८ ॥

अर्थ-खरियान से वा खेत से वा सकान से वा जिस जगह से मिलजावे  
वहीं से ( पूर्व श्लोकोक्त अवस्था में ) लेलेना चाहिये । यदि धनस्वामी पूछे  
तो उस को कह दे ( कि छः वार की भूख में लिया है ) ॥ १७ ॥ ( इस दशा  
में भी ) क्षत्रिय को ब्राह्मण की वस्तु कभी न लेनी चाहिये । क्षुधित क्षत्रिय  
को निष्क्रिय और दस्यु का धन लेना योग्य है ॥ १८ ॥

योऽसाधुभ्योऽर्यमादाय साधुभ्यः संप्रयच्छति । स कृत्वाप्लव-  
मात्मानं संतारयति तावुभौ ॥ १९ ॥ यद्वनं यज्ञशीलानां देवस्त्वं  
तद्विदुर्बुधाः । अयज्वनां तु यद्वित्तमासुरस्त्वं तदुच्यते ॥ २० ॥



अर्थ-जो अमाधुवों से धन लेकर साधुवों को देता है, वह अपने को नाव बनाकर दोनों को पार उतारता है ॥ १९ ॥ सर्वदा यज्ञ करने वालों का जो धन है उस को पण्डित "देवधन" समझते हैं और यज्ञ न करने वालों का जो धन है वह "आसुरधन" कहाता है ॥ २० ॥

न तस्मिन्धारयेद्दण्डं धार्मिकः पृथिवीपतिः । क्षत्रियस्य हि बालिश्याद्ब्राह्मणः सीदति क्षुधा ॥ २१ ॥ तस्य भृत्यजनं ज्ञात्वा स्वकुटुम्बान्महीपतिः । श्रुतशाले च विज्ञाय वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेन् ॥ २२ ॥

अर्थ-उस ( ६ बार की भूख में परधन लेने वाले ) को धार्मिक राजा दण्ड न देवे । क्योंकि राजा ही के मूढ़ होने से ब्राह्मण क्षुधा से पीड़ित होता है ॥ २१ ॥ ( बलिक ) उस ब्राह्मण के पुत्रादि पोष्यवर्गों और विद्या तथा सदाचार को जानकर राजा अपने यहां से उस को धर्मानुकूल जीविका का प्रबन्ध करदे ॥ २२ ॥

कल्पयित्वाऽस्य वृत्तिं च रक्षेदेनं समन्ततः । राजा हि धर्म षड्भागं तस्मात्प्राप्नोति रक्षितात् ॥ २३ ॥ न यज्ञार्थं धनं शूद्राद्विप्रो भिक्षेत कर्हिचित् । यजमानो हि भिक्षित्वा चण्डालः प्रेत्य जायते ॥ २४ ॥

अर्थ-इस ( ब्राह्मण ) की जीविका नियत करके सब ओर से इस की रक्षा करे । क्योंकि उस की रक्षा से धर्म का छठा भाग राजा को प्राप्त होता है ॥ २३ ॥ यज्ञ के लिये ब्राह्मण शूद्र से धन कभी न मांगे, क्योंकि ( शूद्र से ) भिक्षा मांग कर यज्ञ करने वाला मरने पर चण्डाल होता है ॥ २४ ॥

यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा यो न सर्वं प्रयच्छति । स याति भासतां विप्रः काकतां वा शतं समाः ॥ २५ ॥ देवस्वं ब्राह्मणस्वं वा लोभेनोपहिनस्ति यः । स पापात्मा परे लोके गृध्रोच्छिष्टेन जीवति ॥ २६ ॥

अर्थ यज्ञ के लिये भिक्षा मांगकर जो सब नहीं लगाता, वह सौ वर्ष तक भास ( गोष्ठकुक्कुट ) वा काक होता है ॥ २५ ॥ देवधन और ब्राह्मणधन को जो लोभ से हरता है, वह पापात्मा परलोक में गिद्ध की झूठ से जीवता है ॥ २६ ॥

“ इष्टिं वैश्वानरीं नित्यं निर्वपेदब्दपर्यये ।

कलसानां पशुसोमानां निष्कृत्यर्थमसम्भवे ॥ २७ ॥ ”



आपत्कल्पेन यो धर्मं कुरुतेऽनापदि द्विजः ।

स नाप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम् ॥ २८ ॥

अर्थ- (वर्ष के समाप्त होने में दूसरे वर्ष की प्रवृत्ति को अढर्पर्यय कहते हैं) उस चैत्र शुक्ल से आदि लेकर वर्ष की प्रवृत्ति में विहित सोमयज्ञ के न हो सकने में उस के दोष दूर करने को सर्वदा शूद्रादि से उक्त धनहरणरूप पाप के प्रायश्चित्ताऽर्थे वैश्वानरी इष्टि करे ॥ ४ ॥ २६-२९ के हेतुओं से भी यह प्रक्षिप्त है) ॥ २९ ॥ जो द्विज आपत्काल के धर्म को अनापत्काल में करता है उस का कर्म पर लोक में निष्फल होता है । ऐसा विचार है ॥ २८ ॥

विश्वैश्च देवैः साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः । आपत्सु मरणा-  
द्वीतैर्विधेः प्रतिनिधिः कृतः ॥ २९ ॥ प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनु-  
कल्पेन वर्त्तते । न साम्परायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् ॥ ३० ॥

अर्थ- क्योंकि सब देवों और साध्यों तथा महर्षि और ब्राह्मणों ने आपत् काल में मरण से डरकर विधि का प्रतिनिधि आपद्दुर्मे नियत किया है ॥ २९ ॥ जो मुख्यानुष्ठान करने की शक्ति वाला होकर, आपत् के लिये विहित प्रति निधि अनुष्ठान करता है, उस दुर्बुद्धि को पारलौकिक फल नहीं है ( इससे ऐसा न करे ) ॥ ३० ॥

न ब्राह्मणो वेदयेत् किञ्चिद्वाजनि धर्मवित् । स्ववीर्येणैव तान्  
शिष्यान्मानवान्ऽपकारिणः ॥ ३१ ॥ स्ववीर्याद्वाजवीर्याच्च स्ववीर्यं  
बलवत्तरम् । तस्मात्स्वेनैव वीर्येण निगृह्णीयादरीन्द्रजः ॥ ३२ ॥

अर्थ- धर्म का जानने वाला ब्राह्मण कुछ थोड़े ( लुकसान हुवे ) को राजा से न कहे किन्तु अपने ही पुरुषार्थ से उन अपकार करने वाले मनुष्यों को शिक्षा देवे ॥ ३१ ॥ अपना सामर्थ्य और राजा का सामर्थ्य, इन दोनों में अपना सामर्थ्य अधिक बलवान् है । इस कारण ब्राह्मण अपने ही सामर्थ्य से शत्रुओं का निग्रह करे ॥ ३२ ॥

श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीः कुर्यादित्यविचारयन् । वाक्शस्त्रं वै ब्राह्मण-  
स्य तेन हन्यादऽरीन्द्रजः ॥ ३३ ॥ क्षत्रियो बाहुवीर्येण तरेदापद-  
मात्मनः । धनेन वैश्यशूद्रौ तु जपहीमैर्द्विजोत्तमः ॥ ३४ ॥



अर्थ-अथर्ववेद की दुष्टाभिचार श्रुतियों का (विना विचार) शीघ्रप्रयोग करे। इसी अभिचार के उच्चारणरूप शस्त्र वाला होने से ब्राह्मण की वाणी शस्त्र है। ब्राह्मण उस से शत्रुओं को मारे ॥ ३३ ॥ क्षत्रिय बाहुबल से अपनी आपत्ति दूर करे और वैश्य, शूद्र धन से तथा ब्राह्मण जप, होम से आपद् को दूर करे ॥

( ३१ से ३४ तक चारों वर्णों को अपनी २ आपत्ति से बचने के लिये उपदेश हैं। क्षत्रिय बल से और वैश्य, शूद्र धन वा दीनता से आपे को बचावे। परन्तु ब्राह्मण का धन वेद है, वह वेद से आपे को बचावे। अथर्ववेदादि में जो शत्रु से अपनी रक्षा की प्रार्थना और शत्रु के नाश की प्रार्थना हैं, उन्हीं को परमात्मा से सहायतार्थ मांगे। परमात्मा उस के सच्चे ब्राह्मणत्व को जानता हुआ अवश्य उस की रक्षा का साधन कुछ न कुछ उत्पन्न कर देगा। आस्तिकों को उस में कुछ सन्देह नहीं हो सकता। परन्तु ऐसे ब्राह्मण सहस्रों वर्ष में कोई २ कभी २ होते हैं, बहुत नहीं। तथा सर्व के हितकारी होने से उन के साथ शत्रुता भी बहुत ही थोड़े लोग करते हैं। परन्तु तौ भी ३३ धर्म में जो ब्राह्मण को पराये हनन के लिये प्रार्थना करने की उत्तेजित किया है सो कुछ अनुचित जान पड़ता है। यूँ तौ अपने २ दुःखों और दुःखदायकों का निवारण सभी चाहते हैं, परन्तु ब्राह्मण को इस प्रकार उत्तेजित करना कि (हन्यादेव) "मारे ही" और (अविचारयन्) विना विचारे शीघ्र ही। मला कुछ ठीक है? इस के अतिरिक्त इस में (इत्यविचारयन्) में "इति" शब्द बेढङ्गा और निरर्थक है जो मनु की शैली से नहीं मिलता। तथा एक पुस्तक में इस की जगह ( इत्यवधारितम् ) और अन्य दो पुस्तकों में ( इत्यभिचारयन् ) पाठान्तर हैं और "इति" शब्द सब पाठों में अर्थ ही रहता है। तथा इस से आगे ३० पुस्तकों में से १ में नीचे लिखा श्लोक अधिक मिलता है। जिस से यह सन्देह पुष्ट सा होता है कि ऊपर का ३० वां भी जिस के पाठ भी कई प्रकार के मिलते हैं और शैली भी भिन्न है, कदाचित् पीछे का बना ही हो। अधिक श्लोक जो सब पुस्तकों में नहीं मिलने पाया है, यह है:—

[ तदस्त्रं सर्ववर्णानामनिवार्य च शक्तिः ।

तपोवीर्यप्रभावेण अवध्यानपि बाधते ] ॥



अर्थात् तप वीर्य के प्रभाव से जो अवधियों को भी बाधा कर सकता है, वह यह अस्त्र शक्ति में किसी वर्ण से निवारित नहीं हो सकता । ३४ वें श्लोक के बीच में ही पूर्वार्ध से आगे आधा श्लोक दो पुस्तकों में और मिलाया दीख पड़ता है कि:-

[ तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ]

इस से यह भी पाया जाता है कि कई श्लोकों में अर्ध भाग भी प्रक्षिप्त हुआ है ) ॥ ३४ ॥

विधाता शासिता वक्ता मैत्रो ब्राह्मण उच्यते । तस्मै नाऽकुशलं  
ब्रूयान्न शुष्कां गिरमीरयेत् ३५ न वै कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न  
बालिशः । होता स्यादग्निहोत्रस्य नातीनासंस्कृतस्तथा ॥ ३६ ॥

अर्थ-विहित कर्मों का अनुष्ठान करने वाला, पुत्र शिष्यों को शिक्षा करने वाला और प्रायश्चित्तादि धर्मों का बताने वाला, सब का मित्र ब्राह्मण कहा है, उस से कोई बुरी बात न बोले और रूखी बोली भी न बोले ॥ ३५ ॥ कन्या, युवति, थोड़ा पढ़ा और कुपढ़ तथा बीमार और संस्काररहित; ऐसे लोग अग्निहोत्र के होता नियत न हों ( इस से वृद्धा स्त्रियों को भी होता बनाना पाया जाता है ) ॥ ३६ ॥

नरके हि पतन्त्येते जुह्वतः स च यस्य तत् । तस्माद्वै तानकुशलो  
होता स्याद्वेदपारगः ॥ ३७ ॥ प्राजापत्यमदत्वाश्वमग्न्याधेयस्य  
दक्षिणाम् । अनाहिताग्निर्भवति ब्राह्मणो विभवे सति ॥ ३८ ॥

अर्थ-( कन्यादि ) होता बनाये जाने के अनधिकारी ( होता बन कर ) और जिस का वह अग्निहोत्र है वह ( यजमान ) भी नरक को प्राप्त होता है । इस कारण श्रौत कर्म में प्रवीण और सम्पूर्ण वेद का जानने वाला होता होना चाहिये ॥ ३७ ॥ धन के होते हुवे प्रजापति देवता के निमित्त श्व और अग्न्याधेय की दक्षिणा न देवे तो ब्राह्मण अनाहिताग्नि हो जाता है ( अर्थात् उस को आधान का फल प्राप्त नहीं होता ) ॥ ३८ ॥

पुणयान्यन्यानि कुर्वीत श्रद्धधानो जितेन्द्रियः । न त्वल्पदक्षिणैर्यज्ञै  
र्यजेतेह कथञ्चन ॥ ३९ ॥ इन्द्रियाणि यशः स्वर्गमायुः कीर्त्तिं  
प्रजाः पशून् । हन्त्यल्पदक्षिणो यज्ञस्तस्मान्नाल्पधनो यजेत् ॥ ४० ॥



अर्थ-जितेन्द्रिय श्रद्धा वाला अन्य पुत्रय कर्मों को करे, परन्तु थोड़ी दक्षिणा के यज्ञ से कभी यजन न करे ॥ ३९ ॥ इन्द्रियों, यश, स्वर्ग, आयु, कीर्ति, प्रजा और गौ आदि पशुओं को थोड़ी दक्षिणा वाला यज्ञ नष्ट करता है, इस लिये थोड़े धन वाला यज्ञ न करे ( तात्पर्य यह है कि थोड़े धन वाला यज्ञ करे तो ऋत्विजों को थोड़ी दक्षिणा से दुःख होगा, यजमान भी निर्धन हो जायगा, भूखा मरेगा और तब ४० वें में कही हानियाँ होंगी ही । परन्तु यह थोड़ी दक्षिणा के यज्ञ की बुराई [ निन्दार्थवाद ] कुछ अत्युक्ति सी प्रती होती है और ४० वें से आगे ६ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक भी पाया जाता है:-

[ अन्नहीनोदहेद्राष्ट्रं मन्त्रहीनस्तुऋत्विजः ।

दीक्षितं दक्षिणाहीनो नास्ति यज्ञसमोरिपुः ]

अन्नहीन यज्ञ राज्य को फूंकता है । मन्त्रहीन ऋत्विजों का नाश करता है । दक्षिणाहीन दीक्षित को नष्ट करता है । यज्ञ के समान कोई शत्रु नहीं ॥ इस से यह भी सन्देह होता है कि ४० वां श्लोक भी कदाचित् हीन यज्ञ की निन्दापरक पीछे से ही बढ़ाया गया हो, जैसे कि यह केवल छः पुस्तकों में ही है ) ॥ ४० ॥

अग्निहोत्र्यपविध्याग्नीन् ब्राह्मणः कामकारतः । चान्द्रायणं चरेन्मासं वीरहत्यासमं हि तत् ॥ ४१ ॥ ये शूद्रादधिगम्यार्थमग्निहोत्रमुपासते । ऋत्विजस्ते हि शूद्राणां ब्रह्मवादिषु गर्हिताः ॥ ४२ ॥

अर्थ-अग्निहोत्री ब्राह्मण इच्छा से अग्नि में सायं प्रातः होम न करे तो एक मासपर्यन्त चान्द्रायण व्रत करे । क्योंकि वह पुत्रहत्यासम पाप है ॥ ४१ ॥ जो शूद्र से धन लेकर अग्निहोत्र किया करते हैं, वे वेदपाठियों में निन्दित हैं क्योंकि ( एक प्रकार से ) वे शूद्रों के ऋत्विज हैं ॥ ४२ ॥

तेषां सततमज्ञानां वृषलाग्न्युपसेविनाम् । पदा मस्तकमाक्रम्य दाता दुर्गाणि संतरेत् ॥ ४३ ॥ अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् । प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥ ४४ ॥

अर्थ-उन शूद्रों के धन से सदा यज्ञ करने वाले मूर्ख ब्राह्मणों के गिर पर पैर रख कर वह दाता ( शूद्र ) दुःखों से तरता है ( अर्थात् यज्ञ कराने



वालों को सदा शूद्र से दबना पड़ता है ) ॥ ४३ ॥ विहित कर्म को न करता और निन्दित को करता हुवा तथा इन्द्रियों के विषय में आसक्त मनुष्य प्रायश्चित्त के योग्य हो जाता है ॥ ४४ ॥

अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः । कामकारकृतेऽप्याहु-  
रेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥ ४५ ॥ अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन  
शुद्ध्यति । कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ॥ ४६ ॥

अर्थ-विद्वान् लोग विना इच्छा से किये पाप में प्रायश्चित्त कहते हैं और दूसरे  
आचार्य वेद के देखने से कहते हैं कि इच्छा से किये में भी ( प्रायश्चित्त होना  
चाहिये ) ॥ ४५ ॥ विना इच्छा से किया पाप वेदाभ्यास से शुद्ध होता है और मोह  
वश इच्छा से किया हुवा पाप नाना प्रकार के प्रायश्चित्तों से शुद्ध होता है ॥ ४६ ॥

## प्रायश्चित्त का विचार

प्रायः पापं विजानीयाच्चित्तं वै तद्विशोधनम्

और

प्रायोनाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चयउच्यते ।

तपोनिश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तं तदुच्यते ॥

प्रायश्चित्तं च समंचित्तं चारयित्वा प्रदीयते ।

पर्षदा कार्यते यत्तु प्रायश्चित्तं तदुच्यते ॥

तथा-

यो ह्यदृष्टजन्मवेदनीयोऽनियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः । कृतस्यापक्वस्य  
नाशः, प्रधानकर्मेण्यवापगमनं वा, नियतविपाकप्रधानकर्मेणाभिभूतस्य वा  
चिरमवस्थानमिति । यथा शुक्रकर्मादयादिहैव नाशः कृष्णस्य । यत्रेदमुक्तम् द्वे  
द्वे कर्मेणी वेदितव्ये ( इत्यादि ) ॥ यह व्यासभाष्य, योगदर्शन के-

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ २ । १३ ॥

इस सूत्र पर है । जिस का तात्पर्य यह है कि जो पूर्व जन्म का जानने  
योग्य अनियतविपाक कर्म है, उस की ३ गति हैं । १-अपक्व कृत का नाश, २-  
वा प्रधान कर्म के भीतर भुगता जाना, ३-वा नियतविपाक प्रधान कर्म से दबेहुवे



का बहुत काल तक स्थित रहना । जैसे पुण्य कर्म के उदय से पाप का वा श्वेतकर्म=वस्त्र धोने आदि से कलोंस का यहीं नाश हो जाता है, जिस में यह कहा गया है कि दो दो कर्म पाप पुण्य भेद से जानने चाहियें इत्यादि ॥

अब जानना यह है कि पाप क्या वस्तु है और उस की निवृत्ति किस प्रकार हो सकती है ? जिस प्रकार एक लकड़ी को मोड़ते रहने से वह तिरछी हो जाती है और वह सीधे कामों के योग्य नहीं रहती, इसी प्रकार आत्मा भी पराजकारादि पाप से अवस्थान्तर को प्राप्त होकर शुद्ध अवस्था से भोग्य शुभ फलों के योग्य नहीं रहता । वा जिस प्रकार खूँख वस्त्र पर जो रङ्ग काले या अच्छे लगाये जावें, उन २ से वस्त्र की वह २ रङ्गत होजाती हैं । और उस रङ्ग विशेष से वह वस्त्र रङ्गानुसार पुष्ट वा क्षीण भी होता है । इसी प्रकार आत्मा भी विचित्र कर्मों के करने से विचित्र अवस्थाओं को प्राप्त हो जाता है और अवस्थानुसार ही फलभोग की योग्यता वा अयोग्यता होती है । इसी प्रकार कुकर्म से आत्मा में एक प्रकार की वासना, विषमता वा मलिनता उत्पन्न हो जाती है । उस को दूर करने का उपाय भोग है । वह भोग दो प्रकार का है । एक ईश्वर वा राजा की व्यवस्था से परवश होकर भोगना दूसरा अपने आप ही समझ कर कि मैंने यह बुरा किया है, जिस से मेरे आत्मा में पाप वास करता है, जो मुझे अनिष्ट है ( स्मरण रहे कि यहां "आत्मा" शब्द का प्रयोग हमने अन्तःकरणसहित आत्मा के लिये किया है । केवल आत्मा में पाप पुण्य नहीं लग सकते ) । मनुष्य विद्वान् लोगों से कहे कि मैंने यह पाप किया है इस से मेरा आत्मा घुटता है, इस की निवृत्ति का उपाय बताइये । तब वे लोग देश काल अवस्था के विचार से शास्त्रानुसार वा शास्त्र में स्पष्ट न कहा हो तो शास्त्र की अविरोधिनी अपनी कल्पना से प्रायश्चित्त बतावें । वह पापी श्रद्धा और नम्रता और पश्चात्ताप से युक्त उस २ प्रकार से अनुष्ठान करे । जो कष्ट हों, उन को सहे, आगे को अपना सुधार करे । यथार्थ में राजदण्डादि से भी तो इस से अधिक फल नहीं होता । क्योंकि एक पुरुष ने दूसरे पुरुष को थप्पड़ से मारा और मारने वाले को राजदण्ड होगया तो उस राजदण्ड से जिस के थप्पड़ लगा था, उस की थोट दूर नहीं हुई, किन्तु एक तो उस थप्पड़ से पिटने वाले को जो दुःख था सो इस अपराधी को दण्ड मिलने से शान्ति वा सन्तोष सा होकर चित्त की विषमता का निवारक हुवा । दूसरे अपराधी को यह बलपूर्वक ज्ञात कराया-



गया कि ऐसा काम करना योग्य न था । जिस से इस के चित्त की भी आगे के लिये और देखने वालों को पाप करने से पूर्व ही रत्नानि होकर उत्तरोत्तर संसार में शान्ति का प्रसार हुवा । ती प्रायश्चित्त का फल सोचें ती एक प्रकार से राजदण्ड से भी उत्तम होसकता है । क्योंकि बलात्कार से जब कभी एक पुरुष हानि उठाकर हानिकारक को राजद्वार से दण्ड दिलाता है ती कभी २ ऐसा देखा गया है कि कारागार से छुटते ही आकर पूर्व द्वेष से उसी अपराधी ने उसी पुरुष को द्वेष के शब्द प्रकट करके कि "तूने ही मुझे जेल में भेजवाया था" उस से भी अधिक हानियें फिर की हैं, परन्तु जब कि मनुष्य स्वयं अपराध स्वीकार करके प्रायश्चित्त करता है, तब ऐसा नहीं हो सकता ॥

प्रायः ऐसे भी प्रायश्चित्त हैं, जिन में बड़ा अपराध है और भोग थोड़ा जान पड़ता है, परन्तु देश काल अवस्था के विचार से ऐसा होना ही चाहिये । एक पुरुष को बेत मारने से जितनी शिक्षा मिल सकती है, दूसरे को "तुम ने बुरा किया" इतना कहने का ही उस बेत खाने वाले से भी अधिक शिक्षा-दायक प्रभाव हो जाता है । ऐसे ही देश और काल से भी भेद समझिये । सम्भ्रदेशों के सम्भ्रदार मनुष्यों को ती "क्षमा मांगने" से ही जितनी शिक्षा होती है उतनी असम्भ्र अशिक्षितों को कभी २ वध से भी नहीं होती । इत्यादि बहुत दूर तक विचार फैलाने से प्रायश्चित्त की सार्थकता समझ में आ सकती है । यहां थोड़ा ही लिख कर समाप्त करते हैं ) ॥ ४६ ॥

प्रायश्चित्तीयतां प्राप्य दैवात्पूर्वकृतेन वा । न संसर्गं व्रजेत्सद्विः  
प्रायश्चित्तेऽकृते द्विजः ॥ ४७ ॥ इह दुश्चरितैः केचित्केचित्पूर्व-  
कृतैस्तथा । प्राप्नुवन्ति दुरात्मानो नरा रूपविपर्ययम् ॥ ४८ ॥

अर्थ-दैववश वा पूर्वजन्म के पाप से द्विज प्रायश्चित्त के योग्य होकर प्रायश्चित्त बिना किये सज्जनों के साथ संसर्ग न करे ( ४७ वें से आगे एक पुस्तक में " प्रायो नाम तपः प्रोक्तम् " इत्यादि श्लोक अधिक है ) ॥ ४७ ॥ कोई इस जन्म के और कोई पूर्वजन्म के दुराचरण से दुष्टात्मा मनुष्य, रूप की विपरीतता को प्राप्त होते हैं ॥ ४८ ॥ जैसा कि:-

सुवर्णचौरः कौनख्यं सुरापः श्यावदन्तताम् । ब्रह्महाक्षयरो गित्वं  
दौश्चर्म्यं गुरुतल्पगः ॥ ४९ ॥ पिशुनः पौतिनासिक्यं सूचकः पूति-  
वक्त्रताम् । धान्यचौरोऽङ्गहीनत्वमातिरेक्यं तु मिश्रकः ॥ ५० ॥



अर्थ-सोने का चुराने वाला कुनखी होता है और मदिरा पीने वाला काले दांत को और ब्रह्महत्या करने वाला क्षयरोगिता को तथा गुरु की स्त्री से गमन करने वाला दुष्ट चर्म को पाता है ॥ ४९ ॥ घुगली करने वाला दुर्गन्ध नासिका को और झूठी निन्दा करने वाला दुर्गन्ध मुख को और धन का चुराने वाला अङ्गहीनता को और धान्य में अन्य वस्तु मिलाने वाला अधिकाङ्गता को ( प्राप्त होता है ) ॥ ५० ॥

**अन्नहर्ताभयावित्वं मौक्यं वागऽपहारकः ।**

**वस्त्रापहारकः श्रैष्ठ्यं पङ्कतामश्वहारकः ॥ ५१ ॥**

अर्थ-अन्न चुराने वाला मन्दाग्निता को, वाणी का चुराने वाला मूंगेपन को, कपड़े का चुराने वाला श्वेत कोढ़ और घोड़े का चुराने वाला पङ्कपने को ( प्राप्त होता है । ५१ वें से आगे अर्द्ध श्लोक १० पुस्तकों में अधिक है और रामचन्द्र ने उस पर टीका भी की है:-

**[ दीपहर्ता भवेदन्धः काणोनिर्वापको भवेत् ]**

दीपक चुराने वाला अन्धा और ( चोरी से ) दीपक बुझाने वाला काणा होता है । अन्य ९ पुस्तकों में इसी से आगे उत्तरार्धरूप और भी अर्ध श्लोक उपस्थित है कि:-

**[ हिंसया व्याधिभूयस्त्वमरोगित्वमहिंसया ]**

हिंसा से बहुत रोगीपना और अहिंसा से नीरोगता होती है ) ॥ ५१ ॥

**एवं कर्मविशेषेण जायन्ते सद्विगर्हिताः ।**

**जडमूकान्धबधिरा विकृताकृतयस्तथा ॥ ५२ ॥**

अर्थ-इस प्रकार कर्मविशेष से सज्जनों में निन्दित जड, मूक, अन्ध, बधिर और विकृत आकृति वाले उत्पन्न होते हैं ॥ ५२ ॥

**चरितव्यमसौनित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये । निन्द्यैर्हि लक्षणैर्युक्ता जायन्तेऽनिष्कृतैः ॥ ५३ ॥** ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः । महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥ ५४ ॥

अर्थ-विना प्रायश्चित्त करने वाले निन्द्य लक्षणों से युक्त उत्पन्न होते हैं इस कारण शुद्धि के लिये प्रायश्चित्त अवश्य करना चाहिये ॥ ५३ ॥ ब्रह्महत्या,



सदिरापान, चोरी, गुरु की स्त्री से व्यभिचार; इन को महापातक कहते हैं और इन महापातकियों के साथ रहना भी ( उसी के समान है ) ॥ ५४ ॥

अनृतंच समुत्कर्षे राजगामि च पैशुनम् । गुरोश्चालीकनिर्वन्धः  
समानिब्रह्महत्याया ॥ ५५ ॥ ब्रह्मोज्झतावेदनिन्दा कौटसाक्ष्यं  
सुहृद्वधः । गर्हितानाद्ययोजग्निः सुरापानसमानि षट् ॥ ५६ ॥

अर्थ—अपनी बड़ाई के लिये असत्यभाषण करना, राजा से चुगली करना और गुरु से झूठी खबर कहना, ये ब्रह्महत्या के समान हैं ॥ ५५ ॥ वेद की त्यागना, वेद की निन्दा करना, झूठी गवाही देना तथा मित्र का वध, निन्दित लशुनादि और पुरीषादि अभक्ष्य का भक्षण, ये छः सुरापान के समान हैं ॥ ५६ ॥

निक्षेपस्यापहरणं नराश्वरजतस्य च । भूमिवज्रमणीनां च  
रुक्मस्तेयसमं स्मृतम् ॥ ५७ ॥ रेतःसैकः स्वयोनीषु कुमारीष्व-  
न्त्यजासु च । सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु गुरुतल्पसमं विदुः ॥ ५८ ॥

अर्थ—धरोहर और मनुष्य, घोड़ा, चान्दी, भूमि, हीरा और सखियों का हर लेना; सुवर्ण की चोरी के समान है ॥ ५७ ॥ सहोदरा भगिनी, कुमारी, चण्डाली, सखा और पुत्र की स्त्री, इन से व्यभिचार करना गुरुभार्यागमन के समान ( महापातक ) है ॥ ५८ ॥

गोवधोऽयाज्यसंयाज्यपारदार्यात्मविक्रयाः । गुरुमातृपितृ-  
त्यागः स्वाध्यायाग्नयोः सुतस्य च ॥ ५९ ॥ परिवित्तितानुजेऽनूढे  
परिवेदनमेव च । तयोर्दानं च कन्यायास्तयोरेव च याजनम् ॥ ६० ॥

अर्थ—गाय का मारना, दुष्टों को यज्ञ कराना, परस्त्रीगमन करना, आत्मा का बेचना, गुरु-माता-पिता-ब्रह्मयज्ञ-श्रौत स्मार्त अग्नि में होम और पुत्र का त्यागना ॥ ५९ ॥ छोटे का पहिले विवाह करने में ज्येष्ठ की परिवित्तिता, कनिष्ठ की परिवेत्ता होना, उन दोनों को कन्या देना और उन दोनों को यज्ञादि कराना ॥ ६० ॥

कन्यायादूषणं चैव वार्धुष्यं व्रतलोपनम् । तडागारामदाराणा-  
मपत्यस्य च विक्रयः ॥ ६१ ॥ व्रात्यतावान्व्यवत्यागो भृत्याध्याप-  
नमेव च । भृताञ्चाध्ययनादानमपण्यानां च विक्रयः ॥ ६२ ॥



अर्थ-और कन्या का दूषित करना, (वैश्य न होकर) सूद का लेना, व्रतभङ्ग करना, तालाब, बगीचा, स्त्री और सन्तान का बेचना ॥६१॥ यथोचित काल में उपनयन का न होना, बान्धवों का त्याग, नियत देतन लेकर पढ़ाना, और ऐसे ही देकर पढ़ने का ग्रहण, बेचने के अयोग्य वस्तु का बेचना ॥६२॥ सर्वाकरेष्वधीकारो महायन्त्रप्रवर्त्तनम्। हिंसोषधीनां रज्याजी-वोऽभिचारो मूलकर्म च ॥६३॥ इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामव-पातनम्। आत्मार्यं च क्रियारम्भो निन्दितान्नादनं तथा ॥६४॥

अर्थ-खुवर्णादि संपूर्ण खानों में अधिकार, बड़े भारी यन्त्र का चलाना, ओषधियों का काटना, भार्यादि स्त्रियों से (वैश्यावत् करके) आजीवन करना, मारण और वशीकरण ॥ ६३ ॥ इन्धन के लिये हरे वृक्षों को काटना, (देव-पितरों के उद्देश विना केवल) आत्मार्य पाकादि काम करना और निन्दित अन्न का भक्षण ॥ ६४ ॥

अनाहिताग्नितास्तेयमृणानामनपक्रिया। असच्छास्त्राधिग-मनं कौशीलव्यस्य चक्रिया ॥६५॥ धान्यकुप्यपशुस्तेयं मद्यपस्त्री-निषेवणम्। स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो नास्तिक्यं चोपपातकम् ॥६६॥

अर्थ-अग्निहोत्र न करना, चोरी करना, ऋणों का न चुकाना, असत् शास्त्रों का पढ़ना, नाचने गाने बजाने का सेवन ॥ ६५ ॥ धान्य कुप्य और पशुओं की चोरी, मद्य पीने वाली स्त्री से व्यभिचार, स्त्री शूद्र वैश्य क्षत्रिय का वध और नास्तिकता (ये सब) उपपातक हैं ॥

(तडागादि के बेचने से पुण्य कर्म रुकता है। नौकरी के पढ़ने पढ़ाने में गुरु शिष्य का पूर्ण भाव नहीं रहता। खानि खुदवाने के ठेके लेने और महायन्त्रों के चलवाने में जीवों की हिंसा है। उस के प्रायश्चित्त उन लोगों को करने चाहिये। मारण में दूसरे का स्पष्ट अपकार है। वशीकरण में दूसरे को अज्ञानी वा पराधीन करना बुरा है। वशीकरण किसी के पास सुन्दर स्त्री आदि भेजकर उस को मोहित करने से होता है) ॥ ६६ ॥

ब्राह्मणस्य रुजः कृत्या घ्रातिरघ्रेयमद्ययोः। जैह्वयं च मैथुनं पंसि जातिभ्रंशकरं स्मृतम् ॥६७॥ खराश्रोष्ट्रमृगेभानामजाविक-वधस्तथा। संकरीकरणं ज्ञेयं मीनाहिर्महिषस्य च ॥ ६८ ॥



अर्थ-ब्राह्मण को लाठी आदि से पीड़ा देने की क्रिया करना, दुर्गन्ध और मद्य का सूँघना, कुटिलता करना, तथा पुरुष से सैशुन करना, इन को जातिध्वंशकर पातक कहा है ॥ ६७ ॥ गर्दभ, तुरङ्ग, उष्ट्र, मृग, हस्ती, बकरा, भेड़, सत्स्य, सर्प, सहिष, इन में प्रत्येक के वध को "रङ्करीकरण" कहते हैं ॥ ६८ ॥ निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम् । अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम् ॥ ६९ ॥ कृमिकोटवयोहत्या मदानुगतभोजनम् । फलैधःकुसुमस्तेयमधैर्यं च मलावहम् ॥ ७० ॥

अर्थ-अप्रतिप्राह्य पुरुषों के धन का प्रतिग्रह लेना, (वैश्य न होकर) वणिज्य करना, शूद्र की परिचर्या और झूठ बोलना, इन को "अपात्रीकरण" जाने ॥ ६९ ॥ कीड़े सकौड़े पक्षी की हत्या, मद्य के साथ मिठा भोजन, फल इन्धन और पुष्प का चुराना और अधीरता को "मलिनीकरण" कहते हैं ॥ ७० ॥

एतान्येनांसि सर्वाणि यथोक्तानि पृथक् पृथक् । यैर्यैर्व्रतैरपोह्यन्ते तानि सम्यङ्निबोधत ॥ ७१ ॥ ब्रह्महाद्वादशसमाः कुटीं कृत्वा वने वसेत् । भैक्ष्याश्यात्मविशुद्ध्यर्थं कृत्वा शवशिरोध्वजम् ॥ ७२ ॥

अर्थ-ये सब ब्रह्महत्यादि पाप जैसे अलग अलग कहे गये, वे जिन जिन व्रतों से नाश को प्राप्त किये जाते हैं, उन को अच्छे प्रकार सुनो ॥ ७१ ॥ ब्राह्मण का हत्यारा वन में कुटी बना कर मुरदे के सिर का चिन्ह करके, भीख मांग कर खाता हुवा, अपनी शुद्धि के लिये बारह वर्ष रहे ॥ ७२ ॥

लक्ष्यं शस्त्रभृतां वास्य । द्विदुषामिच्छयात्मनः । प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाकिशराः ॥ ७३ ॥ यजेत वाश्वमेधेन स्वर्जिता गोसवेन वा । अभिजिद्विश्वजिद्व्यां वा त्रिवृताग्निष्टुतापि वा ॥ ७४ ॥

अर्थ-अथवा शस्त्रधारण करने वाले विद्वानों का अपनी इच्छा से निशाना बने । अथवा नीचे सिर करके जलती हुई अग्नि में अपने को तीन बार डाले ॥ ७३ ॥ अथवा अश्वमेध यज्ञ करे वा स्वर्जित, गोसवन, अभिजित, विश्वजित, त्रिवृत वा अग्निष्टुत ( ये यज्ञविशेष ) करे ॥ ७४ ॥

जपन्वाऽन्यतमं वेदं योजनानां शतं व्रजेत् । ब्रह्महत्यापनोदाय



मितभुङ्गनियतेन्द्रियः ॥ ७५ ॥ सर्वस्वं वेदविदुषे ब्राह्मणायो-  
पपादयेत् । धनं वा जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छदम् ॥ ७६ ॥

अर्थ-अथवा ब्रह्महत्या के दूर करने को किसी एक वेद का जप करता  
हुवा सौ योजन गमन करे, षोड़ा खावे और जितेन्द्रिय होकर रहे ॥ ७५ ॥  
अपनी सब जमा पूंजी अथवा जीवनार्थ पुच्छल धन वा असबाब सहित घर,  
वेद जानने वाले ब्राह्मण को देदेवे ॥ ७६ ॥

हविष्यभुग्वाऽनुसरेत्प्रतिस्त्रोतः सरस्वतीम् । जपेद्ब्रह्मनिघता-  
हारस्त्रिवे वेदस्य संहिताम् ॥ ७७ ॥ कृतावपनोनिवसेद्ग्रामान्ते  
गोव्रजेऽपि वा । आश्रमे वृक्षमूले वा गोब्राह्मणहिते रतः ॥ ७८ ॥

अर्थ-अथवा हविष्य भोजन करता हुवा सरस्वती=नदी के स्त्रोत की ओर  
गमन करे वा नियमपूर्वक आहार करता हुवा वेद की संहिता को ३ बार पढ़े  
॥ ७७ ॥ बारह वर्ष तक सिर मुंडाये गौ ब्राह्मण के हित में रत होकर ग्राम के  
बाहर वा गौ के गोष्ठ में, शुद्ध देश में वा वृक्ष के नीचे वास करे ॥ ७८ ॥

ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा सद्यः प्राणान्परित्यजेत् । मुच्यते ब्रह्मह-  
त्याया गोप्रागोब्राह्मणस्य च ॥ ७९ ॥ त्रिवारं प्रतिरोद्ध्वा सर्वस्वम-  
वजित्य वा । विप्रस्य तन्निमित्ते वा प्राणालाभे विमुच्यते ॥ ८० ॥

अर्थ-अथवा ब्राह्मण वा गौ के अर्थ यदि उसी समय प्राण देदेवे तौ  
वह गौ ब्राह्मण की रक्षा करने वाला ब्रह्महत्या से छूट जाता है ॥ ७९ ॥ यदि  
ब्राह्मण का सर्वस्व चोर ले जाते हों, तब को तीन बार बचावे ( अथवा ४  
पुस्तक और राघवानन्द के टीकास्थ पाठभेद से " उपवरम् " कम से कम  
तीन ब्राह्मणों के सर्वस्व की चोरी को बचाने वाला ) अथवा ऐसा यत्न ही  
करके चाहे धन भी न छुड़ाने पाया हो, अथवा इस निमित्त प्राण त्यागने  
पर ( अथवा कुल्लूक के अनुसार " प्राणलाभे " पाठ में, धन बचाने से ब्राह्मण  
का प्राण बचाने पर ब्रह्महत्या से ) छूटता है ॥ ८० ॥

एवं दृढव्रतो नित्यं ब्रह्मचारी समाहितः । समाप्ते द्वादशे वर्षे  
ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥ ८१ ॥ शिष्टा वा भूमिदेवानां नरदेव-  
समागमे । स्वमेनोऽवभृथस्त्रातो हयमेधे विमुच्यते ॥ ८२ ॥



अर्थ-इस प्रकार दृढ़ व्रत करता हुआ, प्रतिदिन ब्रह्मचर्य से रहने वाला समाधान क्रिये चित्त से बारह वर्ष व्यतीत होने पर ब्रह्महत्या को दूर करता है ॥ ८१ ॥ अथवा अश्वमेध यज्ञ में ब्राह्मणों और राजा के समक्ष में (ब्रह्महत्या के पाप का) निवेदन करके यज्ञ के अन्त में अवभृथ स्नान करता हुआ (ब्रह्महत्या के पाप से) छूट जाता है ॥ ८२ ॥

धर्मस्य ब्राह्मणो मूलमग्रं राजन्य उच्यते । तस्मात्समागमे तेषा-  
मेनो विख्याप्य शुद्ध्यति ॥ ८३ ॥ ब्राह्मणः संभवेनैव देवानामपि  
दैवतम् । प्रमाणं चैव लोकस्य ब्रह्माऽत्रैव हि कारणम् ॥ ८४ ॥

अर्थ-ब्राह्मण धर्म का मूल है और राजा अग्र है । इस कारण उन के समागम में पाप का निवेदन करके शुद्ध होता है ॥ ८३ ॥ ब्राह्मण ( सावित्री के ) जन्म से ही देवतों का देवता और लोक को प्रमाण है, इस में वेद ही कारण है ॥ ८४ ॥

तेषां वेदविदो ब्रूयुस्त्रयोऽप्येनः सु निष्कृतिम् । सा तेषां पावनाय  
स्यात्पवित्रा विदुषां हि वाक् ॥ ८५ ॥ अतोऽन्यतममास्थाय विधिं  
विप्रः समाहितः । ब्रह्महत्याकृतं पापं व्यपोहत्यात्मवत्तया ॥ ८६ ॥

अर्थ-उन ( ब्रह्महत्यादि करने वालों ) को वेद के जानने वाले तीन भी विद्वान्, पापों के जो प्रायश्चित्त बतावें वही उन पापियों की शुद्धि के लिये हों । क्योंकि विद्वानों की वाणी पवित्र है ॥ ८५ ॥ स्वस्थ चित्त ब्राह्मण इन में से कोई एक विधि ही करके आत्मवान्=मनस्वी होने से ब्रह्महत्यासे किये पाप को दूर देता है ॥ ८६ ॥

हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतं चरेत् ।

राजन्यवैश्यौ चेजानावात्रेयीमेव च स्त्रियम् ॥ ८७ ॥

अर्थ-विना जाने गर्भ को मार कर वा यज्ञ करते हुवे क्षत्रिय, वैश्य और गर्भवती स्त्री का वध करके भी यही ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करे ॥

( ८७ वें से आगे एक पुस्तक में आत्रेयी का लक्षण करने के लिये एक यह श्लोक अधिक पाया जाता है:-



[ जन्मप्रभृतिसंस्कारैः संस्कृता मन्त्रवाचया ।

गर्भिणी त्वथ वा स्यात्तामात्रेयीं च विदुर्बुधाः ] ॥

अर्थात् जो जन्म से लेकर संस्कारों से मन्त्रपूर्वक संस्कृता स्त्री अथवा गर्भिणी हो, उसे विद्वान् लोग “आत्रेयी” जानते हैं ) ॥ ८९ ॥

उक्ता चैवानृतं साक्ष्ये प्रतिरुद्धं गुरुं तथा ।

अपहत्य च निःक्षेपं कृत्वा च स्त्रीसुहृद्वधम् ॥ ८८ ॥

अर्थ-गवाही में झूठ बोल कर, गुरु का विरोध करके, धरोहर को हजम करके और स्त्री तथा मित्र का वध करके ( भी यही प्रायश्चित्त करे ) ॥ ८८ ॥

इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाण्याऽकामतोद्विजम् । कामतोब्राह्मण-  
वधे निष्कृतिर्न विधीयते ॥ ८९ ॥ सुरां पीत्वा द्विजोमोहादग्नि-  
वर्णां सुरां पिबेत् । तथा स काये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात्ततः

अर्थ-यह शुद्धि विना इच्छा ब्राह्मण के वध में कही है और इच्छा से ब्राह्मण के वध करने में प्रायश्चित्त ही नहीं कहा ॥ ८९ ॥ द्विज अज्ञान से (दूसरे महापातक) मदिरा पीकर, भाग के समान गरम मदिरा पीवे, उस मद्य से शरीर जलने पर वह (द्विज) उस पाप से छुटता है ॥ ९० ॥

गोमूत्रमग्निवर्णं वा पिबेदुदकमेव वा । पयोघृतं वाऽऽमरणाद्  
गोशकृद्रसमेव वा ॥ ९१ ॥ कणान्वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा  
सकृन्निशि । सुरापानापनुत्त्यर्थं बालवासा जटो ध्वजी ॥ ९२ ॥

अर्थ-अथवा गोमूत्र वा जल अग्निवर्ण गरम करके पीवे अथवा मरण पर्यन्त दुग्ध घृत ही पीकर रहे अथवा गोबर का रस पीवे (मद्यपान का पाप छूट जावेगा) ॥ ९१ ॥ अथवा चावल की खुही वा कुटे तिल एक समय रात को १ वर्ष तक भक्षण करे। सुरापान के पाप दूर होने को कम्बल का कपड़ा पहिने और सिर के बाल रक्खे तथा सुरापान के चिह्नयुक्त होकर रहे ॥ ९२ ॥

सुरा वै मलमन्त्रानां पाप्मा च मलमुच्यते । तस्माद्ब्राह्मणरा-  
जन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥ ९३ ॥ गौडीपैष्टीचमाध्वीच विज्ञे-  
यात्रिविधासुरा । यथैवैकातथासर्वा न पातव्याद्विजोत्तमैः ९४



अर्थ-सुरा अन्न का मल है और मल को पाप कहते हैं। इस कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य मदिरा को न पीवें ॥९३॥ गुड़ की और पिट्टी की तथा महुवे की; ये तीन प्रकार की सुरा जाननी चाहियें। जैसी एक वैसी ही सब द्विजोत्तमों को न पीनी चाहियें ॥ ९४ ॥ क्योंकि-

यक्षरक्षःपिशाचान्नं मदां मांसं सुरासवम् । तद्ब्राह्मणेन ना-  
त्तव्यं देवानामश्रुता हविः ॥९५॥ अमेध्ये वा पतेन्मत्तो वैदिकं  
वाप्युदाहरेत् । अकार्यमन्यत्कुर्याद्वा ब्राह्मणो मदमोहितः ॥९६॥

अर्थ-यक्ष राक्षस पिशाचों के अन्न=मद्य, मांस, सुरा, आसव; देवतों का हवि खाने वाले ब्राह्मण को भक्षण करने न चाहियें ॥९५॥ मद्य पीकर उन्मत्त हुवा ब्राह्मण अशुचि स्थान ( सोरी आदि ) में गिरेगा वा वेद की बकवाद करेगा वा और कोई निषिद्ध कार्य करेगा ( इस कारण मद्य न पीवे ) ॥९६॥

यस्यकायगतं ब्रह्म मद्येनाप्लाव्यते सकृत् । तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं  
शूद्रत्वं च स गच्छति ॥ ९७ ॥ एषा विचित्राभिहिता सुरापानस्य  
निष्कृतिः । अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सुवर्णस्तेयनिष्कृतिम् ॥९८॥

अर्थ-जिस ब्राह्मण के देह में रहने वाला वेदज्ञान एक बार भी मद्य से डूब जाता है, उस की ब्राह्मणता नष्ट हो जाती है और वह शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है ॥ ९७ ॥ यह सुरापान की विचित्र निष्कृति कही। अब ( तीसरे महापातक ) सौने की चोरी का प्रायश्चित्त कहता हूं ॥ ९८ ॥

सुवर्णस्तेयकृद्विप्रो राजानमभिगम्य तु । स्वकर्म ख्यापयन् ब्रूयान्  
मां भवाननुशास्त्विति ॥९९॥ गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्व्यात्तु  
तं स्वयम् । वधेन शुद्ध्यति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव तु ॥ १०० ॥

अर्थ-सौने की चोरी करने वाला ब्राह्मण, राजा के पास जाकर अपने किये को प्रसिद्ध करके कहे कि मुझे आप शिक्षा दें ॥९९॥ राजा (उस के कन्धे पर लिये हुवे) मूढल को लेकर उस (चोर) को एक बार मारे, मारने (पीटने) से ब्राह्मण चोर शुद्ध होता है और तप करने से भी (शुद्ध होता है) ॥ १०० ॥ तपसाऽपनुत्सुस्तु सुवर्णस्तेयजं मलम् । चीरवासा द्विजोऽरण्ये चरेद्ब्रह्महणो व्रतम् ॥ १०१ ॥ एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं



द्विजः । गुरुस्त्रीगमनीयं तु व्रतरेभिरपानुदेत् ॥ १०२ ॥

अर्थ-चोरी के पाप को तप से दूर करने की इच्छा करने वाला द्विज चोर को पहन कर वन में ब्रह्महत्या का व्रत करे ॥ १०१ ॥ द्विज इन व्रतों से चोरी के पाप को दूर करे । और गुरुस्त्री के व्यभिचारसम्बन्धी पाप ( चौथे महापातक ) को इन ( आगे कहे ) व्रतों से दूर करे-॥ १०२ ॥

गुरुतल्पमभिभाष्यैनस्तप्ते स्वाध्यादयोमये । सूर्मूर्तिजलन्तीं स्वा-

शिल्प्येन्मृत्युना स विशुद्ध्यति ॥ १०३ ॥ स्वयं वा शिश्रुवृषणावुत्कृ-  
तथाधाय चाञ्जली । नैऋतीं दिशमातिष्ठेदानिपातादजिह्मगः ॥ १०४ ॥

अर्थ-गुरुभार्यागामी पाप को प्रसिद्ध करके लोहे की तप्त शय्या में सोवे और लोहे की स्त्री लाल करके उस के साथ आलिङ्गन करे । उस से सृष्ट्युपाश्रय वह शुद्ध होता है ॥ १०३ ॥ वा आप ही लिङ्ग तथा वृषणों को काट कर अञ्जलि में लेकर जब तक शरीर न गिरजावे तब तक टेढ़ी चाल को न चलता हुवा सीधा नैऋत्य दिशा में गमन करे ॥ १०४ ॥

खट्वाङ्गी चोरवासा वा श्मश्रुलो विजने वने । प्राजापत्यं चरेत्  
कृच्छ्रमब्दमेकं समाहितः ॥ १०५ ॥ चान्द्रायणं वा त्रीन्मासानभ्य-  
स्येन्नियतेन्द्रियः । हविष्येण यवाग्ना वा गुरुतल्पापनुत्तये ॥ १०६ ॥

अर्थ-अथवा खट्वाङ्ग चिह्न और केश नख लोभ श्मश्रु का धारण करने वाला यति होकर निर्जन वन में एक वर्ष पर्यन्त प्राजापत्य व्रत करे ॥ १०५ ॥ अथवा गितेन्द्रिय रह कर ३ मास तक हविष्य तथा यवागु के भोजन से गुरुभार्यागमनसम्बन्धी पाप दूर करने के लिये चान्द्रायण व्रत करे ॥ १०६ ॥

एतैर्व्रतैरपोहेयुर्महापातकिनोमलम् । उपपातकिनस्तत्रैव-  
मेभिर्नानाविधैर्व्रतैः ॥ १०७ ॥ उपपातकसंयुक्तोगोघ्नोमासं  
यवान् पिबेत् । कृतवापोवसेद्गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः ॥ १०८ ॥

अर्थ-इन व्रतों को करके महापातकी पाप को दूर करें । और उपपातकी ( आगे कहे हुवे ) नानाप्रकार के व्रतों से पाप दूर करें ॥ १०७ ॥ उपपातक से संयुक्त गौ का मारने वाला एक मास पर्यन्त यवों को पीवे, सुगन्धन किया हुवा और गौ के चर्म से वेष्टित होकर गोष्ठ में रहे ॥ १०८ ॥



चतुर्थकालमश्लीयादक्षारलवणं मितम् । गोमूत्रेणाचरेत्स्नानं  
द्वौमासौनियतेन्द्रियः १०९ दिवानुगच्छेद्गस्तास्तु तिष्ठन्ध्वं  
रजःपिबेत् । शुश्रूषित्वा नमस्कृत्य रात्रौ वीरासनं वसेत् ॥ ११० ॥

अर्थ-और इन्द्रियों को वश करता हुआ दो मास पर्यन्त गोमूत्र से स्नान किया करे और खारी लवण वर्जित हविष्य अन्न का चौथे काल में थोड़ा भोजन किया करे ॥ १०९ ॥ और दिन में सन गायों के पीछे चले और (खुर से ऊपर उड़ी) धूल को खड़ा हुआ पीवे और सेवा तथा अन्न से सत्कार करके रात को "वीरासन" होकर पहरा देवे ॥ ११० ॥

तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत्तु ब्रजन्तीष्वप्यनुब्रजेत् । आसीनासु तथा-  
सीनोनियतो वीतमत्सरः १११ आतुरामभिशास्तां वाचौरव्याघ्रा-  
दिभिर्भयैः । पतितां पङ्कलग्नां वा सर्वापायैर्विमोचयेत् ॥ ११२ ॥

अर्थ-और मत्सरताःहित नियमपूर्वक दूढ़ होकर बैठी हुई गौ के पीछे बैठ जावे और चली हुई के पीछे चले और खड़ी हुई के साथ खड़ा रहे ॥ १११ ॥ व्याधियुक्ता और चौर व्यघ्रादि के भयों से आकान्ता तथा गिरी हुई और कींचड़ लगी हुई गौ को सब उपायों से छुड़ावे ॥ ११२ ॥

उष्णवर्षतिथीते वा मारुतेवातिवाभृशम् । न कुर्वीतात्मनस्त्राणं  
गोरकृत्वा तु शक्तितः ॥ ११३ ॥ आत्मनो यदि वाऽन्येषां गृहे क्षेत्रे  
ऽथवा खले । भक्षयन्तीं न कथयेत्पिबन्तं चैव वत्सकम् ॥ ११४ ॥

अनेन विधिना यस्तु गोघ्नो गामनुगच्छति । स गोहत्याकृतं पापं  
त्रिभिर्मासैर्व्यपोहति ॥ ११५ ॥ वृषभैकादशा गाश्च दद्यात्सु-  
चरितव्रतः । अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्वयो निवेदयेत् ॥ ११६ ॥

अर्थ-उष्ण काल, शीत, वर्षा और अधिक वायु के चलने में यथाशक्ति गौ का बचाव न करके (गोहत्यारा) अपना बचाव न करे ॥ ११३ ॥ और अपने वा दूसरे के घर में या खेत में या खरियान में भक्षण करती हुई गौ को और दूध पीते हुवे उस के बच्चे को प्रसिद्ध न करे ॥ ११४ ॥ इस विधान से जो गो-हत्या वाला गौ की सेवा करता है वह उस गोहत्या के पाप को तीन महीने



में दूर करता है ॥ ११५ ॥ अच्छे प्रकार प्रायश्चित्तव्रतन करके एक बैल और दश गाय और इतना न हो तो अपना सर्वस्व धन वेद के जानने वाले ब्रह्मर्षी को देदेवे ॥ ११६ ॥

एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः । अवकीर्णिवर्जं शुद्धार्थं चान्द्रायणमथापि वा ॥ ११७ ॥ अवकीर्णी तु काणेन गर्दभेन चतुष्पथे । पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं निशि ॥ ११८ ॥

अर्थ-अवकीर्णी को छोड़ अन्य उपपातक वाले द्विज भी यही व्रत अथवा चान्द्रायण करें ॥ ११७ ॥ अवकीर्णी, कानें गधे पर चढ़कर रात को चौराहेमें जा, पाकयज्ञ के विधान से निर्ऋति देवता का यज्ञ करे ॥ ११८ ॥

हुत्वाग्नौ विधिवद्दोमानन्ततश्च समेत्यृचा । वातेन्द्रगुरुबहूनां जुहुयात्सर्पिषाहुतीः ॥ ११९ ॥ कामतोरेतसः सेकं व्रतस्थस्य द्विजन्मनः । अतिक्रामं व्रतस्याहुर्धर्मज्ञा ब्रह्मवादिनः ॥ १२० ॥

अर्थ-विधिवत् अग्नि में होम करके उस के अनन्तर " सं मा सिञ्चन्तु स्रुतः सं पूषा सं बृहस्पतिः । सं मायमग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन च दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ अथर्व ७ । ३ । ३३ । १ " इस ऋचा के साथ स्रुत, इन्द्र, बृहस्पति और अग्नि को घृत से आहुति दे ॥ ११९ ॥ ( ब्रह्मचर्य ) व्रत की धारण करने वाले द्विज के इच्छा से वीर्यखलन को वेद के जानने वाले धर्मज्ञ लोग ब्रह्मचर्य का खण्डित होना ( अवकीर्णित्व ) कहते हैं ॥ १२० ॥

मारुतं पुरुहूतं च गुरुं पावकमेव च । चतुरोव्रतिनोऽभ्यसि ब्राह्मं तेजोऽवकीर्णिनः ॥ १२१ ॥ एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते वसित्वा गर्दभाजिनम् । सप्तागारांश्चरेद्वैक्षं स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥ १२२ ॥

अर्थ-व्रतवाले अवकीर्णी का ब्रह्मसम्बन्धी तेज मारुत, इन्द्र, गुरु और अग्नि इन चारों में चला जाता है ( इस कारण इन को आहुति देकर फिर प्राप्त करें ) ॥ १२१ ॥ इस पातक के प्राप्त हुधे पर गधे के चमड़े को लपेट कर अपने किये अवकीर्णिरूप पाप को प्रसिद्ध करता हुवा सात ७ घरों से भिक्षा मांगे ॥ १२२ ॥



तेभ्योलब्धेन भिक्षेण वर्तयन्नेककालिकम् । उपस्पृशं स्त्रिषवणं  
त्वद्धेन स विशुद्ध्यति ॥१२३॥ जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्वान्यतममि-  
च्छया । चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया ॥१२४॥

अर्थ-उन घरों से प्राप्त हुवे भिक्षान्न से एक काल में भोजन से निर्वाह करता हुवा त्रिकाळ स्नान करने वाला वह ( पापी ) एक वर्ष में शुद्ध होता है ॥ १२३ ॥ इच्छा से कोई जातिभ्रंशकर कर्म करके आगे कहा ) सान्तपन कृच्छ्र और बिना इच्छा से ( करने पर ) प्राजापत्य व्रत करे ॥ १२४ ॥

संकरापात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवम् । मलिनीकरणीयेषु  
तप्तः स्यादावकैस्त्रयहम् ॥१२५॥ तुरीयोब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य  
वधे स्मृतः । वैश्येऽष्टमांशोवृत्तस्थे शूद्रे ज्ञेयस्तु षोडशः ॥१२६॥

अर्थ-( पूर्वोक्त ) संकरीकरण और अपात्रीकरण करने पर शुद्धि के लिये एक महीने तक चान्द्रायण व्रत करे । और मलिनीकरणों में शुद्धि के लिये तीन दिन गरम यवागु पीवे ॥ १२५ ॥ अच्छे आचरण करने वाले क्षत्रिय के वध में ब्रह्महत्या का चौथाई प्रायश्चित्त है । वैसे ही वैश्य के ( वध ) में आठवां और शूद्र के ( वध ) में सोलहवां भाग प्रायश्चित्त होना चाहिये ॥ १२६ ॥

अकामतस्तुराजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः । वृषभैक सहस्रा गा  
दद्यात्सुचरितव्रतः ॥१२७॥ त्र्यब्दं चरेद्वा नियतो जटी ब्रह्म-  
हृणोव्रतम् । वसन्दूरतरे ग्रामाद् वृक्षमूलनिकेतनः ॥ १२८ ॥

अर्थ-ब्राह्मण बिना इच्छा से क्षत्रिय को सारकर अच्छे प्रकार व्रत करके एक बैल के सहित १ सहस्र गौओं का दान करे ॥१२७॥ अथवा जटा धारण जरके दूढ़ होकर तीन वर्ष तक ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त ग्राम से बहुत दूर वृक्ष के नीचे रहता हुवा करे ॥ १२८ ॥

एतदेव चरेदब्दं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमः । प्रमाण्य वैश्यं वृत्तस्थं  
दद्याच्चैकगतं गवाम् ॥१२९॥ एतदेव वृतं कृत्स्नं षण्मासाञ्छूद्रहा  
चरेत् । वृषभैकादशा वापि दद्याद्विप्राय गाः सिताः ॥ १३० ॥



अर्थ-इसी व्रत को ( विना इच्छा से ) अच्छे आचरण वाले वैश्य की हत्या में ब्राह्मण एक वर्ष तक करे और एक सौ गीओं का दान देवे ॥ १२९ ॥ इसी सम्पूर्ण व्रत को (विना इच्छा से) शूद्र का मारने वाला छः महीने तक करे अथवा एक बैल तथा दश श्वेत गौ ब्राह्मण को देवे ॥ १३० ॥

मार्जारनकुलौहत्या चापमण्डूकमेव च । श्वगोधोलूककाकांश्च  
शूद्रहत्याव्रतंचरेत् ॥ १३१ ॥ पयःपिबेत्त्रिरात्रं वा योजनं वाऽध्व-  
नोव्रजेत् । उपरुपशोत्सवन्त्यां वा सूक्तं वाऽद्वैतं जपेत् ॥ १३२ ॥

अर्थ-मार्जार, नेवला, चिड़िया, गेंडक, कुत्ता, गोधा, उलूक, काक; इन को मारकर शूद्रहत्या का प्रायश्चित्त करे ॥ १३१ ॥ अथवा तीन दिन दुग्धपान करे वा योजन भर तीन दिन रास्ता चले वा तीन दिन नदी में स्नान करे वा तीन दिन जलदेवता वाले ( आपोहिष्ठा० इत्यादि ऋ० १० । ९ ) सूक्त को जपे ॥ १३२ ॥

अग्निं कार्णायसीं दद्यात्सर्पं हत्वा द्विजोत्तमः । पलालभारकं  
षण्ढे सैसकं चैकमाषकम् ॥ १३३ ॥ घृतकुम्भं वराहे तु तिलद्रोणं  
तु तित्तिरी । शुके द्विहायनं वत्सं क्रौञ्चं हत्वा त्रिहायणम् ॥ १३४ ॥

अर्थ-ब्राह्मण सर्प को मारकर लोहे की करतूल का दान करे । और जपुंसक के मारने पर धान्य के पलाल का भार और १ माषा मात्र सीसा देवे ॥ १३३ ॥ सूकर के मर जाने पर घी भर कर चड़ा और तीतर मरजान में चार आठक तिल और तोते के मर जाने पर दो वर्ष का बड़ड़ा और क्रौञ्च पक्षी को मारकर तीन वर्ष का ( वत्स देवे ) ॥ १३४ ॥

हत्वा हंसं बलाकां च बकं बर्हिणमेव च । वानरं श्येनभासौ च  
स्पर्शयेद्ब्राह्मणाय गाम् ॥ १३५ ॥ वासोदद्याद्वयं हत्वा पञ्च नीला-  
न्वृषान्गजम् । अजमेषावनड्वाहं खरं हत्वैकहायनम् ॥ १३६ ॥

अर्थ-हंस, बलाका, बक, मोर, वानर, श्येन और भास; इन को मारकर ब्राह्मण को गाय देवे ॥ १३५ ॥ अश्व को मारकर बख देवे और गज को मारकर पांच नील बैल, बकरे और मेंढे को मारकर बैल देवे और गधे को मारकर एक वर्ष का ( वहस ) देवे ॥ १३६ ॥



क्रव्यादांस्तु मृगान्हत्वा धेनुं दद्यात्पयस्विनीम् । अक्रव्यादान्व-  
त्सतरीमुष्ट्रं हत्वा तु कृष्णलम् ॥ १३७ ॥ जीनकार्मुकवस्तावीन्पृथग्द-  
दाद्विशुद्धये । चतुर्णामपि वर्णानां नारीर्हत्वाऽनवस्थिताः ॥ १३८ ॥

अर्थ-क्रव्याद व्याघ्रादि को मारकर दूध वाली गौ और हरिणादि को  
मारकर बछिया और जंट को मारकर १ कृष्णल मात्र ( सौता ) देवे ॥ १३७ ॥  
चारों वर्णों की क्रम से बिगड़ी हुई स्त्रियों के बिना जाने मर जाने पर शुद्धि  
के लिये चर्मपुट, धनुष्, बकरा और मेष पृथक् २ देवे ॥

( १३८ वें से आगे यह श्लोक ५ पुस्तकों में अधिक मिलता है :-

[ वर्णानामनुपूर्व्येण त्रयाणामविशेषतः ।

अमत्या च प्रमाप्य स्त्रीं शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ]

क्रम से तीनों वर्णों में से किसी स्त्री को भूल से मारने वाला शूद्रहत्या  
का प्रायश्चित्त करे ) ॥ १३८ ॥

दानेन वधनिर्णयं सर्पादीनामशक्नुवन् । एकैकशश्चरेत्कच्छ्रं  
द्विजः पापापनुत्तये ॥ १३९ ॥ अस्थिमतां तु सत्वानां सहस्रस्य  
प्रमापणे । पूर्णं चानस्यनस्थानां तु शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥ १४० ॥

अर्थ-सर्पादि के वध के प्रायश्चित्तार्थ दान करने को असमर्थ द्विज पाप  
दूर करने को एक एक कच्छ्र व्रत करे ॥ १३९ ॥ अस्थि वाले सहस्र क्षुद्र जीवों  
के वध में शूद्रवध का प्रायश्चित्त करे और अस्थिरहित जीवों के एक गाड़ी  
भर के वध में भी ( उसी प्रायश्चित्त को करे ) ॥ १४० ॥

किञ्चिदेवतुविप्राय दद्यादस्थिमतांवधे । अनस्थानांचैव हिंसायां  
प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥ १४१ ॥ फलदानांतु वृक्षाणां छेदने जप्यमृ-  
वशतम् । गुल्मवल्लीलतानां च पुष्पितानां च वीरुधाम् ॥ १४२ ॥

अर्थ-अस्थि वाले क्षुद्र जन्तुओं के वध में ब्राह्मण को कुछ दे देवे । और  
अस्थिरहित क्षुद्र जन्तुओं के वध में प्राणायाम से शुद्ध होता है ॥ १४१ ॥ फल  
देने वाले वृक्षों, गुल्म, बेल, लता और पुष्पित वीरुधों के काटने में सौ  
( सावित्र्यादि ) ऋषाओं को जपे ॥ १४२ ॥



अन्नाद्यजानांसत्वानां रसजानांच सर्वशः । फलपुष्पोद्भवानांच  
घृतप्राशोविशोधनम् ॥१४३॥ कृष्टजानामोषधीनां जातानांच  
स्वयं वने । वृथालम्भेऽनुगच्छेद्ग्रां दिनमेकं पयोव्रतः ॥ १४४ ॥

अर्थ-अन्नादि और गुहादि रसों और फलपुष्पादि में उत्पन्न हुये जीवों के वध में " घृत का प्राशन " पापशोधन है ॥ १४३ ॥ खेती से उत्पन्न हुये और वन में स्वयं उत्पन्न हुये धान्यों के वृथाछेदन में दुग्ध का आहार करता हुवा एक दिन गौ के पीछे चले ॥ १४४ ॥

एतैर्व्रतैरपोह्यं स्यादेनोहिंसासमुद्भवम् । ज्ञानाज्ञानकृतं कृत्स्नं  
शृणुतानाद्यभक्षणे ॥१४५॥ अज्ञानाद्वारुणीं पीत्वा संस्कारेणैव  
शुद्ध्यति । मतिपूर्वमनिर्देश्यं प्राणान्तिकमिति स्थितिः ॥१४६॥

अर्थ-इन प्रायश्चित्तों को करके हिंसाजनित पाप, जो कि जाने वा विना जाने किया हो उसको दूर करना चाहिये । अब आगे अभक्ष्यमत्तण के प्रायश्चित्त सुनो ॥ १४५ ॥ अज्ञान से वारुणी मदिरा पीकर संस्कार से ही शुद्ध होता है और इच्छापूर्वक पीने से प्राणान्तिकवध अनिर्देश्य है । यह मर्यादा है ॥ १४६ ॥

अपःसुराभाजनस्यामद्यभाण्डस्थितास्तथापञ्चरात्रं पिबेत्पीत्वा  
शङ्खपुष्पीश्रितं पयः ॥१४७॥ स्पृष्ट्वा दत्त्वा च मदिरां विधिवत्प्रति-  
गृह्य च । शूद्रोच्छिष्टाश्च पीत्वापः कुशवारि पिबेत्त्रयहम् ॥ १४८ ॥

अर्थ-मद्य की बोतल में रक्खी पानी तथा मद्य के करवे के पानी को पीने वाला शङ्खपुष्पी को पानी में औटाकर पांच दिन पीवे ॥१४७॥ मदिरा को स्पर्श करके वा देकर तथा ग्रहण करके और शूद्र के उच्छिष्ट पानी को पी कर तीन दिन विधिपूर्वक कुशों का काढ़ा पीवे ॥ १४८ ॥

ब्राह्मणस्तु सुरापस्य गन्धमात्राय सोमपः । प्राणानप्सु त्रिरा-  
यस्य घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति १४९ अज्ञानात्प्राश्यविण्मूत्रं सुरासं-  
स्पृष्टमेव च । पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयोवर्णाद्विजातयः ॥१५०॥

अर्थ-सोम यज्ञ किया हुवा ब्राह्मण मद्य पीने वाले को सूँघ कर पानी में तीन बार प्राणायाम कर घृत का प्राशन करके शुद्ध होता है ॥ १४९ ॥ विना



जाने मल मूत्र और सुरासे स्पर्श हुवे को प्राशन करके तीनों द्विज वर्ण फिर से सहकार के योग्य हैं ॥ १५० ॥

वपनं मेखलादण्डौ भैक्षचर्या व्रतानि च । निवर्तन्ते द्विजातीनां  
पुनःसंस्कारकर्मणि ॥ १५१ ॥ अभोज्यानां तु भुक्तान्नं स्त्रीशूद्रो-  
च्छिष्टमेव च । जग्धवामांसमभक्ष्यं च सप्ररात्रं यवान्पिबेत् ॥ १५२ ॥

अर्थ—द्विजातियों के फिर से उपनयन होने में—मुखन, मेखला का धारण, दण्डधारण, भिक्षा और व्रत ( ये सब ) नहीं होते हैं ॥ १५१ ॥ जिन का भोजन करने के योग्य नहीं, उन का भन्न और स्त्री का तथा शूद्र का उच्छिष्ट और मांस और अन्य अभक्ष्य खालेवे तौ सातदिन जौ के सत्तू पीवे ॥ १५२ ॥

शुक्लानि च कषायांश्च पीत्वामेध्यानपि द्विजः । तावद्भवत्यप्रयतो  
यावत्तन्नं व्रजतयधः ॥ १५३ ॥ विड्वराहखरोष्ट्राणां गोमायोः  
कपिकाकयोः । प्राश्य मूत्रपुरीषाणि द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥ १५४ ॥

अर्थ—सिरका आदि सड़ी ग्राह्य वस्तु भी और काढा पीकर तब तक द्विज अशुद्ध रहता है। जब तक वह पचकर नीचे नहीं जाता ॥ १५३ ॥ ग्राम का सूकर, खर, उष्ट्र, शृगाल, वानर और काक के मूत्र वा मल को द्विजाति भक्षण करले तौ चान्द्रायण व्रत करे ॥ १५४ ॥

शुष्काणि भुक्त्वा मांसानि भौमानि कवकानि च ।

अज्ञातं चैव सूनास्थमेतदेव व्रतं चरेत् ॥ १५५ ॥

“क्रव्यादसूकरोष्ट्राणां कुकुटानां च भक्षणे ।

नरकाकखराणां च तप्तकृच्छ्रं विशोधनम् ॥ १५६ ॥”

अर्थ—सूखे मांस और पृथिवी में उत्पन्न हुवे कुरुरमुत्ता और बेजाने हिंसा स्थान के मांस को भक्षण करले तौ भी यही ( चान्द्रायणव्रत ) करे ॥ १५५ ॥

“कच्चे मांस के खाने वाले और सूकर, उष्ट्र, मुरगा, नर और काक को भक्षण करले तौ ( आगे कहे हुवे ) तप्तकृच्छ्रव्रत को करे । यह शोधन है” ॥ १५६ ॥

“मासिकान्नं तु योऽश्रीयादसमावर्तको द्विजः । स त्रीण्यहान्युपवसे-  
देकाहं चोदके वसेत् ॥ १५७ ॥ ब्रह्मचारी तु योऽश्रीयान्मधु मांसं

कथञ्चन । स कृत्वा प्राकृतं कृच्छ्रं व्रतशेषं समापयेत् ॥ १५८ ॥”



“अर्थ—जो द्विज ब्रह्मचारी सासिक आहु को अन्न को भोजन करे वह तीन दिन उपवास करे और एक दिन उदक में निवास करे ॥ १५७ ॥ जो ब्रह्मचारी मधु मांस को किसी प्रकार भक्षण करे वह प्राकृत कृच्छ्रव्रत करके व्रतशेष को समाप्त करे” ॥

( १५७ । १५८ श्लोक भी स्मृतकआहु और मांस के प्रचारकों ने मिलाये जान पड़ते हैं । भला जब आहु को वैदिककर्म बताते हैं तब उस में भोजन करने वाले को प्रायश्चित्ती क्यों बतलाते हैं । यह विरोध । और मांस सभी को अभक्ष्य है तब ब्रह्मचारी को मद्य मांस के सेवन में प्राकृत कृच्छ्रमात्र अल्प प्रायश्चित्ती क्यों ? ) ॥ १५८ ॥

विडालकाकाखूच्छिष्टं जग्धवाश्वनकुलस्य च । केशकीटावपन्नं च पिवेद्ब्रह्मसुवर्चलाम् ॥ १५९ ॥ अभोज्यमन्नं नात्तव्यमात्मनः शुद्धिमिच्छता । अज्ञानभुक्तंतूत्तार्यं शोध्यं वाऽप्याशुशोधनैः १६०

अर्थ—बिल्ली, काक, सूसा, कुत्ता और नेवला के उच्छिष्ट और केश तथा कीट से युक्त अन्न को भोजन करके ब्रह्मसुवर्चला का काढा प्रीवे (दो पुस्तकों में “ब्राह्मों सुवर्चलाम्” पाठ है ) ॥ १५९ ॥ अपने को पवित्र रहने की इच्छा करने वाला भोजन के अयोग्य अन्न का भोजन न करे और विना जाने खाये को वमन करके निकाले वा शोधन द्रव्यों से शीघ्र शोधन करे ॥ १६० ॥

एषोऽनादादनस्योक्तो व्रतानां विविधो विधिः । स्तेयदोषापहर्तृणां व्रतानां श्रूयतां विधिः १६१ धान्यान्नधनचौर्याणि कृत्वा कामाद्विजोत्तमः । स्वजातीयगृहादेव कृच्छ्राब्देन विशुद्ध्यति ॥ १६२ ॥

अर्थ—अभक्ष्य भक्षण में जो प्रायश्चित्त हैं, उन के ये नाना प्रकार के विधान कहे । अब चोरी के दोष दूर करने वाले व्रतों का विधान सुनिये ॥ १६१ ॥ ब्राह्मण अपने जाति वालों ही के घर से धान्य, अन्न और धन की चोरी इच्छा से करके एक वर्ष कृच्छ्रव्रत करने से शुद्ध होता है ॥ १६२ ॥

मनुष्याणां तु हरणे स्त्रीणां क्षेत्रगृहस्य च । कूपवापीजलानां च शुद्धिश्चान्द्रायणं स्मृतम् १६३ द्रव्याणामल्पसाराणां स्तेयं कृत्वाऽन्यवेशमतः । चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं तन्निर्यात्यात्मशुद्धये ॥ १६४ ॥



अर्थ-पुरुष, स्त्री, क्षेत्र, गृह, कुवा, बावड़ी और पानी के हरण करने में चन्द्रायणव्रत कहा है ॥ १६३ ॥ दूसरे के घर से (खीरा, ककड़ी, मूली) इत्यादि तुच्छ वस्तुओं की चोरी करके अपनी शुद्धि के लिये वह वस्तु जिस की है उस को देकर (आगे कहा) सान्त्वन कृच्छ्रव्रत करे ॥ १६४ ॥

भक्ष्यभोज्यापहरणे यानशय्यासनस्य च । पुष्पमूलफलानां च  
पञ्चगव्यं विशोधनम् ॥ १६५ ॥ लणकाष्ठद्रुमाणां च शुष्कान्नस्य  
गुडस्य च । चैलचर्मामिषाणां च त्रिरात्रं स्यादभोजनम् ॥ १६६ ॥

अर्थ-(मोदक खीर आदि) भक्ष्य भोज्य पदार्थों और सवारी, शय्या, आसन तथा पुष्प, मूल और फल के चुगाने में पञ्चगव्य का पान करना (और वस्तु उस की उसी को दे देना) शोधन है ॥ १६५ ॥ घास, लकड़ी, वृक्ष, शुष्कजात, गुड़, कपड़ा, चमड़ा और मांस के चुराने में तीन रात्रि दिन उपवास करे ॥ १६६ ॥

मणिमुक्ताप्रवालानां ताम्रस्यरजसस्य च । अयःकांस्योपलानां  
च द्वादशाहं कणान्नता ॥ १६७ ॥ कार्पासकोटजीर्णानां द्विशफैक-  
शफस्य च । पक्षिगन्धौषधीनां च रज्ज्वाश्रैव त्र्यहं पयः ॥ १६८ ॥

अर्थ-मणि, मोती, मूंगा, तांबा, चांदी, लोहा, कांसी और उपल (पत्थर) के चुराने में १२ बारह दिन चावल की खुट्टी का भोजन करे ॥ १६७ ॥ कपास, रेशम, ऊन, और बैल आदि दो खुर वाले, घोड़ा आदि एक खुर वाले, पक्षी, चन्दनादि गन्ध और औषध तथा रस्सी के चुराने में तीन दिन पानी पीकर रहे ॥ १६८ ॥

एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः । अगम्यागमनीयं तु  
व्रतैरेभिरपानुदेत् ॥ १६९ ॥ गुरुतत्पव्रतं कुर्याद्वैतसिक्ता स्वयो-  
निषु । सख्युपुत्रस्य च स्त्रीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च ॥ १७० ॥

अर्थ-द्विज इन व्रतों से चोरी के पाप को दूर करे और जो गमन करने के अयोग्य है उस के साथ गमन के पाप को इन (आगे कहे) व्रतों से दूर करे ॥ १६९ ॥ अपनी सगी बहन तथा मित्र की भार्या और पुत्र की स्त्री तथा कुमारी और चण्डाली के साथ गमन करने से गुरुस्त्रीगमन का प्रायश्चित्त करे ॥ १७० ॥



पैतृष्वसेयीभगिनीं स्वस्त्रीयां मातुरेव च । मातुश्च भ्रातुस्तनयां  
गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥१७१॥ एतास्तिस्त्रस्तु भार्यार्थं नोपय-  
च्छेत्तु बुद्धिमान् । ज्ञातित्वेनानुपेयास्ताः पतति ह्युपयन्मघः ॥१७२॥

अर्थ-पिता की बहन की लड़की तथा माता की बहिन की लड़की और माता के भाई की बेटी (इन ३ बहिनों के) साथ गमन करने से चान्द्रायण व्रत करे ॥१७१॥ इन तीनों की बुद्धिमान् भार्या के अर्थ न ग्रहण करे । ज्ञाति होने से ये विवाह करने के अयोग्य हैं, इन के साथ विवाह करने वाला नीचता को प्राप्त हो जाता है ॥ १७२ ॥

अमानुषीषु पुरुष उदक्यायामयोनिषु ।

रेतः सिकत्वा जले चैव कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ॥१७३॥

“मैथुनं तु समासेव्य पुंसि योषिति वा द्विजः ।

गोयानेऽप्सु दिवा चैव सवासाः स्नानमाचरेत् ॥१७४॥

अर्थ-अमानुषी योनियों और रजस्वला और जल में वीर्य को रखलित करके पुरुष सान्तपन कृच्छ्र व्रत करे ॥१७३॥ “द्विज-पुरुष में वा स्त्री में मैथुन करके तथा बैल की गाड़ी में या पानी में वा दिन में मैथुन करके सचैल स्नान करे ॥” (१७४ वां श्लोक प्रसिद्ध है । क्योंकि इसमें कोई प्रायश्चित्त विशेष नहीं कहा “स्नानं मैथुनिनः स्मृतम्” यह तौ विहित मैथुन में भी स्नान का विधान है । फिर भला ऐसे बड़े अप्राकृत पाप कर्म में इतना अल्प स्नान और वस्त्र धो लेना मात्र भी कोई प्रायश्चित्त गिना जा सकता है ? ) ॥१७४॥

चण्डालान्त्यस्त्रियोगत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च । पतत्यज्ञानतो

विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति ॥१७५॥ विप्रदुष्टांस्त्रियं भर्ता निरु-  
न्ध्यादेकवेश्मनि । यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद्व्रतम् ॥१७६॥

अर्थ-चण्डाल और नीच की स्त्रियों से गमन और इन के यहां भोजन करके तथा प्रतिग्रह लेकर विना जाने विप्र पतित हो जाता और जानकर करने से उन्हीं में मिल जाता है ॥ १७५ ॥ दुष्टा स्त्री को भर्ता एक घर में बन्द रखे और जो पुरुष को पराई स्त्री के गमन करने में प्रायश्चित्त कहा है वह उस ( स्त्री ) से करावे ॥ १७६ ॥



सा चेत्पुनःप्रदुष्येत्तु सदृशेनोपयन्त्रिता ।

कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव तदस्याः पावनं स्मृतम् ॥१७७॥

अर्थ—यदि अपने सजातीय पुरुष की बहकाई हुई फिर बिगड़ जावे, तब इस का पवित्र करने वाला कृच्छ्र चान्द्रायण व्रत कहा है ॥

( १९९ वें से आगे ३ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है—

[ ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रिय शूद्रऽपसंगताः ।

अप्रजाताविशुध्येयुः प्रायश्चित्तेन नेतराः ]

द्विजों की जो स्त्रियें शूद्र से सङ्ग करें, वे सन्तान उत्पन्न न करें तब तब ( उक्त ) प्रायश्चित्त से शुद्ध हों, परन्तु सन्तान उत्पन्न कर लेने वाली नहीं ॥१९९॥

यत्करोत्येकरात्रेण वृषलीसेवनादुद्विजः ।

तद्वैक्षभुजपन्नित्यं त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति ॥१७८॥

अर्थ—वेष्ट्या वा शूद्रागमन में एक रात्रि में ब्राह्मण जो पाप करता है, उस ( पाप ) को नित्य भिक्षा मांग कर भोजन और गायत्री का जप करने से तीन वर्ष में दूर कर पाता है ॥ १७८ ॥

एषापापकृतामुक्ताचतुर्णामपिनिष्कृतिः। पतितैःसंप्रयुक्ताना-  
मिमाः शृणुत निष्कृताः ॥१७९॥ संवत्सरेण पतति पतितेन  
सहाचरन्। याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाशनात् १८०

अर्थ—यह पाप करने वाले चारों वर्णों की निष्कृति ( प्रायश्चित्त ) कही । अब इन पतितों के साथ मिलने वालों के प्रायश्चित्तों को सुनिये—॥१७९॥ १ वर्ष तक पतित के साथ मिलकर यज्ञ कराने, पढ़ाने और योनिसम्बन्ध करने से पतित हो जाता है, परन्तु सहयान, आसन और सहभोजन से नहीं ॥ १८० ॥

यीयेन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः ।

स तस्यैव व्रतं कुर्यात्तत्संसर्गविशुद्धये ॥ १८१ ॥

“पतितस्योदकं कार्यं सापिण्डैर्वान्धवैर्दहिः ।

निन्दितेऽहनिसायाहे ज्ञात्यृत्विग्गुरुसन्निधौ ॥ १८२ ॥

अर्थ—जो मनुष्य इन पाप करने वालों के बीच में जिस के संसर्ग को पाकर पतित होता है, वह उस के संसर्ग की शुद्धि के लिये वही व्रत करे ॥१८१॥



“सपिण्ड बान्धव लोग ग्राम के बाहर जीते हुये ही पतित की उद्दकक्रिया निन्दित दिन के सायंकाल में ज्ञाति वाले ऋत्विज् और गुरु के सामने करें १८२”  
 “दासी घटमपां पूर्ण पर्यस्येत्प्रेतवत्पदा । अहोरात्रमुपासीरन्नाशौचं बान्धवैः सह ॥ १८३ ॥ निवर्तेरंश्च तस्मात्तु संभाषणसहासने । दायाद्यस्य प्रदानं च यात्रा चैव हि लौकिकी ॥ १८४ ॥”

“अर्थ-और दासी जल भरे घड़े को प्रेतवत् ( दक्षिणाभिमुख होकर ) घेर से गिरावे और बान्धवों के साथ एक दिन रात आशीच रखें ॥ १८३ ॥ और उस पतित से बोलना, साथ बैठना और दायभाग देना और नौता खींच सब छोड़ दें ॥ १८४ ॥”

“ज्येष्ठता च निवर्तेत ज्येष्ठावाप्यं च यद्वनम् । ज्येष्ठांशं प्राप्नुयाच्चास्य यवीयान्गुणतोऽधिकः ॥ १८५ ॥ प्रायश्चित्ते तु चरित पूर्णकुम्भमपां नवम् । तेनैव सार्धं प्रास्येयुः स्नात्वा पुण्ये जलाशये १८८”

“अर्थ-और बड़ाई और ज्येष्ठपने का उद्धार धन भी छूट जावे तथा बड़े का भाग, जो छोटा गुण में अधिक हो, वह पावे ॥ १८५ ॥ परन्तु प्रायश्चित्त करने पर पानी में भरे हुये नये घड़े को उस के साथ बान्धव लोग पवित्र जलाशय में स्नान करके डाल दें ॥ १८६ ॥”

“स त्वप्सु तं घटं प्रास्य प्रविश्य भवनं स्वकम् । सर्वाणि ज्ञाति-कार्याणि यथापूर्वं समाचरेत् ॥ १८७ ॥ एतमेव विधिं कुर्याद्योषित्सु पतितास्वपि । वस्त्रान्नपानं देयं तु वसेयुश्च गृहान्तिके ॥ १८८ ॥”

“अर्थ-और वह उस घड़े को पानी में फेंक कर अपने मकान में आकर यथोक्त सम्पूर्ण ज्ञातिकर्मों को करने लगे ॥ १८७ ॥ पतित स्त्रियों के विषय में भी यही विधि करे और खाना कपड़ा देवे तथा घर के पास दूसरे मकान में रहने दे” ( १८२ से १८८ तक ७ श्लोक भी प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं क्योंकि प्रथम तौ स्मृतकश्चाद् ही वैदिक नहीं । फिर पतित का जीवते हुये ही स्मृतकवत् श्राद्ध आशीचादि सब व्यर्थ हैं । पतित के साथ सब प्रकार के सम्बन्ध का छोड़ देना पूर्व कह ही आये । उस के दायभाग का निषेध दायभागप्रकरण में कर आये । यहां प्रायश्चित्तमात्र का प्रकरण है । अशीच और दायभाग का वर्णन यहां प्रकरणविरुद्ध है ) ॥ १८८ ॥



एनस्विभिरनिर्णिक्तैर्नाथं किञ्चित्सहाचरेत् । कृतनिर्णेजनांश्चैव  
न जुगुप्सेत् कर्हिचित् ॥१८९॥ बालघ्नांश्च कृतघ्नांश्च विशुद्धानपि  
धर्मतः । शरणागतहन्तृंश्च स्त्रीहन्तृंश्च न संवसेत् ॥१९०॥

अर्थ-विना प्रायश्चित्त किये हुवे पाप करने वालों के साथ कुछ भी व्यवहार न करे और प्रायश्चित्त किये हुवों की कभी निन्दा न करे ॥१८९॥ परन्तु बालक को मारने वाले और किये उपकार को दूर करने वाले तथा शरणा आये को और स्त्री को मारने वाले के साथ धर्म से शुद्ध होने पर भी न रहे ॥१९०॥

येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधा तांश्चारयित्वा त्रीन्  
कृच्छ्रान्यथाविध्युपनाययेत् ॥१९१॥ प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति विकर्म-  
स्थास्तु ये द्विजाः । ब्रह्मणा च परित्यक्तास्तेषामप्येतदादिशेत् ॥१९२॥

अर्थ-जिन द्विजातियों का उक्तकाल में यथाशास्त्र गायत्री उपदेश और उपनयन न किया गया हो उन का तीन कृच्छ्र ग्रन्थ कराकर यथाशास्त्र उपनयन करे ॥ १९१ ॥ विरुद्ध कर्म करने वाले और वेद को न पढ़े हुवे द्विज प्रायश्चित्त करना चाहें तौ उन को भी यह तीन कृच्छ्र का प्रायश्चित्त बनावे ॥ १९२ ॥

यद्गृहितेनार्जयन्ति कर्मणा ब्राह्मणा धनम् । तस्योत्सर्गणं शुद्ध्य-  
न्ति जपेन तपसैव च ॥१९३॥ जपित्वा त्रीणि सावित्र्याः सहस्राणि  
समाहितः । मासं गोष्ठे पयः पीत्वा मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहात् ॥१९४॥

अर्थ-जो ब्राह्मण निन्दितकर्म करके धन कमाते हैं वे उस को छोड़ने और जप तप से शुद्ध होते हैं ॥१९३॥ एकाग्रचित्त हुआ तीन हजार गायत्री का जप कर गोष्ठ में १ महीने भर दुग्धाहार करके बुरे दान लेने के पाप से छूटता है ॥ १९४ ॥

उपवासकृशतंतु गोव्रजात् पुनरागतम् । प्रणतं प्रतिपृच्छेयुः साम्यं  
सौम्येच्छसीति किम् ॥१९५॥ सत्यमुक्त्वा तु विप्रेषु विकिरेदवसं  
गवाम् । गोभिः प्रवर्तिते तीर्थे कुर्युस्तस्य परिग्रहम् ॥१९६॥

अर्थ-उस उपवास से कृश हुवे और गोष्ठ से आये तथा नम्र हुवे को (ब्राह्मण) पूछे कि सौम्य ! क्या तू हम लोगों के बराबर होना चाहता है ? ॥ १९५ ॥ ब्राह्मणों के आगे ठीक २ कहकर गायों को घास देवे । गायों के पवित्र



क्रिये तीर्थ में वे ( ब्राह्मण ) उस का समान व्यवहार आरम्भ करें ॥ १९६ ॥

व्रात्यानां याजनं कृत्वा परेषामन्त्यकर्मच। अभिचारमहीनं च  
त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति ॥ १९७ ॥ शरणागतं परित्यज्य वेदं  
विल्लाव्य च द्विजः। संवत्सरं यवाहारस्तत्पापमपसेधति ॥ १९८ ॥

अर्थ—( पूर्वोक्त ) व्रात्यों को यज्ञ कराने और दूसरों की अन्त्येष्टि कराने तथा अहीन अभिचार कराने पर ३ कृच्छ्रों से शुद्ध होता है ॥ १९७ ॥ शरण आये को परित्याग करके और पढ़ाने के अयोग्य को वेद पढ़ाकर उस से उत्पन्न हुये पाप को एक वर्ष तक जी का आहार करने वाला दूर करता है ॥ १९८ ॥

श्वश्रुगालखरैर्दण्डो ग्राम्यैः क्रव्याद्विरेव च ।

नराश्वोष्ट्रवराहैश्च प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥ १९९ ॥

अर्थ—कुत्ता, सिंघार, खर, मनुष्य, घोड़ा, ऊँट, सूकर वा अन्य ग्रामवासी सांसाहारियों से काटा हुआ मनुष्य प्राणायाम से शुद्ध होता है ॥

( १९९ वें से आगे १ पुस्तक में यह श्लोक अधिक है :—

[ शुना घ्रातोपलीढस्य दन्तैर्विदलितस्य च ।

अद्रिः प्रक्षालनं प्रोक्तमग्निना चोपचूलनम् ]

अर्थात् जो वस्तु कुत्ते ने सूंघी वा चाटी वा दांतों से चाबी हो, उस का पानी से धोना और अग्नि से पकाना कहा है ) ॥ १९९ ॥

षष्ठान्नकालता मासं संहिताजप एव वा ।

होमाश्च सकला नित्यमपाङ्क्त्यानां विशोधनम् ॥ २०० ॥

अर्थ—पङ्क्तिरहितों का विशेष करके शोधन यह कहा है कि तीन दिन उपवास करके एक मास तक सायंकाल में भोजन करना और वेदसंहिता का पाठ और संपूर्ण होमों को करना ( ८ पुस्तकों में, —सकला=शाकला, पाठभेद है ) ॥ २०० ॥

उष्ट्रयानं समारुह्य खरयानंतु कामतः। स्नात्वा तु विप्रोदिग्वासाः  
प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥ २०१ ॥ विनाद्विरप्सु वाप्यार्तः शारीरं  
सन्निवेश्य च। सचैलो बहिराप्लुत्य गामालभ्य विशुद्ध्यति ॥ २०२ ॥



अर्थ-ऊंट तथा गधे की सवारी पर झुंछा से चढ़कर ब्राह्मण नग्न हो, स्नान करके प्राणायाम में शुद्ध होता है ॥ २०१ ॥ बिना जल से या जल में ही मलमूत्रादि करके चाहे रोगी भी हो, वस्त्र के सहित नगर के बाहर (नदी में) स्नान करके और पृथिवी को छूकर शुद्ध होता है ॥ २०२ ॥

वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे । स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम् ॥ २०३ ॥ हुङ्कारं ब्राह्मणस्योक्त्वा त्वङ्कारं च गरीयसः । स्नात्वाऽनश्नन्नहःशेषमभिवाद्य प्रसादयेत् ॥ २०४ ॥

अर्थ-वेद में कहे हुये नित्यकर्म के छूटने और स्नातक ब्रह्मचारी के व्रत-लोप में भोजन न करना प्रायश्चित्त कहा है ॥ २०३ ॥ ब्राह्मण को "हुम्" ऐसा कहकर और विद्यादि में बड़े को "तू" ऐसा कहकर स्नान करके भूखा रह, दिन भर हाथ जोड़ कर अभिवादन से प्रसन्न करे ॥ २०४ ॥

ताडयित्वा तृणेनापि कण्ठे वावध्य वाससा ।

बिवादे वा विनिर्जित्य प्रणिपत्य प्रसादयेत् ॥ २०५ ॥

"अवगूर्य त्वद्विशतं सहस्रमभिहत्य च ।

जिघांसया ब्राह्मणस्य नरकं प्रतिपद्यते ॥ २०६ ॥ "

अर्थ-तृण से भी (ब्राह्मण) को मारकर वा गले में कपड़ा डालकर तथा बकवाद में जीत कर हाथ जोड़ उसे प्रसन्न करे ॥ २०५ ॥ "ब्राह्मण को मारने की इच्छापूर्वक दण्ड उठाने से सौ वर्ष तक नरक को प्राप्त होता है और यदि दण्ड से मारे तो १००० वर्ष तक नरक में रहता है ॥ २०६ ॥ "

"शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णाति महीतले ।

तावन्त्यद्वदसहस्राणि तत्कर्त्ता नरके वसेत् ॥ २०७ ॥

अर्थ-(मारने हुये ब्राह्मण का) रुधिर भूमि के जितने रजः कणों को भिगेता है उतने हजार वर्ष रुधिर निकालने वाला नरक में वास करता है ॥ (२०६।२०७ भी प्रकरणविरुद्ध और अत्युक्त तथा पुनरुक्त भी हैं । यहां प्रायश्चित्तमात्र का प्रकरण है, सो २०८ वें में ब्राह्मण को दण्ड उठाने, मारने और रुधिर निकालने के प्रायश्चित्त कहे ही हैं । फिर पूर्ववर्णित नरकादि गति की यहां दुबारा वर्णन करने की आवश्यकता कुछ भी नहीं है ) ॥ २०७ ॥



अवगूर्य चरेत्कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने ।

कृच्छ्रातिकृच्छ्रो कुर्वीत विप्रस्योत्पाद्य शोणितम् ॥ २०८ ॥

अर्थ-ब्राह्मण को मारने के लिये दण्ड उठाने से कृच्छ्र प्रायश्चित्त करे और दण्ड मारने से ( आगे कहा ) अतिकृच्छ्र और रुधि ( निकल आवे ) तो दोनों प्रायश्चित्त करे ॥ २०८ ॥

अनुक्तनिष्कृतीनां तु पापानामपनुत्तये । शक्तिं चावेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् २०९ यैरभ्युपायैरेनांतिमानवोऽथपकर्षति । तान्वोऽभ्युपायान्ब्रूयामि देवर्षिपितृसेवितान् ॥ २१० ॥

अर्थ-जिन पापों का प्रायश्चित्त नहीं कहा है उन पापों के दूर करने की शक्ति और पाप को देख कर प्रायश्चित्त की कल्पना कालेवे ॥ २०९ ॥ जिन उपायों से सनुष्य पापों को दूर करता है, उन देव, ऋषि, पितरों के किये हुये उपायों को तुम से कहता हूँ ॥ २१० ॥

अहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम् । अहं परं च नाश्रीयात्प्राजापत्यं चरन्द्भिजः ॥ २११ ॥ गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् । एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सान्तपनं स्मृतम् ॥ २१२ ॥

अर्थ-प्राजापत्य कृच्छ्र का आचरण करने वाला द्विज तीन दिन प्रातः काल और तीन दिन सायंकाल भोजन करे और तीन दिन अयाचित अन्न का भोजन करे तथा परले तीन दिन उपवास करे, ( यह बारह दिन का एक " प्राजापत्य " व्रत होता है ) ॥ २११ ॥ गोमूत्र, गोबर, दुग्ध, दधि, घृत और कुशा के पानी का एक दिन भक्षण करे और इस के पश्चात् एक दिन रात्रि का उपवास करे । इस को " सान्तपन कृच्छ्र " कहा है ॥ २१२ ॥

एकैकं ग्रासमश्रीयात् त्र्यहाणित्रीणिपूर्ववत् । अहं चोपवसेदन्तयमतिकृच्छ्रं चरन्द्भिजः ॥ २१३ ॥ तप्तकृच्छ्रं चरन्विप्रोजलक्षीरघृतानिलान् । प्रतित्र्यहंपिवेदुष्णान्सकृत्स्नायीसमाहितः ॥ २१४ ॥

अर्थ-( कृच्छ्रवत् ) " अतिकृच्छ्र " आचरण करने वाला ३ सायं, ३ प्रातः, ३ अयाचित; इन ९ दिन में एक एक ग्रास भोजन करे और अन्त के ३ दिन



उपवास करे ॥२१३॥ " तप्तकच्छ " का आचारण करने वाला द्विज, स्थिरचित्त हुआ एक बार स्नान करके तीन दिन उष्ण जल पीवे और तीन दिन उष्ण दूध; इसी प्रकार तीन दिन उष्ण घृत और ३ दिन उष्ण वायु पीवे ॥

( २१४ से आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:—

[ अपां पिवेच्च त्रिपलं पलमेकं च सर्पिषः ।

पयः पिवेत्तु त्रिपलं त्रिमात्रं चोक्तमानतः ]

जल ३ पल, घृत १ पल, दूध ३ पल; उक्त प्रमाण से ३ मात्रा [ उस २ दिन में उस २ वस्तु की ] पिया करे ) ॥ २१४ ॥

यथात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम् । पराकीनामकृच्छ्रोयं सर्वपापापनोदनः ॥ २१५ ॥ एकैकं हासयेत्पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत् । उपरुपृशंस्त्रिपवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥ २१६ ॥

अर्थ—स्वस्थ और स्वाधीन चित्त वाले का बारह दिन भोजन न करना " पराक " नाम कच्छ, सब पाप दूर करता है ॥ २१५ ॥ तीन काल स्नान करता हुआ कृष्णपक्ष में एक एक पिण्ड=ग्रास को घटावे और शुक्लपक्ष में एक एक बढ़ावे । इस व्रत को " चान्द्रायण " कहा है ॥ २१६ ॥

एतमेव विधिं कृत्स्नमाचरेदावमध्यमे । शुक्लपक्षादिनियतश्चरन् चान्द्रायणं व्रतम् ॥ २१७ ॥ अष्टावष्टौसमश्नीयात्पिण्डान्सध्यन्दिने स्थिते । नियतात्मा हविष्याशी यतिश्चान्द्रायणं चरन् ॥ २१८ ॥

अर्थ—इसी पिण्ड=ग्रास को घटाने बढ़ाने और त्रिकाल स्नानात्मक " यव-मध्याह्न्य चान्द्रायण " को शुक्लपक्ष से प्रारम्भ करके जितेन्द्रिय होकर करे ॥ २१७ ॥ जितेन्द्रिय, हविष्य अन्न का भोजन करने वाला " यतिश्चान्द्रायण " व्रत का आचरण करता हुआ मध्याह्न में आठ २ पिण्ड=ग्रास भोजन करे ॥ २१८ ॥

चतुरःप्रातरश्नीयात्पिण्डान्विप्रः समाहितः । चतुरोऽस्तमिते सूर्ये

\* यवमध्याह्न्य=जित चान्द्रायण में जैसे " यव " बीच में मोटा और किनारों पर पतला होता है, तद्वत् शुक्लपक्ष में आरम्भ करने के कारण ग्रास वृद्धि करके फिर कृष्णपक्ष में ग्रास घटने से बिच के ग्रासों का भोजन यवमध्य के समान मोटा हो जाता है ॥



शिशुचान्द्रायणं स्मृतम् ॥ २१८ ॥ यथाकथञ्चित्पण्डानां तिस्रोऽशीतीः समाहितः। मासेनाश्वन्हविष्यस्य चन्द्रस्यैतिसलोकताम्

अर्थ-विप्र प्रातःकाल चार ग्रास और चार सायंकाल में भक्षण करे। इस को "शिशु चान्द्रायण" कहते हैं ॥ २१८ ॥ स्वरूप हुआ जैसे बने वैसे हविष्य अन्न के १ महीने में तीन अरसी  $3 \times 50 = 150$  दो सौ चालीस ग्रास भोजन करने वाला चन्द्रवत् निर्मल लोक ( देह ) को प्राप्त होता है ॥ २२० ॥

एतद्ब्रह्मास्तथादित्या वसवश्चाचरन्व्रतम्। सर्वाऽकुशलमोक्षाय मरुतश्च महर्षिभिः ॥ २२१ ॥ महाव्याहृतिभिर्हीमः कर्त्तव्यः स्वयमन्वहम्। अहिंसा सत्यमक्रोधमार्जवं च समाचरेत् ॥ २२२ ॥

अर्थ-इस "चान्द्रायण" व्रत को रुद्र आदित्य वसु मरुत इन संज्ञा वाले विद्वानों ने महर्षियों के साथ सम्पूर्ण पाप के नाशार्थ किया है (२२०। २२१ भी अनावश्यक और अत्युक्त तथा भिन्न शैली के जान पड़ते हैं) ॥ २२१ ॥ (व्रती) आप नित्य महाव्याहृतियों से होम करे तथा अहिंसा सत्य अक्रोध और सरलता का आचरण करे ॥ २२२ ॥

त्रिरहस्त्रिर्निशायां च सुषासाजलमाविशेत्। स्त्रीशूद्रपतितांश्चैव नाभिभाषेत कर्हिचित् ॥ २२३ ॥ स्थानासनाभ्यां विहरेदशक्तोऽथः शयीत वा। ब्रह्मचारी व्रती च स्याद्गुरुदेवद्विजार्चकः ॥ २२४ ॥

अर्थ-दिन में ३ बार और रात्रि में ३ तीन बार सचैल गोता लगाकर स्नान करे तथा स्त्री, शूद्र और पतितों के साथ कभी न बोले ॥ २२३ ॥ स्थान और आपनों पर उठा बेठा करे और यदि अशक्त होवे तो भूमि पर नीचे सोवे। व्रती ब्रह्मचर्य को धारण करने वाला तथा गुरुदेव द्विज का पूजन करने वाला हो ॥ २२४ ॥

सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः। सर्वेष्वेव व्रतेष्वेव प्रायश्चित्तार्थमादृतः ॥ २२५ ॥ एतैर्द्विजातयः शोध्या व्रतैराविष्कृतैः सः। अनाविष्कृतपापांस्तु मन्त्रैर्हीमैश्च शोधयेत् ॥ २२६ ॥

अर्थ-यथाशक्ति नित्य गायत्री और अन्य पवित्र मन्त्रों को जपे, सम्पूर्ण व्रतों में इसी प्रकार प्रायश्चित्त के लिये श्रद्धा से अनुष्ठान करे ॥ २२५ ॥ लोक



विदित पाप वाले द्विजाति इन व्रतों से शोधने योग्य हैं और गुप्त पाप वालों को मन्त्रों और होयों से शुद्ध करे ॥ २२६ ॥

ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च । पापकृन्मुच्यतेपापा-  
त्तथा दानेन चापदि ॥ २२७ ॥ यथायथानरोऽधर्मं स्वयंकृत्वाऽनु-  
भाषते । तथा तथा त्वच्चैवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ २२८ ॥

अर्थ-पाप करने वाला पाप के प्रकाश करने और पश्चात्ताप करने तथा तप और अध्ययन करने से और यदि इन में असमर्थ हो तो दान करने से पाप से छूटता है ॥ २२७ ॥ अनुष्य जैसे २ अधर्म करके उसे कहता है, वैसे वैसे उस अधर्म से छूटता है । जैसे सांप कांचली से ॥ २२८ ॥

यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति । तथा तथा शरीरं त-  
त्तेनाऽधर्मेण मुच्यते ॥ २२९ ॥ कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापात्  
प्रमुच्यते । नैवं कुर्यां पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः ॥ २३० ॥

अर्थ जैसे जैसे उस का मन दुष्कृत कर्म की निन्दा करता है, वैसे वैसे वह शरीर उस अधर्म से छूटता है ॥ २२९ ॥ पाप करने के पश्चात् संतापयुक्त होने से उस पाप से बचता है और "फिर ऐसा न करूँ" इस प्रकार कहकर निवृत्त होने से वह पवित्र होता है ॥ २३० ॥

एवं संचिन्त्यमनसा प्रेत्यकर्मफलोदयमामनोवाङ्मूर्तिभिर्नित्यं  
शुभं कर्म समाचरेत् ॥ २३१ ॥ अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात्कृत्वाकर्म  
विगर्हितम् । तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयं न समाचरेत् ॥ २३२ ॥

अर्थ-इस प्रकार मरने पर लोक में कर्म के फलोदय को विचार कर मन वाणी शरीर से नित्य शुभ कर्म करे ॥ २३१ ॥ समझे वा विना समझे अशुभ कर्म करके उस से छूटने की इच्छा करने वाला फिर उस को दूसरी बार न करे ॥ २३२ ॥

यस्मिन्कर्मण्यस्यकृते मनसः स्यादलाघवम् । तस्मिंस्तावत्तपः  
कुर्यादावत्तुष्टिकरं भवेत् ॥ २३३ ॥ तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं  
सुखम् । तपोमध्यं बुधैः प्रोक्तं तपोऽन्तं वेददर्शिभिः ॥ २३४ ॥

अर्थ-इस ( पाप करने वाले ) के मन का जिस अनुष्ठान के करने में भारीपन हो उस में उतना प्रायश्चित्त करे जितने से इस को तुष्टि करने वाला



होजावे ॥ २३३ ॥ इस सब देव मनुष्यों के सुख का आदि, मध्य और अन्त भी वेद के जानने वाले पण्डितों ने तप को ही कहा है ॥ २३४ ॥

॥ ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम् । वैश्यस्य तु तपो वार्ता  
तपः शूद्रस्य सेवनम् ॥ २३५ ॥ ऋषयः संयतात्मानः फलमूलानि-  
लाशनाः । तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ २३६ ॥

अर्थ—ब्राह्मण का धेदशास्त्र जानना, क्षत्रिय का रक्षा करना, वैश्य का व्यापार करना और शूद्र का सेवा करना तप है ॥ २३५ ॥ ऋषियों को जीतने वाले और कन्द मूल फल के भोजन करने वाले ऋषि संपूर्ण तीनों लोकों के चर तथा अचर को तप ही से देखते हैं ॥ २३६ ॥

औषधान्यगदो विद्या दैवी च विविधा स्थितिः । तपसैव प्रवि-  
ष्टुन्ति तपस्तेषां हि साधनम् ॥ २३७ ॥ यदुस्तरं यदुरापं यदुर्गं  
यच्च दुष्करम् । सर्वे तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥ २३८ ॥

अर्थ—औषध, आरोग्य, विद्या और नाना प्रकार की देवतों की स्थिति सब तप ही से प्राप्त होते हैं क्योंकि उन का साधन तप ही है ॥ २३७ ॥ जो दुस्तर है और दुःख से पाने योग्य है, जहां दुःख से जाया जाता है और जो दुःख से किया जाता है, वह सब तप से सधने योग्य है क्योंकि तप दुर्लभ है ॥ २३८ ॥

महापातकिनश्चैव शेषाश्चाऽकार्यकारिणः । तपसैव सुतप्तेन  
मुच्यन्ते किल्बिषात्ततः ॥ २३९ ॥ कीटाश्चाऽहिपतङ्गाश्च पशवश्च  
वयांसि च । स्थावराणि च भूतानि दिवं यान्ति तपो बलात् २४०

अर्थ—महापातकी और शेष उपातक वाले, उक्त प्रकार से तप ही के अनुष्ठान करने से उन पाप से छूटते हैं ॥ २३९ ॥ कीड़े, सांप, पतङ्ग, पशु, घसी और वृक्ष लता इत्यादि सब तप के प्रभाव से स्वर्ग को प्राप्त होते हैं (जड़ पदार्थों का तप और स्वर्गति चिन्त्य है) ॥ २४० ॥

यत्किञ्चिदेनः कुर्वन्ति मनोवाङ्मूर्तिभिर्जनाः । तत्सर्वं निर्दह-



न्त्याशु तपसैव तपोधनाः ॥२४१॥ तपसैव विशुद्धस्य ब्राह्मणस्य  
दिवौकसः । इज्याश्च प्रतिगृह्णन्तिकामान्संवर्धयन्ति च ॥२४२॥

अर्थ-सनुष्य-सन वाणी काय से जो कुछ पाप करते हैं, उन सब को तप करने वाले तप से ही गलाते हैं ॥ २४१ ॥ तप करने से शुद्ध हुवे ब्राह्मण के यज्ञ में देवता आहुति को ग्रहण करते और उन के मनोवाञ्छित फलों की वृद्धि करते हैं ॥ २४२ ॥

“प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसैवासृजत्प्रभुः ।

तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥ २४३ ॥ ”

“ अर्थ-प्रजापति ने तप ही से इस शास्त्र को बनाया । उसी प्रकार ऋषियों ने तप ही से वेदों को पाया ” ॥

( २४३ वां श्लोक तौ स्पष्ट ही मनु से भिन्न पुरुष का वचन है । परन्तु इसी से यह भी प्रतीत होता है कि कदाचित् यह तप का सब ही व्याख्यान अन्यकृत हो । क्योंकि मनु की शैली यह नहीं देखी जाती कि वह एक बात का इतना बड़ा गीत बढ़ावे । जो हो, परन्तु नन्दन टीकाकार ने “शास्त्रं=सर्वम्” माना है । तदनुसार तौ यह श्लोक मनुप्रोक्त ही है । परन्तु नन्दन ने भी लिखा है कि ( इदं शास्त्रमिति च पठन्ति ) इस से जान पड़ता है कि नन्दन के समय में भी “ शास्त्रं ” पाठ चल गया था ) ॥ २४३ ॥

इत्येतत्तपसोदेवा महाभाग्यं प्रचक्षते ।

सर्वस्यास्य प्रपश्यन्तस्तपसःपुण्यमुत्तमम् ॥२४४॥

अर्थ-इस सम्पूर्ण तप के उत्तम पुण्य को इस प्रकार देखते हुवे देवता लोग यह तप का साहाय्य कहते हैं ॥

( २४४ से आगे दो पुस्तकों में यह श्लोक अधिक पाया जाता है और इस पर रामचन्द्र ने टीका भी की है:-

[ब्रह्मचर्यं जपोहोमः काले शुद्धाल्पभोजनम् ।

अरागद्वेषलोभाश्च तपउक्तं स्वयंभुवा ] ॥

ब्रह्मचर्य, जप, होम, समय पर शुद्ध थोड़ा भोजन, राग द्वेष लोभों का त्यागना, यह ब्रह्मा ने तप कहा है ) ॥ २४४ ॥



वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञक्रिया क्षमा । नाशयन्त्याशु  
पापानि महापातकजान्यपि २४५ यथैधस्तेजसांवह्निः प्राप्तिर्निर्द-  
हति क्षणात् । तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित् ॥ २४६ ॥

अर्थ—प्रतिदिन यथाशक्ति वेद का अध्ययन और पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान करना तथा अपराध को सहन करना; ये महापातकों के भी (कुसंस्काररूप) पापों का शीघ्र नाश करते हैं ॥ २४५ ॥ जैसे अग्नि तेज से पाप को दहन की क्षमता में सर्वथा जला देता है, वैसे ही वेद का जानने वाला ज्ञानाग्नि से सम्पूर्ण (कुसंस्काररूपी) पापों को जला देता है ॥ २४६ ॥

“इत्येतदेनसामुक्तं प्रायश्चित्तं यथाविधि । अत ऊर्ध्वं रहस्यानां  
प्रायश्चित्तं निबोधत ॥ २४७ ॥ सव्याहृतिप्रणवकाः प्राणायामास्तु  
षोडश । अपि भ्रूणहणं मासात्पुनन्त्यहरहः कृताः ॥ २४८ ॥”

“अर्थ—इस प्रकार ये पापों के प्रायश्चित्त यथाविधि कहे । अब अप्रकाश (छुपे) पापों का प्रायश्चित्त सुनो ॥ २४७ ॥ प्रणव और व्याहृति के साथ प्रति दिन किये हुये सोलह प्राणायाम महीने भर में भ्रूणहत्या वाले को भी पवित्र कर देते हैं” । ( २४७—से २५१ तक ५ श्लोक भी प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं क्योंकि २४७ वें में जो कहा है कि यह प्रत्यक्ष पापों का प्रायश्चित्त कहा । अब छुपों का प्रायश्चित्त सुनो । प्रथम तो प्रायश्चित्त छिपाने पर होता नहीं । प्रत्युत छिपाना भी एक और पाप है और पूर्व कह आये हैं कि पाप का स्वीकार करके प्रकट करना भी एक प्रकार से प्रायश्चित्ताङ्ग है । दूसरे यह प्रतिज्ञावाक्य सब पुस्तकों में पुराने समय में न था, क्योंकि कुल्लूक टीकाकार कहते हैं कि “यह श्लोक गोविन्दराज टीकाकार ने नहीं लिखा परन्तु मेधातिथि ने लिखा है” तथा राघवानन्द टीकाकार ने इस का पूर्वार्ध इस प्रकार लिखा है कि “इत्येषोऽभिहितः कृत्स्नः प्रायश्चित्तस्य बोधविधिः” यदि यह पाठ ठीक माने तो प्रायश्चित्तों की समाप्ति यहीं हो जानी चाहिये । तथा छिपे पाप का गुरुतर=बड़ा भारी प्रायश्चित्त होना चाहिये । यहां २५१ में तो गुरुस्त्रीगमन के शरीरत्यागरूप प्रायश्चित्त के स्थान में कुछ ऋचाओं, मन्त्रों और सूक्तों का पाठमात्र ही विधान किया है । इत्यादि हेतुओं से यह २५१ तक कल्पना प्रतीत होती है ) ॥ २४८ ॥



“कौत्सं जप्त्वाप इत्येतद्व्यासिष्ठं च प्रतीत्यृचम् । माहित्रं शुद्धव-  
त्यश्च सुरापोऽपि विशुद्ध्यति ॥ २४९ ॥ सकृज्जप्त्वास्य वामीयं शिव-  
सङ्कल्पमेव च । अपहत्य सुवर्णं तु क्षणाद्भवति निर्मलः ॥ २५० ॥”

“अर्थ कुत्स ऋषि वाला “अप नः शोशुचदधम्” ८ ऋचा का ऋग्वेदस्थ १ ।  
९७ सूक्त और वमिष्ठ ऋषि वाली “प्रतिस्तोमेभिरुषसं वसिष्ठा०” इत्यादि ७ ।  
८० । १ ऋचा “महित्रीणामवोस्तु०” इत्यादि १० । १८५ । १ और “एतोन्विन्द्रं  
स्तवाम शुद्धं शुद्धेन०” इत्यादि ८ । ९७ । ७ शुद्धवती ऋचाओं का जप करके  
सुरापान करने वाला भी शुद्ध हो जाता है ( दो पुस्तकों में—माहित्रं=माहेन्द्रम्  
पाठ है ) ॥ २४९ ॥ सौना घुराकर एक बार प्रतिदिन “अस्यवामीयं=जिस में  
‘अस्यवामो’ शब्द है ( सती छः सूक्तसाम्नोः । अष्टा० ५ । २ । ५९ ) उस “अस्य  
वामस्य पलितस्य होतुः० इत्यादि १ । १६५ । १-५२ ऋचा के सूक्त को पढ़कर  
वा “शिवसङ्कल्प०” ( यजुः ३४ । १-६ इस सूक्त को पढ़कर क्षणभर में निर्मल  
होजाता है ॥ २५० ॥

“हविष्यन्तीयमभ्यस्य न तमंहतीति च ।

जपित्वा पौरुषं सूक्तं मुच्यते गुह्यतल्पगः ॥ २५१ ॥”

एनसां स्थूलसूक्ष्माणां चिकीर्षन्नपनोदनम् ।

अवेत्यृचं जपेदब्दं यत्किञ्चेदमितीति वा ॥ २५२ ॥

“अर्थ—हविष्यान्तमजरं स्वर्विदि० ऋ० १० । ८८ इस ११ ऋचा के सूक्त को  
और “न तमंहोन दुरितम्०” २ । २३ । ५ अथवा १० । १२६ । १ और “इति  
वा इति मे मनः” १० । ११९ । १ इस को तथा “सहस्रशीर्षा०” इत्यादि १० ।  
९० । १-१६ ऋचाओं के सूक्त को पढ़कर गुरुस्त्रीगमन का पाप छूट जाता है २५१”

छोटे बड़े पापों का प्रायश्चित्त करने की इच्छा वाला मनुष्य “अव ते  
हेव वरुण नमोमिः” इत्यादि १ । २४ । १४ ऋचा की अथवा “यत्किञ्चेदं  
वरुण दैव्ये जने०” इत्यादि ७ । ८९ । ५ ऋचा को एक वर्ष तक जपे ॥ २५२ ॥

प्रतिगृह्याऽप्रतिग्राह्यं भुक्त्वा चान्नं विगर्हितम् । जपं स्तरत्समन्दीयं

पूयते मानवस्त्रयहात् ॥ २५३ ॥ सौमारौद्रं तु बह्वेना मासमभ्यस्य

शुद्ध्यति । स्ववन्त्यामाचरन्स्नानमर्यम्णामिति च तृचम् ॥ २५४ ॥



अर्थ—प्रतिग्रह के अयोग्य का प्रतिग्रह लेकर और निन्दित अन्न भोजन करके “तरत्स सन्दी धावति” यह जिन में जाता है उन पञ्चमान देवता की ऋ० ९।५८।१-४ ऋचाओं को तीन दिन पढ़ने से मनुष्य पवित्र होता है ॥२५३॥ “सोमावद्रा धारयेथाः” ऋ० ६।११।१-४ सूक्त और “अयं स्नानमिति” = [ “अयं स्नानं वरुणं मित्रं” ऋ० ४।२।४ ] ( ठीक ‘अयं स्नानः’ प्रतीक वाला ३ ऋचा का कोई सूक्त नहीं मिलता ) इन ३ ऋचाओं का एक मास अभ्यास करने से नदी में स्नान करता हुआ बहुत पापों वाला शुद्ध हो जाता है ॥२५४॥  
अब्धार्धमिन्द्रमित्येतदेनस्वी सप्तकं जपेत् । अप्रशस्तं तु कृत्वाऽसु मासमासीत भैक्षभुक् ॥ २५५ ॥ मन्त्रैः शाकलहोमोयैरब्दं हुत्वा घृतं द्विजः । सुगुर्वप्यपहन्त्येनो जप्त्वा वा नम इत्यृचम् ॥ २५६ ॥

अर्थ—पापी पुरुष छः मास तक “इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमूचये” ऋ० १।१०६।१-७ इत्यादि ७ ऋचा का जप करे और जिस ने जल में कोई न करने का काम किया हो, वह एक मास तक भिक्षा भोजन से निर्वाह करे ॥२५५॥ ( ३ पुस्तकों में अप्रशस्तम् = अप्रकाशं पाठ है ) “देवकृतस्य न सोऽवयजनमभि०” यजुः ८।१३ इत्यादि ८ मन्त्र कात्यायन श्रौतमूत्र १०।८।६ के अनुसार शाकल होमीय कहाते हैं। इन का पाठ करके हवन करने वाला वा “नमः कपर्दिने” इत्यादि यजुः १६।२९ ( वा “नम आशवे” यजुः १६।३१ इत्यादि वा “नसो मित्रस्य वरुणस्य” इत्यादि ऋ० १०।३७।१ ) ऋचा को जप कर एक वर्ष में बड़े पाप को भी नष्ट कर देता है ॥ २५६ ॥

महापातकसंयुक्तोऽनुगच्छेद्भाः समाहितः । अभ्यस्याब्दं पावमानीर्भैक्षहारो विशुध्यति ॥ २५७ ॥ अरण्येष्वत्रिरभ्यस्य प्रयतो वेदसंहिताम् । मुच्यते पातकैः सर्वैः पराकैः शोधितस्त्रिभिः ॥ २५८ ॥

अर्थ—बड़े २ पातकों से युक्त हुआ जितेन्द्रिय होकर गायों को चरावे और पावमानी = पवमान देवता की ( ऋ० ९।१।१ से ९।११४।४ तक अर्थात् ९ वें मण्डल की समस्त ) ऋचों को एक वर्षपर्यन्त पढ़कर भिक्षा भोजन करे तब शुद्ध होता है ( दो पुस्तकों में महापातक के स्थान में उपपातक पाठ है, वही ठीक भी जान पड़ता है ) ॥२५७॥ पूर्वोक्त तीन पराकों से पवित्र हुआ और बाह्य आभ्यन्तर शौचयुक्त होकर वन में वेदसंहिता मात्र को पढ़कर सम्पूर्ण पातकों से छूट जाता है ॥ २५८ ॥



अहं तूपवसेदधुक्तस्त्रिरहोऽभ्युपयन्नपः । मुच्यते पातकैः सर्वै-  
 स्त्रिर्जपित्वाऽघमर्षणम् ॥२५९॥ यथाश्वमेधः क्रतुराट् सर्वपापा-  
 पनोदनः । तथाऽघमर्षणं सूक्तं सर्वपापापनोदनम् ॥२६०॥

अर्थ—संयत होकर त्रिरात्र उपवास करे और प्रतिदिन त्रिकाल स्नान करता रहे । जल में खड़ा हुवा—“ऋतं च सत्यं” ऋ० १० । १९० । १-३ इस अघमर्षण सूक्त को त्रिरावृत्ति पढ़कर सब पापों से बच जाता है ॥२५९॥ जैसे अश्वमेध यज्ञ सब यज्ञों में श्रेष्ठ और सब पापों को दूर करने वाला है, वैसे ही सब पापों को दूर करने वाला यह अघमर्षण सूक्त है ॥ २६० ॥

हत्वा लोकानपीमांस्त्रीनश्नन्नपि यतस्ततः । ऋग्वेदं धारयन्विप्रो  
 नैनः प्राप्नोति किञ्चन ॥२६१॥ ऋक्संहितां त्रिरभ्यस्य यजुषां वा  
 समाहितः । सान्नां वा सरहस्यानां सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥२६२॥

अर्थ—इन तीन लोकों को भी मारकर और जहां तहां के भी अन्न को भोजन करता हुवा ऋग्वेद को धारण करने वाला विप्र कुछ पाप को नहीं प्राप्त होता ( यह ऋग्वेद धारण की अत्युक्ति से प्रशंसा मात्र है । यथार्थ नहीं जानपड़ती । असम्भव सी भी है ) ॥ २६१ ॥ ऋक्संहिता वा यजुःसंहिता अथवा सामसंहिता की ब्राह्मणोपनिषदादिसहित समाहित चित्त होकर तीन अवृत्ति करने से सब पापों से बच जाता है ॥ २६२ ॥

यथा महाह्रदं प्राप्य क्षिप्तं लोष्टं विनश्यति । तथा दुश्चरितं सर्वं  
 वेदे त्रिवृत्ति मज्जति ॥२६३॥ ऋचो यजूंषि चान्यानि सामानि  
 विविधानि च । एषज्ञेयस्त्रिवृद्धेदो यो वेदैर्न स वेदवित् ॥२६४॥

अर्थ—जैसे बड़ी नदी में डाला हुवा ढेला गल जाता है, वैसे सम्पूर्ण पाप त्रिरावृत्ति वेद में डूब जाता है ( यह भी वेदों की प्रशंसा है ) ॥ २६३ ॥ ऋग्यजुः और साम के नाना प्रकार के मन्त्र, यह त्रिवृद्धेद जानने के योग्य है । जो इस को जानता है, वह वेदवित् है ॥ २६४ ॥



आदं यत्त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयोयस्मिन्प्रतिष्ठिताः ।  
सगुह्योऽन्यस्त्रिवृद्धेदो यस्तं वेद स वेदवित् ॥ २६५ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे ( भृगुप्रोक्तायां संहितायाम् )  
एकादशोऽध्यायः

॥ ११ ॥

अर्थ—सब वेदों का जो प्राथमिक तीन अक्षरयुक्त ओंकाररूप वेद है, जिस में तीनों वेद स्थित हैं, वह दूसरा त्रिवृद्धेद ओंकार गुप्त ( बीजरूप ) है । जो इस के स्वरूपार्थ ( परमात्मा ) को जानता है, वह वेदवित् है ॥

( तीन प्राचीन पुस्तकों में और राघवानन्द के भाष्य में नीचे लिखा श्लोक अधिक मिलता है, जिस की आवश्यकता भी है क्योंकि उपसंहार करना उचित भी था जैसा कि मनु की शैली है । तदनुसार इस श्लोक में पूर्वाध्याय के विषय का उपसंहार और अगले अध्याय के विषय का प्रस्ताव है । अनुमान है कि १२ द्वादशाध्याय के आरम्भ के दो प्रक्षिप्त श्लोकों को बढ़ाने वाले ने यह श्लोक मनुसंहिता को भृगुसंहिता बनाने के लिये निकाल दिया है । वह यह है—

[ एष वोभिहितः कृत्स्नः प्रायश्चित्तस्य निर्णयः ।

निश्चेयसं धर्मविधिं विप्रस्येमं निबोधत ]

यह तुम से समस्त प्रायश्चित्त का निर्णय कह दिया । अब ब्राह्मण के इस सौक्ष्मधर्मविधान को सुनो ॥ तथा इसी से आगे दो पुस्तकों में अर्ध श्लोक यह अधिक पाया जाता है—

[ पृथग्ब्राह्मणकल्पाभ्यां स हि वेदस्त्रिवृत्स्मृतः ]

यह ब्राह्मणग्रन्थों और कल्पग्रन्थों से पृथक् “ त्रिवृत् ” वेद कहा गया है ॥ २६५ ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे  
एकादशोऽध्यायः

॥ ११ ॥



अ० ३ म

## अथ द्वादशोऽध्यायः

“चातुर्वर्ण्यस्य कृत्स्नोऽयमुक्तो धर्मस्त्वयाऽनघ । कर्मणां फलनिर्वृतिं  
 शांस नस्तस्वतः पराम् ॥ १ ॥ स तानुवाच धर्मात्मा महर्षिन्  
 मानवो भृगुः । अस्य सर्वस्य शृणुत कर्मयोगस्य निर्णयम् ॥ २ ॥”

“अर्थ हे पापरहित ! तुमने चारों वर्णों का यह संपूर्ण धर्म कहा । अब  
 कर्मों की शुभाऽशुभ परमार्थरूप फलप्राप्ति हम से कहिये (इस प्रकार महर्षि  
 लोगों ने भृगु जी से पूछा) ॥ १ ॥ वह धर्मात्मा मनु के पुत्र भृगु उन महर्षियों  
 से बोले कि इस सम्पूर्ण कर्मयोग के निश्चय को सुनिये” ॥

( स्पष्ट है कि इन १ । २ श्लोकों का कर्त्ता न मनु है, न भृगु । किन्तु  
 कोई ग्रन्थ का सम्पादक वा संग्राहक कहता है, जिस ने इस धर्मशास्त्र में  
 भृगु का ऋषियों से संवाद मान रक्खा है ) ॥ २ ॥

शुभाऽशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम् । कर्मजा गतयो नृणा-  
 मुत्तमाऽधममध्यमाः ॥ ३ ॥ तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य  
 देहिनः । दशलक्षणयुक्तस्य मनोविद्यात्प्रवर्तकम् ॥ ४ ॥

अर्थ—मन, वाणी तथा शरीर से उत्पन्न शुभाऽशुभ फल वाले कर्म से  
 मनुष्यों की उत्तम, मध्यम, अधम गति ( जन्मान्तर की प्राप्ति ) होती हैं ॥ ३ ॥  
 उस देही के उत्तम, मध्यम, अधम और मन, वाणी, शरीर के आश्रित फल  
 के देने वाले तीन प्रकारके १० लक्षणयुक्त कर्म का चलाने वाला मन को जानो ।  
 ( यहां से कर्मफल कहते हुबे क्रमपूर्वक मोक्ष का वर्णन करेंगे ) ॥ ४ ॥

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसाऽनिष्टचिन्तनम् । वितथाभिनिवेशश्च  
 त्रिविधं कर्म मानसम् ॥ ५ ॥ पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि  
 सर्वशः । असंबद्धप्रलापश्च बाह्वयं स्याच्चतुर्विधम् ॥ ६ ॥

अर्थ—अन्याय से परद्रव्य लेने की इच्छा और मन से ( पराया ) बुरा चाहना  
 तथा “परलोक में कुछ नहीं है” ऐसा विश्वास, यह तीन प्रकार का मानस (पाप)



कर्म है ॥ ५ ॥ कठोर और असत्यभाषण तथा सब प्रकार की चुगली और असम्बद्ध बकवाद करना; यह चार प्रकार का वाङ्मय (पाप) कर्म है ॥ ६ ॥

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाऽविधानतः । परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥ ७ ॥ मानसं मनसैवाऽयमुपभुङ्क्ते शुभाऽशुभम् । वाचा वाचा कृतं कर्म कायैव च कायिकम् ॥ ८ ॥

अर्थ-अन्याय से दूसरे का धन लेना और शास्त्र के विधान (दण्डनीय=वध्य के वधादि) से अतिरिक्त हिंसा तथा दूसरे की स्त्री से गमन करना; यह तीन प्रकार का शारीरिक कर्म है ॥ ७ ॥ मन से किये हुवे शुभ अशुभ कर्मफल का मन ही से, वाणी से किये हुवे का वाणी से और शरीर से किये हुवे का शरीर से यह (प्राणी) भोग करता है ॥

८ वें से आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:-

[ त्रिविधं च शरीरेण वाचा चैव चतुर्विधम् ।

मनसा त्रिविधं कर्म दशाधर्मपथास्त्यजेत् ]

३ प्रकार का शारीरिक, ४ प्रकार का वाचिक और ३ प्रकार का मानसिक; यह १० अधर्म के मार्ग त्यागने चाहियें ॥ ८ ॥

शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ।

वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥ ९ ॥

अर्थ-शरीर के कर्मदोषों से मनुष्य वृक्षादि योनि और वाणी के कर्मदोष से पक्षी और मृग की योनि तथा मन के कर्मदोषों से चण्डालादि कुल में उत्पत्ति पाता है ॥ (९ वें श्लोक से आगे ४ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है:-

[ शुभैः प्रयोगैर्देवत्वं व्यामिश्रैर्मानवो भवेत् ।

अशुभैः केवलैश्चैव तिर्यग्योनिषु जायते ] ॥ १० ॥

शुभ कर्मों से देवभाव, शुभाशुभ मिश्रितों से मनुष्यभाव की प्राप्ति और केवल अशुभों से नीच योनियों में जन्म पाता है ॥ एक अन्य पुस्तक सहित ५ पुस्तकों में निम्नलिखित श्लोक और भी अधिक मिलता है:-

[ वाग्दण्डो हन्ति विज्ञानं मनोदण्डः परां गतिम् ।

कर्मदण्डस्तु लोकांस्त्रीन्हन्यादपरिरक्षतः ] ॥ ११ ॥



विना रक्षा किया हुआ वाग्दण्ड विज्ञान को, मनोदण्ड परमगति को और कर्मदण्ड तीनों लोकों को नष्ट करता है ॥ तथा एक अन्य पुस्तकसहित ६ पुस्तकों में यह श्लोक और भी पाया जाता है:-

[ वाग्दण्डोऽथ भवेन्मौनं मनोदण्डस्त्वनाशनम् ।

शारीरस्य हि दण्डस्य प्राणायामोविधीयते ] ॥ ३ ॥

मौन को वाग्दण्ड, अनशन को मनोदण्ड और प्राणायाम को शारीरिक दण्ड कहते हैं ) ॥ ८ ॥

वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च ।

यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते ॥ १० ॥

अर्थ-वाणी का दमन ( अशुभ कर्म से रोकना ) ऐसे ही मन का दमन और काय का दमन; ये तीनों जिस की बुद्धि में स्थित हैं वह " त्रिदण्डी " कहाता है ॥ १० ॥

त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः । कामक्रोधौ तु संयम्य ततःसिद्धिं नियच्छति ॥ ११ ॥ योऽस्यात्मनःकारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते । यःकरोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥ १२ ॥

अर्थ-समुप्य सम्पूर्ण जीवों पर इन तीनों प्रकार का दमन करके काम क्रोधों को रोक कर फिर सिद्धि को प्राप्त होता है ॥ ११ ॥ जो इस आत्मा का कर्म में प्रवृत्त कराने वाला है उस को " क्षेत्रज्ञ " कहते हैं और जो कर्म करता है, बुद्धिमान् लोग उस को भूतात्मा कहते हैं ॥ १२ ॥

जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः सहजःसर्वदेहिनाम् । येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥ १३ ॥ तावुमौ भूतसंपृक्तौ महान्क्षेत्रज्ञ एव च । उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः ॥ १४ ॥

अर्थ-सम्पूर्ण देहियों के साथ होने वाला दूसरा जीवसंज्ञावाला ( अन्तःकरण ) अन्तरात्मा है, जिस से जन्मों में संपूर्ण सुखदुःख जाना जाता है ॥ १३ ॥ वे दोनों महान् और क्षेत्रज्ञ जो कि पृथिव्यादि पञ्चभूतों से मिले हुवे हैं, ऊंच नीच सब भूतों में स्थित उस ( परमात्मा ) के आश्रय रहते हैं ॥ १४ ॥



( १४ वें से आगे एक श्लोक तीन पुस्तकों में मिलता है और वह इसी प्रकरण में गीता में भी आया है । गीता से मनु प्राचीन है । इस लिये कदाचित् मनु से गीता में गया हो । यहां अन्तःकरण शरीर और जीवात्मा का वर्णन किया तो साथ में प्रसङ्गोपयोगी १४ वें श्लोकोक्त "तस्मै" पदवाच्य परमात्मा के वर्णन की आवश्यकता भी थी । अनुमान है कि यह श्लोक वास्तव में हो, पीछे जाता रहा हो वा अद्वैतियों ने निकाल दिया हो:-

[ उत्तमःपुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।

योलोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः ] ॥

उत्तम पुरुष तो अन्य है जो " परमात्मा " कहाता है और जो तीन लोकों में प्रविष्ट, समर्थ और अविनाशी होने से इन का धारण पोषण करता है ॥ और अगले १५ वें में भी उसी का प्रसङ्ग है ) ॥ १४ ॥

असंख्यामूर्त्तयस्तस्य निष्पतन्ति शरीरतः । उच्चावचानिभूतानि सततं चेष्टयन्ति याः ॥ १५ ॥ पञ्चभ्यएव मात्राभ्यः प्रेत्य दुष्कृतिनां नृणाम् । शरीरं यातनार्थीयमन्यदुत्पद्यते ध्रुवम् ॥ १६ ॥

अर्थ-उस ( परमात्मा ) के शरीरतुल्य पञ्चभूतसमुदाय से असंख्य शरीर निकलते हैं जो कि उत्कृष्ट निकृष्ट प्राणियों को निरन्तर कर्म कराते हैं ॥ १५ ॥ दुष्ट कर्म करने वाले मनुष्यों का सर कर पञ्चतन्मात्रा से दुःख सहन करने के लिये दूसरा शरीर अवश्य उत्पन्न होता है ॥ १६ ॥

तेनानुभूय तां यामीः शरीरेणेह यातनाः । तास्वेव भूतमात्रासु प्रलीयन्ते विभागशः ॥ १७ ॥ सोऽनुभूयासुखोदकान्दीषान्विषयसङ्गजान् । व्यपेतकल्मषोऽभ्येति तावंबोभौ महौजसौ ॥ १८ ॥

अर्थ-उस शरीर से यम की दी हुई यातनाओं को यहां भोग कर प्राणी उन्हीं भूतमात्रों में विभाग से फिर छिप जाते हैं ॥ १७ ॥ वह प्राणी निषिद्ध विषयों के उपभोगजनित दुःखों को भोग कर पाप को दूर करके बड़े पराक्रम वाले उन्हीं दोनों ( महान् और क्षेत्रज्ञ ) को प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

तौ धर्मं पश्यतस्तस्य पापं चातन्द्रितौ सह । याभ्यां प्राप्नोति संपृक्तः प्रेत्येह च सुखाऽसुखम् ॥ १९ ॥ यदाचरति धर्मं स प्रायशोऽधर्ममल्पशः । तैरेव चावृत्तोभूतैः स्वर्गं सुखमुपाश्रुते ॥ २० ॥



अर्थ—वे आलस्यरहित (महान् और क्षेत्रज्ञ दोनों) उस प्राणी के पुण्य और पाप को साथ २ देखते हैं। जिन से मिला हुआ इस लोक तथा परलोक में सुख और दुःख को प्राप्त होता है ॥ १९ ॥ वह जीव यदि अधिक धर्म कर्म करता है और अधर्म न्यून, तो उन ही उत्तम पञ्चभूतों से युक्त स्वर्ग में सुख भोगता है ॥ २० ॥

यदि तु प्रायशोऽधर्मं सेवते धर्ममल्पशः। तैर्भूतैः स परित्यक्तो  
यामीः प्राप्नोति यातनाः ॥ २१ ॥ यामीस्तायातनाः प्राप्य सजीवो  
वीतकल्मषः। तान्येव पञ्च भूतानि पुनरप्येति भागशः ॥ २२ ॥

अर्थ—और यदि वह जीव पाप अधिक और पुण्य थोड़ा करे तो उन उत्तम भूतों से त्यक्त हुआ यम की यातनाओं को प्राप्त होता है ॥ २१ ॥ उन यम की यातनाओं को प्राप्त होकर वह जीव (भोग से) पापरहित होने पर फिर उन्हीं उत्तम पञ्चभूतों को क्रम से प्राप्त हो जाता है ॥ २२ ॥

एता दृष्ट्वाऽस्य जीवस्य गतीः स्वनैव चेतसा। धर्मतोऽधर्मतश्चैव  
धर्मं दध्यात्सदा मनः ॥ २३ ॥ सत्त्वरजस्तमश्चैव त्रीन्विदादात्मनो  
गुणान्। यैठर्थाप्येमान्स्थितोभावान्महान्सर्वानशेषतः ॥ २४ ॥

अर्थ—इस जीव की धर्म और अधर्म से इन गतियों को अपने मन से ही देख कर सर्वदा मन को धर्म में लगावे ॥ २३ ॥ सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण इन तीनों को आत्मा (प्रकृति) के गुण जाने, जिन से व्याप्त हुआ यह "महान्" स्थावर जङ्गमरूप सन्पूर्ण भावों को अशेषता से व्याप कर स्थित है ॥ २४ ॥

योयदैषां गुणोदेहे साकल्येनातिरिच्यते। स तदा तद्गुणप्रायं  
तं करोति शरीरिणम् ॥ २५ ॥ सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ  
रजःस्मृतम्। एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥ २६ ॥

अर्थ—जिस शरीर में गुणों में से जो गुण पूरा पूरा जब अधिक होता है, तब वह उस प्राणी को उसी गुण के अधिक लक्षणयुक्त कर देता है ॥ २५ ॥ यथार्थ वस्तु का जानना सत्त्व का लक्षण और उस के विपरीत=न जानना= अज्ञान तम का और राग द्वेष रज के लक्षण हैं। इन सब प्राणियों का आश्रित शरीर इन सत्त्वादि गुणों की व्याप्ति वाला होता है ॥ २६ ॥



तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत् । प्रशान्तमिव  
शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत् ॥२७॥ यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकर-  
मात्मनः । तद्वज्रोऽप्रतिपं विद्यात्सततं हारि देहिनाम् ॥ २८ ॥

अर्थ-उन तीनों में से जो कुछ प्रीति से मिला हुवा और शान्त प्रकाश  
रूप सा आत्मा में जाना जावे उस को सत्त्व जाने ॥ २७ ॥ और जो दुःख से  
मिला हुवा तथा आत्मा की अप्रीति करे और सर्वदा शरीरियों को विषयों  
की ओर प्रतिकूल खींचने वाला है, उस को रज जाने ॥ २८ ॥

यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम् । अप्रतर्क्यमविज्ञेयं  
तमस्तदुपधारयेत् ॥ २९ ॥ त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः  
फलोदयः । अग्रयोमध्योजघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥३०॥

अर्थ-जो मोह से युक्त हो, प्रकट न हो तथा विषय वाला हो और तर्क  
और बुद्धि द्वारा जानने के योग्य न हो, उस को तम समझे ॥ २९ ॥ इन  
( सत्त्वादि ) तीनों गुणों का यथाक्रम उत्तम, मध्यम, अधम जो फलोदय है,  
उस संपूर्ण को आगे कहता हूँ-॥ ३० ॥

वेदाभ्यासस्तपोज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । धर्मक्रियात्मचिन्ता  
च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥३१॥ आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्य-  
परिग्रहः । विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ॥ ३२ ॥

अर्थ-वेद का अभ्यास, तप, ज्ञान, शौच, इन्द्रियों का निग्रह, धर्मक्रिया  
और आत्मा का मनन, ये सर्वगुण के लक्षण हैं ॥ ३१ ॥ आरम्भ में रुचि  
होना, फिर अधैर्य; निषिद्ध कर्म को पकड़ना और निरन्तर विषयभोग; यह  
रजोगुण का लक्षण है ॥ ३२ ॥

लोभःस्वप्नोऽधृतिःक्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता । याचिष्णुता  
प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥३३॥ त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां  
त्रिषु तिष्ठताम् । इदं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशोगुणलक्षणम् ॥३४॥

अर्थ-लोभ, नींद, अधीरता, क्रूरता, नास्तिकता, अनाचारीपना, याचन  
स्वभाव और प्रमाद; यह तमोगुण का लक्षण है ॥३३॥ इन तीनों ( सत्त्वादि )



गुणों का, जो कि तीनों में रहने वाले हैं, यह क्रम से संक्षिप्त गुणलक्षण जानना चाहिये कि—॥ ३४ ॥

यत्कर्म कृत्वा कुर्वन्श्च करिष्यंश्चैव लज्जति । तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं  
तामसं गुणलक्षणम् ॥ ३५ ॥ येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति  
पुष्कलाम् । न च शोचत्यसंपत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—जिस कर्म को करके और करते हुये और आगे करने का विचार करते हुये (तीनों काल में) लज्जा करता है, उस सब को विद्वान् तम का लक्षण जाने ॥ ३५ ॥ जिस कर्म से इस लोक में बड़ी प्रसिद्धि को चाहता है और असम्पत्ति (अनिष्ट) में शोक नहीं करता, उस को राजस जाने ॥ ३६ ॥

यत्सर्वेण च्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन् या येन तुष्यति चात्मा-  
ऽस्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम् ॥ ३७ ॥ तमसोलक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ  
उच्यते । सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रेष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिस कर्म की सर्वथा जानने के लिये इच्छा करता है और जिस कर्म को करता हुआ (तीनों काल में) लज्जित नहीं होता, तथा जिस कर्म से इस के मन को आनन्द हो, वह सत्त्वगुण का लक्षण है ॥ ३७ ॥ तम का प्रधान लक्षण काम है और रज का प्रधान लक्षण अर्थ कहाता है । तथा सत्त्व का प्रधान लक्षण धर्म है । इन में उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है ॥ ३८ ॥

येन यस्तु गुणे नैषां संसारान्प्रतिपद्यते । तान्समासेन वक्ष्यामि  
सर्वस्यास्य यथाक्रमम् ॥ ३९ ॥ देवत्वं सात्त्विकायान्ति मनुष्यत्वं च  
राजसाः । तिर्यकत्वं तामसानित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥ ४० ॥

अर्थ—इन सत्त्वादि गुणों में जिस गुण से जीव जिस गति को प्राप्त होता है, इस सब के उस गुण को संक्षेप से यथाक्रम कहता हूँ—॥ ३९ ॥ सात्त्विक देवत्व और राजस मनुष्यत्व तथा तामस सदा तिर्यक् योनि को प्राप्त होते हैं । इस प्रकार तीन प्रकार की गति है ॥ ४० ॥

त्रिविधा त्रिविधैषा तु विज्ञेया गौणिकी गतिः । अधमा मध्यमा  
ऽग्र्या च कर्मविद्याविशेषतः ॥ ४१ ॥ स्थावराः कृमिकीटाश्च  
मत्स्याः सर्पाः सकच्छपाः पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसो गतिः



अर्थ-जो सत्त्वादिगुणत्रयनिमित्त तीन प्रकार की गति कही, वह देशकालादि भेद से फिर भी उत्तम मध्यम अधम तीन तीन प्रकार की है और फिर कर्म का विशेष (अनन्त) जानना चाहिये ॥ ४१ ॥ वृक्षादि, कृमि, कीट, सत्स्य, सर्प, कछुवे, पशु और मृग; यह तमोनिमित्त निकृष्ट गति है ॥ ४२ ॥

हस्तिनश्चतुरङ्गाश्च शूद्रास्त्रेच्छाश्चगर्हिताः। सिंहाव्याघ्रावराहाश्च  
मध्यमा तामसी गतिः ॥ ४३ ॥ चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव  
दाम्भिकाः। रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीपूत्तमा गतिः ॥ ४४ ॥

अर्थ हाथी, घोड़े, शूद्र, निन्दित म्लेच्छ, सिंह, व्याघ्र और सूकर; यह तमोनिमित्त मध्यम गति है ॥ ४३ ॥ और चारण (खुशासदी) तथा पक्षी और दम्भ करने वाले पुरुष और राक्षस (हिंसक) तथा पिशाच (अनाचारी) यह तमोगतियों में उत्तम गति है ॥ ४४ ॥

ऋत्वा मत्वा नटाश्चैव पुरुषाः शस्त्रवृत्तयः। द्यूतपानप्रसक्ताश्च  
जघन्या राजसी गतिः ॥ ४५ ॥ राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञां चैव  
पुरोहिताः। वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः ॥ ४६ ॥

अर्थ-(दशम अध्याय में कहे हुये) ऋत्न मत्न और नट तथा शस्त्र से भाजीविका वाले मनुष्य और जुवा तथा मद्यपान में आसक्त पुरुष; यह रजोगुण की निकृष्ट गति है ॥ ४५ ॥ राजा लोग तथा क्षत्रिय और राजा के पुरोहित और वाद वा ऋगढ़ा करने वाले, यह मध्यम राजस गति है (राघवानन्द ने-"प्रधानाः=प्रसक्ताः" की और रामचन्द्र ने "वाद=दान" की व्याख्या की है ॥ ४६ ॥

गन्धर्वागुह्यकायक्षा विबुधाऽनुचराश्च ये। सयैवाप्सरसःसर्वा  
राजसीपूत्तमा गतिः ॥ ४७ ॥ तापसायतयोविप्रा येचवैमानिका  
गणाः। नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकी गतिः ॥ ४८ ॥

अर्थ-गन्धर्व, गुह्यक, यक्ष और देवतों के अनुचर तथा सब अप्सरा; यह रजोगुण की गतियों में उत्तम गति है ॥ ४७ ॥ तप करने वाले, यति, विप्र और विमानों पर घूमने वाले, तथा (चमकते) नक्षत्र और दैत्य=सर्वगुण की अधम गति हैं ॥ ४८ ॥



यज्वानऋषयोदेवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः । पितरश्चैव सा-  
ध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः ॥ ४९ ॥ ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मा महा-  
नऽव्यक्तमेव च । उत्तमांसात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥ ५० ॥

अर्थ-यज्ञ करने वाले, ऋषि लोग, देव और वेद, तारे और काल के ज्ञाता,  
पितर और साध्य, यह सध्यसा सात्त्विक गति है ॥ ४९ ॥ ब्रह्मा और विश्व को  
उत्पन्न करने वाले (सृष्टि के आरम्भ के ब्रह्माण्डादि) और धर्म तथा महत्तत्त्व  
और अव्यक्त (मूलप्रकृति) को विद्वान् लोग उत्तम सात्त्विक गति कहते हैं ॥ ५० ॥

एष सर्वः समुद्दिष्टस्त्रिप्रकारस्य कर्मणः । त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः  
संसारः सार्वभौतिकः ॥ ५१ ॥ इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्मस्याऽसे-  
वनेन च । पापान्संयान्ति संसारानऽविद्वांसो नराधमाः ॥ ५२ ॥

अर्थ-यह संपूर्ण तीन २ प्रकार के कर्म की सार्वभौतिक ३ प्रकार की सब  
सृष्टि कही ॥ ५१ ॥ इन्द्रियों के प्रसङ्ग से और धर्म के आचरण न करने से मूढ़  
अधम मनुष्य कुत्सित गतियों को प्राप्त होते हैं ॥ ५२ ॥

यां यां योनिं तु जीवोऽयं येन येनेह कर्मणा ।

क्रमशो याति लोकेऽस्मिंस्तत्तत्सर्वं निबोधत ॥ ५३ ॥

“बहून्वर्षगणान्घोरान्नरकान्प्राप्य तत्क्षयात् ।

संसारान्प्रतिपद्यन्ते महापातकिनस्त्विमान् ॥ ५४ ॥”

अर्थ-यह जीव जो जो कर्म करके जिस जिस योनि में इस सृष्टि में  
जन्म लेता है, वह वह सब सुनो ॥ ५३ ॥ “(ब्रह्महत्यादि) महापातक करने  
वाले जीव बहुत वर्ष पर्यन्त घोर नरकों में पड़कर उस के त्रास से संसार में  
ये जन्म धारण करते हैं कि-” ॥

( ५३ वें में योनिप्राप्ति की प्रतिज्ञा करके ५५ वें में योनियों का वर्णन है,  
इस लिये बीच के ५४ वें की कुछ भी आवश्यकता नहीं है ) ॥ ५४ ॥

असूकरखरोष्ट्राणां गोजाविमृगपक्षिणाम् । चण्डालपुक्कसानां च  
ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥ ५५ ॥ कृमिकीटपतङ्गानां विड्भुजां चैव  
पक्षिणाम् । हिंस्रानां चैव सत्त्वानां सुरापो ब्राह्मणो ब्रजेत् ॥ ५६ ॥



अर्थ-कुत्ता, सूकर, गर्दभ, ऊँट, बैल, बकरा, भेड़, मृग, पक्षी, चण्डाल और पुच्छस योनि को ब्रह्महत्यारा प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥ सुरा पीने वाला ब्राह्मण-कीड़े, मकड़ी, पतङ्ग, सैला खाने वाले पक्षियों और हिंसा करने वाले प्राणियों की ( योनि को ) प्राप्त होता है ॥ ५६ ॥

लूताहिसरटानां चतिरश्यां चाव्युचारिणाम्। हिंसाणां च पिशा-  
चानां स्तेनो विप्रः सहस्रशः ॥ ५७ ॥ लृणगुल्मलतानां च क्रव्यादां  
दंष्ट्रिणामपि । क्रूरकर्मकृतां चैव शतशो गुरुतल्पगः ॥ ५८ ॥

अर्थ-चोरी करने वाला ब्राह्मण-मकड़ी, सर्प, घिरघट, जल में रहने वाले तथा हिंसा करने वाले पिशाचों के जन्म को हजारों बार प्राप्त होता है ॥ ५७ ॥ गुरुपत्नी से गमन करने वाला-घास, गुच्छे, लता, कच्चे मांस को खाने वाले और क्रूर कर्म करने वाले का जन्म सैंकड़ों बार पाता है ॥ ५८ ॥

हिंसाभवन्ति क्रव्यादाः कृमयोऽभक्ष्यभक्षिणः । परस्परदिनः  
स्तेनाः प्रेत्यान्त्यस्त्रीनिषेविणः ॥ ५९ ॥ संयोगं पतितैर्गत्वा पर-  
स्यैव च योषितम् । अपहृत्य च विप्रस्त्वं भवति ब्रह्मराक्षसः ॥ ६० ॥

अर्थ-प्राणियों को वध करने के स्वभाव वाले=( मारजारिदि ) कच्चे मांस के खाने वाले होते हैं और अभक्ष्य के भक्षण करने वाले=कृमि और चोर=परस्पर एक दूसरे को खाने वाले होते हैं । तथा चण्डाल की स्त्री से गमन करने वाले भी सर कर इसी गति को प्राप्त होते हैं । ( दो पुस्तकों के अतिरिक्त अन्यो में 'प्रेत्यान्त्य' अशुद्ध पाठ है ) ॥ ५९ ॥ पतितों के साथ रहने और पराई स्त्री से मैथुन करने तथा ब्राह्मण का धन चुराने से ब्रह्मराक्षस होता है ॥ ६० ॥

मणिमुक्ताप्रवालानि हृत्वा लोभेन मानवः। विविधानि चरत्नानि  
जायते हेमकर्तृषु ॥ ६१ ॥ धान्यं हृत्वा भवत्याखुः कांस्यं हंसो  
जलं प्लवः । मधु दंशः पयःकाको रसं श्वा नकुलो घृतम् ॥ ६२ ॥

अर्थ-मणि, मोती, मूंगा और नाना प्रकार के रत्नों को चुराकर हेमकार पक्षियों में जन्म होता है ॥ ६१ ॥ धान्य को चुराने से चूहा, कांसे के चुराने से हंस, जल के चुराने से मेंढक, मधु को चुराने से मक्खी वा डांस, दूध के चुराने से कौवा, रस को चुराने से कुत्ता और घृत को चुराने से नेवला होता है ॥ ६२ ॥



मांसं गृध्रोवपां मदगुस्तैलं तैलपकः खगः । चीरीवाकस्तु लवणं  
बलाका शकुनिर्दधि ॥६३॥ कौशेयं तित्तिर्हिहत्वा क्षौमं हत्वा तु  
दहुरः । कार्पासतान्तवं क्रौञ्चो गोधा गां वाग्गुदोगुडम् ॥६४॥

अर्थ-मांस को चुराने से गिद्ध, वपा ( चरबी ) के चुराने से जलकौवा  
नाम पक्षी, तैल को चुराने से तैल पीने वाला पक्षी, लवण को चुराने से  
भींगरी और दधि के चुराने से बलाका नाम पक्षी होता है ॥ ६३ ॥ रेशमी  
कपड़े चुराने से तीतर, अलसी का वस्त्र चुराने से मेंढक, कपास के कपड़े  
चुराने से सारस, गाय के चुराने से गोधा और गुड़ के चुराने से वाग्गुद नाम  
पक्षी होता है ॥ ६४ ॥

दुच्छुन्दरिः शुभान्गन्धान्पत्रशकं तु बर्हिणः । श्वावित्कृतान्नं  
विविधमकृतान्नं तु शल्यकः ॥६५॥ वक्रो भवति हत्वाग्निं गृहकारी  
हयुपरकरम् । रक्तानि हत्वा वासांसि जायते जीवजीवकः ॥६६॥

अर्थ-अच्छे सुगन्धित पदार्थों को चुराने से छछुंदर, साग पात के चुराने  
से भोर, विविध सिद्ध अन्न चुराने से गीदड़ और कच्चे अन्न चुराने से शल्यक  
होता है ॥ ६५ ॥ आग को चुराने से बक्र, शूर्प मुसलादि चुराने से गृहकारी पक्षी  
( सकड़ी ) और रङ्गे वस्त्रों के चुराने से जीवजीवक ( चकोर ) होता है ॥ ६६ ॥

वृकोमृगेभं व्याघ्रोऽश्वं फलमूलं तु मर्कटः । स्त्रीमृक्षः स्तोकको  
वारि यानान्युष्टुः पशूनजः ॥६७॥ यद्वा तद्वा परद्रव्यमपहत्य  
बलान्नरः । अवश्यं याति तिर्यक्त्वं जग्धवा चैवाऽहुतं हविः ॥६८॥

अर्थ-मृगहापी को चुराने से भेड़िया, घोड़े के चुराने से व्याघ्र, फल मूल  
के चुराने से बन्दर और स्त्री के चुराने से रीछ, पीने के पानी चुराने से चातक  
पक्षी, सवारियों के चुराने से जट तथा पशुओं के चुराने से बकरा होता है ॥  
( एक पुस्तक में-स्तोकक=चातक, है ) ॥ ६७ ॥ मनुष्य को दूसरे का कुछ  
असार पदार्थ भी चुराने और बिना होम किये हवि के भोजन करने से  
अवश्य तिर्यक् योनि प्राप्त होती है ॥ ६८ ॥

स्त्रियोप्येतेन कल्पेन हत्वा दीपमवाप्नुयुः । एतेषामेव जन्तूनां  
भार्यात्वमुपायान्ति ताः ॥६९॥ स्वेभ्यः स्वेभ्यस्तु कर्मभ्यश्च्युतावर्णा



ह्यनापदि । पापान्संसृत्य संसारान् प्रेष्यतां यान्ति शत्रुषु ॥७०॥

अर्थ स्त्री भी इसी प्रकार चुराने से दोषों को प्राप्त होती हैं और उसी पाप से उन्हीं जन्तुओं की स्त्री बनती हैं ॥ ६९ ॥ चारों वर्ण बिना आपत्ति अपने नित्यकर्म न करने से कुत्सित योनियों को प्राप्त होकर फिर शत्रुओं के दासत्व को प्राप्त होते हैं ॥ ७० ॥

वान्ताश्रुलकामुखः प्रेतो विप्रोधर्मात्स्वकाचच्युतः । अमेध्य-  
कुणपाशी च क्षत्रियः कटपूतनः ७१ मैत्राक्षज्योतिकः प्रेतो वैश्यो  
भवति पूयभुक् । चैलाशकश्च भवति शूद्रो धर्मात्स्वकाचच्युतः ७२

अर्थ-अपने कर्म से भ्रष्ट ब्राह्मण मरकर वसन का भोजन करने वाला ज्वा-  
लामुख, स्वकर्मभ्रष्ट क्षत्रिय पुरीष और शव का भोजन करने वाला कटपूतनाम्न  
योनिविशेष में उत्पन्न होता है ॥ ७१ ॥ स्वकर्मभ्रष्ट वैश्य मर कर पीव का  
भक्षण करने वाला मैत्राक्षज्योति नाम उत्पन्न होता और वैसे ही स्वकर्मभ्रष्ट  
शूद्र कपड़े की जूँ आदि खाने वाला चैलाशक नाम होता है ॥ ७२ ॥

यथा यथा निषेवन्ते विषयान्विषयात्मकाः । तथा तथा कुशलतां  
तेषां तेषूपजायते ॥७३॥ तेऽभ्यासात्कर्मणां तेषां पापानामल्प-  
बुद्ध्यः । संप्राप्नुवन्ति दुःखानि तासु तास्विह योनिषु ॥७४॥

अर्थ-विषयासक्त पुरुष जैसे जैसे विषयों का सेवन करते हैं, वैसे वैसे  
उन में उन की कुशलता हो जाती है ॥ ७३ ॥ वे निर्बुद्धि उन पापकर्मी के  
अभ्यास से यहां उन उन योनियों में दुःखों को प्राप्त होते हैं ॥ ७४ ॥

तामिस्रादिषु चोग्रेषु नरकेषु विवर्तनम् । असिपत्रवनादीनि  
बन्धनच्छेदनानि च ॥७५॥ विविधाश्चैव संपीडाः काकोलूकैश्च  
भक्षणम् । करम्भबालुकातापान्कुम्भीपाकांश्च दारुणान् ॥७६॥

अर्थ-तामिस्रादि उग्र नरकों में दुःख का अनुभव करते हैं तथा असि-  
पत्रवनादि बन्धन छेदन वाले घोर नरकों को प्राप्त होते हैं ॥७५॥ और नाना  
प्रकार की पीड़ा तथा काक उलूक आदि से भक्षण और तप्त बालुकादि से  
तपाये जाने और दारुण कुम्भीपाकों को प्राप्त होते हैं ॥ ७६ ॥



संभवांश्च वियोनीषु दुःखप्रायासु नित्यशः । शीतातपाभिधा-  
तांश्च विविधानि भयानि च ॥ ७७ ॥ असकृद्गर्भवासेषु वासं  
जन्म च दारुणम् । बन्धनानि च कष्टानि परप्रेष्यत्वमेव च ॥ ७८ ॥

अर्थ—अधिक दुःख वाली तिर्यक्योनियों में नित्य २ उत्पन्न होते और  
नाना प्रकार की शीत आतप की पीडा तथा अनेक प्रकार के भयों को  
प्राप्त होते हैं ॥ ७७ ॥ बारम्बार गर्भस्थान में वास अतिकठिन उत्पत्ति तथा  
उत्पन्न होने पर शृङ्खलादि के बन्धनों और दूसरे के हलकारेपन के दुःखों को  
प्राप्त होते हैं ॥ ७८ ॥

बन्धुप्रियवियोगांश्च संवासं चैव दुर्जनैः । द्रव्यार्जनं च नाशं च  
मित्रामित्रस्य चार्जनम् ॥ ७९ ॥ जरां चैवाऽप्रतीकारां व्याधिभिश्चो-  
पपीडनम् । क्लेशांश्च विविधांस्तान्मृत्युमेव च दुर्जयम् ८०

अर्थ—बन्धु और प्यारों की जुदाई तथा दुर्जनों के साथ रहना और धन  
कमाने का परिश्रम और धन का नाश और क्लेश से मित्र का मिलना तथा  
विना कारण शत्रुओं का उत्पन्न होना ( ये सब प्राप्त होते हैं ) ॥ ७९ ॥ अनि-  
वारणीय वृद्धावस्था और व्याधियों से क्लेशित होना तथा नाना प्रकार के  
( सुत्तिपासादि ) क्लेशों और दुर्जय मृत्यु को प्राप्त होते हैं ॥ ८० ॥

यादृशेन तु भावेन यदात्कर्म निषेवते । तादृशेन शरीरेण  
तत्तत्फलमुपाशनुते ॥ ८१ ॥ एष सर्वः समुद्दिष्टः कर्मणां वः  
फलोदयः । नैश्रेयसकरं कर्म विप्रस्येदं निबोधत ॥ ८२ ॥

अर्थ—जिस जिस ( सार्विक, राजस, तामस ) भाव से जो जो कर्म करता  
है वैसे वैसे शरीर से उस उस फल का भोग करता है ॥ ८१ ॥ यह सब कर्मों  
का फलोदय तुम से कहा । अब आगे ब्राह्मण का कल्याण करने वाले इस  
कर्म को सुनो — ॥ ८२ ॥

वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः । अहिंसा गुरुसेवा  
च निश्रेयसकरं परम् ॥ ८३ ॥ सर्वेषामपि चैतेषां शुभानामिह  
कर्मणाम् । किञ्चिच्छ्रेयस्करतरं कर्मात्कं पुरुषं प्रति ॥ ८४ ॥



अर्थ-वेद का अभ्यास, तप, ज्ञान, इन्द्रियों का रोकना तथा हिंसा न करना और गुन की सेवा; यह परम कल्याण का देने वाला है ॥ ८३ ॥ इन सब कर्मों में कुछ अधिक श्रेय का देने वाला कर्म पुरुष के लिये कहा है (कि:-) ॥ ८४ ॥ सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतमूतदुःप्रयं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥ ८५ ॥ यस्यामेपां तु सर्वेषां कर्मणां प्रेत्य चेह च । श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम् ॥ ८६ ॥

अर्थ इन सब में आत्मज्ञान श्रेष्ठ कहा है । वह संपूर्ण विद्याओं में प्रधान है, क्योंकि उस से मोक्ष प्राप्त होता है ॥ ८५ ॥ इन छः कर्मों में इस लोक तथा परलोक में सर्वदा अतिशय श्रेय को देने वाला वैदिक कर्म जानिये ॥ ८६ ॥ वैदिके कर्मयोगे तु सर्वाण्येतान्यशेषतः । अन्तर्भवन्ति क्रमशः स्तस्मिंस्तस्मिन्क्रियाविधौ ॥ ८७ ॥ सुखाभ्युदयिकं चैव नैश्रेयसिकमेव च । प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥ ८८ ॥

अर्थ-वैदिक (परमात्मा की उपासनादि) कर्मयोग में ये सब पुण्य उस उस कर्मविधि में संपूर्णता से क्रमपूर्वक आजाते हैं ॥ ८७ ॥ सुख का अभ्युदय करने वाला और मोक्ष का देने वाला एक प्रवृत्त, दूसरा निवृत्त, यह दो प्रकार का क्रम से वैदिक कर्म है ॥ ८८ ॥

इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते ।

निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥ ८९ ॥

अर्थ-इस लोक तथा परलोक में भोगार्थ जो कामना से कर्म किया जाता है उस को प्रवृत्त कहते हैं और जो निष्काम तथा ज्ञानपूर्वक किया जाता है उस को निवृत्त कहते हैं । (८९वें से आगे १ पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:-

[ अकामोपहतं नित्यं निवृत्तं च विधीयते ।

कामतस्तु कृतं कर्म प्रवृत्तमुपदिश्यते ] ॥

अकाम से उपहत कर्म निवृत्त और काम से किया कर्म प्रवृत्त कहाता है) ॥ ८९ ॥

प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम् ।

निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै ॥ ९० ॥



अर्थ-प्रवृत्त कर्म करने से देवताओं के सास्य को प्राप्त होता है तथा निवृत्त कर्म के करने से पशुभूतों को लांघ कर मोक्ष को प्राप्त होता है ॥८०॥  
 सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। समं पश्यन्नात्मयाजी  
स्वाराज्यमधिगच्छति ॥ ८१ ॥ यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय  
 द्विजोत्तमः। आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान् ॥८२॥

अर्थ-सब भूतों में आत्मा को और आत्मा में सब भूतों को बराबर देखने वाला आत्मयाजी ( आत्मयज्ञ करने वाला ) स्वाराज्य ( मोक्ष ) को प्राप्त होता है ॥ ८१ ॥ ब्राह्मण चाहे यथोक्त कर्मों को भी छोड़ कर आत्मज्ञान और इन्द्रियनिग्रह तथा वेद के अभ्यास में यत्न करे ॥ ८२ ॥

एतद्विजन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः। प्राप्यैतत्कृतकृत्यो  
 हि द्विजोभवति नान्यथा ॥ ८३ ॥ पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः  
 सनातनम्। अशक्यं चाऽप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥ ८४ ॥

अर्थ-ब्राह्मण का विशेष करके जन्मसाफल्य यही है। क्योंकि इस को पाकर द्विज कृतकृत्य होता है, दूसरे प्रकार नहीं ॥८३॥ पितर, देव और मनुष्यों की वेद भांख है और वह सनातन है तथा ( न्यायादि पढ़नेमात्र से जानने को ) अशक्य और अप्रमेय है। इस प्रकार ( वेदशास्त्र की ) स्थिति है ॥८४॥

यावेदबाह्याः स्मृतयोयाश्चकाश्चकुट्टष्टयः। सर्वास्तानिष्फलाः प्रेत्य  
 तमोनिष्ठाहिताः स्मृताः ॥ ८५ ॥ उत्पदान्तव्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि  
 कानिचित्। तान्यर्वाकालिकसया निष्फलान्यमृतानि च ॥ ८६ ॥

अर्थ-जो स्मृति वेदबाह्य हैं और जो कुट्टष्टि हैं वे सब निष्फल हैं क्योंकि वे अन्यकार में लेजाने वाली हैं ( एक प्रकार से मानो मनु अपनी ही स्मृति को भी किसी अंश में वेदविरुद्ध हो जाना सम्भव मानते हुवे यह वचन कहते हैं )। क्योंकि मनु के लक्ष्य में रखने को अन्यस्मृति तो उस समय यों ही नहीं ॥ ८५ ॥ वेद से अन्यमूलक जो कुछ ग्रन्थ हैं वे उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं, वे अर्वाकाल के होने से निष्फल और असत्य हैं ( इस लिये जो वेद से प्रमाणित है, वही प्रमाण है ) ॥ ८६ ॥

चातुर्वर्ण्यत्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्। भूतं भव्यं भविष्यं



च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति ॥ ९७ ॥ शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो

गन्धश्च पञ्चमः । वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिर्गुणकर्मतः ॥ ९८ ॥

अर्थ—चार वर्ण, तीन लोक, अलग अलग चार आश्रम, तथा भूत भविष्यत् वर्तमान, सब वेद ही से प्रसिद्ध है ॥९७॥ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध; ये पांच भी वेद ही से उत्पन्न हैं । यद्यपि उत्पत्ति ( स्रवादि ) गुणों के कर्म से है ॥ ( अर्थात् यद्यपि सब पदार्थ अपने २ उपादान से उत्पन्न हैं, परन्तु उन सब का ज्ञान वेद से ही आरम्भ हुवा, इस लिये शब्दादि विषयों की उत्पत्ति वेद से ही कही गई ) ॥ ९८ ॥

विभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् । तस्मादेतत्परं मन्ये  
यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥९९॥ सैनापत्यं च राज्यं च दण्डने-  
तृत्वमेव च । सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥१००॥

अर्थ—सनातन वेदशास्त्र सर्वदा संपूर्ण जीवों का धारण और पोषण करता है । इस प्राणी के लिये इस वेद के साधन को मैं ( मनु ) परम मानता हूँ ॥ ९९ ॥ सैनापत्य और राज्य तथा दण्डनेतापन और सब लोगों पर आधिपत्य को वही पाने योग्य है, जो वेद शास्त्र का जानने वाला है ॥ १०० ॥

यथा जातवलोवह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान् ।

तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः ॥ १०१ ॥

अर्थ—जैसे बलवान् हुवा अग्नि गीले वृत्तों को भी जला देता है वैसे ही वेद का जानने वाला अपने कर्मज दोष को जला देता है ॥

( १०१ से आगे ३ पुस्तकों में यह श्लोक मिलता है, जो कि आवश्यक भी था:—

[ न वेदबलमाश्रित्य पापकर्मरुचिर्भवेत् ।

अज्ञानाच्च प्रमादाच्च दहते कर्म नेतरत् ]

परन्तु वेदबल के भरोसे मनुष्य को ( निर्भय हो ) पापकर्म में रुचि वाला नहीं बनना चाहिये । क्योंकि अज्ञान वा प्रमाद से जो कर्म बन जाते हैं, उन्हीं का [पूर्व श्लोकानुसार] हनन हो सकता है, अन्यो का नहीं ) ॥ १०१ ॥

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ।

इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १०२ ॥



अर्थ—वेद शास्त्रार्थ का तत्त्व जानने वाला, चाहे जिस आश्रम में रह कर इसी लोक में रहता हुआ वह मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ १०२ ॥

अज्ञेभ्योग्रन्थिनः श्रेष्ठा ग्रन्थिभ्यो धारिणीवराः । धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः ॥ १०३ ॥ तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम् । तपसा किल्बिषं हन्ति विद्यायाऽमृतमश्नुते ॥ १०४ ॥

अर्थ—विना पढ़ने वालों से ग्रन्थ के पढ़ने वाले श्रेष्ठ हैं, उन से (कण्ठस्थ) धारण करने वाले तथा उन से भी उस के अर्थ जानने वाले और अर्थज्ञानियों से अनुष्ठान करने वाले श्रेष्ठ हैं ॥ १०३ ॥ तप और विद्या ब्राह्मण का परम कल्याण-प्रद है । तप से पाप दूर होता है और विद्या से मोक्ष प्राप्त होता है ॥ १०४ ॥ प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् । त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥ १०५ ॥ आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना । यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेदनेतरः ॥ १०६ ॥

अर्थ—धर्म के तत्त्व को जानने की इच्छा करने वाले को प्रत्यक्ष, अनुमान और विविध शास्त्र; इन तीनों को भले प्रकार से जानना चाहिये ॥ १०५ ॥ ऋषियों के कहे हुये उपदेशरूप धर्म को वेदशास्त्र के अविरोधी तर्क से जो खोज करता है वह धर्म को जानता है, अन्य नहीं ॥ १०६ ॥

“नैश्रेयसमिदं कर्म यथोदितमशेषतः ।

मानवस्यास्य शास्त्रस्य रहस्यमुपदिश्यते ॥ १०७ ॥”

अनाम्ना तेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्वेत् ।

यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादङ्कितः ॥ १०८ ॥

अर्थ—“यह निश्रेयस का साधन कर्म निःशेष यथावत् कहा । अब इस मनु के शास्त्र का रहस्य बताया जाता है” (यह स्पष्ट ही अन्यकृत है । तथा इस के बिना भी प्रसङ्ग में कुछ भेद नहीं पड़ता) ॥ १०७ ॥ जहां पर सामान्य विधि हो और विशेष न हो वहां कैसा होना चाहिये, इस शङ्का पर कहते हैं कि जो शिष्ट ब्राह्मण कहें वहां वही अङ्कित धर्म है ॥ १०८ ॥

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिवृंहणः । तेशिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥ १०९ ॥ दशावरा वा परिषदां धर्मं परिकल्प-



येत् । अथवा वाऽपि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥ ११० ॥

अर्थ-ब्रह्मचर्यादियुक्त धर्म से जिन्होंने ने षडङ्गादि सहित वेद पढ़ा है, वे श्रुति के प्रत्यक्ष करने वाले लोग शिष्ट ब्राह्मण जानने चाहियें ॥ १०९ ॥ (१११ में कहे हुये) दश भी श्रेष्ठ विद्वान् जिस धर्म को कहें, वा (उन के अभाव में) सदाचारी तीन भी कहें; उस धर्म को न लांचे ॥

(११० वें से आगे चार पुस्तकों में १ यह श्लोक प्रक्षिप्त है:-

[पुराणं मानवोधर्मो साङ्गोपाङ्गचिकित्सकः ।

आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः] ॥

१ पुराण, २ मनुप्रोक्त धर्म, ३ साङ्गोपाङ्ग चिकित्सा शास्त्र, ४ साधु आदि की आज्ञा से सिद्ध, इन ४ को हेतुओं से खण्डित न करे) ॥ ११० ॥

त्रैविद्योऽहेतुकस्तर्की नैरुक्तोधर्मपाठकः । त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वपरिषत्स्याद्दशावरा ॥ १११ ॥ ऋग्वेदविद्यजुर्विष्णु सामवेद-विदेव च । अथवा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥ ११२ ॥

अर्थ-१-३ तीन वेद के जानने वाले और ४ (श्रुतिस्मृति के अविरुद्ध) न्यायशास्त्र का जानने वाला तथा ५ (मीमांसात्मक) तर्क का जानने वाला और ६ निष्कृत जानने वाला तथा ७ धर्मशास्त्र का जानने वाला और ८-१० पूर्व के तीन (ब्रह्मचारी गृही वनी आश्रम वाले, यह दशावरा सभा (परिषत्) है ॥ १११ ॥ ऋक्, यजुः, साम; इन तीन वेदों को जानने वालों की धर्मसंशय निर्णय के लिये अथवा सभा जाननी चाहिये ॥ ११२ ॥

एकोऽपि वेदविदुर्मयं व्यवस्येद्विजोत्तमः । सविज्ञेयः परोधर्मो नाऽज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ ११३ ॥ अव्रतानामऽमन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् । सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥ ११४ ॥

अर्थ-वेद का जानने वाला ब्राह्मण एक भी जिस धर्म को कहे उस को श्रेष्ठ धर्म जानना चाहिये और अज्ञों का दश हजार का भी कहा कुछ नहीं ॥ ११३ ॥ व्रत और वेदमन्त्रों से रहित तथा केवल जातिमात्र से जीते हुये सहस्रों भी इकट्ठे हुओं को परिषत् (धर्मनिर्णय का सभात्व) नहीं है ॥ ११४ ॥ यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममऽतद्विदः । तत्पापं शतधा भूत्वा



तद्वक्तृननु गच्छति ॥११५॥ एतद्वोऽभिहितं सर्वं निःश्रेयसकरं  
परम् । अस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥११६॥

अर्थ-तमोगुणप्रधान, मूर्ख, धर्मप्रमाणबंदार्य को न जानने वाले लोग जिस  
को (प्रायश्चित्तादि) धर्म बताते हैं, उस का पाप सौगुणा होकर उन बताने वालों  
को लगता है ॥११५॥ यह निःश्रेयस का साधन धर्मादि सब तुम से कहा । इस  
के अनुष्ठान से न गिरने वाले ब्राह्मणादि परम गति को प्राप्त होते हैं ॥११६॥

“एवं स भगवान्देवो लोकानां हितकाम्यया ।

धर्मस्य परमं गुह्यं ममदं सर्वमुक्तवान् ॥११७॥”

सर्वमात्मनि संपश्यन्नाऽऽत्माऽऽत्मा समाहितः ।

सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाऽधर्मे कुरुते मनः ॥११८॥

अर्थ-“इस प्रकार उस भगवान् देव (मनु) ने लोगों के हित की इच्छा  
से धर्म का परमगुह्य यह सब मुक्त को उपदेश किया” ॥ (शृगु वा सम्पादक  
कोई कहता है) ॥११७॥ सत् और असत् सब को समाहितचित्त होकर  
आत्मा में देखे, क्योंकि सब को आत्मा में देखने वाला (परमात्मा के ज्ञय से)  
अधर्म में मन नहीं लगाता ॥११८॥

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् । आत्मा हि जनय-  
त्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥११९॥ खं सनिवेशयेत्स्वेषु चेष्टनस्प-  
र्शनेऽनिलम् । पक्तिदृष्ट्या पर तेजस्नेहेऽपोगां च मूर्तिषु ॥१२०॥

अर्थ-आत्मा ही संपूर्ण देवता है, क्योंकि सब कुछ आत्मा में ही स्थित  
है और इन शरीरियों (जीवात्मा वा) के कर्मयोग को आत्मा ही उत्पन्न  
करता है ॥११९॥ खं सनिवेशयेत्स्वेषु चेष्टनस्प-  
र्श में वायु को और जाठराग्नि तथा दृष्टि में परिमित करे, और चेष्टा तथा  
स्नेह में जल को तथा मूर्तिषु (शरीरों) में पृथिवी को सन्निविष्ट करे । (इस  
क्रम से ध्यानावस्थित होवे) ॥१२०॥

मनसीन्दुं दिशः श्रोत्रं क्रान्ते विष्णुं बले हरम् । वाच्यग्निं मित्र-  
मुरसर्गं प्रजने च प्रजापतिम् ॥१२१॥ प्रगासितारं सर्वेषामणीयां-  
समणोरपि । रुक्माभं स्वप्नधागम्यं विद्यात्त पुरुषं परम् ॥१२२॥



अर्थ—मन में चन्द्र को, कान में दिशाओं को, गति में विष्णु को, बल में शिव को, वाणी में अग्नि को और गुदा में मित्र को, लिङ्ग में प्रजापति को निवेशित करे । इन २ इन्द्रियों के थे २ अधिष्ठातृदेवता=दिव्यगुण हैं । ध्यान करने वाला प्रथम उस उस इन्द्रिय के साथ उस २ के अधिष्ठातृ देवता की भले प्रकार स्थिति सम्पादन करे । अर्थात् इन्द्रियों से अनुचित विषय ग्रहण को वर्ज्ये) ॥१२१॥ सब के नियन्ता और अणु से अणु तथा सुवर्ण की सी आभा वाले और स्वप्न की सी (एकाग्र) बुद्धि से गन्ध को परम पुरुष जानना चाहिये ॥१२२॥ एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् । इन्द्रमेके परे प्राण-मपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥१२३॥ एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्वर्षाभ्य मूर्त्तिभिः । जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥ १२४ ॥

अर्थ—इस को कोई अग्नि कहते हैं और कोई मनु, कोई इन्द्र, कोई प्राण और कोई शाश्वत ब्रह्म कहते हैं ॥१२३॥ यह आत्मा सब जीवों को पञ्चमहासूतों से व्याप्त कराकर नित्य चक्र के समान जन्म वृद्धि क्षयों से घुमाता है ॥ १२४ ॥

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ।

स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माऽभ्येति परं पदम् ॥ १२५ ॥

“ इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन्दिजः ।

भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद्गतिम् ” ॥ १२६ ॥

अर्थ—इस प्रकार जो सब में आत्मा से परमात्मा को देखता है, वह समदृष्टि होकर परमपद ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ १२५ ॥ ” इस प्रकार यह मनु का शास्त्र भृगु ने कहा है । इस को पढ़ने वाला द्विज सर्वदा आचार वाला और यथेष्ट गति को प्राप्त होता है ” ॥ ( यह वचन भृगु से भी पीछे बनाकर मिलाया गया स्पष्ट है ) ॥ १२६ ॥

( भृगुप्राक्तायां संहितायां )

द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

समाप्तैषा मनुसंहिता च

इति श्री तुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे

द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥







ओ३म्

# मनुस्मृतिः

भारतदेश-भाषानुवाद-सहिता

तथा च

यथाऽऽवश्यकं तत्रतत्रोपयुक्तविशिष्टव्याख्यानैः

परिवंहिता

सा चेयम्

सामवेदभाष्यकारेण, वेदप्रकाशसम्पादकेन

तुलसीराम स्वामिना

सम्पाद्य

रुक्मीये मेरठ-स्थे "स्वामि मेशीन यन्त्रालये"

मुद्रयित्वा

पञ्चमवारं प्रकाशिता

सृष्टिसंवत् १९१२८४९१०, विक्रमी संवत् १९६६

मूल्यम् १)

पुस्तक मिलने का पता—

१-मैनेजर स्वामी मेशीन प्रेस-मेरठ

२-बाबूराम शर्मा आर्य-बुक-सेलर इटाखा



Gurukula Library  
Kangri शोध

# श्वेताश्वतरोपनिषद्

—○\*○—

वेदप्रकाशाख्य मासिक पत्र सम्पादकेन

## तुलसीरामस्वामिना

विरचितया संस्कृत-व्याख्यया देशभाषा-

व्याख्यया चोपबृंहिता ॥

—:0:—

साचेयम्

ग्रन्थकर्त्रा स्वीय स्वामियन्त्रालये मुद्रिता प्रकाशिता च ॥

मुद्रणाधिकारः स्वायत्तः ॥

—०५०—

## मेरठ

कार्तिक संवत् १९५४ वि० १८९७ ई०-

प्रथमवार १०० ]

[ मूल्य ॥३ ]



## ओ३म् निवेदन ।

इस उपनिषद् के भाष्य को मैने १ जुलाई ९७ से आरम्भ करके यह चाहा था कि अक्टूबर में समाप्त होजाय और इसी कारण १ अक्टूबर के वेदप्रकाश में तैयारी का विज्ञापन भी कर दिया था और यह विश्वास था कि १० अक्टूबर तक छप जायगा फिर १ मास तक विज्ञापन का अवसर न आयेगा । तदनुसार ग्राहकों के शतशः पत्र तथा बहुतों का मूल्य भी आगया परन्तु छपने में हानि होने से बहुत देर होगई । आशा है कि पाठक क्षमा करेंगे ।

इस टीके में जहां तक ढूँढ पाया वेद मन्त्रों और उन के किसी भाग का बहुत अन्वेषण किया है । तथापि यदि दृग्दोष से किसी को कोई मन्त्र ऐसा मिले जो वेद में का इस में आया हो और मुझे न मिल पाया हो तौ जिन सहाश्यों को मिले पता भेजने का अनुग्रह करें । परन्तु यह कस सम्भव है । क्योंकि बहुत खोज की गई है ।

यदि पाठक गण इसे उपकारक समझें तौ अन्य उपनिषदों के लिये भी पत्र द्वारा सूचना दें ॥

तुलसीरामस्वामी



ओ३म्

अथ

# श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्यम् ॥

—X÷\*÷X—

श्वेताश्वतरमहर्षे—

रूपनिषदि सतां मुदे करोम्येताम् ।

व्याख्यां सत्सच्चित्स—

चिदानन्दभेदबोधाय ॥१॥

जगति कृतानां क्रियमाणानां च कार्याणां सप्रयोजनतां पश्यता सवापि श्वेताश्वतरोपनिषद्व्याख्यायाः करिष्यमाणायाः सप्रयोजनता निरूपणीया । सा यथा—यद्यपि शाङ्करभाष्य श्वेताश्वतरोपनिषद्दीपिका श्वेताश्वतरोपनिषद्विवरणादीनि व्याख्यापुस्तकानि अस्यामुपनिषदि सन्ति बहूनि, तथापि अद्वैतसिद्धान्तानुरोधेन मूलार्थस्तत्रतत्र विरुध्यते । सत्कृतव्याख्यायां तु मूलाऽविरोधेन सरलार्थस्य तत्रतत्र करिष्यमाणत्वाच्चैष दोषः । क्वचन च व्याख्यावसरे प्रकाशयिष्यामि दोषमेवम् । तत्रैव च कथनमिदं नूनं स्पष्टतामाप्स्यतीति किम्बहुना वाचां विसर्गेण ॥ तुलसीरामः (स्वामी)

श्लोकार्थ—श्वेताश्वतर नामक महर्षि के नाम से विख्यात इस उपनिषद् पर सत्पुरुषों के मोदार्थ और प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा के भेद समझाने के लिये इस व्याख्या को बनाता हूँ ॥ १ ॥ जगत् में जो २ कार्य हो चुके और जो हो रहे हैं उन २ का प्रयोजन देखा जाता है इसलिये मुझे भी इस व्याख्या का प्रयोजन बतलाना चाहिये । वह यह है—यद्यपि शाङ्करभाष्य, श्वेताश्वतरोपनिषद्दीपिका और श्वेताश्वतरोपनिषद्विवरणादि बहुत टीकायें इस उपनिषद् पर वर्तमान हैं परन्तु उन सब में अद्वैतसिद्धान्त के अनुरोध से मूलार्थ से विरोध पाया जाता है और इस मेरी व्याख्या में मूल के अनुकूल सरल अर्थ किया जायगा, इस कारण पूर्वोक्त दोष नहीं है । कहीं २ व्याख्या करते हुये पूर्वोक्त टीकाओं का यह दोष दिखाया भी जायगा जिस से मेरा कथन स्पष्ट हो जायगा । विशेष क्या लिखूँ ॥ तुलसीराम स्वामी



भूतानि आकाशवाय्वादीनि कारणान्यवश्यं भवन्ति अतोभूतानीति पञ्चमी चिन्ता। प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात्पञ्चतत्मानाणीत्यादिसाङ्ख्यसूत्रानुसारतस्तु स्थूलपञ्चभूतानां पञ्चमकार्यत्वात् योनिः प्रकृतिरेव कारणं सैव ब्रह्मपदवाच्येति षष्ठी विचारणा। एतानि कालादीनि सर्वाण्यपि न कारणान्यचेतनत्वात् अचेतनस्य स्वाधीनक्रियाऽक्षमत्वात्, अतः पुरुषो जीवात्मा सच्चिदेव कारणं किमिति सप्तमो विचारः। कालादिष्वेकस्याप्यहङ्कारावेज्येषामक्षमत्वात् (एषां संयोगः) कालादीनां संघातः किं कारणम् ? इति चाष्टमः पक्षः। (न, तु) न ह्येतत्सम्भवति कुतः (आत्मभावात्) आत्मा भोक्ता कर्त्ता तस्य विद्यामानत्वात् आत्मा जीवात्मैव कर्त्तृत्वादिहेतोः कारणं स्यात् इति नवमनुसन्धानम्। (आत्मा, अपि, सुखदुःखहेतोः, अनीशः) सुखमिच्छति दुःखं च नेच्छति परन्त्ववशः प्राप्नोति, पारतन्त्र्याच्च नैव जीवात्मापि कारणमिति न कस्यापि स्वतन्त्रकारणत्वं निरचिन्वन् ॥ २ ॥

भाषार्थः—( कालः ) १-घड़ी पल आदि काल ( स्वभावः ) २-पदार्थों का नियतधर्म ( नियतिः ) ३-प्रारब्ध ( यदृच्छा ) ४-अकस्मात् [ इतिफाक ] (भूतानि) ५-पृथिवी जल तेज वायु आकाश ( योनिः ) ६-प्रकृति ( पुरुषः ) ७-जीवात्मा ( इति ) यह ( चिन्त्यम् ) शोचना चाहिये ( एषां, संयोगः ) इन का, संयोग ( न, तु ) यह नहीं होसक्ता क्योंकि ( आत्मभावात् ) चेतन के होने से ( आत्मा, अपि, अनीशः ) आत्मा भी असमर्थ है क्योंकि ( सुखदुःखहेतोः ) सुखदुःख के कारण ॥

वे महर्षि आपस में यह कहते हैं कि क्या "काल" ही जगत् का कारण ब्रह्म है ? क्योंकि काल बिना कुछ नहीं होता। इस प्रकार एक पक्ष कर के उस में दूषण देखते हुवे दूसरा पक्ष उठाते हैं कि पदार्थों के स्वभाव को उल्लङ्घन कर के काल भी कुछ नहीं कर सका, जिस पदार्थ का जो स्वभाव है उस के विरुद्ध काल नहीं करता इस से "स्वभाव,, ही कारण है। इस दूसरे पक्ष में यह शङ्का कर के कि स्वभाव भी प्रारब्धाधीन होते हैं अतः "प्रारब्ध,, ही क्या ब्रह्म है ? यह तीसरा पक्ष है। परन्तु प्रारब्धव्यवस्था भी बहुत जगहों में अच्छी रीति से नहीं घटती, जैसे-किसी ने धन की रत्नार्थ धन को पृथ्वी में गाड़ दिया अब कभी २ यह देखा जाता है कि जिस ने वह गाड़ा था उसे न मिल कर किसी अन्य को हाथ लग जाता है इस प्रकार की घटनाओं से ग्रह जान पड़ता है कि प्रारब्ध कर्म कुछ नहीं किन्तु " यदृच्छा " से सब कुछ



हो जाता है यदुच्छा (इतिहास) उस को कहते हैं जिस कारण का कुछ पता न लग सका हो जो अकस्मात् कहा जाता है यह चौथा पक्ष है । परन्तु जहां कोई साक्षात् कारण न मिलने से हम यदुच्छा को कारण मानते हैं वहां भी पञ्चभूतों में से सब वा कई वा कोई न कोई कारण साक्षात् नहीं तो परम्परा से अवश्य होता है इसलिये जगत् का कारण पञ्चभूत ही हो सके हैं यह पांचवां पक्ष है । इस पक्ष में भी यह शङ्का रहती है कि साङ्ख्य-शास्त्र के अनुसार प्रकृति से महत्तत्त्व उस से अहंतत्त्व उस से ५ तन्मात्रा दोनों प्रकार के इन्द्रिय उन से पञ्च स्थूलभूत इस प्रकार पञ्चमहाभूत, प्रकृति का पांचवां कार्य हैं । इस कारण प्रकृति ही क्या ब्रह्म (कारण) है ? यह छठा पक्ष हुआ । इस प्रकार इन छहों पक्षों में कारण को जड़ता है और जड़ पदार्थ स्वयं अपना काम स्वाधीन नहीं करते इसलिये इन के परतन्त्र होने से सच्चित् जीवात्मा ही जो चेतन और स्वतन्त्र है क्या वही ब्रह्म है ? यह सातवां पक्ष है । इस में यह सन्देह रहता है कि आत्मा भी कालादि कारणों के आधीन ही कार्य कर सकता है इसलिये इन सातों के संयोग को कारण मानना चाहिये यह आठवां पक्ष है । इस पक्ष को इसलिये नहीं मानना चाहिये कि आत्मा चेतन स्वतन्त्र और कालादि ६ अचेतन परतन्त्र हैं अतः आत्मा ही कारण है ? यह नवम पक्ष है । इस में भी अन्त में यह दोष आता है कि आत्मा सुख चाहता दुःख नहीं चाहता परन्तु परवश विना चाहे दुःख को भोगता है इसलिये प्रतीत होता है कि जीवात्मा भी कर्मफल भोग में परतन्त्र होने से, कारण (ब्रह्म) नहीं हो सकता ॥ २ ॥

एक के पश्चात् दूसरे पक्ष पक्षान्तरों की करते हुवे वे महर्षि, सन्तोषदायक पक्ष न पाकर फिर शोचने लगे कि जगत् का कारण कोई और ही है जो परतन्त्र जीवात्मा से कर्मफल भोगवाता है और जगत् को रचता है । इस इच्छा से वे अगले श्लोक में कहे अनुसार विचारपूर्वक शोच कर देखते थे कि—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।  
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥३॥

पदपाठः—ते । ध्यानयोगानुगताः । अपश्यन् । देवात्मशक्तिम् । स्वगुणैः । निगूढाम् । यः । कारणानि । निखिलानि । तानि । कालात्मयुक्तानि । अधि-  
तिष्ठति । एकः ॥



इत्थं पक्षान्तराणि निराकृत्य प्रमाणान्तराऽऽगोचरे परमात्मनि ध्यानयोगेन कारणत्वं प्रतिपेदिरे इत्याह—(ते) श्वेताश्वतरादयः ( ध्यानयोगानुगताः ) ध्याने—किं कारणमिति चिन्तने योगश्चित्तवृत्तिनिरोधस्तमनुगताः अन्तर्मुखाः सन्तः ( निगूढाम् ) गुप्तां—बहिर्दृष्ट्या ज्ञातुमनर्हाम् ( देवात्मशक्तिम् ) देवस्य परमात्मन आत्मशक्तिं स्वकीयां शक्तिं (स्वगुणैः) स्वस्य स्रष्टृत्वादिगुणैः (अप्रश्यन्) ज्ञातवन्तः । यद्वा देवश्चात्मा च शक्तिश्चेति [ एकवचनसार्धम् ] समासे । ईश्वरजीवप्रकृतीनां क्रमशो ग्रहणमत्र बोध्यम् । कोऽसौ देवइत्यपेक्षायामाह—(यः) जिज्ञासितः परमात्मा (कालात्मयुक्तानि) कालात्मभ्यां युक्तानि कालादारभ्याऽऽत्माऽवधि पुरुषावधि प्रोक्तानि द्वितीयश्लोकस्थानि मध्यस्थानि प्रत्याहाररीत्या गृहीतानि स्वभाव—नियति—यदृच्छा—भूत—योनिनामकानि (निखिलानि) समस्तानि (तानि कारणानि) (अधितिष्ठति) अधिष्ठाय वर्तते (एकः) द्वित्वादिरहितोऽद्वितीयः परमात्मा । तं कारणत्वेनापश्यन्निति शेषः । अत्र हि कालादीनां परमात्माधिष्ठिततया स्वतन्त्रकारणवादादिपक्षान्निराकृत्य देवाधिष्ठिततदधीनकारणत्वमेवामुक्तमित्याशयः न तु अभिन्ननिमित्तोपादानकारणं ब्रह्मैवेति । प्रकृतिपुरुषाद्यन्यकारणानामपि कारणत्वाङ्गीकारात् केवलं तेषां परमात्माधीनत्वाच्च ॥३॥

भा०—इस प्रकार कालादि को स्वतन्त्र कारण न समझ कर ( ते ) उन ऋषियों ने ( ध्यानयोगानुगताः ) ध्यान में चित्त की एकाग्रता के साथ (निगूढाम्) छिपी हुई ( देवात्मशक्तिम् ) परमेश्वर की निजशक्ति को वा परमेश्वर जीव और प्रकृति को ( स्वगुणैः ) अपने गुणों से ( अप्रश्यन् ) पहिचाना (यः) जो (एकः) अकेला (कालात्मयुक्तानि) काल और पुरुष सहित (निखिलानि) समस्त (तानि) पूर्वोक्त (कारणानि) कारणों का (अधितिष्ठति) अधिष्ठाता है ॥

आशय यह है कि काल से लेकर आत्मा—पुरुष पर्यन्त द्वितीय श्लोक में कहे स्वभाव, प्रारब्ध, यदृच्छा, पञ्चभूत, प्रकृति इन सब कारणों का भी अधिष्ठाता परमात्मा है अर्थात् काल स्वभाव आदि भी अपने २ अंश में कारण हैं परन्तु कालादि जड़ होने और जीवात्मा सुखदुःखभोग में परतन्त्र होने से स्वतन्त्र कारण नहीं किन्तु परमात्मा सब कारणों का अधिष्ठाता स्वतन्त्र कारण है यह अन्य काल स्वभाव आदि सब कारणों को अपने आधीन रख कर सब जगत् को रचता पालता और प्रलय करता है यह उस के गुणों से पहचाना जाता है । यद्यपि उस की यह शक्ति छिपी हुई अर्थात् सब किसी



को नहीं जान पड़ती तथापि उन ऋषियों ने ध्यानयोग से उसे पहचाना इसी प्रकार अस्मदादि लोग भी ध्यानयोग से उस की द्विपी शक्ति को जान सके हैं । इस श्लोक में जी ( देवात्मशक्तिम् ) पद है उस का दूसरा अर्थ यह भी हो सका है कि देव=परमात्मा, आत्मा=जीव, शक्ति=प्रकृति इन तीनों को उन्होंने जगत् का कारण जाना और इन तीनों में जीव प्रकृति तथा कालादि अन्य साधारण कारणों का अधिष्ठाता परमात्मा है यह भी उन्होंने जाना । और "वह एक परमात्मा अन्य काल स्वभाव प्रारब्ध यदुच्छा पद्मभूत प्रकृति जीव इन कारणों का अधिष्ठाता है," इस कहने से इन को भी कारण तो माना किन्तु केवल परमात्मा को ही अभिन्ननिमित्तोपादान कारण नहीं माना । किन्तु परमात्मा स्वतन्त्र इनका अधिष्ठाता है और काल स्वभाव प्रकृति आदि तथा सुख दुःख भोग में जीवात्मा भी परमात्मा के आधीन हैं परन्तु कारण हैं । यह १। २ और ३ श्लोकों का सङ्क्षिप्त आशय है ॥ ३ ॥

पूर्वोक्तस्य कालस्वभावादिपुरुषान्तपरतन्त्रकारणान्तराधिष्ठातुरुक्तकारणान्तरसहितस्य ( न तु केवलस्य ) परमात्मनः संसारस्थामिनः स्वभूतं संसारचक्रं वर्णयति तच्च संसारचक्रं ब्रह्मचक्रापरनामकम् तदर्थश्चाऽयम्—ब्रह्मणः स्वाभिभूतस्य चक्रं स्वभूतं=ब्रह्मचक्रं न तु ब्रह्मैवचक्रम् ब्रह्मचक्रयोः स्वस्वानिभावः सम्बन्धो विज्ञेयो न तु कार्यकारणभावः—

तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः ।  
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥ ४ ॥

पदपाठः—तस् । एकनेमिम् । त्रिवृतम् । षोडशान्तम् । शतार्धारम् । विंशतिप्रत्यराभिः । अष्टकैः । षड्भिः । विश्वरूपैकपाशम् । त्रिमार्गभेदम् । द्विनिमित्तैकमोहम् ॥

प्रसिद्धरथचक्रवत् संसारचक्रं ब्रह्मचक्रं वा वर्णयन् चक्रसमानधर्मिकांश्चिदाह—( तस् ) पूर्वोक्तं प्रकृतिजीवादिकारणान्तरसहितं चक्रस्वरूपेण स्थितम् ( एकनेमिम् ) एका प्रकृतिः प्रधानसव्यक्तमुपादानमित्याद्यपरनामिका नेमिः प्रान्तकाष्ठमिव यस्य । वाच्यस्य देवस्य पुंस्त्वात् तस्यैव च चक्रस्वरूपरूपकालङ्कारेण वर्ण्यमानत्वाच्च तमेकनेमिनिति पुंस्त्वमनुसन्धेयम् ( त्रिवृतम् ) त्रिभिः सत्त्वरजस्तमोभिर्वृतम् तिसृभिर्लोहपट्टिकाभिर्वृतं रथचक्रमिव ( षोडशान्तम् ) षोडशकला अन्ता अवसानभूता यस्य । षोडश कलाः प्रश्नोपनिषदि षष्ठप्रश्ने



## श्वेताश्वतरोपनिषदि-

उक्ताः यथा-सप्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियम् । मनोऽन्नमन्नाद्दीप्तं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम ॥ ६ । ४ ॥

इत्थं प्राण-श्रद्धा-ऽऽकाश-वायु-ज्योति-जल-पृथिवी-न्द्रिय-मनो-ऽन्न-वीर्य-तपो-मन्त्र-कर्म-लोक-संज्ञाख्याः षोडश कलाः सन्ति ( शतार्धारम् ) पञ्चाशदरयुक्तम्, ते चेमे पञ्चाशत् ५० प्रत्ययभेदाः-यथा-पञ्चविपर्ययाः । अष्टाविंशतिरशक्तयः । नव तुष्टयः । अष्टैश्वर्याणि । एवं पञ्चाशत् । (विंशतिप्रत्यराभिः) अराणां मध्ये रथचक्रं प्रत्यरा अपि भवन्ति तथैवास्मिन्संसारचक्रेपि तत्सामान्यमाह-विंशतिप्रत्यराः दशेन्द्रियाणि तद्विषयाश्च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धवचनादानविहारोत्सर्गानन्दाः एवं २० विंशतिप्रत्यराभिर्युक्तमिति शेषः ( षड्भिरष्टकैः ) एकं प्रकृत्यष्टकम्, द्वितीयं धात्वष्टकम्, तृतीयं सिद्धाष्टकम्, चतुर्थं भावाष्टकम्, पञ्चमं देवाष्टम्, षष्ठं गुणाष्टकं चेति षड्भिरष्टकैर्युक्तम् (विश्वरूपैकपाशम्) विश्वरूपो नानारूपः काम एकः पाशो यस्य तम् ( त्रिमार्गभेदम् ) त्रयो धर्मार्थकाशाः मार्गा भेदा यस्य तम् ( द्विनिमित्तैकमोहम् ) द्वौ रागद्वेषौ निमित्तभूतौ एकश्च मोहोऽविद्यारूपो यत्र ॥

एवं चैकनेमि-त्रिवृत-पञ्चाशदर-विंशतिप्रत्यर-षडष्टक-विश्वरूपैकपाश-त्रिमार्गभेद-द्विनिमित्तैकमोहरूपं संसारचक्रं तस्मिन्जीवो भ्राम्यतीति वक्ष्यति । तत्र पञ्चाशत्प्रत्ययभेदेषु ५-पञ्चविपर्ययाः-अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः । योगशास्त्रे, साधनपादे सू० ३ प्रसिद्धाः । २८-अशक्तीनामष्टाविंशतिः-पायूपस्थपाणिपादवागितिपञ्चानां कर्मेन्द्रियाणां ओत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वानासिकेतिपञ्चज्ञानेन्द्रियाणामेकादशस्य मनसश्च क्रमेण-उत्सर्गशक्ति आनन्दाशक्तिः करणाशक्तिः गमनाशक्तिः वचनाशक्तिः अवाणाशक्तिः स्पर्शाशक्तिः दर्शनाशक्तिः रसनाशक्तिः घ्राणाशक्तिः मननाशक्तिश्चेति एकादशाऽशक्तयः, नवतुष्टीनामभावान्नव, अष्टैश्वर्याऽभावादष्ट । एवमष्टाविंशतिः । ९-नव तुष्टयः-कश्चित्प्रकृतिविज्ञानमात्रेणैव तुष्यति, कश्चित्संन्यासाश्रमग्रहणेनैव तुष्यति, कश्चित्कालेनैव सर्वं सिध्यतीति तुष्यति, कश्चिद्भाग्यमेव परं मन्यमानस्तुष्यति, कश्चिदशक्या विषया उपार्जयितुमित्युपरम्य तुष्यति, कश्चिद्विषयार्थं कष्टेनोपार्जितस्य धनस्य रक्षणमपि कष्टमित्युपरम्य तुष्यति, कियानपि भोगो मे स्यात्ततोऽप्यधिकभोगवन्तोऽप्ये सन्तीति दृष्ट्वा कश्चित्तुष्यति, कश्चिद्विषयैस्त्वत्तिसपश्यंस्तुष्यति, कश्चिच्च विषयेषु परहिंसां पश्यंस्तुष्यति एवं नव तुष्टयः । ८-अष्टैश्वर्याणि-अग्निमा । महिमा । गरिमा । लघिमा । प्राप्तिः । प्राकाम्यम् । ईशित्वम् । वशित्वञ्चेति ।



## प्रथमोऽध्यायः ॥

९

। योगशास्त्रीयविभूतिपादस्ये ४४ सूत्रे तद्व्याख्यायाञ्चोक्तानि । एवं पञ्चाशत् प्रत्यया अराः ॥

अराणां दाह्याय ये प्रत्यराः प्रतिविधीयन्ते ते चास्मिन्संसारचक्रे विंश- तिसंख्याः । दशेन्द्रियाणि तद्विषयाश्च दश, एवं विंशतिः ॥

षड्चाष्टकानि कीलकवदत्रार्पितानि तानि चेमानि १-प्रकृत्यष्टकं यथा-भू- मिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ॥ अहंकारइतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्ट- धा ॥१॥ इति गीतायाम् । २-धात्वष्टकं यथा-त्वक् चर्ममांसरुधिरमेदोमज्जास्थि- शुक्राणि । ३-सिद्धवष्टकं यथा-परकायप्रवेशः जलादिष्वसङ्गः उत्क्रान्तिः उवलनम् दिव्यश्रवणम् आकाशगमनम् प्रकाशावरणक्षयः भूतजयश्चेति । योगशास्त्रीय- विभूतिपादस्यसप्तत्रिंशत्तमसूत्रादारभ्य त्रयश्चत्वारिंशत्तमसूत्रावधि वर्णितम् । ४-भावाष्टकं यथा-धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याऽधर्माऽज्ञानाऽवैराग्याऽनैश्वर्याख्यम् । ५-अष्टौ वसवो देवाष्टकम् । ६-गुणाष्टकं यथा-दया क्षमाऽनसूया शौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहा चेति । एवं षडष्टकानि ॥

भा०-पूर्वोक्तकाल स्वभाव नियति आदि ७ कारणों सहित परमात्मा को चक्ररूप में वर्णन करते हैं । इस चक्र का नाम संसारचक्र है और दूसरा नाम ब्रह्मचक्र भी है परन्तु "ब्रह्मचक्र" का समास यह है कि "ब्रह्म का चक्र" ब्रह्म और चक्र में स्वस्वामिभावसम्बन्ध है अर्थात् इस चक्र का स्वामी (मालिक) ब्रह्म परमात्मा है और स्व (मिलकियत) चक्र है । न कि कार्यकारण सम्बन्ध । क्योंकि ब्रह्म का कोई कार्य नहीं (न तस्य कार्यं करणं च विद्यते) वह चक्र इस प्रकार वर्णन किया है कि रथचक्र के समान ब्रह्मचक्र में भी किन्हीं बातों का साधर्म्य घटाते हैं:-

( तम् ) उस ( एकनेमिम् ) एक पुट्टि वाले ( त्रिवृतम् ) तीन पहियों से मंडे ( षोडशान्तम् ) १६ छोर वाले ( शतार्धारम् ) ५० अरा वाले ( विंशतिप्रत्य- राभिः ) २० बीच की प्रत्यराओं से जड़े हुवे ( अष्टकैः ) आठ २ के समुदाय [सैट] ( षड्भिः ) छः गुच्छों से जटित ( विश्वरूपैकपाशम् ) काम रूप एक फांस वाले ( त्रिमार्गभेदम् ) तीन मार्गों के भेद वाले ( द्विनिमित्तैकमोहम् ) दो निमित्त और एक मोह वाले को [देखा] 'अपश्यन्' इस पूर्व श्लोक में आई क्रिया की अनुवृत्ति है ॥

जैसे रथ के पहिये में एक नेमि पुट्टी होती है जो कि पहिये के चारों ओर की गोलाकार लकड़ियों के जोड़ से बनती है इसी प्रकार इस ब्रह्म के



बनाये चक्र में एक प्रकृति रूपिणी नेमि है ॥

जैसे रथ के चक्र में लोहे की पट्टी मंडी रहती हैं वैसे इस में सत्त्व रजः तमः इन तीन गुणों की पट्टी हैं ॥

जैसे रथचक्र की नाभि का काष्ठ बाहर निकला रहता है उस के अवयव उस का अन्त होते हैं वैसे ही प्रश्नोपनिषद् के छठे प्रश्न में चतुर्थ श्लोक में गिनायी हुई प्राण, अद्वा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम । ये १६ कला जिन को संस्कृत भाष्य में प्रमाणपूर्वक लिख आये, इस के अन्त हैं ॥

जैसे रथचक्र में नाभि से नेमितक बीच में पखड़ी से अरे लगते हैं वैसे इस के ५० अरे हैं । उन में ५ अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेश ये पांच क्लेश योगशास्त्र के साधनपाद के ३ सूत्र में लिखे हैं, २८ अशक्ति हैं जिन के ये नाम हैं—गुदा उपस्थ हाथ पांव वाणी ये ५ कर्मेन्द्रिय, कान त्वचा आंख जीभ नाक ये पांच ज्ञानेन्द्रिय ग्यारहवां मन इन की ११ अशक्ति अर्थात् क्लेशः—उत्सर्गाऽशक्ति आनन्दाऽशक्ति कारणाऽशक्ति गमनाऽशक्ति वचनाऽशक्ति श्रवणाशक्ति स्पर्शाशक्ति दर्शनाशक्ति, चखने की अशक्ति, सूंघने की अशक्ति और विचार की अशक्ति ये ११ अशक्ति हुईं, ९ तुष्टि जिन का आगे वर्णन करेंगे उन के न होने से ९ प्रकार की अशक्तियां आठ ८ ऐश्वर्य जिन का आगे वर्णन करेंगे उन के न होने से ८ प्रकार की अशक्तियां ये सब ११ । ९ । ८ मिला कर २८ अशक्तियां हैं । ९ तुष्टि उन में १ कोई तो प्रकृति के ज्ञानमात्र से तुष्ट हो जाता है । २ कोई संन्यासचिह्नों के धारण से तुष्ट हो जाता है । ३ कोई यह समझ कर तुष्ट हो जाता है कि काल ही सब कुछ कर लेता है । ४ कोई भाग्य के भरोसे पर तुष्ट हो जाता है । ५ कोई यह समझ कर चुप बैठ रहता है कि विषयों का भोग अशक्य है । ६ कोई विषयार्थ क्लेश धन की रक्षा में कष्ट देख कर तुष्ट हो जाता है । ७ कोई यह समझ कर तुष्ट हो जाता है कि मेरे भोग चाहे जिनने हों परन्तु उस से भी अधिक अन्यो के पास हैं । ८ कोई इस कारण तुष्ट हो जाता है कि विषयों से तृप्ति तो होती ही नहीं । ९ कोई विषयभोग में दूसरों की हिंसा को देख उपरत हो बैठता है इस प्रकार ९ तुष्टि हुईं । ८-ऐश्वर्य हैं यथा-अणिमा महिमा गरिमा लघिमा प्राप्ति प्राकाम्य ईशित्व और वशित्व ये योगशास्त्र के समाधिपादस्य ४४ वें सूत्र और उस की व्याख्या में वर्णन किये हैं । इस प्रकार ५ क्लेश २८ अशक्ति ९ तुष्टि ८ ऐश्वर्य मिला कर ५० अरे इस चक्र के हैं ॥



जिस प्रकार रथचक्र में अरों के बीच २ में उन की दृढ़ता के अर्थ प्रत्यरे लगाये जाते हैं उसी प्रकार इस चक्र में २० प्रत्यरे हैं वे ये हैं कि-५ ज्ञानेन्द्रिय ५ कर्मेन्द्रिय और दशों इन्द्रियों के १० विषय, सब २० प्रत्यरे हुवे ॥

जिस प्रकार रथचक्र में कीलक समुदाय लगते हैं इसी प्रकार इस चक्र में छः अष्टक हैं । १ प्रकृति का अष्टक जैसे-पृथिवी जल तेज वायु आकाश मन बुद्धि और अहङ्कार ये गीता में लिखे हैं । २ धात्वष्टक जैसे-त्वचा चर्म मांस रुधिर मेदः मज्जा अस्थि और वीर्य । ३-सिद्ध्यष्टक जैसे-परकायप्रवेश, जलादि में असङ्ग, उत्क्रान्ति, ज्वलन, दिव्यश्रवण, आकाशगमन, प्रकाशावरणक्षय और भूतजय ये योगशास्त्र के विभूतिपाद के ३७ वें से ४३ वें सूत्र तक लिखे हैं । ४ भावाष्टक जैसे-धर्म ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य अधर्म अज्ञान अवैराग्य और अनैश्वर्य । ५ देवाष्टक-आठवसु । ६ गुणाष्टक जैसे-दया क्षमा अनिन्दा शौच अनायास मङ्गल अकृपणता और अस्पृहा । इस प्रकार ६ अष्टक हैं ॥

जैसे रथचक्र में फांस (धांस) लगती हैं उसी प्रकार इस चक्र में कामरूप धांस लगी है ॥

जिस प्रकार रथचक्र किसी निमित्त से चलाया जाता है इसी प्रकार यह चक्र भी पाप पुण्य वा राग द्वेषादि द्वन्द्वों के फलभोगार्थ चलाया गया है ॥

जिस प्रकार रथचक्र में चिकनाई होती है उसी प्रकार इस चक्र में भी एक मोह नामक है ॥ ४ ॥

पूर्वत्र चक्ररूपेण वर्णयित्वोत्तरत्र नदीरूपेण वर्णयति चक्ररूपेण नदीरूपेण च श्रमणात्मकत्वात्प्रवाहरूपत्वाच्च चलत्वमुच्यते वैराग्यार्थम्-

पञ्चस्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ।

पञ्चावर्त्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्वेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥ ५ ॥

पदपाठः-पञ्चस्रोतोम्बुम् । पञ्चयोन्युग्रवक्राम् । पञ्चप्राणोर्मिम् । पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् । पञ्चावर्त्ताम् । पञ्चदुःखौघवेगाम् । पञ्चाशद्वेदाम् । पञ्चपर्वाम् । अधीमः क्रि० ॥ ५ ॥

(पञ्चस्रोतोम्बुम्) पञ्च स्रोतांसि पञ्च ज्ञानेन्द्रियच्छिद्राणि बुद्धिस्त्रयणद्वाराणि अम्बु यस्यां सा ताम् (पञ्चयोन्युग्रवक्राम्) पञ्चभिर्योनिभिः कारणैः स्थूल-महाभूतैरुग्रां वक्रां च (पञ्चप्राणोर्मिम्) पञ्चप्राणाः प्राणाऽपानसमानव्यानोदा-



नाख्याः ऊर्जयो यस्यां सा ताम् (पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्) पञ्चज्ञानेन्द्रियैः पञ्चबुद्धयो ज्ञानानि तेषामादि मनः मूलं यस्याः सा ताम् (पञ्चावर्त्ताम्) पञ्चशब्दादयो विषयाः आवर्त्ता यस्यां सा ताम् (पञ्चदुःखौघवेगाम्) पञ्चदुःखानि जन्मदुःखं मृत्युदुःखं जरादुःखं व्याधिदुःखं गर्भदुःखञ्चेति तेषामोघः समूहः स एव वेगो यस्याः सा ताम् (पञ्चाशद्भेदाम्) पूर्वश्लोकभाष्योक्ताः ५० प्रत्ययभेदा एव भेदा यस्याः सा ताम् (पञ्चपर्वाम्) पञ्चाऽविद्यादयः क्लेशाः पर्वाणि यस्याः सा ताम् (अधीनः) जानीमः ॥

ते श्वेताश्वतरादयो सहस्रेभ्यो ध्यानयोगानुगताः सन्तः पूर्वं चक्ररूपेणाऽस्थिरतामस्य संसारस्य पश्यन्तो नदीरूपेणापि जानन्ति । यथा नद्यां जलं प्रवहति तथास्यां ब्रह्मनद्यां=ब्रह्मणोनद्याम् संसारात्मिकायां पञ्चज्ञानेन्द्रियजन्यं ज्ञानमेव जलरूपेण प्रवहति । यथा च नद्यां वक्रतोयता च भवति तथास्यां महाभूतवैषम्यमेवोत्पत्तं वक्रत्वं च । यथा नद्याऊर्जयः पुनः पुनः उत्पद्यन्ते व्यवन्ते च तथैवास्यां प्राणानां गमनाऽऽगमनादिव्यापारः प्रवर्त्तते । यथा नद्याः उपत्यकाधित्यकादिस्थानं मूलं भवति तथास्यामपि पञ्चबुद्धयो मूलत्वेन सन्ति । यथा नद्यामावर्त्ताः जलानां चक्रभ्रमणस्यानानि भवन्ति तथात्रापि शब्दादयो विषयाः मनुष्यादीनां भ्रमस्यानानि ज्ञानविलोपकानि वेद्यानि यत्र निमग्नो मृत्युमेवाप्नोति । यथा नद्यावेगो भवति तथास्यामपि पञ्चदुःखानां वेगो बोध्यः । यथा नद्यो यत्र तत्र भेदैर्भिन्ना जायन्ते तथेयमपि पञ्चाशत्प्रत्ययभेदैर्भिद्यते । यथा च नद्याः पर्वाणि ग्रन्थयो भवन्ति तथैव चास्यामपि पञ्च क्लेशाः पर्वाणीव विद्यन्ते ॥५॥

भा०-संसार को चक्रवत् घूमने वाला कह कर अब नदीवत् बहने वाला कहते हैं । दोनों दृष्टान्तों को वैराग्यार्थ लिखा है क्योंकि चक्र वा नदीतुल्य अस्थिर जगत् में राग नहीं करने की शिक्षा निकलती है ॥

(पञ्चस्रोतोऽम्बुम्) पञ्चज्ञानेन्द्रियरूपी जलवाली (पञ्चयोन्युग्रवक्राम्) ५ महाभूतों से उग्र और बांकी (पञ्चप्राणोर्जिम्) ५ प्राणरूपी लहरों वाली (पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्) ५ बुद्धियों का आदि मन जिस का मूल है (पञ्चावर्त्ताम्) ५ भंवरवाली (पञ्चदुःखौघवेगाम्) ५ दुःखों के समुदायरूप वेगवाली (पञ्चाशद्भेदाम्) ५० भेदवाली (पञ्चपर्वाम्) ५ जोड़ों वाली [नदी को] (अधीनः) जानते हैं ॥

वास्तव में संसार एक नदी है जो दिन रात्रि बहती जाती है, जिस को



कुछ भी स्थिरता नहीं। जिस प्रकार नदी में स्रोतों से पानी बहता है वैसे इस नदी में ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ज्ञान का जल बहता है। क्योंकि जिस मनुष्य को आंख से देखना बहुत पड़ता है उस की देखने की शक्ति उतनी ही बढ जाती है जिस को बुद्धि से काम अधिक पड़ता है वह बुद्धि से काम करते र थक जाता है मानो बुद्धि की शक्ति बढ जाती है। यही दशा अन्य इन्द्रियों की है। जैसे नदी उग्र और बांकी चलती है वैसे यह नदी भी ५ महाभूतों से और उन की विषमता से बड़ी उग्र और बांकी है। जैसे नदी में लहरों की पङ्क्ति उठती हैं और दब जाती हैं, वैसे इस में भी प्राण अपान उदान समान व्यान इन ५ प्राणों की लहरें चलती हैं। जैसे नदी के प्रवाह का एक मूलस्थान होता है वैसे इस में भी ५ ज्ञानेन्द्रियों से होने वाले ५ ज्ञानों (बुद्धियों) का मूल मन नामक मूलस्थान है। जैसे नदी में भंवर पड़ते हैं वैसे इस में भी शब्द स्पर्श रूप रस गन्धरूपी ५ भंवर हैं जिन विषयों के भ्रमरचक्र में पड़ कर कुछ ठि-काना नहीं लगता। जैसे नदी का वेग होता है वैसे इस में भी जन्मदुःख, मृत्युदुःख, बुढ़ापे का दुःख, रोगदुःख और गर्भदुःख रूप वेग है। जैसे नदी जहां तहां भिन्न (टूटी) हुई रहती है वैसे इस में भी पूर्व श्लोक में कहे ५० प्रत्ययरूप भेद (तोड़) हैं। जैसे नदी के जोड़ होते हैं वैसे इस में भी अविद्या अस्मिता राग द्वेष और अभिनिवेश रूप ५ (पर्व) जोड़ हैं ॥ ५ ॥

इदानीमुक्तसंसारचक्रे जीवात्मनोभ्रमणं, कृते च यत्ने चक्रादस्माद्विमुक्तिश्चाह—

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते, अस्मिन्हंसोभ्राम्यते ब्रह्मचक्रे ।

पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥६॥

पदपाठः—सर्वाजीवे० । सर्वसंस्थे० । बृहन्ते० । अस्मिन्० । हंसः१ । आ-म्यतेक्रि० । ब्रह्मचक्रे० । पृथक् अ० । आत्मानम्२ । प्रेरितारम्२ । च अ० । मत्वा अ० । जुष्टः१ । ततः५ । तेन३ । अमृतत्वम्२ । एति क्रि० ॥

(हंसः) हन्ति गच्छति जन्मान्तरं योन्यन्तरं वा स जीवात्मा (अस्मिन्) पूर्वोक्ते (ब्रह्मचक्रे) ब्रह्मणः स्वामिनश्चक्रे संसाररूपे, किंभूते—(सर्वाजीवे) सर्वेषा-माजीवआजीवनमस्मिन् (सर्वसंस्थे) सर्वेषां संस्था मृत्युः प्रलयोवा यस्मिंस्त-स्मिन् (बृहन्ते) बृहति (आम्यते) शुभाशुभकर्मफलप्रदानाय प्रेरयित्रा परमात्मना भ्रमणं कार्यते (च) परन्तु (आत्मानम्) स्वम् (प्रेरितारम्) कर्मानुसारतो



नानायोनिषु प्रेरयितारम् ( पृथक् ) भेदेन ( मत्वा ) विज्ञाय ( तेन ) प्रेरयित्रा परमात्मना ( जुष्टः ) भक्त्या प्रीतेन प्रीतिपात्रतां नीतोऽयं हंसोजीवात्मा ( ततः ) पश्चात् ( अमृततत्त्वम् ) मोक्षम् ( एति ) गच्छति ॥

अयं हंसोजीवात्मा, अस्य चक्रस्य प्रेरयित्रा परमात्मना कर्मानुसारतोऽस्मिन्ब्रह्मचक्रे भ्राम्यते, परन्तु यदाऽयं हंसः भिन्नस्वरूपेण वैलक्षण्येन परमात्मानमात्मानं च मन्यते अर्थात् जीवात्मपरमात्मनोः स्वरूपं विजानाति तेन परमात्मना जुष्टः प्रीतिपात्रतांगतश्च भवति तदा तत्कृपया मुक्तिमेति । अद्वैतवादिनस्तु—“पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा ब्रह्मचक्रे भ्राम्यते,” इत्यन्वयं कुर्वन्ति स च पूर्वापरविरुद्धः । वक्ष्यमाणसप्तमश्लोके “अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परायोनिमुक्ताः” इति स्पष्टं भेदं विदित्वा ब्रह्मणि लीनास्तत्पराः सन्तो योनिमुक्ता भवन्तीति वक्ष्यमाणत्वात् ॥

भा०—अब इस संसारचक्र से छूटने का उपाय कहते हैं—( अस्मिन् ) इस ( सर्वाजीव ) सब के जीवनाधार ( सर्वसंस्थे ) सब का मृत्यु वा प्रलय जिस में होता है ऐसे ( वहन्ते ) बड़े ( ब्रह्मचक्रे ) ब्रह्मचक्र में ( हंसः ) जीवात्मा ( भ्राम्यते ) घुमाया जाता है ( च ) परन्तु ( आत्मानम् ) आपे को ( प्रेरितारम् ) और परमात्मा को ( पृथक् ) भिन्न २ स्वरूप से ( मत्वा ) जानकर ( तेन ) उस से ( जुष्टः ) प्यार किया हुआ ( ततः ) तब ( अमृततत्त्वम् ) मोक्ष को ( एति ) पाता है ॥

यह संसारचक्र सब का जीवनाधार तथा प्रलयाधार है । परमात्मा कर्मानुसार इस में जीवात्मा को घुमाते हैं परन्तु जब कोई जीवात्मा अपने स्वरूप को और परमात्मा के स्वरूप को भिन्न २ जान लेता है और भक्ति करते २ परमात्मा का प्यारा होजाता है तब मोक्ष को प्राप्त होजाता है । अद्वैतवादी लोग इस का अन्वय उलटा करके इस प्रकार लगाते हैं कि ( आत्मानं प्रेरितारं च पृथक् मत्वा भ्राम्यते ) “आत्मा और परमात्मा को पृथक् मानकर भ्रामाया जाता है” परन्तु ऐसा अन्वय करना पूर्वापरविरुद्ध है क्योंकि आगे सातवें श्लोक में कहेंगे कि “अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परायोनिमुक्ताः” अर्थात् इस में ( अन्तरम् ) भेद को जान कर ब्रह्मवादी योनिमुक्त होते हैं ॥ ६ ॥

षड्भिः श्लोकैरुक्तं कारणजातं विस्पष्टतया प्राधान्येन च त्रेधा विभज्य भोग्य-भोक्तृप्रेरयितृणां साक्षाज्ज्ञानेन यो विवेकस्तद्द्वारा मोक्षप्राप्तिमाह—



उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिन्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च। अत्रान्तरं  
ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥७॥

पदपाठः—उद्गीतम् १ । एतत् १ । परमम् १ । तु अ० । ब्रह्म १ । तस्मिन् ७ ।  
त्रयम् १ । सुप्रतिष्ठा १ । अक्षरम् १ । च अ० । अत्र ७ । अन्तरम् २ । ब्रह्मविदः १ ।  
विदित्वा क्रि० । लीनाः १ । ब्रह्मणि ७ । तत्पराः १ । योनिमुक्ताः १ ॥

(एतत्) किं कारणमित्यस्योत्तरभूतं कारणजातम् (उद्गीयम्) उपरिष्ठा-  
दुक्तम् (तस्मिन्) कारणजाते (त्रयम्) त्रयाणां समूहः । अस्तीति शेषः । किन्त-  
त्त्रयमित्यपेक्षायासाह—(परमं ब्रह्म) एकम् (तु) च (सुप्रतिष्ठा) शोभना प्रतिष्ठा  
स्थितिर्यस्यायस्यां वा सा प्रकृतिर्द्वितीया (अक्षरं च) अविनाशि जीवा-  
त्मतत्त्वं चेति त्रयम् । (अत्र) एषु परब्रह्मप्रकृतिजीवात्मसु क्रमेणोक्तेषु (अन्तरम्)  
भेदम् (विदित्वा) ज्ञात्वा (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानिनः (ब्रह्मणि) विषये (लीनाः)  
श्लिष्टा इव यथा लता वृक्षं श्लिष्यति तदाधारेण तिष्ठति तथा (तत्पराः) ब्रह्मपरा-  
यणाः (योनिमुक्ताः) योनिभ्यो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ताभ्यो मुक्ताः भवन्तीति शेषः ॥

पूर्वोक्तस्वतन्त्रपरतन्त्रभेदभिन्नं सत्सच्चित्सच्चिदानन्दभेदभिन्नं वा कारण-  
जातं निरूप्य तत्र भेदमन्तरं विदित्वा मुमुक्षवो मुक्तिं प्रतिपद्यन्ते ॥

भा०—पूर्व ६ श्लोको में सब कारणों और उन से बने संसारचक्र का वर्णन  
किया गया और जीवात्मा को कर्मानुसार इस चक्र में घूमना पड़ता है अब  
इस संसारचक्र से निकलने का उपाय बताते हैं—

(एतत्) यह जो (उद्गीयम्) ऊपर कहा गया है (तस्मिन्) उस में (त्रयम्)  
तीन का समुदाय है (परमं ब्रह्म) पर ब्रह्म (तु) और (सुप्रतिष्ठा) प्रकृति (च)  
और (अक्षरम्) जीवात्मा । (अत्र) इन में (अन्तरम्) भेद को (विदित्वा)  
जान कर (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी लोग (ब्रह्मणि) ब्रह्म में (लीनाः) चिपटे हुवे  
(तत्पराः) उसी में लगे (योनिमुक्ताः) योनियों छुटे [ हो जाते हैं ] ॥

पहले ६ श्लोकों में जो कारण कहे उन में तीन (ब्रह्म, प्रकृति, जीवात्मा)  
प्रधान हैं इन में जो कुछ अन्तर है उस को जानकर ब्रह्मज्ञानी विवेक से  
मुक्ति को पाते हैं । अर्थात् मुक्त में और परमात्मा में क्या और कितना अन्तर  
है तथा मुक्त में और प्रकृति में वा प्रकृति और परमात्मा में कितना अन्तर  
है, जब यह जान लेता है तब पूर्ण आस्तिक, ईश्वरभक्त, ज्ञानी और विवेकी  
होकर मोक्ष को पाता है ॥७॥



इदानीं प्रकृतिजीवात्मपरमात्मनां सम्बन्धमाह-

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः ।  
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ ८ ॥

पदपाठः-संयुक्तम् । एतत् । क्षरम् । अक्षरम् । च ० । व्यक्ताव्यक्तम् । भरते क्रि० । विश्वम् । ईशः १ । अनीशः १ । च । आत्मा १ । बध्यते क्रि० । भोक्तृभावात् ५ । ज्ञात्वा क्रि० । देवम् । मुच्यते क्रि० । सर्वपाशैः ३ ॥

(एतत्) पूर्वोक्तम् (क्षरम्) क्षरति विपरिणम्यतेऽवस्थान्तरं प्राप्नोति तत्-  
प्रकृतितत्त्वम् (अक्षरञ्च) न क्षरति न विपरिणम्यते इत्यक्षरं जीवात्मतत्त्वं च (सं-  
युक्तम्) भोक्तृभोग्यरूपेण परस्परं संनिलितम् (व्यक्ताव्यक्तम्) व्यक्तञ्चाव्यक्तं च,  
व्यक्तं विकारापन्नं प्रकृतितत्त्वम् अव्यक्तमविकृतं जीवात्मतत्त्वम् एतदुभयम् (वि-  
श्वम्) समस्तम् (ईशः) परमात्मा (भरते) धारयति । (च) परन्तु तेषु व्यक्ता-  
व्यक्तपरमात्मस्वेकः (आत्मा) जीवात्मा (अनीशः) अल्पशक्तिमत्त्वादसमर्थः  
(भोक्तृभावात्) कर्मफलभोगपारतन्त्र्यात् (बध्यते) बन्धमाप्नोति । परन्तु (देवम्)  
परमात्मानम् (ज्ञात्वा) (सर्वपाशैः) निखिलबन्धैः (मुच्यते) ॥

अत्र स्पष्टं प्रकृतिजीवात्मपरमात्मनां भिन्नस्वरूपाणां पार्थक्येन प्रतिपा-  
दनं तत्र प्रकृतेर्विकृतिमापन्नाया भोग्यत्वं जीवात्मनश्च भोक्तृत्वं परमात्मनश्च तयो  
र्धारकत्वं पालकत्वञ्चोक्तम् ॥ ८ ॥

अब जीव ब्रह्म और प्रकृति के परस्पर सम्बन्ध का निरूपण करते हैं-  
(एतत्) इस (क्षरम्) प्रकृति (च) और (अक्षरम्) जीवात्मा (संयुक्तम्)  
मिले हुवे (व्यक्ताव्यक्तम्) प्रकट और अप्रकट (विश्वम्) सब को (ईशः) पर-  
मेश्वर (भरते) धारण करता है । (च) और (आत्मा) जीवात्मा (अनीशः) विवश  
(भोक्तृभावात्) भोक्ता होने से (बध्यते) बन्धन में पड़ता है । परन्तु (देवम्)  
परमेश्वर को (ज्ञात्वा) जान कर (सर्वपाशैः) सब बन्धनों से (मुच्यते)  
छूट जाता है ॥

इस श्लोक में स्पष्ट प्रकृति जीव ईश्वर ये तीन पदार्थ भिन्न २ निरूपण  
किये हैं और उन में से प्रकृति का अव्यक्त-अप्रकट से प्रकट होना और जी-  
वात्मा का अव्यक्त-अप्रकट ही रहना परन्तु प्रकृति के कार्यों से संयुक्त होना  
और परमात्मा का इन को धारण करना बताया गया है । साथ ही यह भी  
बताया है कि जीवात्मा शुभाशुभ कर्मों का भोक्ता, भोगने में परतन्त्र होने से  
बन्धता और परमात्मा के ज्ञान द्वारा मुक्ति पाता है ॥ ८ ॥



त्रिभिः श्लोकैः पूर्वोक्तं दृढयति—

ज्ञाज्ञौ द्वावजादीशानीशावजाह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता ।

अनन्तश्चात्मा विश्वरूपोऽह्यकर्ता त्वं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥९॥

पदपाठः—ज्ञाज्ञौ १। द्वौ १। अज्ञौ १। ईशानीशौ १। अजा १। हि अ०। एका १। भोक्तृभोगार्थयुक्ता १। अनन्तः १। च। आत्मा १। विश्वरूपः १। हि। अकर्ता १। त्रयमर् १। यदा अ०। विन्दते क्रि०। ब्रह्मन् २। एतत् २॥

(ईशानीशौ) समर्थाऽसमर्था सर्वशक्तिमदल्पशक्तिमन्तौ। ईशानीशाविति पाठे ह्रस्वत्वमार्षम् (ज्ञाज्ञौ) सर्वज्ञाल्पज्ञौ (अज्ञौ) अजन्मानावनादी (द्वौ) जीवात्मपरमात्मानौ स्तः (हि) निश्चयेन (एका) (अजा) सनातनी प्रकृतिः (भोक्तृभोगार्थयुक्ता) भोक्ता जीवात्मा, भोगइन्द्रियैर्विषयाणां ग्रहणम्, अर्थाविषयाश्च तैर्युक्ता अस्ति। पूर्वोक्तयोर्द्वयोरजयोरात्मनोर्मध्ये एकः (अनन्तः) सर्वव्यापकः (आत्मा च) (विश्वरूपः) विश्वं समस्तं जगद्रूपयति सः (हि) तथापि (अकर्ता) न रागादिना किञ्चित्करोति किन्तु स्वभावेनैवैकरसेन विश्वं रूपयति अर्थात् तत्सन्निधानमाश्रितएव विश्वं रूपमापद्यते नहि तेन काचिदपूर्वा तदेकरसत्वहापिका चेष्टा क्रियते। वक्ष्यति च—“न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च” इति एवं तस्य स्वाभाविक्या क्रियया कर्तृत्वं रागपूर्वकक्रियाद्यभावेन चाऽकर्तृत्वसम्पन्नसन्धेयम् (यदा) यस्मिन्काले (एतत्त्रयम्) द्वौ अजावेकाऽजावेति (ब्रह्मम्) ब्रह्मणइदं ब्राह्मं ह्रस्वत्वमार्षम् (विन्दते) लभते तदाकारणज्ञानमाप्नोतीति शेषः ॥

अत्र जीवात्मपरमात्मनोः अजत्वमनादित्वं नित्यत्वं क्रमेणेशत्वानीशत्वे सर्वज्ञत्वाऽल्पज्ञत्वे च उक्ते परमात्मनः सर्वव्यापकत्वमनन्तत्वं जगद्रूपयितृत्वं तथाप्येकरसत्वादर्परिणामित्यादकर्तृत्वञ्चोक्तम्। प्रकृतेश्च भोक्तृभोगार्थयुक्तत्वेनेदमुच्यते यत्—जीवात्मा, प्राकृतपदार्थेषु समतावत्वात्तद्युक्तो भवति देहादियुक्तो भवति प्रकृतिश्च तेन भोक्त्रा जीवात्मना तत्कृतेन भोगेन, स्वविषयैः प्राकृतैरर्थैश्च युज्यते इति। एतस्मिंस्त्रये परमात्मनो ब्रह्मणः स्वामित्वाज्जीवात्मप्रकृत्योश्च स्वतत्वात्स्वस्वानिभावसम्बन्धस्तेन चेदं सर्वं ब्रह्मणइदं ब्राह्ममित्युच्यते ॥ शाङ्करभाष्यादिष्वत्र मूलतोविरुद्धार्थोवर्णितः ॥९॥

अथ ३ श्लोकों से उक्त ३ पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध और स्वरूप को दृढता से वर्णन करते हैं:—



(ईशानीशौ) समर्थ और असमर्थ (ज्ञाज्ञौ) सर्वज्ञ और अल्पज्ञ (अज्ञौ) अजन्मा (द्वौ) दो हैं । ( हि ) निश्चय ( एका ) एक ( अजा ) न जन्मनेवाली ( भोक्तृभोगार्थयुक्ता ) भोक्ता, भोग और अर्थों से युक्त होने वाली है । ( य ) और ( अमन्तः ) अनन्त ( आत्मा ) परमात्मा ( विश्वरूपः ) संसार को बनाता है ( हि ) तथापि ( अकर्ता ) कर्ता नहीं । ( यदा ) जब कि ( एतत् ) इस ( त्रयम् ) तीन के समुदाय ( ब्रह्मम् ) ब्रह्म सम्बन्धी को ( विन्दते ) प्राप्त होता है [ तभी कारण का ज्ञान होता है ] ॥

यहां जो दो अज और एक अजा का वर्णन है उस में एक परमात्मा है जो सर्वज्ञ, अजन्मा, समर्थ अर्थात् सर्वशक्तिमान् है । दूसरा जीवात्मा-अल्पज्ञ, अजन्मा और असमर्थ अर्थात् अल्पशक्तिमान् है । तीसरी प्रकृति जो अजा अर्थात् अनादि है और भोक्ता जीवात्मा, भोग इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण, अर्थ इन्द्रियों के विषय इन से युक्त होती है अर्थात् प्रकृति से बने इन्द्रिय और उन के विषयों सहित जीवात्मा इस प्रकृति रूप वृक्ष के फल खाता है और यह प्रकृति विकृत होकर जीवात्मा भोक्ता से योग करती है । और इन तीनों में से एक अनन्त आत्मा अर्थात् परमात्मा विश्वरूप अर्थात् संसार का रचने वाला है जो प्रकृति से महत्तत्वादि को बना कर जीवात्माओं के कर्मानुसार उन्हें इस प्राकृत पदार्थों के समुदाय से जोड़ता है । यद्यपि वह जगत् का रचने वाला है तथापि अकर्ता है अर्थात् जीवात्मा की भान्ति रागद्वेषादि से शुभाशुभ कर्म करने वा उन के फलों का भोगने वाला नहीं है । परमात्मा को जगत् का कर्ता और अकर्ता भी इसलिये कहते हैं कि उस के बिना जगत् उत्पन्न नहीं होसका किन्तु उसके सन्निधान से ही जगत् बनता है परन्तु तौ भी वह राग से जगत् को नहीं बनाता किन्तु स्वभाव से ही बनाता है । संस्कृत भाष्य में लिखे ( न तस्य कार्यं ) प्रमाण से उस की क्रिया स्वाभाविक है अर्थात् ऐसी नहीं जिस से उस की एकरसता में भेद पड़े ( जैसे सूर्य किसी वनस्पति को उगाता और किसी को सुखाता है परन्तु उगाने और सुखाने में सूर्य एकसा ही रहता है ) तो जैसे लोक में किसी कार्य का कर्ता, जब उस कार्य को करता है तब उस समय के सा नहीं रहता जैसा कि न करने के समय था अर्थात् जब हम चलते हैं तब बैठने की अवस्था से कुछ भेद पड़ता है और जब बोलते हैं तब चुप रहने की अवस्था से कुछ भेद पड़ता है इस प्रकार क्रिया करने में जैसी कुछ अवस्था हमारी बदलती है वैसी उस परमात्मा



की नहीं बदलती, वह एकसा ही रहता है इसी से उस को अकर्ता भी कहते हैं। ये तीनों जीव ब्रह्म प्रकृति जब ज्ञात होते हैं तभी उस प्रश्न के उत्तर का ज्ञान होता है कि “कारण क्या है”। ये तीनों मिलकर “ब्रह्मम्” ब्राह्म अर्थात् ब्रह्म और उस के सम्बन्धी पदार्थ हैं। “ब्राह्मम्” की जगह “ब्रह्मम्” यह पाठ आर्ष है और “ईशानीशौ” की जगह “ईशनीशौ” भी। शाङ्करभाष्यादि में इस का मूलविरुद्ध अर्थ है ॥ ९ ॥

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।

तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥ १० ॥

पदपाठः—क्षरम् १। प्रधानम् १। अमृताक्षरम् १। हरः १। क्षरात्मानौ २। ईश-  
ते क्रि०। देवः १। एकः १। तस्य ६। अभिध्यानात् ५। योजनात् ५। तत्त्वभावात् ५।  
भूयः अ०। च। अन्ते ७। विश्वमायानिवृत्तिः १ ॥ १० ॥

अन्वि०—(क्षरम्) क्षरति नश्यति अवस्थान्तरनापद्यते विपरिणमतीति  
क्षरम् (प्रधानम्) प्रकृतिनामकं तत्त्वम् एकम्, (अमृताक्षरम्) अमृतं च तदक्षर-  
मविनाश्यविपरिणामि जीवात्मतत्त्वं द्वितीयम्, (हरः) हरति नाशयति प्रलयं  
करोति स हरः परमात्मा तृतीयः। तत्र (एकः) असहायः (देवः) दिव्यगुणयु-  
क्तः परमात्मा (क्षरात्मानौ) क्षरप्रधानमात्मा जीवात्मा च तौ (ईशते) वशित्वेना-  
धितिष्ठति। (तस्य) परमात्मनः (अभिध्यानात्) सर्वतोभावेन चिन्तनात्  
(योजनात्) तत्र चित्तस्ययोगात् (तत्त्वभावात्) वस्तुतोभक्त्या (भूयश्च) पुनश्च  
(अन्ते) अवसाने (विश्वमायानिवृत्तिः) विश्वाः समस्ता याः मायाः अविद्याः तासां  
निवृत्तिर्भवतीति शेषः ॥

प्रकृतिः परिणामिनी, आत्माऽपरिणासी, परमात्मा च तयोर्निधन्तास्ति।  
तस्मात्स्वनियन्तुः परमात्मनोऽध्यानात् तत्र योगाभ्यासेनैकाग्रयात् परमात्मभ-  
क्तेश्चाविद्यानिवृत्तिर्भवति ततश्च मोक्षप्राप्तिरिति ॥

(क्षरम्) क्षीण होनेवाली (प्रधानम्) प्रकृति है (अमृताक्षरम्) अमर  
और नहीं क्षीण होने वाला [जीवात्मा] है (हरः) परमेश्वर (क्षरात्मानौ) प्रकृति  
और जीवात्मा है पर (एकः) एक (देवः) परमात्मा (ईशते) अधिकारिभाव  
से रहता है। (तस्य) उस के (अधिध्यानात्) सब ओर से ध्यान करने से (योज-  
नात्) योग से (तत्त्वभावात्) ठीक २ भक्ति से (भूयश्च) फिर २ से (विश्वमा-  
यानिवृत्तिः) सब अविद्याओं की निवृत्ति होती है ॥



तात्पर्य यह है कि १-प्रकृति परिणामिनी ( जिस की अवस्था बदले ) है । २-जीवात्मा अपरिणामी है ३-सब का हरण नाश वा प्रलय करने वाला परमात्मा है वह इन जीव प्रकृति दोनों पर राज्य करता है । उसी के बार २ ध्यान, योग और भक्ति से जीवात्मा अविद्यादि क्लेशों से छूट कर मुक्ति पाता है ॥१०॥

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।

तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वेश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥११॥

पदपाठः-ज्ञात्वा क्रि० देवम् २ । सर्वपाशापहानिः १ । क्षीणैः ३ । क्लेशैः ३ । जन्ममृत्युप्रहाणिः १ । तस्यै १ । अभिध्यानात् ५ । तृतीयम् १ । देहभेदे ७ । विश्वेश्वर्यम् १ । केवलः १ । आप्तकामः १ ॥ ११ ॥

(देवम्) परमात्मानम् (ज्ञात्वा) विज्ञाय (सर्वपाशापहानिः) सर्वपाशापहानां बन्धनानामपहानिर्नाशउच्छेदः (क्लेशैः) अविद्यादिपञ्चभिः (क्षीणैः) नष्टैः जन्ममृत्युप्रहाणिः) जन्ममरणयोर्निवृत्तिः । यत् (तृतीयम्) जीवप्रकृतिपरमात्मनां पदेषु तृतीयं परमात्मनः पदम् (विश्वेश्वर्यम्) सकलैश्वर्यवत् अस्ति (तस्य) तृतीयस्य (अभिध्यानात्) चिन्तनात् (देहभेदे) सति (केवलः) देहादिसङ्गरहितः (आप्तकामः) आप्ताः पूर्णाः कामा यस्य तथाभूतोभवति ॥

परमात्मज्ञानफलमुच्यतेऽत्र । तस्मिन्परमात्मनि ज्ञाते सर्वबन्धोच्छेदो जन्ममरणनिवृत्तिश्च जायते । सर्वतोभावेन तच्चिन्तनाद्देहभेदे सति अयं जीवात्मा केवलो भवति तदाकश्चित्कामः सङ्कल्पोऽप्राप्तो नावशिष्यते सर्वसङ्कल्पशान्तिर्जायते ॥ ११ ॥

भा०-(देवम्) परमात्मा को (ज्ञात्वा) जानकर (सर्वपाशापहानिः) सब बन्धन कट जाते हैं (क्लेशैः) क्लेशों के (क्षीणैः) क्षीण होने पर (जन्ममृत्युप्रहाणिः) जन्म मरण छूट जाता है (तृतीयम्) तीसरा जो (विश्वेश्वर्यम्) विश्व का ऐश्वर्य पद है (तस्य) उस के (अभिध्यानात्) सर्वथा चिन्तन से (देहभेदे) देह छूटने पर (केवलः) स्वच्छ हो जाता है (आप्तकामः) पूर्ण काम हो जाता है ॥

परमात्मा के ज्ञान का फल कहते हैं कि उस के जानने से न कोई बन्धन रहता है, न जन्म और मृत्यु होते हैं । तब आत्मा, तृतीय अर्थात् जीव प्रकृति और ब्रह्म इन में तीसरे सकलसंसार के प्रभु का ध्यान करने से केवल स्वच्छ होजाता है तब देह भी नहीं रहता न कोई कामना शेष रहती है, सब पूर्ण हो जाती हैं ॥ ११ ॥



पूर्वोक्तमुपसंहरति—

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित् ।  
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्मेतत् ॥१२॥

पदपाठः—एतत् १ । ज्ञेयम् १ । नित्यम् १ । एव अ० । आत्मसंस्थम् १ । न अ० ।  
अतः ५ । परम् १ । वेदितव्यम् १ । हि अ० । किञ्चित् १ । भोक्ता २ । भोग्यम् २ । प्रेरितार-  
रम् २ । च । मत्वा क्रि० । सर्वम् १ । प्रोक्तम् १ । त्रिविधम् १ । ब्रह्मम् १ । एतत् १ ॥१२॥

( एतत् ) पूर्वोक्तम् ( एव ) हि ( ज्ञेयम् ) ज्ञातव्यं, किं कारणमित्यस्योत्तर-  
भूतं वेदितव्यम् । किम्भूतं ( नित्यम् ) आद्यन्तविवर्जितम् ( आत्मसंस्थम् )  
आत्मनि स्वस्मिन्नेव संस्था यस्य तत् एतत्तयं न कस्यचित्कार्यमतएव न कस्मिं-  
श्चित्कारणे संस्थामाप्नोति किन्तु प्रत्येकं स्वस्मिन्नेव संतिष्ठते । किमेतदिति पूर्वो-  
क्तमुपसंहरन् स्मारयति—( भोक्ता ) जीवात्मानं, प्रथमान्तमार्घम् ( भोग्यम् )  
कार्यपरिणतं प्रधानम् ( प्रेरितारञ्च ) नियन्तारं परमात्मानं च ( मत्वा ) वि-  
ज्ञाय ( अतः ) एतद्विज्ञानानन्तरम् ( किञ्चित्, वेदितव्यं, न ) अवशिष्यत इति  
शेषः । ( एतत्, सर्वं, त्रिविधम् ) ( ब्रह्मम् ) ब्राह्मं ब्रह्मसम्बन्धि कारणजातम्  
( प्रोक्तम् ) वर्णितम् ॥

जगत्कारणजिज्ञासुना मुख्यतया कारणत्रयमेव वेदितव्यमस्ति । कालादी-  
नाममुख्यतयाऽत्र वेदितव्यगणनायामगणनाऽनुसन्धेया ॥१२॥

भा०—एतत्, एव) यही ( ज्ञेयम् ) जानने योग्य है । जो ( नित्यम् ) नित्य  
है ( आत्मसंस्थम् ) आपे में स्थित है ( भोक्ता ) जीवात्मा ( भोग्यम् ) प्रकृति ( च )  
और ( प्रेरितारम् ) नियन्ता को ( मत्वा ) जानकर ( अतः ) इस से ( परम् ) आगे  
( किञ्चित् ) कुछ ( वेदितव्यम् ) जानने योग्य ( न ) नहीं रहता ॥

इस में पूर्व ३ श्लोकों में कहे विषय का उपसंहार किया है कि जो जगत्  
का कारण जानना चाहे उस को इन तीन के अतिरिक्त मुख्य करके जानने  
को कुछ नहीं है किन्तु जगत्कारण यही तीन मुख्य हैं । अन्य कालादि मुख्य  
न होने से गणना में नहीं लाये गये ॥ १२ ॥

ननु सर्वगतोपि परमात्मा कथं न सर्वैरनुभूयते तदनुभवे कश्चोपाय इत्या-  
हृष्यायान्तैश्चतुर्भिः—



वहेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्नदृश्यते नैव च लिङ्गनाशः ।

स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥१३॥

पदपाठः-वहेः ६ । यथा अ० । योनिगतस्य ६ । मूर्तिः १ । न अ० । दृश्यते  
क्रि० । न अ० । एव अ० । च अ० । लिङ्गनाशः १ । सः १ । भूयः अ० । एव अ० ।  
इन्धनयोनिगृह्यः १ । तद्वा अ० । उभयम् १ । वै अ० । प्रणवेन ३ । देहे ७ ॥१३॥

अन्वितपदार्थः-(यथा) (वहेः) अग्नेः (योनिगतस्य) स्वोत्पत्तिस्थानका-  
ष्ठादिगतस्य (मूर्तिः) स्वरूपम् (न, दृश्यते) (च) परन्तु (लिङ्गनाशः) लिङ्गि-  
नोऽग्नेर्लिङ्गस्य काष्ठमथनजन्योष्माणः नाशः (एव) अपि (न) । लिङ्गेन हेतुना  
लिङ्गिनो ज्ञानमुपपद्यते, तस्मादत्रापि अग्निर्लिङ्गी तस्य मूर्तिः प्रकाशः स्वरूपं  
सर्वैर्नदृश्यते परन्तु संघर्षणेनोष्मा उद्भवति स एव चोष्माऽग्निसद्भावे लिङ्गं चिह्नम्  
तेन च नैतद्वक्तुं शक्यतेऽग्निरास्तीति । अग्निदिदृक्षुणा च तथा सति किमनुष्ठेय-  
मित्याह-(सः) उक्तोऽग्निः (एव) हि (भूयः) पुनः (इन्धनयोनिगृह्यः) इन्धनेन  
काष्ठेन योनिनोत्पत्तिस्थानेन संघर्षितेन गृह्यते, तथाभूतः । अर्थादग्निदिदृक्षुणा  
काष्ठादिनिर्मथनं कार्यं तदानीं चाग्निप्रादुर्भावे तद्ग्रहणं सुकरम् । यथा लि-  
ङ्गलिङ्गिनोः सद्भावेऽपि निर्मथनोपायमावश्यकं (तद्वा) तद्वत्, इवार्थोवाशब्दः  
( उभयम् ) लिङ्गं लिङ्गी चेत्युभयम् । दाष्टान्तमाह-(वै) निश्चयेन (देहे) शरीरे  
(प्रणवेन) ओङ्कारेण कृतजपेन भावितार्थेनोपायभूतेन परमात्मनः साक्षात्कार-  
इति शेषः ॥

यथा काष्ठादिषु सर्वैर्न ज्ञायतेऽग्निरास्तीति, ऊष्मादिना चिह्नेन च नेदमप्यु-  
च्यते नास्तीति । तथैव देहादिषु व्याप्तोऽपि परमात्मा न सर्वैर्ज्ञायते सूक्ष्मत्वात्  
परन्तु तदीयस्रष्टृत्वादिलक्षणैर्लिङ्गैर्नैदमपि वक्तुं शक्यं नास्ति स्पष्टा परमात्मेति ।  
यथा चारणिभ्यां निर्मथनेनाग्नेः साक्षात्कारस्तथैवाधरारणिस्थानीये देहे उत्त-  
रारणिस्थानीयेनोङ्कारेण भावितार्थेन परमात्मनः साक्षात्कारोभवति । तदेव  
स्पष्टयत्युत्तरेण ॥ १३ ॥

भा०-यदि परमात्मा सर्वत्र है तो सब किसी को उस का साक्षात्कार क्यों  
नहीं होता और साक्षात्कार का क्या उपाय है सो बताते हैं-(यथा) जैसे  
(योनिगतस्य) अपने प्रादुर्भावस्थान में रहते हुवे (वहेः) अग्नि का (मूर्तिः)  
स्वरूप (न) नहीं (दृश्यते) दीखता (च) परन्तु (लिङ्गनाशः) चिह्न का नाश



(एव) भी (न) नहीं । (सः) वह (एव) ही (भूयः) फिर (इन्धनयोनियुक्तः) इन्धन जो उस का उत्पत्तिस्थान है उसी से ग्रहण करने योग्य है । (तद्वा) वैसे ही (देहे) देह में (प्रणवेन) ओङ्कार से ( वै ) निश्चय ( उभयम् ) चिह्न और चिह्न वाला दोनों को [जानो] ॥

तात्पर्य यह है कि जैसे अग्नि काष्ठादि में वर्तमान है परन्तु उस का चमकीला स्वरूप नहीं देख पड़ता तथापि काष्ठादि में अग्नि के चिह्न का नाश भी नहीं है किन्तु घिसते हैं तो काष्ठ गरम होजाता है और काष्ठ की सूरत जो दीखती है यह भी अग्नि का चिह्न है । उसी अग्नि को दो काष्ठों के निर्मथन से देख सके हैं । इसी प्रकार परमात्मा हमारे देहादि में है पर नहीं दीखता परन्तु उस के रचनादि चिह्न पाये जाते हैं । अब यदि कोई उस का साक्षात्कार चाहे तो देहरूपी \*अधरारणि और ओङ्कार का अर्थ विचारपूर्वक जपरूपी उत्तरारणि की रगड़ से उस परमात्मा का साक्षात्कार अनुभव कर सका है । यह उपाय है । इसी को अगले श्लोक में स्पष्ट कहा है ॥ १३ ॥

स्वदेहमरणं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।

ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढवत् ॥ १४ ॥

पदपाठः—स्वदेहम् । अरणिम् । कृत्वा ओ० प्रणवम् । च ओ० उत्तरारणिम् । ध्याननिर्मथनाभ्यासात् । देवम् । पश्येत् क्रि० निगूढवत् ओ० ॥

परमात्मानं साक्षाच्चिकीर्षुर्जिज्ञासुः ( स्वदेहम् ) स्वस्य शरीरम् ( अरणिम् ) अधरारणिस्थानीयम् ( प्रणवम् ) ओङ्कारम् ( च ) ( उत्तरारणिम् ) ( कृत्वा ) प्रकल्प्य ( ध्याननिर्मथनाभ्यासात् ) ध्यानमेव निर्मथनं तस्याभ्यासात्पौनः पुन्यात् ( निगूढवत् ) प्रकृन्मिवस्थितम् ( देवम् ) परमात्मानम् ( पश्येत् ) साक्षात्कुर्यात् ॥ १४ ॥

भा० परमात्मा का साक्षात्कार चाहने वाला जिज्ञासु ( स्वदेहम् ) अपने देह को ( अरणिम् ) अधरारणि (च) और ( प्रणवम् ) ओङ्कार को ( उत्तरारणिम् ) उत्तरारणि ( कृत्वा ) कल्पना करके ( ध्याननिर्मथनाभ्यासात् ) ध्यान

\*यज्ञ में अग्नि उत्पन्न करने के लिये दो काष्ठविशेष होते हैं जिन में से नीचे के काष्ठ को अधरारणि और ऊपर के को उत्तरारणि कहते हैं । ये दो अरणि मथकर अग्नि उत्पन्न करते हैं ।



रूपी नयन के अभ्यास से (निगूढवत्) दुबके हुवे से (देवम्) परमात्मा को (पश्येत्) देखे ॥ १४ ॥

पुनर्दृष्टान्तान्तरैस्तदेवाह-

तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः ।

एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥ १५ ॥

पदपाठः-तिलेषु १ । तैलम् १ । दधिनि ७ । इव अ० । सर्पिः १ । आपः १ ।

स्रोतः ७ । अरणीषु ७ । च अ० । अग्निः १ । एवम् अ० । आत्मा १ । आत्मनि ७ । गृह्यते क्रि० । असौ १ । सत्येन ३ । एनम् २ । तपसा ३ । यः १ । अनुपश्यति क्रि० ॥ १५ ॥

(तिलेषु) (तैलम्) तैलम् प्रविष्टं, (दधिनि) (सर्पिः) घृतम्, (स्रोतस्सु) गिरिप्रस्त्रवणेषु (आपः) अन्तर्हितानि जलानि, (अरणीषु, च, अग्निः) काष्ठविशेषेषु च वह्निः (इव) यथाऽन्तर्हितोवर्तते (एवम्) तथैव (आत्मनि) स्वस्मिन् (असौ, आत्मा) अपरः परमात्मा (गृह्यते) साक्षात्क्रियते । किन्तु (यः, एनम्, सत्येन, तपसा, अनुपश्यति) यः पूर्वोक्तं परमात्मानं सत्येन दम्भादिरहितेन तपसाऽनुष्ठितेन, जिज्ञासया साक्षात्करोति तेनैव न सर्वैरित्यर्थः ॥

यथा तिलेषु तैलमस्ति परं पीडनं विना नोपलभ्यते, यथा च दधनि घृतमस्ति परं मन्यनमन्तरेण नोपलभ्यते, स्रोतस्सुप्रस्त्रवणेषु चापः सन्ति परं तद्देशजननं विना न दृश्यते तन्तर्जलमस्तीति, अरणीकाष्ठेषु च वर्तमानोऽप्यग्निर्निर्मथनाद्युपायमन्तरेण न प्रादुर्भवति तथैवात्मनि स्थितोऽपि परमात्मा दम्भादिदोषरहितध्यानतपश्चर्यां विना नोपलभ्यते कृते बोद्धोपाये उपलभ्यतएवेत्यर्थः ॥ १५ ॥

भा० फिर अन्य दृष्टान्तों से वही वर्णन करते हैं—(इव) जैसे (तिलेषु) तिलों में (तैलम्) तैल, (दधिनि) दधि में (सर्पिः) घृत, (स्रोतस्सु) झरनों में (आपः) जल, (च) और (अरणीषु) काष्ठों में (अग्निः) अग्नि है । (एवम्) इसी प्रकार (आत्मनि) आत्मा में (असौ) यह दूसरा (आत्मा) परमात्मा (गृह्यते) साक्षात् किया जाता है । (यः) जो कोई (एनम्) पूर्वोक्त परमात्मा को (सत्येन, तपसा) सच्ची, तपश्चर्या से (अनुपश्यति) साक्षात् करता है ॥

अर्थात् जैसे तिलों में तैल है परन्तु पेलने से ही मिल सका है, दही में घृत है पर विलोने से ही मिल सका है, पहाड़ के झरनों के भीतर जल छिपा



प्रथमोऽध्यायः ॥

२५

हुया भरा है पर उनके तोड़ने से ही दीख सका है, और काष्ठों में अग्नि है पर रंगड़ने ही से प्रकट हो सका है। इसी प्रकार इस हमारे आत्मा में वह परमात्मा है पर सच्चे प्रेम भक्ति ध्यानादि से ही प्राप्त होसका है, अन्यथा नहीं ॥१५॥

उक्तमुपसंहरति—

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् । आत्मविद्या-  
तपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् । तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥ १६ ॥

इति श्वेताश्वतरोपनिषदि प्रथमोऽध्यायः ॥

पदपाठः—सर्वव्यापिनम् २। आत्मानम् २। क्षीरे ७। सर्पिः २। इव अ०।  
अर्पितम् २। आत्मविद्यातपोमूलम् १। तत् १। ब्रह्म १। उपनिषत्परम् १। तत् १।  
ब्रह्म १। उपनिषत्परम् १ ॥ १६ ॥

(क्षीरे) दुग्धे (अर्पितम्) प्रच्छन्नम् (सर्पिरिव) घृतमिव (सर्वव्यापिनम्,  
आत्मानम्) अनुपश्यतीतिपूर्वेण सम्बन्धः। किंभूतम्—(आत्मविद्यातपोमूलम्)  
आत्मविद्या अध्यात्मविद्यैव तपस्तस्य मूलसाधारभूतम् (तद्, उपनिषत्परम्,  
ब्रह्म) उपनिषदां परंतत्त्वम्, ब्रह्म प्रसिद्धम् ॥ पुनः पाठोऽध्यायसमाप्तिमूचनाऽर्थः ॥

अस्मिन् अध्याये एकेन कारणप्रश्नः, तदनन्तरं द्वितीयेन कालादीनां कारणत्व-  
माशङ्क्य, तृतीयेन तेषां पारतन्त्र्यं परमात्माधीनत्वञ्च, चतुर्थेन ब्रह्मचक्रवर्णनं,  
पञ्चमेन नदीरूपकवर्णनं, षष्ठेन जीवात्मनस्तत्र भ्रमणं सति परमात्मज्ञाने ततो  
मुक्तिश्च, सप्तमाद् द्वादशावधि प्रकृतिजीवात्मपरमात्मनां भेदः परमात्मनः प्राधा-  
न्यं च, त्रयोदशात् षोडशावधि बह्मितिलदुग्धदधिस्रोतसां दृष्टान्तेन परमात्म-  
नोऽन्तरात्मनि निहितत्वेऽप्युपायमन्तरेणाऽप्राप्यत्वञ्चोक्तम् ॥

॥\*॥ इति तुलसीरामस्वामिकृते श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्ये प्रथमोऽध्यायः ॥\*॥

पूर्वोक्त का उपसंहार करते हैं कि (क्षीरे) दुग्ध में (सर्पिः) घृत के (इव)  
समान (सर्वव्यापिनम्) सर्वव्यापी (आत्मानम्) परमात्मा को (अनुपश्य-  
ति—पूर्व श्लोक से) देखता है। जो (आत्मविद्यातपोमूलम्) अध्यात्मविद्या  
रूपी तप का मूल है (तत्) वह (उपनिषत्परम्) उपनिषद् का सार (ब्रह्म)  
ब्रह्म है ॥

यहां “आत्मानम्” कह कर भी फिर “सर्वव्यापिनम्” विशेषण लगाया  
है जिससे स्पष्ट है कि आत्मा दो हैं एक सर्वव्यापी दूसरा अल्पव्यापी। नहीं



तौ "आत्मानम्" ही कहते "सर्वव्यापिनम्" कहने की आवश्यकता न रहती।  
 "तद्ब्रह्मोपनिषत्परम्" यह दो बार अध्यायसमाप्ति की सूचनार्थ पढ़ा है ॥१६॥

इस अध्याय के १ श्लोक में कारण का प्रश्न। २ में कालादि के कारणत्व में शङ्का करके। ३ में उन की परतन्त्रता और परमात्मा के आधीन होना। ४ में संसारचक्र और। ५ में संसारनदी का वर्णन। ६ में जीवात्मा का उन में भ्रमण और परमात्मा के ज्ञान से मुक्ति। ७-१२ में प्रकृति जीवात्मा और परमात्मा का भेद और परमात्मा की प्रधानता। १३-१६ में अग्नि तिल दुग्ध दधि भरने के दृष्टान्तों से परमात्मा का सर्वव्यापक होकर भी विना उपाय के न प्राप्त हो सकना वर्णन किया गया है ॥

यह तुलसीरामस्वामिकृत श्वेताश्वरोपनिषद्भाष्य में १ अध्याय हुआ ॥

—\*—

### अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

प्रथमाध्यायोपान्तिमे "सत्येनैनं तपसा योजनुपश्यति" इत्युक्तं तस्मात्तस्य तपसोयोगाख्यस्य वर्णनमारभमाणो वेदमन्त्रैः पञ्चभिः क्वचित् केनचित्पाठान्तरेण क्वचिच्च याथातथ्यं वेदपाठेनैव मनसो निग्रहादिकमाह-

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः ।

अग्नेज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥ १ ॥

पदपाठः-युञ्जानः १। प्रथमम् २। मनः २। तत्त्वाय अ०। सविता १। धियः २। अग्नेः ६। ज्योतिः २। निचाय्य अ०। पृथिव्याः ६। अधि अ०। आ अ०। अभरत् क्रि० ॥ १ ॥

अन्वितपदार्थः-(सविता) इन्द्रियप्रेरको योगेच्छुः (प्रथमम्) आदौ (मनः) (युञ्जानः) युक्तं कुर्वाणः सन् (धियः) बुद्धीः (तत्त्वाय) प्रसार्य। तनुविस्तारे धातुस्तस्मात्-समानकर्तृकयोः पूर्वकाले [ पाणिनीये ३।४।२१ ] इति त्का प्रत्ययः, व्यत्ययेनेडागमाभावः, अनुदात्तोपदेशवन्तितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो भल्लि किङिति [पा० ६।४।३७] इति नलोपः, कृत्वोयक् [पा० ७।१।४७] इति यगागमः। (अग्नेः) प्रकाशस्वरूपस्य परमात्मनः (ज्योतिः) स्वरूपम् (निचाय्य) वेदादिषु श्रुतया रीत्या निश्चित्य (पृथिव्याः, अधि) पृथिव्यां हृदयदेशभूमौ (आ अभरत्) आहरेत्। हृग्रहोर्भश्छन्दसि हस्येति वक्तव्यमिति पस्पशाह्निकप्रदीपे ।



इति हृदातोर्हस्य भः, लेट्प्रयोगः, इतश्चलोपः परस्मैपदेषु [पा० १३।४।९७]  
इति तिप् इकारस्य लोपः । यद्वा आभरत् बिभृयात् धारयेत् ॥

अयमर्थः—सर्वेन्द्रियप्रेरकोयोगमिच्छन् पुरुषः, प्रथमं मनोयुक्तमचञ्चलं कुर्यात्, तथासति बुद्ध्यः प्रसूता भवन्ति ज्ञानं वर्द्धत इत्यर्थः । तदा परमात्मनः स्वरूपं प्रवृद्धज्ञानेन यथाशक्ति निश्चित्य स्वहृदये धारयेत् । मनसएव सर्वानर्थ-मूलत्वात्तावन्मनसोनिग्रहएवात्रोपदिष्टः । मनसि च निगृहीते तदधीनानीन्द्रियाणि स्वव्यापारान्वित्तन्ते, निवृत्तेषु चेन्द्रियव्यापारेषु तद्द्वारा पूर्वं क्षरज्ज्ञानमवरुद्धं तेन च वर्द्धं भवति । यथा निम्नगासु कुल्यासु प्रवहज्जलं न्युच्चक्षेत्रेषु सिच्यमानं सम्भवति परन्तु प्रवाहनिरोधेनोच्चतां नीतं तदेव जलमुच्चक्षेत्रेष्वपि प्रापयितुं शक्यं भवति तद्वदेव निम्नतरविषयेषु इन्द्रियच्छिद्रैः क्षरज्ज्ञानं न परमात्मानमत्युच्चतमं प्राप्तुं शक्नोति । परन्तु इन्द्रियच्छिद्रप्रवाहनिरोधेनोच्चतां नीतं तदेव ज्ञानं शक्नोति परमात्मप्राप्तय इति । यजुर्वेदे ११ अध्याये प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चमाः इमे मन्त्राः परन्तु तत्राद्ये “धियः” इत्यस्यस्थाने धियमिति पाठः ॥ १ ॥

भा०—(सविता) जीवात्मा (प्रथमम्) प्रथम (मनः) मन को (युञ्जानः) ठीक करता हुआ (धियः) बुद्धियों को (तत्त्वाय) फैला कर के (अग्नेः) प्रकाशक ईश्वर की (ज्योतिः) ज्योति को (मिचार्य) निश्चय कर के (पृथिव्याः, अग्नि) हृदयभूमि में (आ, आभरत्) धारण करे ॥

ये ५ मन्त्र यजुर्वेद के ११ वें अध्याय में प्रथम द्वितीय तृ० च० पञ्चम मन्त्र हैं परन्तु वहाँ १ में “धियम्” पाठ है और यहाँ “धियः” । इतना ही अन्तर है । मानो ऋषि लोग वेदमन्त्रों के प्रमाण से समझा रहे हैं, कहीं २ का पाठ तो ठीक वेदसंहितापाठ से मिला है और कहीं २ कुछ अन्तर है । पूर्वाध्याय के १५ वें श्लोक में कहा था कि “जो उस को सच्ची तपश्चर्या से देखता है” सो अब उस सच्ची तपश्चर्या योग के वर्णन का आरम्भ करते हुवे मन के निग्रह से आरम्भ करते हैं कि जीवात्मा जो इन्द्रियों का प्रेरक होने से ‘सविता’ कहा जाता है उस को चाहिये कि प्रथम मन को वश करे । क्योंकि मन ही इन्द्रियों को विषयों में दौड़ा कर सब अनर्थ कराता है । जब मन रुकेगा तब बुद्धियाँ अर्थात् ज्ञान फैलेगा बढ़ेगा । जब ज्ञान फैलेगा तो योगी अपने हृदयाकाश में परमात्मा का ध्यान कर सकेगा । जैसे नीचा नहर का जल ऊँचे खेतों में नहीं जासکتा परन्तु नहर के प्रवाह को रोकें तो वह जल ऊँचा होने



पर ऊंचे खेतों में पहुंच सका है। इसी प्रकार मनुष्य के (अल्प) नीचे ज्ञान में परमात्मा जो अत्यन्त (सूक्ष्म होने से) उच्च हैं उन का ध्यान नहीं हो सका परन्तु जब ज्ञानरूपी जल के प्रवाह को जो इन्द्रियरूपी छिद्रों द्वारा विषयरूपी नीचाई में बहा जाता है उसे रोका जाय तो ज्ञान उच्च होकर परमात्मा का ध्यान कर सके। अतएव मन रोक कर, ज्ञान बढ़ा कर, हृदय में ईश्वर का ध्यान करे ॥ "तत्त्वय" पद की सिद्धि व्याकरण से संस्कृतभाष्य में लिखी है वहां देख लें ॥ १ ॥

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे ।

सुवर्गेयाय शक्त्या ॥ २ ॥

पदपाठः—युक्तेन ३। मनसा ३। वयम् १। देवस्य ६। सवितुः ६। सवे ७। सुवर्गेयाय ४। शक्त्या ३ ॥ २ ॥

अन्वितपदार्थः—ते श्वेताश्वतरादय आहुः—( वयम् ) ( सवितुः, देवस्य, सवे ) सर्वोत्पादकस्य परमात्मनो, देवस्य, सृष्टौ ( सुवर्गेयाय ) स्वर्गायेति वक्तव्ये आर्षम् । मोक्षानन्दप्राप्तये (शक्त्या) यथाशक्ति ( युक्तेन ) वृत्तिभ्यो निरुद्धेन ( मनसा ) प्रयत्नासहे इति शेषः ॥

अत्र मन्त्रेऽपि वेदसंहितायां "स्वर्गाय" इति पाठः उपनिषदि च "सुवर्गेयाय" इति पाठान्तरम् । व्याख्यातोऽयं मन्त्रः शतपथब्राह्मणे—युक्तेन मनसा वयमिति मनएवैतदेतदस्मै कर्मणे युङ्क्ते न ह्ययुक्तेन मनसा किञ्चित्सम्प्रति शक्नोति कर्तुम् । देवस्य सवितुः सवे इति—देवेन सवित्रा प्रसूता इत्येतत् । स्वर्गाय शक्त्येति—यथैतेन कर्मणा स्वर्गं लोकमियादेवमेतदाह । शक्त्येति—शक्त्या हि स्वर्गं लोकमेतीति । श० ६।३।१। योगशास्त्रेऽपि प्रथमसूत्रे "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" इत्येव सूत्रितम् ॥ २ ॥

भा०—श्वेताश्वतरादि ऋषि कहते हैं कि ( वयम् ) हम ( सवितुः ) सर्व-स्रष्टा ( देवस्य ) देव की ( सवे ) सृष्टि में ( सुवर्गेयाय ) मोक्ष के लिये ( शक्त्या ) यथाशक्ति ( युक्तेन ) वशीभूत ( मनसा ) मन से [ प्रयत्न करते हैं ]

इस मन्त्र के "सुवर्गेयाय" पद के स्थान में वेदसंहिता में "स्वर्गाय" पाठ है। इस मन्त्र की व्याख्या शतपथ ब्राह्मण में कर्मकाण्डविषयक इस प्रकार है—( युक्तेन मनः ) मन ही इस कर्म में लगाता है, बिना मन की एकाग्रता के सम्प्रति कोई कुछ नहीं कर सकता ( देवस्य सविः ) "सर्वोत्पादक देव के उत्पन्न



## द्वितीयोऽध्यायः ॥

२९

किये हम ” इत्यादि संस्कृतभाष्य में देखिये । तात्पर्य यह है कि मन की एकाग्रता बिना न तो कर्मकाण्ड ही अच्छे प्रकार बनता है और न ज्ञान वा उपासना । योगदर्शन का भी प्रथम सूत्र यही कहता है कि “चित्त की वृत्तियों का रोकना योग है” ॥ २ ॥

ननु प्रबलं मन इन्द्रियाणि च कथं निरोद्धुं शक्यानि ? परमात्मनः साहाय्येनेत्याह—

युक्त्वाय मनसा देवान्सुवर्यता धिया दिवम् ।

बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥ ३ ॥

पदपाठः—युक्ताय अ० । मनसा ३ । देवान् २ । सुवर्यतः २ । धिया ३ । दिवम् २ । ज्योतिः २ । बृहत् २ । करिष्यतः २ । सविता १ । प्रसुवाति क्रि० । तान् २ ॥ ३ ॥

अन्वितपदार्थः—( धिया ) बुद्धिबलेन ( मनसा ) मनसा सह वर्तमानानि ( सुवर्यतः ) स्वः स्वर्गो विषयसुखं तं यन्तीति स्वर्यतः सुखमनुधावन्ति ( देवान् ) द्योतनात्मकानि इन्द्रियाणि ( युक्ताय ) वशीकृत्य ( दिवम् ) आनन्दमयं ( ज्योतिः ) प्रकाशाख्यम् ( बृहत् ) प्रवृद्धम् ( करिष्यतः ) ये योगिनः करिष्यन्ति ( तान् ) ( सविता ) सर्वोत्पादकः कृपालुः परमात्मा ( प्रसुवाति ) प्रेरयति तत्साहाय्यं करोति ॥

अर्थभावः—ये योगमिच्छवः परमात्मभक्ताः बुद्धिबलेन मनइन्द्रियाणि च वशीकृत्य यथाशक्ति स्वकीयं ज्ञानबलं वर्द्धयितुमिच्छन्ति तान् सविता सर्वपिता परमात्मानुग्रहेण प्रसुवाति स्वसाहाय्येन तत्र प्रेरयति यतस्ते कृतकृत्या भवेयुरिति । वेदसंहितायां “ सविता ” इति पाठः अत्र च तत्स्थाने “ मनसे ” इति । वेदसंहितायां “ स्वर्यतः ” अत्र च “ सुवर्यतः ” इति पाठान्तरम् । युक्तायेत्यस्य व्याकरणेन सिद्धिस्तत्त्वायेतिव्याख्यातपदसमैव ज्ञातव्या । कचित्पाठे—सुवः, यतः इति च पृथक्पदं तत्स्वरार्थं तस्मिन्पक्षे सुवः स्वः सुखं तदुद्दिश्य यतः गच्छतः इतिव्याख्येयम् । प्रसुवाति इति लेट् प्रयोगः । षू प्रेरणे तुदादिः । लेटोऽडाटौ ( पा० ३ । ४ । ९४ ) ॥ ३ ॥

प्र०—यदि इन्द्रियां और मन प्रबल हैं तो अल्प साधन वाला जीवात्मा इन्हें कैसे रोके ? उत्तर—परमात्मा की सहायता से । यह कहते हैं—( धिया )



बुद्धि से ( मनसा ) मन सहित ( सुवर्यतः ) सुख पर भागती हुई ( देवान् ) इन्द्रियों को (युत्काय) रोक कर ( दिवम् ) आनन्दमय ( ज्योतिः ) ज्योति को ( बृहत् ) जो बड़ा ( करिष्यतः ) करेंगे ( तान् ) उन्हें ( सविता ) सर्वपिता परमात्मा ( प्रसुवाति ) प्रेरणा करता है ॥

अर्थात् जो समस्त पूर्वक मन और इन्द्रियों को वश करके आनन्दमय ज्योति को बढ़ाना चाहते हैं, कृपालु परमात्मा उन्हें सहायता देकर कृतकृत्य करते हैं। "युत्काय" पद की व्याकरण से सिद्धि वैसे ही जानो जैसे पूर्व "तत्त्वाय" पद की की गई। "प्रसुवाति" यह लेट् लकार का प्रयोग है, सूत्र संस्कृत में लिखा है। वेद में "मनसा" के स्थान में "सविता" और "सुवर्यतः" के स्थान में "स्वर्यतः" पाठ है ॥ ३ ॥

योगिभिर्न केवलं मन एव विषयेभ्यो निरोद्धव्यं किन्तु जगत्पितुः स्तुतिरपि कर्तव्येत्याह-

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १ ॥

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।

विहोत्रा दधे वयुना विदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ ४ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १ ॥

पदपाठः—युञ्जते क्रि० । मनः २ । उत अ० । युञ्जते क्रि० । धियः २ । विप्राः १ । विप्रस्य ६ । बृहतः ६ । विपश्चितः ६ । वि अ० । होत्राः १ । दधे क्रि० । वयुनाविद् १ । एकः १ । इत् अ० । मही १ । देवस्य ६ । सवितुः ६ । परिष्टुतिः १ ॥ ४ ॥

अन्वितपदार्थः—(होत्राः) योगयज्ञानुष्ठातारः ( विप्राः ) विद्वांसो ब्राह्मणाः ( मनः ) ( युञ्जते ) समाहितं कुर्वन्ति ( उत ) अपि ( धियः ) ज्ञानेन्द्रियाणि बुद्धिवृत्तीर्वा ( युञ्जते ) समादधति । यः ( एकः , इत् ) एक एवाऽसहायः ( वयुनावित् ) विज्ञानवित्, अत्रान्येषामपीति दीर्घः । ( वि, दधे ) विविधं जगद्रचयति । तस्य ( विप्रस्य ) मेधाविनः ( बृहतः ) महती ब्रह्मणः ( विपश्चितः ) अनन्तविद्यस्य ( सवितुः ) सर्वोत्पादकस्य ( देवस्य ) प्रकाशस्वरूपस्य ( मही ) महती ( परिष्टुतिः ) सर्वतः स्तुतिः, कार्यैति शेषः ॥

अयं भावः—विद्वांसो हि योगयज्ञमनुष्ठानं शक्नुवन्ति नेतरेऽज्ञाः । तैश्च विद्वद्भिर्मन इन्द्रियाणि च समाधाय परमात्मनो देवस्य सर्वथा स्तुत्युपा सने कर्तव्ये यतः प्रसन्नः सन् जगदीश्वरस्तान् मोक्षपदं नयेत् इति । इयमृक-ऋग्वेदे अ० ४ अ० ४ व० २४ मं० १ अपि पठितास्ति न चास्यां तत्रापि कश्चित्पाठभेदः ॥ ४ ॥



भा० योगियों को न केवल मन और इन्द्रियों को विषयों से ही रोक कर बैठ रहना चाहिये किन्तु परमात्मा की बहुत प्रकार से स्तुति भी करनी चाहिये । यह कहते हैं—

(होत्राः) योगयज्ञ के होता लोग (विप्राः) विद्वान् ब्राह्मण (मनः) मन को (युञ्जते) एकाग्र करते हैं (उत) और (धियः) ज्ञानेन्द्रियों वा बुद्धियों को (युञ्जते) समाहित करते हैं । जो (एकः, इत) एकला, ही (वयुनावित्) विज्ञान-वेत्ता (वि, दधे) सृजता है । उस (विप्रस्य) मेधावी (बृहतः) बड़े (विपश्चितः) अनन्त विद्या वाले (सवितुः) सर्वपिता (देवस्य) देव की (मही) बड़ी (परिष्ठुतिः) सर्वप्रकार से स्तुति [करनी चाहिये] ॥

तात्पर्य यह है कि जो लोग योगयज्ञ के होता हों वे अपने मन बुद्धि को समाहित कर के परमात्मा की अत्यन्त नम्रता और भक्तिभाव से स्तुति करें, सर्व संसार का बनाने वाला वही है । यही ऋचा—ऋग्वेद अ० ४ अ० ४ व० २४ मं० १ में भी है और पाठ में भी कुछ भेद नहीं ॥

स्तुत्युपासनयोर्लग्नान्स्वभक्तान् प्रति परमकृपालुरीश्वरोभक्तिं स्तुतिं चोरी-कृत्य ब्रवीतीत्याह—

~~~~~

युजे वां ब्रह्म पूर्य नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरः । शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आये धामानि दिव्यानि तस्युः ॥ ५ ॥

~~~~~

पदपाठः—युजे क्रि० । वाम् २ । ब्रह्म १ । पूर्यम् १ । नमोभिः ३ । विश्लोकः १ । एतु क्रि० । पथ्या १ । इव अ० । सूरः ६ । शृण्वन्तु क्रि० । विश्वे १ । अमृतस्य ६ । पुत्राः १ । आ अ० । ये १ । धामानि २ । दिव्यानि २ । तस्युः क्रि० ॥ ५ ॥

(ये, विश्वे, अमृतस्य, पुत्राः) ये, सर्वे, अमृतस्य ब्रह्मणोमम, पुत्राः ते भवन्तः (शृण्वन्तु) श्रुत्वा जानन्तु किन्तुदाह—(वाम्) युवां योगविद्याशिष्यशिक्षकौ (पूर्यम्) पूर्वभवं सनातनम् (ब्रह्म) अहम् (युजे) युञ्जे युक्तोभवामि भवन्तौ प्राप्नोमि (नमोभिः) नमस्कारैः स्तुतिभिः (वि, श्लोकः, एतु) विविधा, कीर्तिः, प्राप्नोतु । कस्य का इव—(सूरः) विदुषः (पथ्या) मार्गः (इव) । (दिव्यानि धामानि) मोक्ष-पदम् (आ, तस्युः) अधितिष्ठन्तु । लोट्स्थाने लिट् व्यत्ययेन ॥

स्तुतिं स्वीकुर्वन्नसौ परमदयालुः सर्वपिता स्वभक्तभक्त्या प्रीतः सन्निदमाह-हे मम सर्वे पुत्राः ! भवन्तः शिष्यशिक्षकभावेन योगसाध्याय मय्यात्मानं यो-



जितयन्तस्तस्मादहं भवतः प्राप्नोमि, आगच्छन्तु मोदमाना मोक्षपदसधितिष्ठन्तु ।  
भवत्कृतस्तुतिभिः श्लोकः कीर्त्तिर्विपुला च भवतः प्राप्नोतु ॥ ५ ॥

भा० स्तुति उपासना को स्वीकरते हुए परमकृपालु परमात्मा अपने भक्तों से इस प्रकार कहते हैं कि-

(ये) जो (विश्वे) सब (अमृतस्य) अमर के (पुत्राः) पुत्र हो (शृण्वन्तु) सुनो कि (पूर्वम्) पुरातन (ब्रह्म) मैं ब्रह्म (वाम्) तुम दोनों को (युजे) प्राप्त होता हूँ । (नमोभिः) नमस्कारों से (वि, श्लोकः) विविध, कीर्त्ति (एतु) प्राप्त होवे । (इव) जैसे कि (सूरेः) बुद्धिमान् का (पथ्या) मार्ग [उसे प्राप्त होता है] (दिव्यानि, धामानि) दिव्य, धामों का (आ, तस्युः) अधिकार पावो ॥ अर्थात् परमात्मा जो परमकृपालु हैं अपने भक्तों पर, जब उनके भक्त अपने परमपिता की शरण के अभिलाषी हो अपने आप को उसी में लगाते हैं, युक्त करते हैं, जोड़ते हैं, तो उन पर प्रसन्न होते हैं कि हे सब पुत्रो ! तुम ने जो योगविद्या का शिष्य शिक्षक बन २ कर अपने आप को मुझ में लगाया है, मैं उस से प्रसन्न हूँ, तुम्हारी दोनों की भक्ति स्वीकार करता हूँ, तुम्हारी अटल कीर्त्ति हो, तुम दिव्य धामों (मोक्ष) का अधिकार लो ॥ ५ ॥

अनेकजन्मानुष्ठितशुभस्य तेन विगताशेषमलस्य शुद्धमानसस्य विविक्तस्य शमदमादिसाधनकलापयुक्तस्योत्तमाधिकारिणोमुमुक्षोर्माक्षसाधनीभूतं योगं सं-  
क्षिप्याह-

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राभिरुध्यते ।

सोमोयत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः ॥ ६ ॥

पदपाठः-अग्निः १ । यत्र अ० । अभिमथ्यते क्रि० । वायुः १ । यत्र अ० ।  
अभिरुध्यते क्रि० । सोमः १ । यत्र अ० । अतिरिच्यते क्रि० । तत्र अ० । संजायते  
क्रि० । मनः १ ॥ ६ ॥

अन्वितपदार्थः-(यत्र) यस्मिन् मूलाधारप्रदेशेऽग्निसगडले (अग्निः) शरीर-  
स्य विद्युत्तरयम् (अभिमथ्यते) मूलबीजेन क्षोभ्यते, (वायुः) प्राणादिसंज्ञः (यत्र)  
सुषुम्नायाम् (अभिरुध्यते) निरुद्धः क्रियते, (यत्र) यस्मिन्द्वादशान्तप्रदेशे (सोमः)  
शरीरस्य चन्द्रसगडलम् (अतिरिच्यते) अतिशयेन रिच्यतेऽर्थाद्यत्र सुषुम्नायामामू-  
लाधारादमृतं स्रवद्भाव्यते (तत्र) तस्मिन् मूलाधारे (मनः) (संजायते) स्थिरं भवति ॥



भा०—(यत्र) जहां (अग्निः) अग्नि (अभिमश्यते) मया वा सुलगाया जाता है (यत्र) जहां (वायुः) वायु (अधिरुध्यते) रोका जाता है, (यत्र) जहां (समोः) अमृत (अतिरिष्यते) अतिशय से होता है। (तत्र) वहां (मनः) मन (संजायते) स्थिरताको लाभ करता है ॥

योगी लोग जानते हैं कि देह में मूलाधार एक स्थान है वहां प्राण रोका जाता है, वहीं ज्ञानम अग्नि उस प्राण वायु की सहायता से धोंक कर सुलगाया जाता है, वहीं मूलाधार से सुषुम्ना नाड़ी तक अमृत टपकने के सा आनन्द प्रतीत होता है, वहीं मनः ठहर जाता है ॥ ६ ॥

तत्र मनोनिरोधं कृत्वा किं कुर्यादित्याह—

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम् ।

तत्र योनिं कृण्वसे न हि ते पूर्वमक्षिपत् ॥ ७ ॥

पदपाठः—सवित्रा ३। प्रसवेन ३। जुषेत क्रि०। ब्रह्म २। पूर्व्यम् २। तत्र अ०। योनिम् २। कृण्वसे क्रि०। न अ०। हि अ०। तेऽपूर्वम् १। अक्षिपत् क्रि० ॥७॥

अन्वितपदार्थः—तदानीं योगी (सवित्रा) द्वादशान्तस्थितया सूर्य्यकलया (प्रसवेन) सोममण्डलात्सुषुम्नायां प्रसूतेनाऽमृतेनाऽधिकारी (पूर्व्यम्) सनातनम् (ब्रह्म) (जुषेत) सेवेत (तत्र) पूर्वोक्तमूलाधारदेशे (योनिम्) ब्रह्मानन्दानुभवोत्पत्तिस्थानम् (कृण्वसे) कुरुष्व (ते) तवोपासकस्य (पूर्वम्) शुभानुष्ठानम् (न, हि) नैव (अक्षिपत्) संसरणहेतुकं भवेत् ॥

भा०—वहां मन को रोककर फिर क्या करे यह कहते हैं योगी पुरुष तब (सवित्रा) सूर्य से (प्रसवेन) प्रसूत अमृत से (पूर्व्यम्) सनातन (ब्रह्म) (जुषेत) सेवन करे। (तत्र) वहां (योनिम्) उत्पत्तिस्थान को (कृण्वसे) करतू (ते) तेरा (पूर्वम्) कर्मानुष्ठान (न, हि) नहीं (अक्षिपत्) संसारहेतु होवे ॥

अर्थात् मूलाधार और सुषुम्ना के जोड़ पर शारीरिक सूर्य चन्द्र की इकट्ठा करके ब्रह्म को सेवन करे। जो ब्रह्म सनातन है। और ऐसा करने से तेरा कर्मानुष्ठान भी जन्मादिकारक न होगा ॥ ७ ॥

योगिना कथं शरीरं स्थापनीयं कोवाऽऽसनप्रकार इत्याह—



त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।  
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥ ८ ॥

पदपाठः—त्रिरुन्नतम् २ । स्थाप्य अ० । समम् २ । शरीरम् २ । हृदि ७ ।  
इन्द्रियाणि २ । मनसा ३ । संनिवेश्य अ० । ब्रह्मोडुपेन ३ । प्रतरेत क्रि० ।  
विद्वान् १ । स्रोतांसि २ । सर्वाणि २ । भयावहानि २ ॥ ८ ॥

अन्वितपदार्थः—( विद्वान् ) ज्ञानवान् योगी ( शरीरम् ) देहम् ( त्रिरुन्न-  
तम् ) त्रीण्युरोग्रीवाशिरांसि उन्नतानि यत्र तत् सुजयोर्विवक्षितः । ( समम् )  
ऋजु ( स्थाप्य ) ( इन्द्रियाणि ) प्रसिद्धानि ( मनसा ) इन्द्रियाश्चग्रहेण  
( हृदि ) हृत्कमले मांसखण्डे पञ्चचिह्ने ( संनिवेश्य ) सम्यङ्निवेशितानि  
कृत्वा ( ब्रह्मोडुपेन ) ब्रह्मणा तद्वाचकेन प्रणवेन तदर्थभावनैर्बोडुपेन तरण  
साधनीभूतेन ( सर्वाणि ) निखिलानि ( भयावहानि ) दुःखबहुलत्वेन भयङ्क-  
राणि ( स्रोतांसि ) संसारसागरमनुबहन्ति प्रवाहजातानि ( प्रतरेत ) ॥

“युञ्जान” इत्यारम्भ्याक्षिपदित्यन्तैर्नसोनिग्रहः परमपुरुषार्थसाधनमित्यु-  
क्तम् । परन्तु विनोपायं स हि दुष्कर इति मत्वोपायमत्र वगर्यते । यथा  
नद्यादिजलाशयं तितीर्षुणा समाहितेन भूत्वा, सम्यक् सन्नह्य, कौपीनतदुप-  
रिगतवस्त्रवेष्टनादिनात्मनस्तत्रतत्रापत्स्यमानग्राहादिग्रहकृतविघ्ननिवारणक्ष-  
मत्वं सम्पाद्य नौकादिना पारं गम्यते । तथैव भयावहसंसारनदीप्रवाहमु-  
ल्लङ्घ्य परं ब्रह्माधिजिगमिषुणा योगिनापि प्रबन्धः कार्यः । यथा—जलाशयति-  
तीर्षुः शैथिल्यं शैथिल्यहेतुकं वस्त्रवेष्टादिकं च त्यजति तथैव योगिनापि समं  
त्रिरुन्नतं सरलं निरालस्यं तत्तदिन्द्रियविषयाभिमुखप्रवाहकृतविक्षेपशैथिल्य-  
विषर्जितं शरीरं स्थापनीयम् । तदानीं च विषयाद्याशानात्मनदी ब्रह्मोडुपेन  
प्रणवप्लवेन तरीतव्या । यथाचास्यानद्यावर्णनं केनचिदुक्तम्—

आशा नाम नदी मनोरयजला, तृष्णा तरङ्गाकुला ।

रागग्राहवती वितर्कविहगा, धैर्यद्रुमध्वंसिनी ॥

मोहावर्तसुदुस्तराजतिगहना, प्रोत्तुङ्गचिन्तातटी ।

तस्याः पारगताविशुद्धमनसो, नन्दन्ति योगीश्वराः ॥ १ ॥

भा०—योगी को शरीर किस प्रकार रखना चाहिये वा आसनादि का  
प्रकार क्या है, यह कहते हैं ॥



( विद्वान् ) ज्ञानी ( शरीरम् ) देह को ( त्रिसन्ततम् ) तीन जं चाईवाला ( ससन् ) सूधा ( स्याप्य ) रखकर, ( इन्द्रियाणि ) इन्द्रियोंको ( मनसा ) मन से ( हृदि ) हृदय में ( संनिवेश्य ) संनिविष्ट करके, ( ब्रह्मोदुपेन ) ब्रह्म रूपी डोंगे से ( भयावहानि ) भयङ्कर ( सर्वाणि ) सब ( स्तोतांसि ) प्रवाहों को ( प्रतरेत ) पार होवे ॥

“ युज्जानः ” से लेकर “ अक्षिपत् ” पर्यन्त “ मन का निग्रह परम पुरुषार्थ साधन है ” यह कहा परन्तु विना उपाय के वह कैसे होसका है इसलिये उपाय बताते हैं कि—योगी को आसन ऐसा लगाना चाहिये जिस से देह के तीन भाग शिर ग्रीवा और छाती उभरी रहे, सीधा शरीर रहे, नौहरा न हो । जैसे नदी आदि के पार होने की इच्छावाला पुरुष सन्मदु होता है और कौपीन तथा लंगोट आदि कसता है जिस से प्रवाह में पहुँचने पर ग्राहादि मिलें और विघ्न करें तो उन २ विघ्नों का निवारण कर सके । नदी पार जाने वाला जैसे धोती आदि शिथिलता के हेतुओं को संग्रह कर बांध लेता है तब डोंगे पर सवार होकर नदी के पार जाता है । वैसे ही भयानक संसारसागर में गिरानेवाली आशा तृष्णा वासनादि नदी और स्तोतों से पार होकर परब्रह्म को प्राप्त होने की इच्छावाला योगी भी शरीर को समाहित रखे, इन्द्रियों की विषयप्रवाह में वहने वाली ओर से मनरूपी प्रग्रह ( लगाम ) से रोककर हृदय में निवेशित करे, ब्रह्म अर्थात् ओङ्कार और उस के अर्थ की भावनारूप डोंगे के सहारे संसारस्त्रोत के पार होवे । किसी कविने इस नदी का वर्णन इस प्रकार किया है कि—“ आशा नाम नदी० ” इत्यादि श्लोक संस्कृत भाष्य में देखिये जिस का अर्थ यह है कि—“ आशा नाम एक भारी नदी है, जिस में मनोरथ रूप जल वहता है, तृष्णारूप तरङ्ग उठती हैं, राग रूप ग्राह हैं, कुतर्क रूप पक्षी उड़ते हैं, धैर्य रूप वृक्ष को जड़ से उखाड़ती है, मोह रूप भंवर पड़ते हैं, बहुत गहरी है, जिस के चिन्ता रूप ऊँचे किनारे हैं, उस के पार जाकर योगीश्वर आनन्द पाते हैं ” ॥ ८ ॥

आसनानन्तरं प्राणायाममाह—

~~~~~

प्राणान्प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत ।

दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः ॥ ९ ॥

~~~~~



पदपाठः-प्राणान् २ । प्रपीड्य अ० । इह अ० । संयुक्तचेष्टः १ । क्षीणे ७ ।  
प्राणे ७ । नासिकया ३ । उच्छ्वसीत क्रि० । दुष्टाश्वयुक्तमिव अ० । बाहम् २ ।  
एनम् २ । विद्वान् १ । मनः २ । धारयेत् क्रि० । अप्रमत्तः १ ॥ ९ ॥

अन्वितपदार्थः- (विद्वान्) गुरुतोऽधीतयोगविद्याः (इह) अस्मिन्योगारम्भे  
(प्राणान्) वायुविशेषान् (प्रपीड्य) निरुद्ध्वा (संयुक्तचेष्टः) समीचीना युक्ता जीवन-  
मात्रोपयोगिनी योगार्था चेष्टा यस्य सः (प्राणे) वायुविशेषे शरीरधारके  
जीवनमूले (क्षीणे) निर्बले जाते सति (नासिकया) नासापुटेन (उच्छ्वसीत) बहि-  
र्निरस्येत् । इदया प्राणं गृहीत्वा यथाशक्ति निरुद्ध्वा सति निर्बले पिङ्गलया ब-  
हिर्निरस्येत् पिङ्गलया गृहीत्वेदया निरस्येत् । एवमेव पुनः पुनरभ्यस्येत् । (दु-  
ष्टाश्वयुक्तम्) प्रमाथीन्द्रियाश्वयुक्तम् (बाहम्) बाहनम् (इव) (एनम्) पूर्वोक्तम्  
प्राणम् (अप्रमत्तः) प्रमादरहितः (धारयेत्) (मनः) तत्प्रग्रहभूतं मनश्च सार-  
थिभूतयाधिया धारयेत् । प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्येति योगशास्त्रे  
( १ । ३४ ) अपि तदेवोक्तम् ॥

भा०-आसन के पश्चात् प्राणायाम कहते हैं- ( अप्रमत्तः ) प्रमादरहित  
(विद्वान्) योगविद्या में निपुण (इह) इस योगाभ्यास में (प्राणान्) प्राणादि  
वायुओं को (प्रपीड्य) खेंच और रोक कर (संयुक्तचेष्टः) अच्छी युक्त की है चेष्टा  
जिसने ऐसा योगी (प्राणे) प्राण के (क्षीणे) निर्बल प्रतीत होने पर (नासिकया)  
नाक से (उच्छ्वसीत) शनैः बाहर निकाल दे । (दुष्टाश्वयुक्तम्) बिगड़ेल घोड़े  
जुते हुवे (बाहम्) रथ के (इव) समान (एनम्) इस प्राण को और (मनः) मन  
को (धारयेत्) धारण करे ॥

तात्पर्य यह है कि योगी को युक्तचेष्टा वाला अर्थात् जीवनमात्र के  
उपयोगी अल्प व्यवहार चेष्टा वाला और अप्रमत्त-प्रमादरहित तथा विद्वान्  
होना चाहिये । और अभ्यास के समय प्राण को खेंचना चाहिये परन्तु जब  
प्राण खेंचा रहने में असमर्थ क्षीण जान पड़े तब नासापुट से बाहर निकाल  
दे । इस प्रकार बार-बार इडा से खेंच पिङ्गला से बाहर फेंके, पिङ्गला से खेंचकर  
इडा से बाहर फेंका करे । इस प्रकार मन और प्राण को बुद्धिरूप सारथि के  
द्वारा स्थिर करावे ॥९॥

किंभूते देशेभ्यस्येदित्याह-

समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलश्रयादिभिः ।

मनोऽनुकूले न तु चक्षुषीदने गुहानिवाताश्रयणे प्रयो जयेत् ॥ १० ॥



पदपाठः—समे ७ । शुचौ ७ । शर्करावह्निबालुकाविवर्जिते ७ । शब्दज-  
लाश्रयादिभिः ३ । मनोऽनुकूले ७ । न अ० । तु अ० । चक्षुपीडने ७ । गुहा-  
निवाताश्रयणे ७ । प्रयोजयेत् क्रि० ॥ १० ॥

अन्वितपदार्थः—योगी ( समे ) गर्तादिरहिते ( शुचौ ) पवित्रे दुर्गन्धादिर-  
हिते ( शर्करावह्निबालुकाविवर्जिते ) शर्करया वह्निना बालुकाया च रहिते । शर्करा  
वह्निबालुकाहि वायुनेरिताः विघ्नदा यथा न स्युस्तथा । ( शब्दजलाश्रयादिभिः )  
एतैरपि विवर्जिते । शब्दोजनरवादिः जलाश्रयोऽतिशीतलप्रदेशः आदिशब्देन  
सर्पकाद्याश्रयश्च तैरहिते ( मनोऽनुकूले ) मनसः प्रसन्नतासम्पादकेदर्शनीये  
( न तु चक्षुपीडने ) यद्यपि दर्शनीये तथापि न चक्षुषोः पीडाकरे । विसर्गलोप  
आर्षः । ( गुहानिवाताश्रयणे ) गुहा एकान्तं, निवातश्चाश्रयणं यत्र तथाभूते देशे  
( प्रयोजयेत् ) आत्मानं परमात्मनि युक्तं कुर्यात् ॥ १० ॥

भा०—योग कैसे स्थान में करे यह कहते हैं—पूर्वोक्त योगी ( समे ) चौरस  
( शुचौ ) पवित्र ( शर्करावह्निबालुकाविवर्जिते ) बजरी अग्नि बालू से रहित  
( शब्दजलाश्रयादिभिः ) शब्द और सिलाबी आदि से रहित ( मनोऽनुकूले )  
मन की भावते ( न तु चक्षुपीडने ) आखों की दुःख न देने वाले ( गुहा-  
निवाताश्रयणे ) एकान्त और वायु के भीकों से रहित देश में ( प्रयोजयेत् )  
योग करे ॥

अर्थात् ऐसा स्थान हो जहां ऊंचा नीचा न हो, दुर्गन्ध न हो, पत्थर  
की बजरी चुभती न हो, अग्नि का ताप न हो, बालू उड़कर देह में न लगता  
हो, क्रूर वा ऊंचा शब्द न सुनाई पड़े, जल की सील न हो, और ( आदि  
शब्द से ) सर्प भेड़िये आदि का स्थान भी न हो, देखने में आखों की बुरी लगने  
वाली कोई वस्तु सामने न हो, एकान्त हो, वायु प्रबल न चलता हो, ऐसे  
मनके अनुकूल देश में योगाभ्यास करना चाहिये ॥ १० ॥

इदानीं योगिन इतरजनवैलक्षण्यमाह चतुर्भिः—

~~~~~

नीहारधूमाकारानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ।

एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥ ११ ॥

~~~~~

पदपाठः—नीहारधूमाकारानिलानलानाम् ६ । खद्योतविद्युत्स्फटिकशशी-  
नाम् ६ । एतानि १ । रूपाणि १ । पुरःसराणि १ । ब्रह्मणि ७ । अभिव्यक्ति-  
कराणि १ । योगे ७ ॥ ११ ॥



अन्वितपदार्थः—( योगे ) योगविधौ ( एतानि ) गणयमानानि ( रूपाणि ) ( ब्रह्मणि ) परमात्मनि ( अभिव्यक्तिकराणि ) पूर्वरूपाणि भवन्ति तान्याह ( नीहारधूमाकारानिलानलानाम् ) नीहारस्य कुहरस्य, धूसस्य, अर्कस्य सूर्यस्य, अनिलस्य वायोः, अनलस्याग्नेश्चेति तेषाम् ( खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ) खद्योतस्य, विद्युतः, स्फटिकस्य, शशिनश्चन्द्रसश्चेति तेषाम् । शशीनामिति दीर्घनिर्देशआर्षः । एतानि रूपाणि योगं कुर्वाणस्य ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि ब्रह्मसाक्षात्कारतः पूर्वं भवन्ति ॥ ब्रह्मणोऽनन्तज्योतिःसाक्षात्कारतः पूर्वं “ तमेव भान्तमनुभाति सर्वम् ” मित्युक्तत्वात् तत्प्रकाशानुप्रकाशितार्कादिज्योतीषि प्रकटीभवन्ति ॥ ११ ॥

भा०—अब ४ श्लोकों से यह कहते हैं कि साधन करते हुये योगी में साधारण मनुष्यों की अपेक्षा से विलक्षणता वा विशेष क्या २ होता जाता है—

( योगे ) योग करते समय ( नीहारधूमाकारानिलाऽनलानाम् ) कुहर, धूस, सूर्य, वायु, अग्नि, ( खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ) पटबीजना वा जुगनू, बिजुली, स्फटिक पाषाणविशेष और चन्द्रमा इनके ( एतानि ) ये ( रूपाणि ) रूप ( पुरस्तराणि ) आगे से ( ब्रह्मणि, अभिव्यक्तिकराणि ) ब्रह्म का साक्षात्कार करानेवाले होते हैं । तात्पर्य यह है कि “ तमेव भान्तमनुभाति सर्वम् ” इस प्रमाण के अनुसार सूर्यादि की ज्योतियों में भी परमात्मा के अनुग्रह से प्रकाश है अर्थात् परमात्मा के प्रकाश से वे प्रकाशित हो रहे हैं, सो ब्रह्मज्योति के प्रकट होने से पूर्व ये ज्योतियां योगी को प्रकट होती हैं ॥ ११ ॥

पृथ्व्यप्तेजोनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥ १२ ॥

पदपाठः—पृथ्व्यप्तेजोनिलखे ७ । समुत्थिते ७ । पञ्चात्मके ७ । योगगुणे ७ । प्रवृत्ते ७ । न अ० । तस्य ६ । रोगः १ । न अ० । जरा १ । न अ० । मृत्युः १ । प्राप्तस्य ६ । योगाग्निमयम् २ । शरीरम् २ ॥ १२ ॥

अन्वितपदार्थः—( पञ्चात्मके ) पञ्चमहाभूतमये । तदेव विवृणोति ( पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे ) पृथ्वी चापश्च तेजश्चाऽनिलश्च खं च तेषां समाहारस्तस्मिन् ( समुत्थिते ) विजिते ( योगगुणे ) योगस्याऽष्टाङ्गभूतस्य गुणो विषयानासक्त्या दिस्तत्र ( प्रवृत्ते ) प्रवृत्तिकुर्वति सति ( तस्य ) पञ्चभूतविजयिनो योगिनः सिद्धस्य ( न, रोगः ) शरीरसि-



रोगातिसारज्वरादिर्न (न, जरा) शरीरवैरूप्यसम्पादिनी पलितादिलक्षणावृद्धा-  
वस्थाऽपि न (न, दुःखम्) दृष्टवियोगादनिष्टप्राप्तेष्व प्रतिफलवेदनीयं बाधनाल-  
क्षणं दुःखं च न भवति । न मृत्युरिति पाठेऽवान्तरमृत्युर्नैतिव्याख्येयम् । किम्भू-  
तस्य तस्य (योगाग्निमयं, शरीरं, प्राप्तस्य) यथासुवर्णसमन्वौक्षिप्तमग्निरिवभाति  
तथैवयोगतेजसिसम्प्राप्ते विनाशिपाञ्चभौतिकमपिशरीरं योगाग्निमयंभवति, तत्,  
प्राप्तस्य योगिनः ॥

अत्र “योगगुणे” इतिपदव्याख्यानं कुर्वता शङ्करानन्देनाद्वैतिना “योग-  
स्याष्टाङ्गयुक्तस्य सोहमस्मीतिज्ञानफलस्य” इत्युक्तं तत्स्पष्टमूलम् । विज्ञान-  
भगवता च “योगाग्निमयं शरीरं प्राप्तस्य” इत्यस्य व्याख्यायाम् “तदहमस्ती  
त्यभिमन्तुरुक्तफलं सिध्यति” इत्यपि निर्मूलमेवोक्तम् ॥१२॥

भा०(पञ्चात्मके) पञ्चतत्त्व से बने अर्थात् (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश) के समाहार देह के (समुत्थिते) विजयप्राप्त करने वा वशीकृत होने पर और (योगगुणे) योग का फल (प्रवृत्ते) प्रवृत्त होने पर (योगाग्निमयं शरीरं, प्राप्तस्य) योग के तेजोमय, शरीर को, प्राप्त हुवे (तस्य) उस योगी को (न, रोगः) न, रोग हो (न, जरा) न, बुढ़ापा हो (न, दुःखम्) न, दुःख होता है ॥ अर्थात् जब योगी पञ्चभूत का विजय कर लेता है तौ उस अष्टाङ्गयोगयुक्त पुरुष को ज्वर अतीसार पीडा आदि रोग नहीं होते, शरीर को विरूप करने वाला बालों को पकाकर गिराने वाला बुढ़ापा नहीं आता, दृष्टान्निष्ट से पृथक् हो जाता है इसलिये वाञ्छित के अलाभ और अवाञ्छित के लाभ से होने वाला प्रतिकूल बुरा लगने वाला कोई दुःख भी नहीं सताता, किसी २ पुस्तक में “दुःखम्” के स्थान में “मृत्युः” पाठ है इस की व्याख्या यह समझनी चाहिये कि अकालमृत्यु भी योगीको नहीं सताता । योगाग्निमयशरीर बन जाता है । जैसे सुवर्ण को अग्नि में डाल दो तौ सुवर्ण रहता तौ है नष्ट तौ नहीं होता परन्तु अग्नि की ज्योति उस सुवर्ण में व्याप जाती है और उसे कोई डरके सारे नहीं छूता इसी प्रकार योगी ने जो अपने आत्मा को परमात्मा के ध्यान में लगाकर ज्योति और अपूर्व तेज प्राप्त कर लिया अब डरके सारे रोगादि उस से दूर रहते हैं । “योगाग्निमयं शरीरम्” के अर्थ में विज्ञानभगवत् ने जो यह अर्थ किया है कि “मैं नहीं हूँ ऐसा मानने वाले को उक्त फल सिद्ध हो जाता है” सो मूल में इस के लिये कोई पद न होनेसे निर्मूल है । और शङ्करानन्द ने अपनी टीका में अद्वैतपक्षपात से “योगगुणे” के अर्थ में “मैं नहीं हूँ” इत्यादि भी निर्मूल ही लिखा है ॥१२॥



लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्टवं च । गन्धः

शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥ १३ ॥

पदपाठः—लघुत्वम् २ । आरोग्यम् २ । अलोलुपत्वम् २ । वर्णप्रसादम् २ । स्वरसौष्टवम् २ । च अ० । गन्धः १ । शुभः १ । मूत्रपुरीषम् २ । अल्पम् २ । योगप्रवृत्तिम् २ । प्रथमाम् २ । वदन्ति क्रि० ॥ १३ ॥

अन्वितपदार्थः—(लघुत्वम्) देहस्याऽगौरवम् (आरोग्यम्) रोगराहित्यम् (अलोलुपत्वम्) विषयलाम्पत्याऽभावम् (वर्णप्रसादम्) मुखाद्याकृतिसौकुमार्यम् (स्वरसौष्टवम्) स्वरस्य सुष्ठुतांस्त्रिग्व्यताम् (शुभः गन्धः) शुभगन्धमिति वक्तव्ये विभक्तिव्यत्ययः । (अल्पं मूत्रपुरीषम्) प्रस्त्रावपुरीषयोरल्पत्वम् (च) च शब्देन वैरत्यागादिकं च (प्रथमाम्) आदौभवाम् (योगप्रवृत्तिम्) तत्फलम् (वदन्ति) तदाचार्या इति शेषः ॥ १३ ॥

भा०—(लघुत्वम्) देह का हलकापन (आरोग्यम्) रोगरहित होना (अलोलुपत्वम्) निर्लोभपना (वर्णप्रसादम्) आकृति की प्रसन्नता (स्वरसौष्टवम्) स्वर का सुधुर होना (शुभः, गन्धः) अच्छा गन्ध (अल्पम्) थोड़ा (मूत्रपुरीषम्) मूत्र और विष्टा (च) और वैरत्यागादि चिह्न को (प्रथमाम्) प्रथम (योगप्रवृत्तिम्) योग की प्रवृत्ति (वदन्ति) [योग के आचार्य] कहते हैं ॥

तात्पर्य यह है कि योगी के यह चिह्न हैं कि देह हलका, नीरोग, निर्लोभ, सुन्दर, सुधुरगम्भीर ध्वनि, सुगन्धि, और मूत्र विष्टा जिस को थोड़े हों तौ जानो कि यह पुरुष योग और ध्यान में परिपक्व होता जाता है ॥ १३ ॥

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम् ।

तद्वाऽऽत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः १४

पदपाठः—यथा अ० । एव अ० । बिम्बम् १ । मृदया ३ । उपलिप्तम् १ । तेजोमयम् १ । भ्राजते क्रि० । तद् १ । सुधान्तम् १ । तत् १ । वा अ० । आत्मतत्त्वम् २ । प्रसमीक्ष्य, अ० । देही १ । एकः १ । भवते क्रि० । वीतशोकः १ । १४ ॥

अन्वितपदार्थः—(यथैव) (बिम्बम्) सौवर्णादि (मृदया) मृदा (उपलिप्तम्) मालिन्यं प्रापितं यत् (तत्) तदेव पुनः (सुधान्तम्) सुष्ठु



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar



(युक्तः) सिद्धयोगः (यदा) यस्मिन्काले (दीपोपमेन) दीप उपमा यस्य तेन । यथा दीपोऽल्पप्रकाशस्तथाऽल्पज्ञेन (आत्मतत्त्वेन) आत्मना साधनेन नत्विन्द्रियादिवाह्यसाधनैः (ब्रह्मतत्त्वम्) (प्रपश्येत्) (इह) तदा (अजम्) जन्मरहितम् (ध्रुवम्) निश्चलं कूटस्थम् (सर्वतत्त्वैः, विशुद्धम्) सर्वतत्त्वैः अधोऽधिकं विशुद्धं न ततोऽधिकं किञ्चिदपि शुद्धमस्ति । (देवम्) परमात्मानम् (ज्ञात्वा) (सर्वपाशैः) सर्वबन्धैः (मुच्यते) ॥

जीवात्माऽऽत्मतत्त्वैनैव ब्रह्मतत्त्वं प्रपश्येत् । अतीन्द्रियत्वादिन्द्रियैर्विषयीकर्तुं नशक्यत्वाद् ब्रह्मणः । स्वयं जीवात्मा दीपसमोऽल्पप्रकाशोऽल्पज्ञः । जीवात्मा देहसम्बन्धेन सजन्मा, स चाऽजः । जीवात्मा गतिमान्, स च ध्रुवो निश्चलः इत्यपि विशेषणैः स्पष्टीकृतं वेद्यम् ॥ १५ ॥

भा०-पूर्व ४ श्लोकों से योगी की विलक्षणता कही, अब यह कहते हैं कि वह किस गति को प्राप्त होता है-

(युक्तः) सिद्ध योगी (यदा) जब (दीपोपमेन) दीपक के समान (आत्मतत्त्वेन) अपने (स्वरूप) से (ब्रह्मतत्त्वम्) परमात्मा को (प्रपश्येत्) देखे (इह) तब (अजम्) अजन्मा (ध्रुवम्) निश्चल (सर्वतत्त्वैर्विशुद्धम्) सब से अधिक पवित्र (देवम्) परमात्मा को (ज्ञात्वा) जान कर (सर्वपाशैः) सब बन्धनों से (मुच्यते) छूट जाता है ॥

त्रात्पर्य्य यह है कि तब जीवात्मा मोक्षधाम को प्राप्त हो जाता है जब कि यह अपने स्वरूप से परमेश्वर के स्वरूप को देखता है । "अपने स्वरूप से" यह इस लिये कहा है कि वह आंख आदि किसी इन्द्रिय से नहीं देखा जाता जीवात्मा से ही देखा जाता है । इसके बन्धन क्यों कूट जाते हैं इसलिये कि परमात्मा के प्रसाद से । वह अज है इसका भी योन्यन्तरों और जन्मान्तरों का भागना दौड़ना छूट जाता है । वह पवित्र है इस के भी मल छूट जाते हैं ॥ १५ ॥

उक्तमजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं परमात्मानं द्वाभ्यां विशिष्य नमस्कृत्य चाऽध्यायं समापयति-

एष ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वो ह जातः सउ गर्भे अन्तः । स एव जातः सजनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥ १६ ॥



पदपाठः—एषः १ । ह० अ० । देवः १ । प्रदिशः २ । अनु अ० । सर्वाः २ । पूर्वः १ । ह अ० । जातः १ । सः १ । उ अ० । गर्भे ७ । अन्तः अ० । सः १ । एव अ० । जातः १ । सः १ । जनिष्यमाणः १ । प्रत्यङ् १ । जनान् २ । तिष्ठति क्रि० । सर्वतोमुखः १ ॥ १६ ॥

अन्वितपदार्थः—पूर्वमज्ञानसमयेऽविज्ञातं परमात्मानमाविर्भूतज्ञानचक्षुष्को योगी साक्षात् दृष्ट्वाऽह ( एषः, ह, देवः ) पूर्वमविज्ञातोऽयमेवास्ति ( पूर्वो, ह, जातः ) पूर्वमपि प्रसिद्धः ( सः, उ, अन्तः, गर्भे ) स, एव, अन्तर्यामितया सर्वस्यान्तर्निविष्टः ( स, एव, जातः ) स एव भूतकालवर्ती ( सः, जनिष्यमाणः ) स एव भविष्यत्कालवर्ती । वर्तमानस्य भूतभविष्यतोरन्तर्गतत्वात् नोल्लेखः । ( सर्वतोमुखः ) सर्वदृष्टा न कस्माच्चिदपि पराङ्मुखः ( सर्वाः ) समस्ताः ( प्रदिशः ) दिशोऽन्तरालदिशश्च ( जनान् ) उत्पत्तिमतः पदार्थान् ( अनु ) व्याप्य । अन्वितिकर्मप्रववनीयस्य योगे जनानिति प्रदिशः इति च द्वितीया । ( प्रत्यङ् ) अतीन्द्रियत्वेन ( तिष्ठति ) वर्तते ॥

योगी परमात्मानं साक्षात्कृत्य मुक्तिमवाप्नोति—एष एव स देवः यं प्राप्नुयान् स याऽनुष्ठितो योगः । एष भूतभव्यवर्ती । एष सर्वव्यापकोऽपि न सर्वैर्दृश्यते निराकारत्वात् प्रत्यक्स्थितत्वात् ॥ १६ ॥

भा०—पूर्व श्लोक में अज भ्रुव आदि विशेषणविशिष्ट परमात्मा को अज्ञान समय में न जानने वाला फिर ज्ञान होने से योगद्वारा जान कर परमात्मा को साक्षात् करता हुआ कहता है कि—( एष ) यह ( ह ) ही ( देवः ) देव है ( पूर्वः, ह, जातः ) जो पहले, ही, वर्तमान है । ( सः ) वह ( उ ) ही ( गर्भे ) अदृश्यस्थान में ( अन्तः ) भीतर व्यापक है । ( सः, एव, जातः ) वह, ही, भूतकाल में था ( सः, जनिष्यमाणः, ) वही, भविष्यत् में होगा ( सर्वतोमुखः ) वह सब ओर देखता है ( जनान् ) उत्पत्ति वाले पदार्थों में ( सर्वाः ) समस्त ( प्रदिशः ) दिशाओं में ( अनु ) व्यापकर ( प्रत्यङ् ) अप्रत्यक्षभाव से ( तिष्ठति ) वर्तमान है ॥

अर्थात् जिस योगी ने योगाभ्यास और परमात्मा के साक्षात्कार से पूर्व कभी उस परमात्मा को देख पाया था अब आत्मा से देखकर आश्चर्य से कहता है कि अहा ! यही देव है जो सर्व दिशा विदिशाओं में वर्तमान है, यही जो मेरे जानने के पूर्व भी था, यही है जो भूत और भविष्यत् दोनों कालों में एकरस है, यही है जो सब के भीतर अन्तर्यामी होकर छिपा हुआ है । “ प्रत्यङ् ” इन्द्रियों से नहीं जाना जाता था । इसको देखकर अगले श्लोक में



यह मुक्त जीव उस परमात्मा को स्तुति करके नमस्कार करता है ॥१६॥

मुक्तिमापन्नो जीवात्मा तावदानन्देन परमात्मानं स्तुत्वा नमस्करोति-इत्याह-

यो देवो अग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश ।

य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥ १७ ॥

इति श्वेताश्वतरोपनिषदि द्वितीयोऽध्यायः॥२॥

पदपाठः-यः १ । देवः १ । अग्नौ ७ । यः १ । अप्सु ७ । विश्वम् २ । भुवनम् २ । आविवेश क्ति० । यः १ । ओषधीषु ७ । यः १ । वनस्पतिषु ७ । तस्मै ४ । देवाय ४ । नमः अ० । नमः अ० ॥१७॥

अन्वितपदार्थः-हे परमात्मन् ! (यः) भवान् (अग्नौ) वह्निदेवस्यापि प्रकाशकत्वेन तत्रापि स्थितः (यः) (अप्सु) जले (यः) (ओषधीषु) यवादिषु (यः) (वनस्पतिषु) वटादिषु । किंस्वहुना (यः) (विश्वं, भुवनम्,) (आविवेश) (तस्मै, देवाय,) (नमो नमः) वारं वारं नमोस्तु ॥

इति तुलसीरामस्वामिकृतेश्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्ये योगविषयको  
द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

भा०-मुक्ति पाय आनन्दित हो जीवात्मा हर्ष के सारे स्तुति करने लगता है और कहता है कि-हे परमात्मन् ! (यः) जो आप (अग्नौ) अग्नि में, (यः) जो आप (अप्सु) जल में, (यः) जो आप (ओषधीषु) जौ आदि में, (यः) जो आप (वनस्पतिषु) वट आदि में (यः) जो आप (विश्वम्) सब (भुवनम्) जगत् में (आविवेश) व्यापक होके स्थित हैं (तस्मै) उन आप (देवाय) दिव्य-स्वरूप को (नमोनमः) वारंवार नमस्कार है ॥

अर्थात् अग्नि जल ओषधि वनस्पति और कहां तक गिनावें सारे जगत् में व्यापक हैं भगवन् ! आप को अनेकशः नमस्कार हैं । धन्य हो ! प्रभो ! धन्य हो ॥

यह तुलसीरामस्वामिकृत श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्य में योगविषयक

द्वितीय अध्याय पूरा हुआ ॥२॥

अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

अथास्मिंस्त्वृतीयेऽध्याये मुक्तात्मना परमानन्दसन्दोहभाजा परमानन्द-प्रदाता परमात्मोपनिषद्वाक्यैः कुत्रचित् वेदमन्त्रैश्च स्तूयते-



य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वाल्लोकानीशत ईशनीभिः ।  
य एवैक उद्भवे संभवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥१॥

पदपाठः—यः १ । एकः १ । जालवान् १ । ईशते १ । क्रि० । ईशनीभिः ३ ।  
सर्वान् २ । लोकान् २ । ईशते क्रि० । ईशनीभिः ३ । यः १ । एव अ० । एकः १ ।  
उद्भवे ३ । संभवे ३ । च अ० । यः १ । एतद् २ । विदुः क्रि० । अमृताः १ ।  
ते १ । भवन्ति क्रि० ॥ १ ॥

अन्वितपदार्थः—(यः) (एकः) अद्वितीयः (जालवान्) यत्र जन्तवो बन्धमा-  
प्नुवन्ति तज्जालमित्युच्यते । परमात्मव्यवस्थायां चापि यथाकर्म यथाश्रुतं जन्तवो  
स्थानुष्ठितकर्मफलभोगाय बद्धा ईशतन्त्रा भवन्ति । सा व्यवस्थैव जालमिव कर्मा-  
नुसारिबन्धनसाधनीभूताऽस्यास्तीति जालवान् (ईशनीभिः) ईशयत आभि-  
रिति ईशन्यः परमात्मशक्तयस्ताभिः । करणाधिकारणयोश्च । (३।३।१११७) इति  
त्युट् । टित्त्वात्—टिङ्ढाणञ् ( । । ) इतिङीप् । ( ईशते ) ईष्टे स्वाय-  
त्तीकरोति । बहुलं बृन्दसि (२।४।३९) इति शपो लुगभावः । ईश धातोः कर्म-  
विवक्षायामाह (सर्वान्) सभस्तान् (लोकान्) पृथिव्यादीन् (ईशनीभिः,  
ईशते) पुनर्वचनं कर्मविनिवेशार्थम् । (यः) (एकः, एव) अद्वितीय, एव (उद्भवे)  
सृष्टौ (संभवे) प्रलये (च) अर्थात् योऽसहाय एव जगदुत्पादयति नाशयति न  
हि तेन कस्यचित्साहाय्यमपेक्ष्यते । (ये) ज्ञानिनः (एतत्) उक्तं परं ब्रह्म  
(विदुः) जानन्ति (ते, अमृताः, भवन्ति) ॥ इदमुक्तं भवति—स्थितौ जन्ममरण-  
योश्च स एव सर्वस्येशितेति ॥ १ ॥

भा०—अब इस तीसरे अध्याय में, परमानन्द को प्राप्त हुआ मुक्त पुरुष,  
परमानन्द के दाता परमात्मा की स्तुति करता है—(यः) जो (एकः) अद्वितीय  
(जालवान्) जालवाला (ईशनीभिः) अपनी शक्तियों से (ईशते) वश में करता  
है (सर्वान्) सब (लोकान्) लोकों को (ईशनीभिः) स्वशक्तियों से (ईशते)  
स्वाधीन करता हैं (यः) जो (एकः, एव) अकेला, ही (उद्भवे) रचना में (च)  
और (संभवे) प्रलय में । (ये) जो लोग (एतत्) इस को (विदुः) जानते हैं  
(ते) वे (अमृताः) मुक्त (भवन्ति) हैं ॥

जिस प्रकार जल में पकड़े हुवे जन्तु जहां तहां को नहीं भाग सके किन्तु  
जहां जिस प्रकार जाल वाला रखता है वहां वैसे रहते हैं इसी प्रकार पर-



मात्मा की व्यवस्था वा नियमरूप जाल है उस में कर्मानुकूल वन्धे हुवे जन्तु छूट नहीं सके किन्तु समस्त लोकों के निवासी जीवात्मा और वे पृथिव्यादि लोक भी परमात्मा के न्याय नियम के आधीन हैं। यह तौ सृष्टि के वर्तमान समय में परमात्मा की व्यवस्था कही। और उत्पत्ति तथा प्रलय में भी वही एक उत्पादक और संहारकारक है। इस से यह कहा गया कि जन्म मृत्यु भी उसी के आधीन हैं। अर्थात् कर्मानुसार जन्म मरण की भी व्यवस्था वही करता है

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमांल्लोकानीशत ईशानीभिः ।  
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि  
गोपाः ॥ २ ॥

पदपाठः—एकः १। हि अ०। रुद्रः १। न अ०। द्वितीयाय ४। तस्थुः क्रि०। यः १। इमान् २। लोकान् २। ईशते क्रि०। ईशानीभिः ३। प्रत्यङ् १। जनान् २। तिष्ठति क्रि०। संचुकोच क्रि०। अन्तकाले ७। संसृज्य अ०। विश्वा २। भुवनानि २। गोपाः १॥ २॥

अन्वितपदार्थः—(यः) पूर्वश्लोकोक्तः ( इमान् ) प्रत्यक्षैकदेशान् ( लोकान् ) पृथिव्यादीन् ( ईशनीभिः, ईशते ), ( विश्वा ) समस्तानि ( भुवनानि ) भूमण्डलादीनि ( संसृज्य ) उत्पाद्य ( गोपाः ) गौः पृथ्वी तदुपलक्षितान् लोकान् पाति रक्षति सः ( अन्तकाले ) प्रलयसमये ( संचुकोच ) संजहार ( जनान् ) प्राणिनः ( प्रत्यङ् ) अन्तर्यमयन् ( तिष्ठति ) वर्तते सः ( रुद्रः ) पापिनां रोदयित ( एकः, हि ) एक एव। अतएव ( द्वितीयाय ) अपरस्मै ( न, तस्थुः ) अन्यस्योपासनं न चक्रुर्ब्रह्मविद इति शेषः ॥

मुक्तः पुरुषोऽद्वितीयमेकं परमात्मानं साक्षात्कृत्य, पूर्वं यत्सङ्गेन ज्ञानं प्राप्तवांस्तान्स्मृत्वाह—अहो ! जगतः स्रष्टा। गोपाः रक्षिता। गोप्ता इति पाठेऽपि स एवार्थः। संहर्ता। सर्वान्तर्यामी। सर्वलोकेश्वरः। एक एवाऽयमस्ति अतएव पूर्वं समोपदेष्टारः द्वितीयस्योपासनं न चक्रुरिति ॥२॥

भा० ( यः ) जो ( इमान् ) इन ( लोकान् ) लोकों की ( ईशनीभिः ) शक्तियों से ( ईशते ) स्वाधीन करता है, ( विश्वा ) सब ( भुवनानि ) लोकों की ( संसृज्य ) रचकर ( गोपाः ) लोकों का रक्षक है ( अन्तकाले ) प्रलय काल में ( संचुकोच ) संहार करता है ( जनान् ) प्राणियों के ( प्रत्यङ् )



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar



घटपटादिपदार्थान् नैव चक्षुषा विना द्रष्टुं, त्वचा विना स्पर्शुं, पद्भ्यां विना स्या-  
तुं, रसनया विना स्वादितुं च शक्नुवन्ति, क्रमेण, दृश्यस्य स्पर्शस्य स्थानस्या-  
ऽऽस्वाद्यस्य च हृदयदेशाद्विज्ञदेशवर्तित्वात् । न ह्यन्यदेशस्थोऽन्यदेशस्थं मध्य-  
त्वात्स्यसाधनैर्विनाऽनुभवितुं शक्नोति । न तथा परमात्मनि शङ्खेयमुपपद्यते  
सर्वत्र सर्ववस्तुष्वभिव्यक्तदेशीयत्वेन वर्तमानत्वात् ॥२॥

भा० यदि पूर्व श्लोक में कहे अनुसार परमात्मा एक है तो वह अकेला  
सब लोकों पर कैसे ऐश्वर्य करता है इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि वह  
एक है परन्तु सर्वत्र सर्वशक्तियों सहित व्यापक है । यह मन्त्र ऋग्वेद अष्टक ८  
अध्याय ३ वर्ग १६ में का है कि—( विश्वतश्चक्षुः ) सर्वत्र देखता है ( उत ) और  
( विश्वतोमुखः ) सर्वत्र सम्मुख है ( विश्वतोबाहुः ) सर्वत्र रचनाशक्ति वाला है ( उत )  
और ( विश्वतस्पात् ) सर्वत्र स्थिति वाला ( एकः ) अकेला ( देवः ) देव ( द्यावाभूमी )  
प्रकाशमान और अप्रकाशमान सब लोकों को ( बाहुभ्याम् ) रचना के सामर्थ्य  
से ( सं, जनयन् ) अच्छे प्रकार उत्पन्न करता हुआ ( पतत्रैः ) प्राणों से ( सं, धमन्ति )  
जीवित करता है ॥

इस मन्त्र में आये द्यावाभूमी पद से समस्त प्रकाशमान और अप्रकाश-  
मान लोकों का ग्रहण इसलिये किया है कि पूर्व श्लोक में “सर्वाङ्गानां कानीशते”  
सब लोकों पर ऐश्वर्य करता है यह कहचुके हैं । उसके विपरीत नहीं तथा  
द्यु शब्द से सूर्य और भूमि शब्द से पृथ्वी का ग्रहण करें तो यह शङ्का रहेगी कि  
अन्य लोकों का स्पर्श क्या अन्य कोई है ? इस लिये द्यु शब्द से प्रकाशमान  
और भूमि शब्द से पृथ्वी के मुख्य विना प्रकाश वाले सब लोकों का ग्रहण  
करना चाहिये । बहुत लोग कहते हैं कि हस्तपादादि अवयवों के विना  
जैसे कुम्भार घड़ा नहीं बना सकता ऐसे ही हाथ पांव आदि के विना परमात्मा  
भी जगत् की रचना आदि नहीं कर सकता और प्रत्यक्ष भी इस मन्त्र में बाहु  
चक्षु पाद मुख शब्द आये हैं इस लिये परमात्मा में भी मुखादि स्थूल भौतिक  
अङ्ग हैं ऐसा अर्थ ठीक होता । उत्तर-मनुष्यादि देहधारी जीवात्मा लोग  
इन्द्रियों के विना अपना काम इसलिये नहीं करसक्ते कि वे जीवात्मा एकदे-  
शीय केवल अपने २ देहस्थ हृदय में वास करते हैं और जिस वस्तु को वे  
देखना सूँघना सुनना सूँघना चाहते हैं “वह वस्तु बाहर अन्य देश में है इस  
कारण वे जीवात्मा, मध्यस्थ इन्द्रियों के विना उन २ वस्तुओं को न छू सकते  
हैं, न पीसके हैं, न खासके हैं, न देखसके हैं, न चखसके हैं । दृष्टान्त में



कुम्भार का जीवात्मा उस के हृदय में है, मिट्टी चाक पर है जो कि उस के हृदय से बहुत दूर है, इस लिये जीवात्मा उस मिट्टी को बिना हाथ रूपी मध्यस्थ साधन के कैसे छुवे। यथार्थ में तौ देखने छूने सुनने चखने वास्तव जीवात्मा ही है तथापि दूरी पर सब पदार्थ हैं इसलिये इन्द्रियों के बिना उनका ग्रहण नहीं होसका परन्तु जैसे परमात्मा जीवात्मा के समीप क्या उसमें व्यापक ही है वैसे परमात्मा के ग्रहण में किसी इन्द्रिय की आवश्यकता नहीं इसी प्रकार परमात्मा सर्वत्र है उस से कोई वस्तु दूर नहीं इसलिये उसे किसी वस्तु के देखने के लिये मध्यस्थ आंख की आवश्यकता नहीं, सुनने के लिये कान की, चखने के लिये रसना की, पकड़ने के लिये हाथों की, वा ठहरने के लिये पावों की आवश्यकता नहीं। इसलिये इस मन्त्र का यह अर्थ ठीक है कि सब ओर देखता है। सब ओर सम्मुख है। सब ओर से पकड़े हुवे है। सब ओर से ठहरा हुवा है, इत्यादि। और उसी अपने सामर्थ्य रूप इन्द्रियसमुदाय से जगत् रचता और प्राण देता—जिवाता है ॥ ३ ॥

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः। हिरण्यगर्भं  
जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ ४ ॥

पदपाठः—यः १। देवानां ६। प्रभवः १। च अ०। उद्भवः १। च अ०। विश्वाधिपः १। रुद्रः १। महर्षिः १। हिरण्यगर्भम् २। जनयामास क्रि०। पूर्वं २। सः १। नः २। बुद्ध्या ३। शुभया ३। संयुनक्तु क्रि० ॥ ४ ॥

अन्वितपदार्थः—(यः) पूर्वोक्तः (देवानां) अग्निवाय्वादीनाम् (प्रभवः) उत्पत्तिस्थानम्—यस्मादाधारभूतात् सर्वदेवोत्पादः न तु उपादानभूतात् “न तस्य कार्यमितिवक्ष्यमाणत्वात्”। (च) पुनरर्थे (उद्भवः) लयस्थानम् (च) स्थितिस्थानम् (विश्वाधिपः) सर्वेश्वरः (रुद्रः) पापिनो दुष्टान् रोदयति स न्यायकारी (महर्षिः) महांश्चासावृषिश्चेति महर्षिः सर्वज्ञः (पूर्वम्) सर्गारम्भे (हिरण्यगर्भम्) हिरण्यगानि सूर्यादीनि तेजांसि गर्भे यस्य तं ब्रह्माण्डम् (जनयामास) उत्पादयामास (सः) (नः) अस्मान् (शुभया, बुद्ध्या) पवित्रया, सत्या (संयुनक्तु) सम्यक् युक्तान्करोतु ॥ ४ ॥

भा०—(यः) जिस (देवानाम्) देवतों के (प्रभवः) उत्पत्तिस्थान (च) और (उद्भवः) लयस्थान (च) और स्थितिस्थान (विश्वाधिपः) सब के स्वामी (रुद्रः)



पापियों के रलाने वाले (सहर्षिः) सर्वज्ञ ने (पूर्वम्) प्रथम (हिरण्यगर्भम्) ब्रह्माण्ड की (जनयामास) उत्पन्न किया (सः) वह (नः) हम की (शुभया, बुद्ध्या) अच्छी बुद्धि से (संयुक्त) युक्त करे ॥

अग्नि वायु आदि सब देवता परमेश्वर ही के आधार में से उत्पन्न हुये उसी में स्थित हैं और उसी में लय को प्राप्त होते हैं । वही सब का स्वामी है । वह दुष्टों को दण्ड देता-न्यायकर्ता है । वह बड़ा ऋषि-ज्ञानी है । हिरण्य अर्थात् सूर्यादि तेजस्वियों को अपने गर्भ अर्थात् भीतर रखने वाले ब्रह्माण्ड को वही उत्पन्न करता है । वह कृपया हम को सुमति दे ॥४॥

यांते रुद्र शिवा तनूरघोरा अपपाकाशिनी । तया नस्तनुवा  
शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥ ५ ॥

पदपाठः—या १ । ते ६ । रुद्र सम्बो ० । शिवा १ । तनूः १ । अघोरा १ । अपपाकाशिनी १ । तया ३ । नः २ । तनुवा ३ । शन्तमया ३ । गिरिशन्त सम्बो ० । अभिचाकशीहि क्रि० ॥ ५ ॥

अन्वितपदार्थः—(रुद्र) हे न्यायकारिन् ! (या, ते, शिवा, अघोरा, अपपाकाशिनी, तनूः) यत्, तव, कल्याणमयं, शान्तम्, पापनाशनं, विस्तृतं स्वरूपम् अस्ति (तया, शन्तमया, तनुवा) तेन, शान्तेन, स्वरूपेण (गिरिशन्त) हे गिरिशन्त ! गिरि वेदवाचि शं तनोति तथाभूत (नः) अस्मान् (अभिचाकशीहि) पश्य ॥

हे रुद्र ! पापिषु दण्डप्रणेतः ! परमात्मन् ! पितः ! त्वं कल्याणमयोऽसि, शान्तो-  
ऽसि, पापिनो दण्डयित्वा पापप्रणाशकोऽसि, तनु विस्तारे । तनूः विस्तृतोऽसि,  
विभुरसि इत्यर्थः । अतएव अस्मान् स्वभक्तान् तेन शान्तेन पापनाशनेन कृपाय-  
माणेन स्वरूपेण पश्य दयां कुर्वित्यर्थः ॥ अयं सन्त्रः षोडशाध्याये यजुर्वेदेऽपि  
द्वितीयः । केवलं तत्र “तन्वा” अत्र च “तनुवा,” इति पाठेऽन्तरम् ॥५॥

भा० (रुद्र) हे रुद्र ! (या) जो (ते) आपका (शिवा) कल्याणमय (अघोरा)  
शान्त (अपपाकाशिनी) पापनाशक (तनूः) विस्तृतस्वरूप है (गिरिशन्त) हे  
वेदवाणी में सुख के दाता ! (तया) उसी (शन्तमया) कल्याणमय (तनुवा)  
विस्तृतस्वरूप से (नः) हम को (अभिचाकशीहि) देखिये ॥

यहां परमात्मा को रुद्र इसलिये कहा है कि यद्यपि आप दुष्टों को रलाने  
और दुःखदायक होकर दण्ड देते हैं परन्तु आप अपने भक्त आज्ञाकारी सेवकों  
को हम को अपने कल्याणमय शान्त स्वरूप से देखिये अर्थात् कृपादृष्टि कीजिये



यही मन्त्र यजुः अ० १६ सं० २ भी है केवल वहां "तन्वा" और यहां "तनुवा"  
इतना पाठ में भेद है ॥५॥

यामिषुं गिरिशन्तु हस्ते विभर्षिस्तवे शिवां गिरित्र तां  
कुरु माहिंसीः पुरुषं जगत् ॥ ६ ॥

पदपाठः—याम् २ । इषुम् २ । गिरिशन्त सम्बो० । हस्ते ७ । विभर्षिं क्रि० ।  
अस्तवे अ० । शिवास् २ । गिरित्र सम्बो० । ताम् २ । कुरु क्रि० । मा अ० ।  
हिंसीः क्रि० । पुरुषम् २ । जगत् २ ॥६॥

अन्वितपदार्थः—( गिरिशन्त ) हे वेदवाचि सुखप्रसारक ! ( याम् )  
( इषुम् ) वाणावलिमिव पापिनां दण्डप्रणयिनीं व्यवस्थाम् । ईषेः क्तिञ्च—उणा०  
१ । १३ । ईषति हिनस्ति अन्यायकारिणः पापिनः सा इषुर्यमस्य व्यवस्था ताम्  
( अस्तवे ) प्रक्षेप्तुम् । तुनर्थसेखेनसेअसेन्कसेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैस्त-  
वै तवेङ्त्वनेनः । पा० ३ । ४ । ९७ । इति छन्दसि तुमुन्प्रत्ययार्थं क्रियायां क्रियार्थायां  
तवेप्रत्ययः । ( हस्ते ) स्वकीयानन्दस्वरूपे । हस हसने । हसिमृगिणवामिदमि  
लूपधूर्विभ्यस्तन् । उणा० ३ । ८६ । इति तम् प्रत्ययः । ( विभर्षिं ) धरसि ( गि-  
रित्र ) गिरि वेदवाचि वर्त्तमानान् त्रायते रक्षति तत्सम्बुद्धौ हेगिरित्र ! वेदानु-  
कूलवर्त्तिनां रक्षक ! ( ताम् ) क्लामिषुम् ( शिवास् ) कल्याणमयीम् ( कुरु )  
करोषि वा कृपया । लकारव्यत्ययोवा छान्दसः । ( जगत् ) गच्छतीति जगत् गते-  
स्त्रयोऽर्था ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति तत्र ज्ञानार्थोऽत्र युक्तः । ज्ञानिनमित्यर्थः  
( पुरुषम् ) भक्तपुरुषम् ( माहिंसीः ) न हंसि वा ॥

मुक्तः पुरुषो दयालुं परमात्मानं न्यायकारिणं स्तौति—हेगिरिशन्त ! यद्य-  
पि त्वं यां दण्डव्यवस्थां पापिषु प्रक्षेप्तुं वाणरूपां हस्ते विभर्षिं तथापि तां स्वभ-  
भक्तेषु धर्मात्मसु शिवां कल्याणकारिणीं करोषि कुरु वा कृपया । जगत्-ज्ञानिनं  
पुरुषं पुरुषार्थिनं परमपुरुषार्थानुष्ठातारं जीवात्मानं तया न हंसि इति । अयम-  
पि मन्त्रो यजुषि षोडशाध्याये तृतीयो न किञ्चिदपि पाठोऽन्तरम् । नचानेन  
परमात्मनि परिणामित्वमापद्यते, यथाऽवस्थाभेदाद्वृत्तादिषु एकरसोऽपि सूर्यो ज्ञा-  
शनमुत्पादनं च सम्पादयति तथैव पापपुण्यकृतजीवावस्थाभेदाज्जगदी-  
च्छतेऽपि ॥ ६ ॥

भा० ( गिरिशन्त ) हे वेद वाणी के अनुवर्त्तिनों की सुख के प्रसारक ।



तुम ( याम् ) जिस ( इषुम् ) वाण को ( हस्ते ) अपने आनन्द स्वरूप में ( विभर्षि ) धारण करते हो ( ताम् ) उसको ( शिवाम् ) सुखदायक ( कुरु ) करो वा करते हो ( गिरित्र ) हे धर्मात्माओं के रक्षक ! तुम ( जगत् ) ज्ञानी ( पुरुषम् ) पुरुष को ( ना, हिंसीः ) मत मारो वा नहीं मरते हो ॥

मुक्त पुरुष, परमात्मा के आश्चर्य स्वरूप को साक्षात् करता हुआ स्तुति करता है कि धन्य हो प्रभो ! जो आप पापियों के प्रति फेंकने के लिये अपने आनन्दस्वरूप हाथ में न्यायव्यवस्था रूप वाण को धारण करते हैं यही आप, ज्ञानी पुरुषों के प्रति कल्याणमय कर देते हैं । यद्यपि यह आश्चर्य और विलक्षण बात है कि आपके वही वाण, पापियों पर छूटते उन को दण्ड देते हैं और उन्हीं को आप ऐसा आनन्दसय कर देते हैं कि ज्ञानी पुरुष की उन से हिंसा नहीं होती प्रत्युत स्वभक्त मुक्त पुरुषों की रक्षा होती है । तथापि आपके एकरसत्व में बाधा नहीं आती । जिस प्रकार वही प्रचण्डकिरणी सूर्य अपने जिन किरण रूपी वाणों के प्रभाव से किन्हीं वृक्ष वल्ली आदिको सुखाता फूंकता है वही सूर्य अपने उन्हीं किरणों से सुन्दर आनन्ददायक पौधों अङ्गुरों को उगाता भी है और सूर्य एकरस बना रहता है । किन्तु जैसी २ अवस्था पत्र पुष्प वृक्ष लतादि की होती है, तदनुरूप ही फल एकरस सूर्य से होता है इसी प्रकार आप भी अपनी एकरस न्यायव्यवस्था और स्वरूप से ही पाप के करने वालों को दुःख दण्डदायक और पुण्यात्माओं को सुख-दायक होते हो ॥ ६ ॥

ततः परं ब्रह्म परं बृहन्तं यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढम् ।

विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमोशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति ॥ ७ ॥

पदपाठः—ततः अ० । परम् २ । ब्रह्म २ । परम् २ । बृहन्तम् २ । यथानिकायम् अ० । सर्वभूतेषु ७ । गूढम् २ । विश्वस्यैकं ६ । एकम् २ । परिवेष्टितारम् २ । ईशम् २ । तन् २ । ज्ञात्वा अ० । अमृताः १ । भवन्ति क्रि० ॥ ७ ॥

अन्वितपदार्थः—मध्ये वैदिकमन्त्रद्वयेन परमात्मानं स्तुत्वा प्रार्थ्य च पुनरपि चतुर्थेन सम्बन्धमवतारयति—(ततः) चतुर्थीकात्तिरगयगर्भाख्याद्ब्रह्माण्डात् (परम्) सूक्ष्मपरं वा (ब्रह्म) (परम्, बृहन्तम्) अति, महान्तम् (यथानिकायम्) यथास्थानम् ( सर्वभूतेषु, गूढम् ) सर्वप्राण्यप्राणिषु, अदृष्टरूपेणान्तरवस्थितम्











अर्थात् बड़े देश में वर्तमान है पर स्वरूप से अलिसूक्ष्म है । और उस के समान दूर समीप इस लिये कोई नहीं कि अनन्त होने से जितनी दूर तक परमात्मा है उतनी दूर तक कोई नहीं तथा जितना अधिक समीप वह है अन्तर्यामी होने से इतना समीप भी कोई नहीं ॥ ९ ॥

ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम् । य एतद्वि-

दुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापि यन्ति ॥१०॥

पदपाठः—ततः अ० । यत् १ । उत्तरतरम् १ । तत् १ । अरूपम् १ । अनामयम् १ । ये १ । एतत् २ । विदुः क्ति० । अमृताः १ । ते १ । भवन्ति क्ति० । अथ अ० । इतरे १ । दुःखम् २ । एव अ० । अपि अ० । यन्ति क्ति० ॥ १० ॥

अन्वितपदार्थः—( ततः ) कार्याज्जगतः ( यत् ) ( उत्तरतरम् ) अतिशयेनोत्तरमुत्तरादप्युत्तरम् ( तत् ) ( अरूपम् ) अदृश्यम् ( अनामयम् ) दुःखरहितमानन्दस्वरूपम् ( ये ) दृष्टानुअविकविषयविदग्धाः सुमुखो जीवन्मुक्ता मुक्ता वा ( एतत् ) उक्तम् ( विदुः ) जानन्ति ( ते, अमृताः, भवन्ति ) । ( अथ ) चार्थे ( इतरे ) अज्ञानिनः ( दुःखम्, एव, अपि, यन्ति ) दुःखमेव हि प्राप्नुवन्ति ॥ १० ॥

भा०—( ततः ) उससे ( यत् ) जो ( उत्तरतरम् ) परे से परे है ( तत् ) वह ( अरूपम् ) अदृश्य और ( अनामयम् ) दुःखरहित है ( ये ) जो ( एतत् ) इस को ( विदुः ) जानते हैं ( ते ) वे ( अमृताः ) अमर ( भवन्ति ) होजाते हैं ( अथ ) और ( इतरे ) अन्य ( दुःखम् ) दुःख को ( एव ) ही ( अपि ) निश्चय ( यन्ति ) प्राप्त होते हैं ॥

अर्थात् इस कार्य जगत् से परे जो कारण प्रकृति उससे भी परे जो ब्रह्म है वह रूप तथा रोग दुःख से रहित है । इसलिये जो उसे साक्षात् करते हैं वे ही दुःखरहित होकर मुक्त होते हैं अन्य लोग दुःख ही भोगते हैं ॥१०॥

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।

सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात्सर्वगतःशिवः ॥११॥



पदपाठः-सर्वाननशिरोग्रीवः १ । सर्वभूतगुहाशयः १ । सर्वव्यापी १ । सः १ । भगवान् १ । तस्मात् ५ । सर्वगतः १ । शिवः १ ॥ ११ ॥

अन्वितपदार्थः-(सर्वाननशिरोग्रीवः) सर्वस्मिन् आननं शिरो ग्रीवा च यस्मिन् सः । मनुष्यादिषु यत्राननं न तत्र शिरो यत्र शिरो न तत्र ग्रीवा यत्र ग्रीवा न तत्रान्यान्यङ्गानि परं सर्वथाऽतो वैलक्षण्यं ब्रह्मणि । यत्तस्मिन्सर्वत्र सर्वाङ्गसाध्यकर्मकरणसामर्थ्यं विद्यत इति । कासावुपलभ्यत इत्याह-(सर्वभूतगुहाशयः) सर्वेषां भूतानां प्राणिनां गुहा हृदयदेश आशयो यस्य सः । ननु हृदयदेशमात्रपरिच्छिन्नमित्याशङ्क्यामाह (सर्वव्यापी) (सः) (भगवान्) सस्रैश्वर्यवान् (तस्मात्) कारणात् (सर्वगतः) विभुः (शिवः) आनन्दरूपः ॥ ११ ॥

भा०-(सर्वाननशिरोग्रीवः) जिस में सर्वत्र ही मुख शिर और ग्रीवादि का सामर्थ्य है । (सर्वभूतगुहाशयः) सब प्राणियों के हृदय में स्थित (सर्वव्यापी) सर्वत्र व्यापक है (सः) वह (भगवान्) ऐश्वर्य वाला है (तस्मात्) इस से (शिवः) आनन्दस्वरूप और (सर्वगतः) विभु है ॥

तात्पर्य यह है कि मनुष्यादि प्राणियों के जहां मुख है वहां शिर नहीं जहां शिर है वहां कण्ठादि नहीं परन्तु यह इसलिये है कि स्थूल पदार्थ एक स्थान में एक ही हो सका है । किन्तु परमात्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने से अपने में सर्वत्र ही सब अङ्गों से होने वाले कामों का सामर्थ्य रखता है । परन्तु तो भी वह प्राणियों के हृदय में प्रतीत होता है और यद्यपि हृदय में प्रतीत होता है तथापि हृदय में परिच्छिन्न (महदूद) नहीं किन्तु सर्वव्यापक है । और ऐश्वर्ययुक्त तथा आनन्दस्वरूप है ॥ ११ ॥

महान्प्रभुवै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः ।

सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः ॥ १२ ॥

पदपाठः-महान् १ । प्रभुः १ । वै अ० । पुरुषः १ । सत्त्वस्य ६ । एषः १ । प्रवर्तकः १ । सुनिर्मलाम् २ । इमाम् २ । प्राप्तिम् २ । ईशानः १ । ज्योतिः १ । अव्ययः १ ॥ १२ ॥

अन्वितपदार्थः-(महान्) अनन्तदेशवर्ती (प्रभुः) सर्वस्वामी (वै) निश्चयेन (पुरुषः) पूर्णः (एषः) अयमेव (सत्त्वस्य) शुभगुणस्य (प्रवर्तकः) यः प्रवर्तयति सः (सुनिर्मलाम्) शुद्धाम् (इमाम्) मयानुभूयमानाम् (प्राप्तिम्) अवस्थाम् मुक्तिम् (ईशानः) स्वाधीनां कृत्वा वर्तमानः (अव्ययः) यो न व्येति परिणामं प्राप्नोति सः (ज्योतिः) अखण्डानन्तप्रकाशरूपः ॥ १२ ॥



भा०—(एषः) यह (महान्) अनन्त है (वै) निश्चय (प्रभुः) सब का स्वामी है (पुरुषः) परिपूर्ण है (सत्त्वस्य) भलाई का (प्रवर्तकः) प्रवृत्त करने वाला है (अव्ययः) अविनाशी है (ज्योतिः) प्रकाशमय है और (इमां, सुनिर्मलां, प्राप्तिम्) इस, निर्मल, मुक्तावस्था का (ईशानः) अधिकारी (मालिक) है ॥

मुक्तपुरुष परमात्मा को साक्षात् करता हुआ कहता है कि अहो ! यह महान् आत्मा है, सर्वस्वामी, पूर्ण, भलाई का प्रसारक, स्वयम् अविनाशी, ज्योतिःस्वरूप और इस ( मुक्ति प्राप्त हुई ) निर्मल मुक्ति का अधिष्ठाता है । इसी का प्रसाद मुक्ति है ॥ १२ ॥

~~~~~

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।

हृदा मन्वीशो मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १३ ॥

~~~~~

पदपाठः—अङ्गुष्ठमात्रः १ । पुरुषः १ । अन्तरात्मा १ । सदा अ० । जनानाम् ६ । हृदये ७ । संनिविष्टः १ । हृदा ३ । मन्वीशः १ । मनसा ३ । अभिक्लृप्तः १ । ये १ । एतत् २ । विदुः क्रि० । अमृताः १ । ते १ । भवन्ति क्रि० ॥ १३ ॥

अन्वितपदार्थः—( अङ्गुष्ठमात्रः ) अङ्गुष्ठपरिमाणे हृदयावकाश उपलभ्यमानत्वात् । तथापि ( पुरुषः ) सर्वत्र पूर्णः । ननु सर्वत्र पूर्णः सन् कथं न सर्वैरुपलभ्यते तच्चाह ( अन्तरात्मा ) अन्तर्यामितयावस्थितो गूढः । किं कालभेदेन हृदयदेशेऽन्यत्र च वर्तमानो भवति ? नेत्याह—( सदा, जनानां, हृदये, संनिविष्टः ) स्पष्टम् ( मनसा ) मननशक्तिमता ( हृदा ) हृदयेन ( अभिक्लृप्तः ) समर्थितः ( मन्वीशः ) अनुमनस्तस्येशः ( ये ) ज्ञानिनः ( एतत् ) एतन् ( विदुः ) जानन्ति ( ते, अमृता, भवन्ति ) ॥ १३ ॥

भा०—( अङ्गुष्ठमात्रः ) हृदय देश में उपलभ्यमान ( पुरुषः ) पूर्ण ( अन्तरात्मा ) अन्तर्यामी ( सदा ) सदा ( जनानाम् ) प्राणियों के ( हृदये ) हृदय में ( संनिविष्टः ) प्रविष्ट है ( मनसा ) मननशक्ति वाले ( हृदा ) हृदय से ( अभिक्लृप्तः ) प्राप्त होता है ( मन्वीशः ) मन का स्वामी, मन की जानने वाला है ( ये ) जो लोग ( एतत् ) इस को ( विदुः ) जानते हैं ( ते ) वे ( अमृताः ) अमर ( भवन्ति ) हो जाते हैं ॥

हृदय में अंगूठे के परिमाण अवकाश है उसी में परमात्मा उपलब्ध होने से अङ्गुष्ठमात्र कहाते हैं । परन्तु वे पुरुष अर्थात् सर्वत्र पूर्ण हैं । और सब



किसी के हृदय में भी उपलब्ध नहीं होते किन्तु मननशील हृदय से मिलते हैं।  
तो क्या वे केवल हृदय में ही हैं ? नहीं, किन्तु सर्वत्र पूर्ण हैं। तो क्या कभी  
कहीं और कभी कहीं तथा हृदय में भी, इसी प्रकार सर्वत्र पूर्ण हैं ? नहीं  
किन्तु सदा ही सब के हृदय में और बाहर भी पूर्ण हैं। यह आशय है ॥ १३ ॥

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठदशाङ्गुलम् ॥ १४ ॥

पदपाठः—सहस्रशीर्षा १ । पुरुषः १ । सहस्राक्षः १ । सहस्रपात् १ । सः १।  
भूमिम् २ । विश्वतः अ० । वृत्वा अ० । अति अ० । अतिष्ठत् क्रि० । दशाङ्गु-  
लम् २ ॥ १४ ॥

अन्वितपदार्थः—( सहस्रशीर्षा ) सहस्रसंख्यानि शीर्षाणि शिरःसाध्य-  
कार्यक्षमताः यस्य सः । योजनाप्रकारः यद्गतिश्च “ विश्वतश्चतुरित्यादिषु ”  
उक्तोऽयम् । एवमेव ( सहस्राक्षः, सहस्रपात् ) ( पुरुषः ) पूर्णः ( सः ) एषः परमपुरुषः  
( भूमिम् ) भवन्ति भूतानि यस्यां सा, भूम्युपलक्षितं सर्वं स्थावरजङ्गमम् ( विश्वतः )  
अन्तर्बहिश्च ( वृत्वा ) आवृत्य ( दशाङ्गुलम् ) दशाङ्गुलपरिमाणं हृदयम् अथवा  
तन्मात्रभूतपञ्चकं दशाङ्गुलम्, अथवा दशदिशो दशाङ्गुलम्, अथवाऽन्यानि यानि  
कानिचिदङ्गुलपरिमाणोपलक्षितानि वस्तूनि ( अति, अतिष्ठत् ) उल्लङ्घ्य वर्तते,  
यावज्जगत्तोऽधिकः स इत्यर्थः । अयं मन्त्रो यजुर्वेदस्य ऋग्वेदस्य च पुरुषसू-  
क्तेऽपि दृश्यते तत्र च “ स्पृत्वा ” “ सर्वतः ” इति पाठोऽत्र तु “ वृत्वा, विश्वतः ”  
इति च ॥ सहस्रमिति बहुनास निघण्टौ ॥ ३ । १ ॥ १४ ॥

भा०—( सहस्रशीर्षा ) जिस में अनन्त शिर हैं ( सहस्राक्षः ) जिस में अनन्त  
आंख हैं ( सहस्रपात् ) जिस में अनन्त पांव हैं ( पुरुषः ) जो पूर्ण है ( सः ) वह  
( भूमिम् ) जगत् की ( विश्वतः ) सब ओर से ( वृत्वा ) आवृत करके ( दशाङ्गुलम् )  
दशाङ्गुल की ( अति, अतिष्ठत् ) लांघ कर, वर्तमान है ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद और ऋग्वेद के प्रसिद्ध पुरुषसूक्तों में आया है यजुः में ३१  
अ० का मन्त्र १। ऋग् में अष्टक ८ अ० ४ व० १७ में है। केवल इतना पाठभेद है  
कि वेद में “ सर्वतः ” यहां “ विश्वतः ”। वेद में “ स्पृत्वा ” यहां “ वृत्वा ”। परमात्मा  
में शिर आदि अङ्गों के न होने से इस मन्त्र की व्यवस्था भी “ विश्वतश्चतुः ” पूर्व  
कह आये उसी के अनुसार जानो। दशाङ्गुल शब्द के कई अर्थ होसके हैं—



दशाङ्गुल परिमाण का हृदय, वा ५ तन्मात्रा ५ भूत ये दश, वा १ प्रकृति ५ महाभूत ४ अन्तःकरणचतुष्टय ये दश, वा दश इन्द्रियां, वा दश दिशा इत्यादि अन्य भी दशसंख्या वाले जगत् के ऐसे पदार्थ जिन से प्रायः सम्पूर्ण जगत् भरा है वे सब भी परमात्मा के सामने अङ्गुलसमान तुच्छ परिमित वा परिच्छिन्न हैं, वह इन दशाङ्गुलात्मक वस्तुओं को उल्लङ्घन करके वर्तमान है अर्थात् हृदय, दश दिशा, दश इन्द्रियां, इत्यादि में बंधा नहीं किन्तु इन से बाहर भी है ॥ १४ ॥

~~~~~

पुरुष एवेदं सर्वं यद्रूपं यच्च भव्यम् ।

उतमृतत्वस्येशानो यदनेनातिरोहति ॥१५॥

~~~~~

पदपाठः—पुरुषः १ । एव अ० । इदम् १ । सर्वम् १ । यत् १ । भूतम् १ । यत् १ । च अ० । भव्यम् १ । उत अ० । अमृतत्वस्य ६ । ईशानः १ । यत् १ । अनेन ३ । अतिरोहति क्रि० ॥१५॥

अन्वितपदार्थः—मुक्तः पुरुषो यदा परमात्मानं साक्षत्प्रयति तदा कथयति—(इदं, सर्वम्) प्रत्यक्षभूतं ब्रह्म वर्तमानकालीनम् (यत्) यदेव ब्रह्म (भूतम्) भूतकालीनम् (यत्, च) यदेव च (भव्यम्) भविष्यत्कालीनम् (एव) (अपि) (पुरुषः) पूर्णम् । (यत्) (अनेन) प्राणहेतुना (अतिरोहति) जीवति तस्य प्राणिवर्गस्य मरणधर्मवतः (उत) चार्थे (अमृतत्वस्य) मोक्षस्य (ईशानः) स्वामी अर्थात् भूतं, भव्यं—भविष्यत्, इदं सर्वं—वर्तमानम् । पुरुषः—पूर्णम् । त्रिषु कालेषु पूर्णैरसम् । प्राणिवर्गस्य मोक्षस्य च स्वामित्वं तस्यैव । शाङ्करभाष्ये—“यदनेनातिरोहति” इति पुरुषविशेषणत्वेन व्याख्यातं तच्चाऽने परमात्मनि सर्वव्यापकतम् “अनश्नन्नन्यां अभिवाकशीति” इत्यादिषु अन्नाद्याहारापेक्षा-राहित्यस्य च बहुशो दृष्टवरत्वात् । अयं सन्त्रोऽपि पुरुषसूक्ते द्वितीयोऽस्ति अथर्ववेदे प्रचुर्जेदे च तत्रैव । वेदे “भाव्यम्” उपनिषदि च “भव्यम्” इति पाठान्तरम् ॥१५॥

भा०—मुक्त पुरुष, परमात्मा को साक्षात् करके कहला है कि (इदं, सर्वम्) यह सब (यत्, भूतम्) जो, पूर्व भी था (च) और (यत्, भव्यम्) जो आगे भी होगा (एव) ही (पुरुषः) परिपूर्ण है । (यत्) जो (अनेन) अन्तःसे (अतिरोहति) जीवता है [उत का] (उत) और (अमृतत्वस्य) मोक्ष का भी (ईशानः) स्वामी है ॥

तात्पर्य यह है कि (इदं सर्वम्) वर्तमान (भूतम्) भूतकाल (भव्यम्) और



भविष्यत्काल में वह परमात्मा पूर्ण एकरस है और वह प्राणियों तथा मोक्ष का स्वामी है। इस मन्त्र के शाङ्खभाष्य में "यदन्नेनातिरोहति=जो अन्न से जीवता है" इस वाक्य को पुरुष परमात्मा का विशेषण करके व्याख्या की है वह असंगत है क्योंकि परमात्मा के विषय शतशः प्रमाण उपस्थित हैं कि वह अन्नदि आहार की अपेक्षा नहीं रखता। जैसा कि "अनश्नन्नन्यो अभिचालशीति-दूसरा आत्मा परमात्मा कुछ न खाता हुवा सब को देखता है" इत्यादि। यह मन्त्र भी ऋषयःपूर्वों के पुरुष सूक्तों में दूसरा है। केवल भव्यम् के स्थान में वेदों में भाव्यम् पाठ है ॥१५॥

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।

सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥६॥

पदपाठः-सर्वतःपाणिपादम् १ । तत् १ । सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् १ । सर्वतः-

श्रुतिमत् १ । लोके ७ । सर्वम् २ । आवृत्य अ० । तिष्ठति क्रि० ॥१६॥

अन्वितपदार्थः-( तत् ) पूर्वीकम् ब्रह्म (सर्वतःपाणिपादम्, सर्वतोक्षिशिरोमुखं, सर्वतः श्रुतिमत्, लोके, सर्वम्, आवृत्य, तिष्ठति) उक्तार्थं स्पष्टार्थं च सर्वम् ॥१६॥

भा०-(तत्) वह (सर्वतः पाणिपादम्) सर्वत्र हाथ पांव वाला, (सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्) सर्वत्र आंख शिर मुख वाला और (सर्वतःश्रुतिमत्) सर्वत्र कान वाला (सर्वम्) सब को (आवृत्य) घेर कर (तिष्ठति) स्थिर है ॥

तात्पर्य पूर्व भी कई जगह आचुका है इसलिये स्पष्ट है ॥१६॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।

सर्वस्य प्रभुमोशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ॥१७॥

पदपाठः-सर्वेन्द्रियगुणाभासम् २ । सर्वेन्द्रियविवर्जितम् २ । सर्वस्य ६ ।

प्रभुम् २ । ईशानम् २ । सर्वस्य ६ । शरणम् २ । बृहत् २ ॥१७॥

अन्वितपदार्थः-(सर्वेन्द्रियगुणाभासम्) सर्वेषां चिन्द्रियाणां गुणा आभासन्ते यस्मिन् तम् (सर्वस्य प्रभुम्) सर्वाध्यक्षम् (ईशानम्) स्वामिनम् (सर्वस्य, बृहत्, शरणम्) सर्वस्य, महान्तसाधारम् । जानामीतिशेषाध्याहारः ॥



## तृतीयोऽध्यायः ॥

६१

इतः पूर्वमस्मिन्नेवाध्याये “विश्वतश्चक्षुरिति” तृतीये, “सर्वाननशिरोग्रीव” इत्येकादशे, “सहस्रशीर्षा” इति चतुर्दशे, “सर्वतःपाणिपाद” सितिषोडशे च यदस्माभिर्गर्ग्यातां तत्र ये केचिदश्रद्धावान्स्तेऽत्र स्पष्टं पश्यन्तु तमेवार्थम् । अत्र हि सर्वेन्द्रियविवर्जितमित्युक्त्वापि सर्वेन्द्रियसामर्थ्यवत्त्वं तस्य स्पष्टमुच्यते । एतेनैव तेऽपि प्रत्युक्ता ये हि विश्वमिदं परमात्मानं मन्यमानाः, सर्वप्राणिनां मुखादीन्यङ्गानि वस्तुतो ब्रह्मैवेति व्याचक्षुः ॥१७॥

भा०—(सर्वेन्द्रियगुणाभासम्) सब इन्द्रियों का सामर्थ्य जिस में है परन्तु (सर्वेन्द्रियविवर्जितम्) सब इन्द्रियों से रहित (सर्वस्य) सब के (प्रभुम्) अधिष्ठाता (ईशानम्) स्वामी को [मैं जानता हूँ] यह अध्याहार करना चाहिये ॥

इस से पूर्व इसी अध्याय के तीसरे “विश्वतश्चक्षुः” ११ वें “सर्वानन०” १६ वें “सहस्रशी०” के अर्थों में जो हम ने “इस के मुखादि अङ्ग न होने पर भी सामर्थ्यरूप सब अङ्ग हैं” ऐसी व्याख्या की है। उस पर जो लोग अश्रद्धा करते हों वे यहाँ स्पष्ट देखलें कि “वह सब इन्द्रियों से विवर्जित” और सब इन्द्रियों के गुणों से युक्त है । और जो टीकादार ऐसी व्याख्या करते हैं कि “परमार्थ में सर्वप्राणियों के मुखादि अङ्ग वस्तुतः ब्रह्म ही हैं” वे टीका भी इन श्लोक में खण्डित हो चुकी हैं ॥१७॥

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः ।

वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥ १८ ॥

पदपाठः—नवद्वारे ७ । पुरे ७ । देही १ । हंसः १ । लोलायते क्रि० । बहिः अ० । वशी १ । सर्वस्य ६ । लोकस्य ६ । स्थावरस्य ६ । चरस्य ६ । च अ० ॥ १८ ॥

अन्वितपदार्थः—(हंसः) हन्ति जानाति सर्वमिति हंसः परमात्मा गतेन्द्रियोऽर्थः तत्र ज्ञानार्थमुपादाय निर्वाहः । (देही) देहीपलक्षितं सर्वं जगदस्यास्ति स सर्वस्वामी । (सर्वस्य, स्थावरस्य, चरस्य, च, लोकस्य, वशी) स्थावरजङ्गमाधिष्ठाता (नवद्वारे, पुरे) नवच्छिद्रयुक्ते नगरे इव देहे तथा (बहिः) देहादितो ब्रह्माण्डाद्बाह्यप्रदेशे च (लेलायते) प्रकाशते । “लेला” दीप्तौ कण्ठवादिः ॥

अत्राऽद्वैतवादिभिर्हीकाकारैः सर्वैरेव जीवात्मपरमात्मनोरभेदप्रतिपादन-  
स्तपैः “हंसः, देही” चेति पदद्वयं जीवात्मपरं व्याख्यातम् स एव च सर्व-



स्य वशीति च द्वयैरेक्यमनुवर्जितं, तच्च "अपाणिपादो जवन" इत्यादिना वक्ष्यमाणेन, "सर्वेन्द्रियविवर्जित" मित्यादिश्लोकेन च विरुध्यते । लेलायते इत्यस्य च चलतीत्यर्थोऽपि तैः पक्षपातसूत्रैरेवाभ्युपगतः । लेलायतेः स्पष्टं दीप्त्यर्थस्य कण्ड्वादिवर्णो उक्तत्वात् त्याज्यैव सा व्याख्या । नवच्छिद्राणि द्वारभूतानि यथा द्वे चक्षुषी, द्वे नासिके, द्वे श्रोत्रे, एकनास्यम् इत्युपरि सप्त । पायुरुपस्थश्चेति द्वे अधस्तात् ॥ १८ ॥

भा०-(हंसः) सर्वज्ञ (देही) देहादि का स्वामी (स्यावरस्य) स्यावर और (चरस्य) जङ्गम (लोकस्य) संसार का (वशी) वश में रखने वाला (नवद्वारे) नव द्वार वाले (पुरे) देह में और (बहिः) बाहर भी (लेलायते) प्रकाशमान है ॥

अद्वैतवादी टीकाकारों ने हंसः और देही इन दो पदों को जीवात्मा का विशेषण करके उत्तरार्ध श्लोक में परमात्मा की स्तुति है उससे मिलाकर अद्वैत पक्ष का पोषण किया है । यह उन सब की व्याख्या पूर्वापरविरुद्ध है । क्योंकि पूर्व तो यह कह आये हैं कि "सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्" अर्थात् वह सब इन्द्रियों के गुणोंवाला परन्तु सब इन्द्रियों से रहित है । और यहां देही और हंसः का देहाभिमान और चलनेवाला अर्थ करते हैं सो विरुद्ध है । इस से अगले श्लोक में भी "अपाणिपादो" कहेंगे अतः उस से भी विरुद्ध है । तथा प्रकरण भी परमात्मा का ही अध्यायारम्भ से अध्यायसमाप्ति पर्यन्त है इस लिये हम ने जो हंसः का अर्थ सर्वज्ञ किया है वही ठीक है, हन् धातु का गति के अन्तर्गत ज्ञान अर्थ भी है उसी का यहां ग्रहण करना चाहिये । देही पद का यह तात्पर्य है कि जगत् के पदार्थ देह से उपलक्षित हैं उन सब का अधिष्ठाता स्वामी परमात्मा ही यहां देही समझना चाहिये जैसे कि धनी धनी गृही इत्यादि में धन धन गृह के स्वामी का अर्थ है । "लेलायते" का अर्थ भी अद्वैतवादी टीकाकारों ने "चलता है" किया है परन्तु लेला धातु कण्ड्वादि गण में प्रकाश, दीप्ति अर्थ में है इसलिये परमात्मा के पक्ष में "प्रकाशमान है" यही अर्थ ठीक है । दो नाक के, दो आंखों के, दो कानों के, एक मुख ये ७ ऊपर तथा दो नीचे के सब नौ द्वार वाले देह रूप नगरों में और बहिः इस से बाहर भी परमात्मा प्रकाशमान है । जीवात्मा अर्थ में यह भी नहीं घट सकता क्योंकि वह देह से बाहर प्रकाशमान नहीं है ॥ १८ ॥



अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।

स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥१९॥

पदपाठः—अपाणिपादः १ । जवनः १ । गृहीता १ । पश्यति क्रि० । अचक्षुः १ । सः १ । शृणोति क्रि० । अकर्णः १ । सः १ । वेत्ति क्रि० । वेद्यम् २ । न अग्र्यं १ । च अग्र्यं १ । तस्य ६ । अस्ति क्रि० । वेत्ता १ । तम् २ । आहुः क्रि० । अग्र्यम् २ । पुरुषम् २ । महान्तम् २ ॥ १९ ॥

अन्वितपदार्थः—( अपाणिपादः ) हस्तपादरहितोऽपि ( जवनः, गृहीता ) पादकार्यकरणक्षमः, ग्रहणक्षमश्च ( अचक्षुः ) चक्षुषा इन्द्रियेण रहितोऽपि ( पश्यति ) ( अकर्णः ) श्रोत्रेन्द्रियवर्जितोऽपि ( शृणोति ) ( सः ) ( वेद्यम् ) सर्वकार्यकारणकलापम् ( वेत्ति ) जानाति ( च ) पुनः ( तस्य ) परमात्मनः ( वेत्ता ) वेत्ति जानाति ज्ञेयं स मनो रूपः सौकर्यातिशयविवक्षया करणे कर्तृत्वम् पुंस्त्वमिडभावश्चायं । ( न, अस्ति ) किन्तु विनैव मनसा सर्वज्ञत्वेन सर्वजानातीति भावः । ( तम् ) ( अग्र्यम् ) मुख्यम् ( महान्तं, पुरुषम्, आहुः ) ॥१९॥

भा०—( अपाणिपादः ) हाथ पांव से रहित है ( जवनः ) पांव का काम करता है ( गृहीता ) हाथ का काम करता है ( सः ) वह ( अकर्णः ) कान से रहित है ( शृणोति ) सुनता है । ( अचक्षुः ) आंख से वर्जित है ( पश्यति ) देखता है ( च ) और ( तस्य ) उसका ( वेत्ता ) मन ( न, अस्ति ) नहीं है ( सः ) वह ( वेद्यम् ) ज्ञातव्य सब को ( वेत्ति ) जानता है ( तम् ) उस को ( अग्र्यम् ) मुख्य ( महान्तं, पुरुषम् ) बड़ा पुरुष ( आहुः ) कहते हैं ॥

अर्थात् वह इन्द्रियां और मन नहीं रखता पर इन्द्रियों और मन का काम कर सक्ता है । यहां मन को कर्तृत्वावक रखने का कारण व्याकरणानुसार सौकर्यातिशयविवक्षा है ॥ १९ ॥

अणोरणीयान् महतोमहीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ।

तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥२०॥

पदपाठः—अणोः ५ । अणीयान् १ । महतः ५ । महीयान् १ । आत्मा १ । गुहायाम् १ । निहितः १ । अस्य ६ । जन्तोः ६ । तम् २ । अक्रतुम् २ । पश्यति क्रि० । वीतशोकः १ । धातुः ६ । प्रसादात् ५ । महिमानम् २ । ईशम् २ ॥ २० ॥



अन्विष०-(अक्षोः) सूक्ष्माज्जीवात्मनोपि (अणीयान्) अतिसूक्ष्मः (महतः) प्रकृतिकार्यान्महत्तत्त्वादपि (सहीयान्) अतिशयेन महान् (आत्मा) परमात्मा (अस्य, जन्तोः) जीवात्मनः (गुहायाम्) हृदये (निहितः) स्थितः (तम्) परमात्मानम् (अक्रतुम्) कर्मतत्फलभोगरहितम् (ईशम्) स्वामिनम् (महिमानम्) महान्तं, भावो न विवक्षितो भूमेतिवत् । (वीतशोकः) अपगतशोको ज्ञानी (धातुः प्रसादात्) परमेश्वरस्य कृपया (पश्यति) जानाति ॥

अणोरणीयानित्यादिना दुर्विज्ञेयत्वात् कश्चिदेव ज्ञानी तत्कृपयैव तं ज्ञातुं शक्नोति नान्यः ॥ २० ॥

भा०-(अक्षोः) सूक्ष्म से (अणीयान्) अतिसूक्ष्म (महतः) बड़े से (सहीयान्) अत्यन्त बड़ा (आत्मा) ईश्वर (अस्य, जन्तोः) इस प्राणी के (गुहायाम्) हृदय में (निहितः) स्थित है (तम्) उस (अक्रतुम्) कर्मरहित (महिमानम्) बड़े (ईशम्) स्वामी को, (वीतशोकः) विशोक पुरुष, (धातुः, प्रसादात्) परमात्मा की, कृपा से (पश्यति) देखता वा जानता है ॥

अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म है इत्यादि कारणों से उसे सब कोई नहीं जान सका किन्तु वीतशोक ज्ञानी जिस पर ईश्वर कृपा करते हैं वही कठिन से कभी कोई विरला जान सका है ॥ २० ॥

वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात् ।

जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् २१

इति श्वेताश्वतरोपनिषदि तृतीयोऽध्यायः ॥

पदपाठः-वेदं क्रि० । अहम् १ । एतम् २ । अजरम् २ । पुराणम् २ । सर्वात्मानम् २ । सर्वगतम् २ । विभुत्वात् ५ । जन्मनिरोधम् २ । प्रवदन्ति क्रि० । यस्य ६ । ब्रह्मवादिनः १ । हि अ० । प्रवदन्ति क्रि० । नित्यम् २ ॥ २१ ॥

अन्वितपदार्थः-मुक्तात्मा सर्वस्मिन्नध्याये परमात्मानं विविधं संस्तूयो-पसंहरति (अहम्) ईशकृपाभाजनभूतः (एतम्) साक्षाद्वर्तमानम् (अजरम्) ज-रारहितम् (पुराणम्) सनातनम् (सर्वात्मानम्) सर्वस्याऽऽत्मानम् । यम् (विभु-त्वात्) व्यापकत्वात् (सर्वगतम्, प्रवदन्ति) (ब्रह्मवादिनः, हि, यस्य, नित्यं, जन्मनिरोधं, प्रवदन्ति) तम् (वेद) अपरोक्षीकरोमि ॥ २१ ॥

इति तुलसीरामस्वामिकृते श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्ये परमात्मगुण-  
स्तवविषयकस्तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥



## चतुर्थोऽध्यायः ॥

६५

भा०-मुक्तात्मा पुरुष, सम्पूर्ण अध्याय में परमात्मा को अनेक प्रकार स्तुत करके उपसंहार में कहता है कि-(अहम्) मैं (एतम्) इस (अजरम्) बुढ़ापे से रहित (पुराणम्) सनातन (सर्वात्मानम्) सब के भीतर रहने वाले (विभुत्वात्) व्यापक होने से । जिस को (सर्वगतम्) सर्वत्र उपस्थित (प्रवदन्ति) कहते हैं उस को (वेद) जानता हूं (ब्रह्मवादिनः) ब्रह्मवादी लोग (यस्य) जिस का (जन्मनिरोधम्) जन्म न होने को (हि) निश्चय (नित्यम्) नित्य (प्रवदन्ति) कहते हैं ॥

अस्मिन् अध्याये पौनःपुन्येन परमात्माऽनेकप्रकारैः स्तुतः तच्च पौनःपुन्य-  
मतिसूक्ष्मस्य विषयस्य दृढीकरणार्थमुक्तस्य परमहर्षलाभात्तत्र भक्तिविशेषाच्च  
न चिन्त्यम् ॥

इस अध्याय में जो बार २ अनेक प्रकार से परमात्मा की स्तुति वर्णन की है सो पुनरुक्ति दोष नहीं किन्तु अतिसूक्ष्म विषय के दृढ़ करने के लिये है और मुक्तात्मा को परमात्मा के साक्षात्कार से असीम आनन्द होता है इसलिये भी वह बारंबार परमात्मा को वर्णन करता है ॥ २१ ॥

यह तुलसीरामस्वामिकृत श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्य में ईश्वरगुणकीर्तन-  
विषयक तृतीय अध्याय समाप्त हुवा ॥ ३ ॥

—\*—

## अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥

एवं तृतीयाध्यायेन योगी मुक्तिं प्राप्य परमात्मानमानन्देन स्तौतीत्युक्त्वा,  
तेहि श्वेताश्वतरादयो महर्षयो ज्ञाततत्त्वाः “किं कारणम्”० इत्यादिना जिज्ञा-  
सितमर्थं प्रतिपद्यमानाः, परमात्मा जीवात्मा प्रकृतिश्च त्रयमेव मुख्यं कारण-  
मिति कृतनिश्चयाः सन्तोऽभ्यासार्थमामोदार्थं च स्वीयवाक्यैर्ग्रन्थान्तरवाक्यैर्वेद-  
वाक्यैश्च तदेव त्रयं पुनः पुनरभ्यस्यन्ति चतुर्थेऽध्याये तद्यथा-आदौ परमात्मानं  
प्रार्थयन्ते-

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णानेकान्निहितार्थो दधाति ।  
वि चैति चान्ते विश्वमादौ सदेवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥



पदपाठः—यः १ । एकः १ । अवर्णः १ । बहुधा अ० । शक्तियोगाद् ५ ।  
वर्णान् २ । अनेकान् २ । निहितार्थः १ । दधाति क्रि० । वि अ० । च अ० ।  
एति क्रि० च अ० । अन्ते १ । विश्वम् २ । आदौ १ । सः १ । देवः १ । सः १ ।  
नः २ । बुद्ध्या ३ । शुभया ३ । संयुक्तु क्रि० ॥ १ ॥

अन्वितपदार्थः—(यः, एकः) केवलः (अवर्णः) अरूपः (शक्तियोगात्) स्वस्य सा-  
मर्थ्यसम्बन्धात् (निहितार्थः) निर्गतो हितोऽर्थोयस्मात् स्वार्थनिरपेक्षइत्यर्थः  
(अनेकान्, वर्णान्) नानावर्णाकृतीन् पदार्थान् (बहुधा) बहुभिः प्रकारैः  
(दधाति) धारयति पोषयति च (आदौ) सर्गारम्भे । (च) अथार्थे (अन्ते)  
प्रलयकाले (विश्वम्) समस्तं नानावर्णाकृतिसज्जगत् (वि, एति) नश्यति (च)  
चकारात् मध्ये पुष्पाति च (सः) विश्वोत्पत्तिस्थितिलयकारकः (देवः) द्योत-  
नात्मकः (नः) अस्माज्ज्वेताश्वतरादीन् (शुभया, बुद्ध्या) शुद्धधिया (संयुक्तु) ॥ १ ॥

भा०—इस प्रकार तीसरे अध्याय में, योगी मुक्ति को पाकर आनन्द से  
परमात्मा की स्तुति करता है यह कह कर, अब वे श्वेताश्वतरादि ऋषि लोग  
तत्त्व के ज्ञाता, “ किं कारणम्० ” इत्यादि प्रश्न के उत्तर को समझने वाले ;  
परमात्मा, जीवात्मा, और प्रकृति इन ३ पदार्थों को मुख्य कारण जान कर  
भी अभ्यास के लिये इस ग्रन्थ के वाक्यों वेदवाक्यों और प्रथान्तरों से बार  
बार इसी तात्पर्य को दृढ़ करते हुवे चौथे अध्याय का आरम्भ करते हैं ।  
उस में प्रथम परमात्मा की प्रार्थना करते हैं—

(यः) जो (एकः) अद्वितीय (अवर्णः) अरूप और (निहितार्थः)  
स्वार्थरहित (अनेकान्) अनेक (वर्णान्) रूपों को (बहुधा) बहुत प्रकार  
से (दधाति) धारण करता (च) और पोषणकरता है (च) और (अन्ते)  
प्रलयकाल में (विश्वम्) सब जगत् (वि, एति) नाश को प्राप्त होता है  
(सः) वह (नः) हम को (शुभया, बुद्ध्या) पवित्र, बुद्धि से (संयुक्तु)  
संयुक्त करे ॥

तात्पर्य यह है कि जो स्वयम् अरूप होकर अनेक रूपवान् जगत् के  
पदार्थों को बनाता, पालता और प्रलय करता है वह परमात्मा हमें ऐसे ही  
शुद्ध निर्मल बुद्धि से युक्त रखे जिस से हम को कभी संशय न घरे ॥ १ ॥

पुनः परमात्मनमेव विशिनष्टि—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तद् चन्द्रमाः ।

तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः ॥ २ ॥



## चतुर्थोऽध्यायः ॥

६७

पदपाठः—तत् १ । एव अ० । अग्निः १ । तत् १ । आदित्यः १ । तत् १ । वायुः १ । तत् १ । उ अ० । चन्द्रमाः १ । तत् १ । एव अ० । शुक्रम् १ । तत् १ । ब्रह्म १ । तत् १ । आपः १ । तत् १ । प्रजापतिः १ ॥ २ ॥

अन्वितपदार्थः—(तत्, एव) परं ब्रह्म, एव (अग्निः) अग्निशब्दवाच्यम् (तत्) (आदित्यः) आदित्यशब्दवाच्यम् । एवमग्रेपि (तत् वायुः) तत् उ चन्द्रमाः, तत् एव शुक्रम्, तत् ब्रह्म, तत् आपः, तत् प्रजापतिः) ॥

सर्वे च्यते पूज्यते तस्मादग्निः, न विद्यते विनाशो यस्येति अदितिरदितिरेवा-  
ऽऽदित्यः, यो वासि हरति प्रलयकाले सर्वं स वायुः, चन्दति आह्लादयति स च-  
न्द्रमाः आशु करोति इति शुक्रम्, बृहत्त्वात् ब्रह्म, व्यापकत्वादापः, प्रजानां  
रक्षकत्वात्पालकत्वात्प्रजापतिः । यजुर्वेदीयद्वात्रिंशत्तमाध्यायस्याऽपि प्रथमो  
मन्त्रोऽयमेव तत्र चतुर्थपादे “ता आपः स प्रजापतिरिति पाठान्तरम् ॥ २ ॥

भा०—पुनरपि परमात्मा की ही स्तुति करते हैं कि—( तत्, एव, अग्निः )  
वह, ही, अग्नि है (तत्, आदित्यः) वह, आदित्य है ( तत्, वायुः) वह, वायु  
है (तत्, उ, चन्द्रमाः) वह, ही, चन्द्रमा है (तत्, एव, शुक्रम् ) वह, ही, शुक्र है  
(तत् ब्रह्म) वह ब्रह्म है (तत्, आपः) वह अप् है (तत्, प्रजापतिः) वह, प्रजा-  
पति कहाता है ॥

अर्थात् एक ही परमात्मा अनेक गुणों से अनेक नाम वाला है । सर्व-  
पूज्य होने से अग्नि, अखण्ड होने से आदित्य, सर्वसंहारकारक होने से वायु,  
सब को आनन्ददायक होने से चन्द्रमा, अतिशीघ्रकारी होने से शुक्र, बड़ा  
होने से ब्रह्म, व्यापक होने से अप् और प्रजा का पालक होने से प्रजापति  
कहाता है ॥ २ ॥

अनन्तरं जीवात्मनो विचित्रामवस्थामाह—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।

त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥३॥

पदपाठः—त्वम् १ । स्त्री १ । त्वम् १ । पुमान् १ । असि क्रि० । त्वम् १ ।  
कुमारः १ । उत अ० । वा अ० । कुमारी १ । त्वम् १ । जीर्णः १ । दण्डेन ३ ।  
वञ्चसि क्रि० । त्वम् १ । जातः १ । भवसि क्रि० । विश्वतोमुखः १ ॥ ३ ॥



अन्वितपदार्थः—(त्वम्) (स्त्री) स्त्रीदेहधारी (त्वम्) (पुमान्) पुरुष-  
शरीरः (असि) भवसि (त्वम्) (कुमारः) कुमारावस्थः (उत, वा) अथवा  
(कुमारी) कुमारावस्था कन्या (त्वम्) (जीर्णः) वृद्धः (दण्डेन) यष्टितः (वज्रसि)  
गच्छसि (त्वम्) (जातः) जन्म प्राप्तः सन् (विश्वतोमुखः) अनेकधा (भवसि) ।  
एतेनेदमपि सूचितं यदेकएवात्मा स्त्री पुमांश्च भवतीति ॥

जीवात्मतत्त्वं विज्ञाय ते महर्षयो ह्यात्मानं प्रत्येकं संबोध्य कथयन्ति हे  
अस्मद् हृदयदेशवर्तिन् जीवात्मन् ! त्वं वस्तुतोऽप्राकृतोऽपि कर्मानुगो बाल्यं यौ-  
वनं वार्द्धक्यं च प्राप्नोषि चित्रमेतत् । त्वया जन्ममरणबन्धहानाय यतितव्यमि-  
त्यर्थः । अद्वैतवादिन इमं मन्त्रं परमात्मनएव जीवात्मावस्थापरं व्याचरव्युः  
तच्च परमात्मनोऽजन्मत्वान्न समीचीनम् । अयं मन्त्रोऽथर्ववेदे दशमकाण्डे  
चतुर्थांशुवाक्येऽष्टमसूक्ते सं० २९ संख्याकः । तत्रैवाऽतोयिममन्त्रेऽपि जीवात्म-  
नएव नानासम्बन्धानां वर्णनमस्ति—“उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ  
उतवा कनिष्ठः । एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः” इति ॥

भा०—अब जीवात्मा के विषय में कहते हैं कि—(त्वम्) तू (स्त्री) स्त्री  
देहधारी (त्वम्) तू (पुमान्) पुरुषदेहधारी (त्वम्) तू (कुमारः) कुमार अव-  
स्था वाला (उत, वा) और (कुमारी) कन्या (असि) हो जाता है (त्वम्) तू  
(जीर्णः) वृद्ध (दण्डेन) लाठी से (वज्रसि) चलता है (त्वम्) तू (जातः) जन्म  
को प्राप्त हुवा (विश्वतोमुखः) नानायोनिगत (भवसि) हो जाता है ॥

वे श्वेताश्वतरादि ऋषि लोग, जीवात्मा के तत्त्व को जान कर प्रत्येक  
अपने २ आत्मा को सम्बोधन करके कहता है कि हे जीवात्मन् ! तू वास्तव में  
अप्राकृत होकर भी कर्मानुसार हमारे हृदयदेश में वास करता हुवा कभी  
(स्त्री—पुरुष) युवा हो जाता है, कभी (कुमार—कुमारी) बालक हो जाता है  
और कभी वृद्ध हो जाता है। कैसी विचित्र बात है कि तू स्वच्छ, चेतन, प्रकृति  
से बना न होकर भी शुभाशुभ कर्मों से विवश हुवा सब कुछ भोगता है ! तुझे  
चाहिये कि इस जन्ममरणादि अनेक रूप के दुःख से कूटने का उपाय करे ।  
अद्वैतवादियों ने इस मन्त्र को इस प्रकार व्याख्या की है कि “परमात्मा ही  
जीवात्मा होकर बाल वृद्धादि बनता है” । परमात्मा देहादिरहित है इस  
कारण ऐसी व्याख्या करना ठीक नहीं । यह मन्त्र अथर्व कां० १० अनु० ४  
सू० ८ सं० २९ में का है । इस से अगला मन्त्र वहाँ यह है (उतैषां पितोत—  
पूरा मन्त्र संस्कृतटीका में है) जिस का अर्थ यह है कि “जीवात्मा हृदयदेश



में रहकर किसी का पिता, किसी का पुत्र, किसी से छोटा, किसी से बड़ा बनता है, गर्भवास करता है। इन दोनों मन्त्रों से जीवात्मा की गति और स्त्री से पुरुष, पुरुष से स्त्री होना भी सिद्ध होता है ॥ ३ ॥

इदानीं पादानकारणं प्रधानमाह—

नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भऋतवः समुद्राः ।

अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्त्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥ ४ ॥

पदपाठः—नीलः १ । पतङ्गः १ । हरितः १ । लोहिताक्षः १ । तडिद्गर्भः १ । ऋतवः १ । समुद्राः १ । अनादिमत् सम्बो ० । त्वम् १ । विभुत्वेन ३ । वर्त्तसे क्रि० । यतः अ० । जातानि १ । भुवनानि १ । विश्वा १ ॥ ४ ॥

अन्वितपदार्थः—( अनादिमत् ) हे अनादि ! प्रधान ! प्रकृते ! ( त्वम् ) ( विभुत्वेन ) अविभोर्विभोर्भावस्तेन । इत्थंभूतलक्षणे तृतीया । अनित्यमित्यंभू-यतइतीत्यंभावः । उपादानं हि परमात्मापेक्षयाऽविभुरपि अस्मदादिदृष्टौ विभु-वत् ( वर्त्तसे ) ( यतः ) यस्मादुपादानात् ( नीलः ) नीलवर्णो शनैश्चरादिलो-कः ( पतङ्गः ) सूर्यः ( हरितः ) हरितवर्णो बुधादिः ( लोहिताक्षः ) रक्तवर्णोऽङ्गारकादिलोकः ( तडिद्गर्भः ) मेघः ( ऋतवः ) वसन्तादिकाः ( समुद्राः ) प्र-सिद्धाः । एवम् ( विश्वा ) समस्तानि ( भुवनानि ) लोकान्तराणि ( जातानि ) उत्पन्नानि ॥

तत्त्वज्ञदृष्टौ सर्वमप्रत्यक्षमपि प्रत्यक्षमिव जायते तस्मात्श्वेताश्वतरादयो ज्ञाततत्त्वाः अव्यक्तव्यक्तिमापन्नं प्रधानमुपादानं प्रत्यक्षमिव संबोध्य कथयन्ति अहो ! प्रधान ! त्वमविभुरपि विभुत्वेन वर्त्तसे यस्वतोहिसूर्यादीनां सर्वेषां प्र-त्यक्षाऽप्रत्यक्षाणां लोकलोकान्तराणां सृष्टिर्भवति यस्या अन्तमनवाप्यानन्तेय-मितिमन्यमाना वयं त्वां तत्कारणं विभुं मन्यामहे ॥ ४ ॥

भा०—अब प्रकृति का वर्णन करते हैं कि—(अनादिमत्) हे अनादि (त्वम्) तू (विभुत्वेन) विभु सा होकर (वर्त्तसे) वर्त्तरहा है (यतः) जिससे (नीलः) नीलवर्ण (पतङ्ग) सूर्य (हरितः) हरितवर्ण (लोहिताक्षः) रक्तवर्ण (तडिद्गर्भः) मेघ (ऋतवः) ऋतु (समुद्राः) समुद्र । इसी प्रकार (विश्वा) सब (भुवनानि) लोक लोकान्तर (जातानि) उत्पन्न हुवे हैं ॥



तात्पर्य यह है कि जब तत्त्व का ज्ञान होजाता है तब अप्रत्यक्ष पदार्थ भी प्रत्यक्ष से विदित होने लगते हैं। तौ श्वेताश्वतरादि ऋषियों को जब तत्त्वज्ञान प्राप्त हुवा तब उनको अव्यक्त उपादान कारण, व्यक्त प्रतीत होने लगा। तब वे उस प्रकृति नामक उपादान कारण के विषय में सम्बोधन कर के कहते हैं। यद्यपि जड़ पदार्थ को सम्बोधन करना अयुक्त सा प्रतीत होता है तथापि प्राचीन और नवीन काव्यों को देखने से विदित होता है कि यह भी एक शैली भाषा की थी और है। केवल तात्पर्य का ग्रहण करना चाहिये कि उन ऋषियों ने प्रकृति को अनादि जाना और नील वर्ण के शनैश्वरादि लोक, हरित वर्ण के बुधादि लोक, रक्तवर्ण के मङ्गलादि लोक, सूर्य और उस के प्रभाव से ऋतु, समुद्र तथा अन्य सब भुवन प्रकृति से ही उत्पन्न हुवे हैं। इन सब ज्ञात और अज्ञात लोकों के कारणभूत प्रकृति का हम को अन्त नहीं सूझता इस लिये प्रकृति हमारी दृष्टि में विभु (अनन्त) सी है। यद्यपि परमात्मा प्रकृति से बड़ा है क्योंकि वह इसका आधार है परन्तु तौ भी प्रकृति का ओर छोर हमारी समझ से बाहर है इस कारण यह कहा गया कि ( विभुत्वेन वर्तते ) अहो प्रधान ! तू अविभु होकर भी विभु के समान वर्तता है। ( विभुत्वेन ) यह इत्थं भूतलक्षण अर्थ में तृतीया विभक्ति है। “ इत्थं भूत ” उस को कहते हैं कि “ वैसा न हो पर वैसा प्रतीत होता हो ” सो प्रकृति विभु नहीं तौ भी विभु सी विदित होती है ॥ ४ ॥

इदानीं परमात्मा जीवात्मा प्रकृतिश्चेति त्रयमेकत्राह-

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ ५ ॥

पदपाठः-अजाम् २ । एकाम् २ । लोहितशुक्लकृष्णाम् २ । बह्वीः २ । प्रजाः २ । सृजमानाम् २ । सरूपाः २ । अजः १ । हि अ० । एकः १ । जुषमाणः १ । अनुशेते क्रि० । जहाति क्रि० । एनाम् २ । भुक्तभोगाम् २ । अजः १ । अन्यः १ ॥ ५ ॥

अन्वितपदार्थः-( एकः, हि, अजः ) ( सरूपाः, बह्वीः, प्रजाः सृजमानाम् ) स्वसमानजडधर्मिणीः, बहुशः, प्रजाः, सृजन्तीम् ( लोहितशुक्लकृष्णाम् ) गुणत्रयात्मिकाम् ( एकामजाम् ) ( जुषमाणः ) सेवमानः सन् ( अनुशेते ) तया सह वासं करोति ( अन्यः, अजः ) अपरोज्जन्मा परमात्मा ( भुक्तभोगाम् ) जीवात्मना भुक्ती भोगोऽयस्यास्ताम् ( एनाम् ) ( जहाति ) नाऽनुशेते ।



एकाऽजाऽनादिसतीप्रकृतिः, द्वावजावजन्मानौ परमात्मजीवात्मानौ तयो-  
रेको जीवात्मा प्रकृत्या लिप्यतेऽपरः परमात्मा तु निर्लेपइत्यर्थः ॥५॥

भा०—अब परमात्मा जीवात्मा प्रकृति इन तीनों का वर्णन करते हैं कि-  
(एकाम्) एक, (सरूपाः, बह्वीः, प्रजाः, सृजमानाम्) अपने सी, बहुत, प्रजा को,  
उत्पन्न करती हुई (लोहितशुक्लकृष्णाम्) रजः सत्त्व तमः वाली (अजाम्) अना-  
दि प्रकृति को (एकः, अजः) एक अजन्मा जीवात्मा (जुषमाणः) सेवता  
हुआ (अनुशेते) लिपटता है। परन्तु (अन्यः, हि, अजः) दूसरा, अजन्मा  
परमात्मा (भुक्तभोगाम्) जीव से भोगी हुई (एनाम्) इस [ प्रकृति ] को  
(जहाति) नहीं लिपटता है ॥

एक अजा प्रकृति, दो अज जिन में से एक जीवात्मा है जो त्रिगुणात्मक  
जगत् के कारण प्रकृति से लिप्त होता है और दूसरा परमात्मा पृथक्  
रहता है ॥ ५ ॥

अत्रैव विषये ऋग्वेदीयद्वितीयाष्टकतृतीयाध्यायसप्तदशवर्गस्थामृचमाह-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।  
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥६॥

पदपाठः—द्वा १ । सुपर्णा १ । सयुजा १ । सखाया १ । समानम् २ ।  
वृक्षम् २ । परिषस्वजाते क्रि० । तयोः ६ । अन्यः १ । पिप्पलम् २ । स्वादु २ ।  
अत्ति क्रि० । अनश्नन् १ । अन्यः १ । अभिचाकशीति क्रि० ॥६॥

अन्वितपदार्थः—(द्वा) द्वौ (सुपर्णा) सुपर्णौ पक्षिणाविव (सयुजा) सयुजौ  
व्याप्यव्यापकसम्बन्धेन परस्परयुक्तौ (सखाया) सखायौ सुहृदाविवेतरं वर्जमा-  
नौ (समानम्) स्वसदृशम् अनादिम् (वृक्षम्) वृक्षमिवच्छेदनभेदनार्हम् अना-  
नामकम् (परिषस्वजाते) परितस्तत्सङ्गयुक्तौ भवतः परन्तु (तयोः) द्वयोः सुप-  
योर्मध्ये (अन्यः) एकः (पिप्पलम्) तस्य वृक्षस्य फलम् (स्वादु) स्वादुयथास्या-  
त्तथा (अत्ति) भुङ्क्ते (अन्यः) अपरस्तु (अनश्नन्) तत्फलमभुञ्जानः (अभिचाकशीति)  
पश्यन्नास्ते ॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया इत्यत्र सुपां सुलुगित्याकारादेशः । यथा एक-  
स्मिन्वृक्षे द्वौ पक्षिणौ वसतस्तथा प्रकृतिरूपे वृक्षे—ओन्नश्नच्छेदने इत्यस्माद्वातो-  
र्वृक्षशब्दः सिद्ध्यति तथाभूते छेदनभेदनधर्मयुक्ते प्रधाने, द्वौ जीवात्मपरमात्मानौ



परितो निषसतः तौ च परस्परं सुहृदाविव चैतन्यादिसमानधर्मौ, अनादित्वेन च समानधर्मं प्रकृतिनामकं वृक्षं परिषस्वजाते ( पक्षिभ्यामुपमानं स्थावरवृक्षापेक्षया चलत्वेन चैतन्यद्योतनार्थं तयोरेको जीवात्मा प्रकृतिवृक्षस्य सत्त्वरजस्तमोभ्या- नि फलानि भुङ्क्ते, अपरः परमात्मा तु तत्फलमभुञ्जानो हि साक्षित्वेन वसन्ते ॥१६॥

भा०-उक्तविषय में ऋग्वेद अष्टक २ अध्याय ३ वर्ग १७ की ऋचा को कहते हैं कि- (द्वा) दो (सुपर्णा) पक्षी (सयुजा) साथ मिले हुवे (सखाया) मित्र से हैं और (समानम्) अपने समान (वृक्षम्) वृक्ष के (परिषस्वजाते) सब ओर से सङ्ग हैं (तयोः) उन दोनों में से (अन्यः) एक तौ (पिप्पलम्) फल को (स्वादु) स्वा- दु मनाकर (अत्ति) खाता है और (अन्यः) दूसरा (अनश्नन्) न खाता हुवा (अभिचाकशीद्वि) साक्षिमात्र है ॥

प्रकृति रूप एक वृक्ष है। इसे वृक्ष की उपमा इस कारण दी है कि वृक्ष शब्द-छेड़न अर्थ वाले " व्रश्चू " धातु से बना है। प्रकृति विकृत होती और छिन्न भिन्न होती रहती है। इस वृक्ष में दो पक्षी रहते हैं ये परमात्मा और जीवात्मा हैं। वृक्ष जड़ असमर्थ होता है और पक्षी चेतन होते हैं इसलिये इन दोनों आत्माओं को पक्षियों की उपमा दी गई है। वृक्ष को " समान " इस अंश में कहा है कि वह भी अनादि है। इन दोनों को सयुज इस लिये कहा कि व्याप्यव्यापकभाव से एक दूसरे से संयुक्त हैं। मित्र इस लिये कहा है कि मित्रों के समान चेतनत्वादि कई बातों में एक से हैं। भेद बड़ा भारी यह है कि एक वृक्ष के फल खाता अर्थात् कर्म और उन के फल भोगता है और दूसरा परमात्मा क्लेशकर्मविपाकाशयों से सर्वथा पृथक् है ॥६॥

इदानीं मध्यस्थस्य जीवात्मनः प्रकृतिसङ्गाद्व्योभवति परमात्मज्ञानेन त- द्भक्त्या च श्रेष्ठ इत्याह-

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥७॥

पदपाठः-समाने ७ । वृक्षे ७ । पुरुषः १ । निमग्नः १ । अनीशया ३ । शोचति क्रि० । मुह्यमानः १ । जुष्टम् २ । यदा अ० । पश्यति क्रि० । अन्पस् २ । ईशम् २ । अस्य ६ । महिमानम् २ । इति अ० । वीतशोकः ॥७॥



## चतुर्थोऽध्यायः ॥

७३

अन्वितपदार्थः—( पुरुषः ) जीवात्मा ( समाने, वृक्षे ) प्राकृतपदार्थसमूहे ( निमग्नः ) सज्जन्सन् ( अनीशया ) पारवश्येन ( मुच्यमानः ) नष्टज्ञानः, प्राकृतं देहमेवात्मानं मन्यमानः कृशाऽहं, स्थूलोऽहं, नष्टो मे पुत्रो, मृता मे भार्या, किं मे जीवितेन इत्येवंप्रत्ययः ( शोचति ) शोकं करोति । ( यदा ) यस्मिंश्च काले ( जुष्टम् ) व्यापकत्वेनात्मनि संलग्नमिवैव ( अन्यम् ) अपरम् ( ईशम् ) स्ववंशम् ( अस्य, महिमानम् ) अस्याऽन्यस्येशस्य, सहत्वं च ( पश्यति ) ( इति ) तदा ( वीतशोकः ) विशोको भवति । आत्मज्ञानेन देहादिष्वात्मभावाऽभावात् माऽहंकृशो, नाऽहं स्थूलः, न मे कश्चित् पुत्रकलत्रादिरतएव न मया शोको विधेय इति विजानाति ॥ ७ ॥

भा०—अब सध्यस्थ जीवात्मा को एक ओर प्रकृति है उस के सङ्ग से बन्धन और दूसरी ओर परमात्मा है उस के सङ्ग से मोक्ष होता है यह कहते हैं— ( पुरुषः ) जीवात्मा ( समाने ) अपने समान अनादि ( वृक्षे ) छिन्न भिन्न होने वाली प्रकृति के पदार्थों में ( निमग्नः ) डूबा हुआ ( अनीशया ) परतन्त्रता से ( मुच्यमानः ) अज्ञानवश ( शोचति ) शोक करता है । ( यदा ) परन्तु जब ( जुष्टम् ) अपने में व्यापक ( अन्यम् ) दूसरे ( ईशम् ) स्ववश परमात्मा को और ( अस्य, महिमानम् ) उस की बड़ाई को ( पश्यति ) देखता है ( इति ) तब ( वीतशोकः ) शोकरहित होजाता है ॥

तात्पर्य यह है कि जब जीवात्मा प्रकृति के कार्य्यों में डूब कर आपे को भी भूल जाता है और देह ही को आत्मा समझने लगता है तब बड़े शोक होते हैं कि हाय मैं दुर्बल हो गया, हाय मेरे फोड़ा निकला है, हाय मेरा हाथ पांव आदि कट गया, हाय मेरी स्त्री या पुत्रादि मर गया । इत्यादि प्रकार से शोक सागर में डूबता है । परन्तु जब अपने ही में व्यापक परमात्मा में ध्यान लगाता है तब प्रकृति का ध्यान छोड़ने से समझने लगता है कि देह से भिन्न मैं चेतन हूँ । मैं दुर्बल रोगी आदि नहीं होता । मुझे तो अपने सदा सहवर्ती परमात्मा के आनन्द से आनन्द ही आनन्द है । ऐसी रीति से विशोक होजाता है ॥ ७ ॥

ननु वेदाध्ययनेन सर्वशोकनिवृत्तिः सम्भवति किं परमात्मसाक्षात्कारेण ? वेदा अपि तदेकज्ञानसफला अतो न तज्ज्ञानमन्तरेण पाठमात्रवेदाध्ययनेन किमपि फलमित्याह—



ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः ।  
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्तद्भमे समासते ॥८॥

पदपाठः—ऋचः १ । अक्षरे ७ । परमे ७ । व्योमन् ७ । यस्मिन् ७ । देवाः १ । अधि अ० । विश्वे १ । निषेदुः क्रि० । यः १ । तत् २ । न अ० । वेद क्रि० । किम् २ । ऋचा ३ । करिष्यति क्रि० । ये १ । इत् अ० । तत् २ । विदुः क्रि० । ते १ । इमे १ । समासते क्रि० ॥ ८ ॥

अन्वितपदार्थः—( ऋचः ) वेदोक्ताः स्तुतिमन्त्राः ( परमे ) सर्वोत्तमे ( व्योमन् ) व्योम्नि । सुपां सुलुगिति सप्तम्या लुक् । परमरक्षके ( अक्षरे ) अविनाशिनि ( यस्मिन्, विश्वे, देवाः, अधिनिषेदुः ) यत्र, सर्वे, अग्न्यादयो भौतिकदेवाः पृथिव्यादयो लोका वा, निषष्ठास्तस्मिन्नेव निषष्ठा इत्यर्थः । अतः कारणात् ( यः, तत्, न, वेद ) सः ( ऋचा ) वेदोक्तमन्त्रपाठेन ( किं करिष्यति ) न किमपीत्यर्थः । ( ये ) ( इत् ) च ( तत्, विदुः ) तज्जानन्ति ( ते, इमे, समासते ) ते, इमेऽस्मिन् मोक्षधाम्नि वर्त्तमानाः, सम्यक् आसते ॥

सर्वाऋचो मुख्यतया परमात्मानमेव स्तुवन्ति अतः यो वेदपाठी ऋचो ऽधीत्यापि परमात्मानं न जानाति निष्फलं तस्य वेदाध्ययनमित्यर्थः ॥ ८ ॥

भा०—क्या वेद पढ़ने से सर्व शोकों की निवृत्ति होसकती है ? इस पर यह कहते हैं कि समस्त वेदों का मुख्य तात्पर्य यह है कि मनुष्य को परमात्मा का ज्ञान हो। इसलिये यदि कोई वेद पढ़े परन्तु परमात्मा के ज्ञान से शून्य रहे तो वेद पढ़ना निष्फल है—

( ऋचः ) ऋचार्ये ( अक्षरे ) अविनाशी ( परमे ) परम ( व्योमन् ) रक्षक में, ( यस्मिन् ) जिस में कि ( विश्वे ) सब ( देवाः ) देवता ( अधि, निषेदुः ) निवास करते हैं [उसी में निवास करती हैं]। इसलिये ( यः ) जो कोई ( तत् ) उस को ( न ) नहीं ( वेद ) जानता [वह] ( ऋचा ) ऋचा से ( किम् ) क्या ( करिष्यति ) करेगा ( इत् ) और ( ये ) जो लोग ( तत् ) उस को ( विदुः ) जानते हैं ( ते ) वे लोग ( इमे ) ये ( समासते ) मोक्षधाम में विराजते हैं ॥

तात्पर्य यह है कि समस्त वेदमन्त्र और पृथिव्यादि लोक जो देवता कहाते हैं परमेश्वर में ही वास करते हैं इसलिये जिस ने परमेश्वर को न जाना उस का वेद पढ़ना व्यर्थ है ॥ ८ ॥



अयमपि ऋग्वेदीयद्वितीयाष्टकतृतीयाध्यायैकविंशतितमवर्गस्यो मन्त्रः ।  
अस्य व्याख्यानं च निरुक्तकारैरप्येवमेव कृतं यथा—

ऋचो अक्षरे परमे व्यवने यस्मिन्देवा अधिनिषणाः सर्वे । यस्तन्न वेद किं  
स ऋचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्तद्वने समासत इति विदुष उपदिशति । कत-  
मत्तदेतदक्षरमित्येषा वागिति शाकपूणिऋचश्च ह्यक्षरे परमे व्यवने धीयन्ते ५ ।  
नादेवतेषु च मन्त्रेषु एतद् वा एतदक्षरं यत्सर्वां त्रयीं विद्यां प्रति प्रतीति च  
ब्राह्मणम् । निरु० अ० १३ ख० १० ॥

भा०—यह मन्त्र ऋग्वेद के अष्टक २ अध्याय ३ वर्ग २ में आया है और  
निरुक्तकार ने इस की यह व्याख्या की है कि—

(ऋचः) ऋचायें, (अक्षरे परमे व्यवने) अविनाशी परम रक्षक में (यस्मि-  
न्सर्वे देवा अधिनिषणाः) जिस में सब दिव्यगुण स्थित हैं, [उसी में स्थित हैं]  
(यस्तन्न वेद) जो उस को नहीं जानता (स ऋचा किं करिष्यति) वह ऋचा से  
क्या करेगा (यइत्तद्विदुस्तद्वने समासत इति विदुष उपदिशति) “यइत्तद्वि०” इस  
से विद्वानों को उपदेश करता है कि—(कतमत्तदेतदक्षरम्) कौनसा है वह अक्षर?  
(ओमित्येषा वागिति शाकपूणिः) शाकपूणि आचार्य्य उत्तर देते हैं कि “ओम्”  
यह वाणी है । (ऋचश्च ह्यक्षरे परमे व्यवने धीयन्ते) और ऋचायें निश्चय  
अविनाशी परम रक्षक में धारित हैं (नानादेवतेषु च मन्त्रेषु) और अनेक  
[अग्न्यादि] देवता वाले मन्त्रों में (एतद्वा एतदक्षरम्) यही है वह यही अक्षर  
है (यत्सर्वां त्रयीं विद्यां प्रति प्रतीति च ब्राह्मणम्) जो सम्पूर्ण त्रयीविद्या के  
प्रति (बराबर) है ऐसा ब्राह्मण में भी लिखा है ॥

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यश्च वेदा वदन्ति ।

अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ॥

पदपाठः—छन्दांसि १ । यज्ञाः १ । क्रतवः १ । व्रतानि १ । भूतम् १ ।  
भव्यम् १ । यत् १ । च अ० । वेदाः १ । वदन्ति क्रि० । अस्मान् २ । मायी १ ।  
सृजते क्रि० । विश्वम् २ । एतत् २ । तस्मिन् ३ । च अ० । अन्यः १ । मायया ३ ।  
संनिरुद्धः १ ॥९॥

अन्वितपदार्थः—(छन्दांसि) गायत्र्यादीनि (यज्ञाः) पञ्चमहायज्ञाः (क्रतवः)  
ज्योतिष्टोमादयः (व्रतानि) सत्यभाषणादीनि (भूतम्) (भव्यम्) भविष्यत् (यत्,



च, वेदाः, वदन्ति) (एतत्) (विश्वम्) सर्वम् (अस्मान्) वेदाध्येतृन् (सायी) परमात्मा (सृजते) सृजति (तस्मिन्, च) तस्मिन्परमात्मनि सायिनि च व्या-  
त्येन वर्तमानः (अन्यः) जीवात्मा (सायया) प्रकृत्या (संनिरुद्धः) विवशी-  
तो बद्धो भवति ॥

अयंभावः-अग्रिमपद्ये "सायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" इति  
वक्ष्यति । तस्मात् साया प्रकृतिस्तद्गान् महेश्वरः परमात्मा सर्वं सृजति परं स्वयं  
बद्धो न भवति किन्त्वन्यो जीवात्मा प्रकृतिसङ्गेन बन्धनापद्यते ॥९॥

भा०-(छन्दांसि) छन्द (यज्ञाः) पञ्चसहायज्ञ (क्रतवः) यज्ञ [ज्योतिष्टोमादि]  
(व्रतानि) व्रत (भूतम्) जो हो चुका (भव्यम्) जो होगा (च) और (यत्) जो  
कुछ (वेदाः) वेद (वदन्ति) कहते हैं (एतत्) इस (सर्वम्) सब को (अस्मान्)  
और हम सबों को (सायी) परमेश्वर (सृजते) रचता है (च) और (तस्मिन्)  
उस में (अन्यः) दूसरा जीवात्मा है जो (सायया) साया से (संनिरुद्धः) रुकता  
वा बन्धता है ॥

सात्पर्य्य यह है कि श्वेताश्वतरादि ऋषि कहते हैं कि गायत्री आदि छन्दों,  
देवयज्ञादि यज्ञों, ज्योतिष्टोमादि क्रतुओं, सत्यभाषणादि व्रतों, हम सब ऋषियों  
और जो हो चुका उसे तथा जो होगा उसे और जो कुछ वेदों में कहा है  
उस सब को परमात्मा ने ही रचा था वही अब रचता है वही आगे रचेगा।  
यद्यपि वह परमात्मा अगले श्लोक में कही साया नाम प्रकृति से सब कुछ  
बनाता है परन्तु स्वयं निर्लेप रहता है किन्तु दूसरा आत्मा जो जीवात्मा है  
वह प्रकृति से बन्धता है ॥ ९ ॥

~~~~~

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।

तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥ १० ॥

~~~~~

पदपाठः-मायाम् २। तु अ० । प्रकृतिम् २ । विद्यात् क्रि० । मायिनम् २ ।  
तु अ० । महेश्वरम् २ । तस्य ६ । अवयवभूतैः ३ । तु अ० । व्याप्तम् १ । सर्वम् १ ।  
इदम् १ । जगत् १ ॥१०॥

अन्वितपदार्थः-(मायाम्) मायाशसिभ्यो यः । उणा० ४ । १०९ । सात्य-  
न्तर्भवति प्रलयकालेदृश्या भवति ताम् (तु) (प्रकृतिम्) एतन्नामिकाम् (वि-  
द्यात्) जानीयात् (महेश्वरम्) परमात्मानम् (तु) (मायिनम्) साया प्रकृति-



रस्याऽस्ति सः तद्वान् मायी, प्रकृतिवाच्यस्योपादानस्य स्वामी, तम्, विद्यात्  
( तस्य ) मायिनः प्रकृतिसहितस्य परमात्मनः ( अवयवभूतैः ) एकदेशस्थैर्भूतैः ।  
( तु ) ( इदं, सर्वं, जगत्, व्याप्तम् ) ॥

पूर्वपद्ये मायीत्युक्तं तत्र का माया कश्च मायीति विवरणमत्र क्रियते ।  
प्रकृतिर्माया । मायाऽस्यास्ति स मायी परमात्मा । अतः प्रकृतियुक्तस्य तथापि  
निर्लेपस्य परमात्मनः एकदेशस्थैः न तु सर्वदेशस्थैः प्राकृतैरुभिरिदं सर्वं  
जगद्व्याप्तमस्ति ॥ १० ॥

भा०—( मायाम् ) माया को ( तु ) तौ ( प्रकृतिम् ) प्रकृति ( विद्यात् )  
जाने ( तु ) और ( महेश्वरम् ) परमात्मा को ( मायिनम् ) मायी-मायावाला  
जाने । ( तस्य ) उस के ( अवयवभूतैः ) एकदेशस्थ सहाभूतों से ( इदं, सर्वं,  
जगत् ) यह, सब, जगत् ( व्याप्तम् ) व्याप्त है ॥

पूर्व श्लोक में “ मायी ” पद आया था इसलिये इस श्लोक में माया और  
मायी का अर्थ बताया है कि माया यहां छल का नाम मत समझना किन्तु  
प्रकृति का नाम माया और उस के अधिष्ठाता स्वामी परमात्मा का नाम मायी  
है । उस के अवयव अर्थात् एक देश में रहनेवाले सहाभूतों से यह जगत्  
व्याप्त है । अर्थात् समस्त परमात्मा में जगत् वा सहाभूत नहीं किन्तु इस  
के एकदेश मात्र में हैं ॥ १० ॥

~~~~~

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वम् ।  
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचायेमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥ ११ ॥

~~~~~

पदपाठः—यः १ । योनिम् २ । योनिम् २ । अधितिष्ठति क्रि० । एकः १ ।  
यस्मिन् ७ । इदम् १ । सम् अ० । च अ० । वि अ० । च अ० । एति क्रि० ।  
सर्वम् १ । तम् २ । ईशानम् २ । वरदम् २ । देवम् २ । ईड्यम् २ । निचाय्य  
अ० । इमाम् २ । शान्तिम् २ । अत्यन्तम् २ । एति क्रि० ॥ ११ ॥

अन्वितपदार्थः—( यः ) परमात्मा ( एकः ) एक एव युगपत् ( योनिं यो-  
निम् ) सर्वाः योनीः ( अधितिष्ठति ) अधिष्ठाय वर्तते ( यस्मिन् ) परमात्मनि  
( इदम्, सर्वम् ) ( सम्, एति, वि, च, एति ) समेति, व्येति च । तस्मिन्नेवेदं  
सर्वम् जगत् उत्पत्तिं नाशं च प्राप्नोति । ( तम् ) ( ईशानम् ) सर्वशक्तिमन्तम्  
( वरदम् ) सुखद्व्यादिप्रदम् ( वरेण्यम् ) वरणीयं श्रेष्ठम् ( ईड्यम् ) स्तुत्यर्हम्



( देवम् ) ( निचाय्य ) ज्ञात्वा ( इमां, शान्तिम् ) इदं, शान्तं मोक्षपदम् ( अत्यन्तम् ) महान्तं कालम् ( एति ) प्राप्नोति ॥ ११ ॥

भा०-( यः ) जो ( एकः ) एकला ही ( योनिं, योनिम् ) प्रत्येक योनि का ( अधितिष्ठति ) अधिष्ठाता होकर वर्तमान है ( यस्मिन् ) जिस में ( इदं, सर्वम् ) यह, सब ( सन्, एति ) समाता है ( च ) और ( वि, एति ) उप-जता है ( तम् ) उस ( ईशानम् ) स्वामी ( वरदम् ) वरदाता ( ईड्यम् ) स्तुतियोग्य ( देवम् ) देव को ( निचाय्य ) जान कर ( इमां, शान्तिम् ) इस शान्ति को ( अत्यन्तम् ) दीर्घकालपर्यन्त ( एति ) पाता है ॥

तात्पर्य यह है कि परमात्मा एक ही, समस्त योनियों का एक ही काल में अधिष्ठाता है । जीवात्मा तौ किसी काल में किसी योनि में और दूसरे काल में दूसरी योनि में रहते हैं परन्तु परमात्मा एक साथ सब योनियों में साक्षि-भाव से रहता है । शेष स्पष्ट है ॥ ११ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ११ ॥

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।

हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ १२ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १२ ॥

पदपाठः-यः १ । देवानाम् ६ । प्रभवः १ । च अ० । उद्भवः १ । च अ० । विश्वाधिपः १ । रुद्रः १ । महर्षिः १ । हिरण्यगर्भम् २ । पश्यत क्रि० । जायमानम् २ । सः १ । नः २ । बुद्ध्या ३ । शुभया ३ । संयुनक्तु क्रि० ॥ १२ ॥

अन्वितपदार्थः-( यः ) ( देवानाम् ) अग्न्यादीनाम् ( प्रभवः ) उत्पत्तिः । स्थानसाधारः ( च ) पुनरर्थे ( उद्भवः ) लयस्थानम् ( विश्वाधिपः ) सर्वेश्वरः ( रुद्रः ) दुष्टदमनः ( महर्षिः ) अनन्तविद्यः । तम् ( हिरण्यगर्भम् ) “ ज्योतिर्वै हिरण्यम् ” शतपथे का० ६ अ० १ । तेजोगर्भम् ( जायमानम् ) अस्मद्भूदयाकाशे प्रादुर्भूतम् ( पश्यत ) श्वेताश्वतरादयः परस्परं वदन्ति-हे ऋषयः इदानीं साक्षात् कुरुत ( सः ) स एषः ( नः ) अस्मान् ( शुभया, बुद्ध्या ) शुद्धया, धिया ( संयुनक्तु ) संयुक्तान्करोतु ॥ १२ ॥

भा०-( यः ) जो ( देवानाम् ) देवतों का ( प्रभवः ) उत्पत्ति ( च ) और ( उद्भवः ) प्रलयस्थान है । ( विश्वाधिपः ) सर्वेश्वर ( रुद्रः ) दुष्टदमन ( महर्षिः ) अनन्तज्ञानवाला है उस ( जायमानम् ) प्रतीत हुए ( हिरण्यगर्भम् ) तेजोमय को ( पश्यत ) देखो ( सः ) वह ( नः ) हम को ( शुभया, बुद्ध्या ) पवित्र, बुद्धि से ( संयुनक्तु ) संयुक्त करे ॥ १२ ॥



श्वेताश्वतरादि ऋषि आपस में कहते हैं कि ऋषियो ! देखो, अब यह अग्न्यादि देवों का उत्पत्ति और लय स्थान, ज्योतिर्मय, आप के हृदय में " जायमान " प्रकट हुवा है । यह कृपया हमारी बुद्धि को पवित्र करे ॥ १२ ॥

यो देवानामधिपो यस्मिंल्लोका अधिश्रिताः ।

य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १३ ॥

पदपाठः—यः १ । देवानाम् ६ । अधिपः १ । यस्मिन् ७ । लोकाः १ । अधिश्रिताः १ । यः १ । ईशे क्रि० । अस्य ६ । द्विपदः ६ । चतुष्पदः ६ । कस्मै ४ । देवाय ४ । हविषा ३ । विधेम क्रि० ॥ १३ ॥

अन्वितपदार्थः—( यः ) ( देवानाम् ) अग्न्यादीनाम् ( अधिपः ) स्वामी ( यस्मिन् ) यदाधारे ( देवाः, अधिश्रिताः ) ( यः ) ( अस्य ) ( द्विपदः ) मनुष्यादेः ( चतुष्पदः ) गवादेः ( ईशे ) वशे स्थापयितास्ति ( कस्मै ) तस्मा एतस्मा आनन्दस्वरूपाय ( देवाय ) प्रकाशस्वरूपाय ( हविषा, विधेम ) भक्ति, कुर्मः ॥ १३ ॥

भा०—(यः) जो (देवानाम्) देवों का (अधिपः) स्वामी है (यस्मिन्) जिस में (देवाः) देव (अधिश्रिताः) ठहरे हैं (यः) जो (अस्य) इस (द्विपदः) दुपाये (चतुष्पदः) चौपाये का (ईशे) ईश्वर है (कस्मै) उस सुखस्वरूप के लिये (हविषा, विधेम) भक्ति, करें ॥

सब अग्न्यादि देवों का स्वामी और धर्ता, परमेश्वर ही है । यहीं नहीं कि वह जड़ भगत् अग्न्यादि का ही स्वामी है किन्तु वह दुपाये चौपाये आदि प्राणिवर्ग का भी स्वामी है इस लिये उस सुखस्वरूप सुखप्रद की उपासना भक्ति करनी चाहिये ॥१३॥

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।

विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥१४॥

पदपाठः—सूक्ष्मातिसूक्ष्मम् २ । कलिलस्य ६ । मध्ये ७ । विश्वस्य ६ । स्रष्टारम् २ । अनेकरूपम् २ । विश्वस्य ६ । एकम् २ । परिवेष्टितारम् २ । ज्ञात्वा अ० । शिवम् २ । शान्तिम् २ । अत्यन्तम् २ । एति क्रि० ॥१४॥

अन्वितपदार्थः—( सूक्ष्मातिसूक्ष्मम् ) आकाशादिसूक्ष्मेभ्योऽप्यतिसूक्ष्मम्



(कलिलस्य, मध्ये) शुक्रतुण्डं रजो हि गर्भाशये कलिलमित्युच्यते तस्य, अथवा सर्गारम्भे या आप उत्पद्यन्ते ता अपि जगद्योनित्वात् कलिलमिति वक्तुं शक्यन्ते तन्मध्ये (विश्वस्य) सर्वस्य चराचरस्य (स्रष्टारम्) उत्पादयितारम् (अनेकरूपम्) अनेके रूपयुक्ताः पदार्थाः स्वाभित्वे यस्य, नतु स्वयमनेकरूपम् अतीन्द्रियत्वादकायत्वाच्च (विश्वस्य) सर्वस्य (एकम्) अद्वितीयम् (परिवेष्टितारम्) सर्वतोवेष्टयितारम् (शिवम्) कत्याणम् (ज्ञात्वा) विज्ञाय (अत्यन्तम्) निरतिशयम् (शान्तिमेति) ॥ १४ ॥

भा०—(सूक्ष्मातिसूक्ष्मम्) सूक्ष्म से अति सूक्ष्म (कलिलस्य मध्ये) कलिल के, बीच में (विश्वस्य) सब के (स्रष्टारम्) रचने वाले (अनेकरूपम्) अनेक रूप की जिस की सृष्टि है (विश्वस्य) सब के (एकम्) अकेले ही (परिवेष्टितारम्) सब ओर से आच्छादन करने वाले (शिवम्) शान्तस्वरूप को (ज्ञात्वा) जान कर (अत्यन्तम्) सर्वथा (शान्तिम्) शान्ति को (एति) प्राप्त होता है ॥

गर्भाशय में स्त्री पुरुष के मिले हुवे वीर्य को वा सृष्टि के आरम्भ में हुवे आपः को कलिल कहते हैं । शेष स्पष्ट है ॥ १४ ॥

य एव काले भुवनस्य गोप्ता विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः ।

यस्मिन् युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छित्ति १५

पदपाठः—यः १ । एव अ० । काले १ । भुवनस्य ६ । गोप्ता १ । विश्वाधिपः १ । सर्वभूतेषु १ । गूढः १ । यस्मिन् ७ । युक्ताः १ । ब्रह्मर्षयः १ । देवताः १ । च अ० । तम् २ । एवम् अ० । ज्ञात्वा अ० । मृत्युपाशान् २ । छिनत्ति क्ति० ॥ १५ ॥

अन्वितपदार्थः—(यः) (एव) केवलः (काले) स्थितिसमये (भुवनस्य) जगतः (गोप्ता) रक्षकः (विश्वाधिपः) (सर्वभूतेषु, गूढः) (यस्मिन्) यदाधारे (ब्रह्मर्षयः) ब्रह्मर्षिगणाः (देवताः, च) अग्न्यादयो विद्वांसो वा (युक्ताः) (तम्, एवम्, ज्ञात्वा, मृत्युपाशान्, छिनत्ति) ॥ १५ ॥

भा०—(यः) जो (एव) ही (काले) समय पर (भुवनस्य) जगत् की (गोप्ता) रक्षा करने वाला है (विश्वाधिपः) सर्वेश्वर (सर्वभूतेषु) सब प्राणियों में (गूढः) अन्तर्यामी है (यस्मिन्) जिसमें (ब्रह्मर्षयः) ब्रह्मर्षि लोग (च) और (देवताः) देवगण (युक्ताः) युक्त हैं (तम्) उस को (एवम्) ऐसे (ज्ञात्वा) जान कर (मृत्युपाशान्, छिनत्ति) मृत्यु के फाँसों को, काट देता है ॥

यहां देवगण से अग्न्यादि भौतिक वा विद्वान् समझने चाहिये ॥ १५ ॥



घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम् ।  
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १६ ॥

पदपाठः—घृतात् ५ । परम् २ । मण्डमिव अ० । अतिसूक्ष्मम् २ । ज्ञात्वा अ० । शिवम् २ । सर्वभूतेषु ७ । गूढम् २ । विश्वस्य ६ । एकम् २ । परिवेष्टितारम् २ । ज्ञात्वा अ० । देवम् २ । मुच्यते क्रि० । सर्वपाशैः ३ ॥ १६ ॥

अन्वितपदार्थः—(घृतात्) (परम्) अधिकम् (अतिसूक्ष्मम्) (मण्डमिव) सर्वसाग्रम् । “सर्वसाग्रे मण्डमस्त्रियाम्” इत्यनरः । (सर्वभूतेषु, गूढम्, शिवं, विश्वस्य, एकं, परिवेष्टितारं, देवं, ज्ञात्वा, ज्ञात्वा, सर्वपाशैः, मुच्यते) ज्ञात्वेति पुनः पाठो दाढ्याय ॥ १६ ॥

भा०—(घृतात्) घृत से (परम्) अधिक (अतिसूक्ष्मम्) अत्यन्त सूक्ष्म (मण्डमिव) मण्ड के समान (सर्वभूतेषु) सब प्राणियों में (गूढम्) अन्तर्हित (शिवम्) कल्याणप्रद (विश्वस्य, एकं, परिवेष्टितारम्) जगत् के, एक, आच्छादन करने वाले (देवम्) देव को (ज्ञात्वा, ज्ञात्वा) जान कर, ही (मृत्युपाशैः) मृत्यु की फांसियों से (मुच्यते) छुटा जाता है ॥

मण्ड उस रस को कहते हैं जो सम्पूर्ण रसों से अधिक सूक्ष्म रस देह में घृतादि के भोजन से बनता है । शेष स्पष्ट है ॥ १६ ॥

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।  
हृदा मनीषा मनसाभिकल्पो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १७ ॥

पदपाठः—एषः १ । देवः १ । विश्वकर्मा १ । महात्मा १ । सदा अ० । जनानाम् ६ । हृदये ७ । संनिविष्टः १ । हृदा ३ । मनीषा ३ । मनसा ३ । अभिकल्पः १ । ये १ । एतत् २ । विदुः क्रि० । अमृताः १ । ते १ । भवन्ति क्रि० ॥ १७ ॥

अन्वितपदार्थः—(एषः) साक्षात्कृतः (देवः) द्योतनात्मकः (विश्वकर्मा) जगत्स्रष्टा (महात्मा) महाज्ञासावात्मा (सदा) सर्वस्मिन् काले (जनानां, हृदये, संनिविष्टः) (हृदा) हृदयेन (मनीषा) अयं पुरुषार्थोऽयमपुरुषार्थोऽयमात्माऽयमनात्मेति विवेकबुद्ध्या (मनसा) मननेन (अभिकल्पः) समर्थितोऽस्ति । (ये, एतत्, विदुः, ते, अमृताः, भवन्ति) ॥ १७ ॥



भा०-(एषः) यह (देवः) देव है जो (विश्वकर्मा) जगत् का स्रष्टा (महात्मा) महान् आत्मा (सदा) सदा (जनानाम्) प्राणियों के (हृदये) हृदय में (सन्नि-विष्टः) प्रविष्ट रहता है (हृदा) हृदय से (सनीषा) बुद्धि से (मनसा) और मनन से (अभिकृत्तः) समर्थित किया जाता है (ये) जो लोग (एतत्) इसे (विदुः) जानते हैं (ते, अमृताः, भवन्ति) वे, अमर, हो जाते हैं ॥

तात्पर्य यह है कि ईश्वरप्राप्ति में हृदय बुद्धि और मन सब लगा देना चाहिये अर्थात् मनन बोध और चिन्ता अन्यवस्तुओं की त्याग देनी चाहिये ॥ १७ ॥

अथ मुक्तपुरुषावस्थामाह-

यदाऽतमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिवएव केवलः ।

तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी ॥ १८ ॥

पदपाठः-यदा अ० । अतमः १ । तत् १ । न अ० । दिवा अ० । न अ० । रात्रिः १ । न अ० । सत् १ । न अ० । च अ० । असत् १ । शिवः १ । एव अ० । केवलः १ । तत् १ । अक्षरम् १ । तत् १ । सवितुः ६ । वरेण्यम् १ । प्रज्ञा १ । च अ० । तस्मात् ५ । प्रसृता १ । पुराणी १ ॥ १८ ॥

अश्वितपदार्थः-(यदा) यस्यामवस्थायाम् (अतमः) अन्धकाराभावः । किं तर्हि दिनं, नेत्याह-(तत्, दिवा, न) किन्तु विलक्षणमेव । किन्तु तर्हि रात्रिर्नैत्याह-(न, रात्रिः) (न, सत्) सत्प्रतीयमानं जगत् अपि न प्रतीयते (न, च, असत्) अभावोपि सर्वस्य, न (केवलः) एकः (शिवः, एव) आनन्दमयः परमात्मा एव साक्षात्क्रियते । (तत्) परमात्मनः स्वरूपम् (अक्षरम्) अविनाशि (तत्) (सवितुः) जगत्पितुः (वरेण्यम्) वरणीयम् स्वरूपं भवति (तस्मात्) परमात्मनः सकाशात् (प्रसृता) प्रचारगता (पुराणी) समातनी (प्रज्ञा, च) वेदमयी बुद्धिज्ञानं वा प्रतिभाति । नान्यत्किञ्चित्सदसद्वाऽन्यद्वा प्रतिभाति मुक्तस्य । यथाऽनन्यधिया किमपि रूपं विषयीकुर्वन्तो वयं मद्यां स्थिता अपि न तां विजानीमो वायुं जिघ्रन्तोपि न तं विजानीमस्तथैवानन्यसंस्कारात्मानः परमात्मातिरिक्तं तज्ज्ञानवेदातिरिक्तं च किमप्यन्यत् न विषयीकुर्म इति भावः ॥ १८ ॥

भा०-अब मुक्त पुरुष की अवस्था का वर्णन करते हैं कि (यदा) जिस समय में (अतमः) अन्धकार नहीं होता (तत्, न, दिवा) वह, न, दिन है (न, रात्रिः) न, रात्रि है । (न, सत्, च, न, असत्) न, सत् होता, और, न,



असत् होता । किन्तु ( केवलः, शिवः, एव ) केवल, परमात्मा, ही होता है ।  
 ( तत् ) वह ( अक्षरम् ) अविनाशी है ( तत् ) वह ( सवितुः ) जगत्पिता  
 का ( वरेण्यम् ) वरणीय स्वरूप है ( च ) और ( तस्मात् ) उस से ( प्रसृता )  
 फैलनेवाली ( पुराणी ) सनातनी ( प्रज्ञा ) बुद्धि वा ज्ञान है ॥

तात्पर्य यह है कि सुकपुरुष की विलक्षण अवस्था होती है उसे न अन्वि-  
 यारा है न दिन है न रात्रि है । न सत् प्रतीयमान जगत् है । न असत् अर्थात्  
 जगत् का अभाव है । केवल एक परमात्मा ही परमात्मा है और उस का  
 सनातन ज्ञान वेद है और कुछ भान नहीं होता । जैसे अतिप्रिय स्वरूप को  
 देखते हुवे जब हम अनन्य हो जाते हैं तौ यद्यपि हम पृथिवी पर खड़े होते  
 हैं परन्तु पृथिवी को भान नहीं करते, वायु से श्वास लेते स्पर्श करते हैं परन्तु  
 उसे भान नहीं करते । यही अवस्था उस अविनाशी वरेण्य-वरणीय परमात्मा  
 के स्वरूप को पाकर सुक पुरुष की होती है ॥ १८ ॥

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत् ।

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नामं सहयशः ॥ १९ ॥

पदपाठः— न अ० । एनम् २ । ऊर्ध्वम् २ । न अ० । तिर्यञ्चम् २ । न अ० ।  
 मध्ये १ । परिजग्रभत् क्रि० । न अ० । तस्य ६ । प्रतिमा १ । अस्ति क्रि० ।  
 यस्य ६ । नाम अ० । सहत् १ । यशः १ । ॥ १९ ॥

अन्वितपदार्थः—(न) (एनम्) पूर्वोक्तं परमात्मानम् कञ्चित् (ऊर्ध्वम्) उपरि  
 (न) (तिर्यञ्चम्) अधस्तात् अतएव (न, मध्ये, परिजग्रभत्) ग्रहीतुं शक्नोति ।  
 कुतः (न, तस्य, प्रतिमा, अस्ति) भूतिमान् हि उपरि अधस्तात् मध्ये वा ग्रहीतुं  
 शक्यो नामूर्तः । (यस्य) परमात्मनः (नाम) प्रसिद्धम् (सहत्, यशः) स्पष्टम् ॥

पूर्वार्धं यजुर्वेदे द्वात्रिंशत्तमाध्याये द्वितीयसन्त्रोत्तरार्धम् । उत्तरार्धं च तत्रैव  
 तृतीयसन्त्रपूर्वार्धम् ॥ १९ ॥

भा०—(न) न (एनम्) इस को (ऊर्ध्वम्) ऊपर से (न) न (तिर्यञ्चम्)  
 तिरछा (न) न (मध्ये) बीच में (कोई) (परिजग्रभत्) पकड़ सकता है  
 क्योंकि (तस्य, प्रतिमा, न, अस्ति) उस को, प्रतिमा, नहीं, है (यस्य)  
 जिस का (सहत्) बड़ा (यशः) यश (नाम) प्रसिद्ध है ॥

इस श्लोक का पूर्वार्ध यजुर्वेद अ० ३२ मं० २ का उत्तरार्ध है । और उत्त-



रार्थ उसी अध्याय के ३ रे मन्त्र का पूर्वार्ध है । ऋषियों ने इन दो वेद-वाक्यों को हेतुपूर्वक संगत किया है कि उस को कोई ऊपर नीचे वा बीच में से कहीं से भी नहीं पकड़ सका क्योंकि सूर्तिमान् पदार्थ पकड़े जा सकते हैं, वह असूर्त है ॥ १९ ॥

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।

हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २० ॥

पदपाठः—न अ० । संदृशे ४ । तिष्ठति क्रि० । रूपम् १ । अस्य ६ । न अ० । चक्षुषा ३ । पश्यति क्रि० । कश्चन अ० । एनम् २ । हृदा ३ । हृदिस्थम् २ । मनसा ३ । ये १ । एनम् २ । एवम् अ० । विदुः क्रि० । अमृताः १ । ते १ । भवन्ति क्रि० ॥ २० ॥

अन्वितपदार्थः—( अस्य ) परमात्मनः ( रूपम् ) सच्चिदानन्दसयी सत्ता ( संदृशे ) चक्षुषे ( न, तिष्ठति ), अतएव ( एनम्, कश्चन, चक्षुषा, न, पश्यति ) । किन्तु ( ये ) त्यक्तसर्वसङ्गास्तदेकभक्ताः ( एनम् ) परमात्मानम् ( हृदिस्थम् ) हृदयाकाशे स्थितम् ( हृदा ) हृदयेन ( मनसा ) मननशक्त्या ( एवम् ) उपनिषद्युक्तेन प्रकारेण ( विदुः ) जानन्ति ( ते, अमृताः, भवन्ति ) ॥

परमात्मा यद्यपि बाह्यनसाऽतीतः परन्तु अत्र न प्राकृतमनसो ग्रहणम् किन्तु जीवात्मनि या मननशक्तिर्यथा प्राकृतं मन आदाय कार्यं करोति यां विना मनसि सत्यपि न किञ्चिन्मन्तुं शक्नोति सैवान्न मनः शब्देन ग्राह्या ॥ २० ॥

भा०—( अस्य ) इस का ( रूपम् ) स्वरूप ( संदृशे ) आंख के लिये ( न ) नहीं ( तिष्ठति ) ठहरता । इसी लिये ( एनम् ) इस को ( कश्चन ) कोई ( चक्षुषा ) आंख से ( न ) नहीं ( पश्यति ) देखसकता । किन्तु ( ये ) जो लोग ( एनम् ) इस को ( हृदिस्थम् ) हृदयस्थ को ( हृदा ) जी से ( मनसा ) मनन शक्ति से ( एवम् ) ऐसे ( विदुः ) जानते हैं ( ते ) वे लोग ( अमृताः, भवन्ति ) अमर, होजाते हैं ॥

क्योंकि उस का रूप अर्थात् उस की सत्ता अत्यन्त सूक्ष्म होने से आंख से देखने में नहीं आसकती इसलिये उसे कोई आंख से नहीं देखता । यद्यपि वह बाह्यी और मन का भी विषय नहीं परन्तु यहां “मन” कहने से जीवात्मा की उस शक्ति का ग्रहण करना चाहिये जिस शक्ति के बल से जीवात्मा प्राकृत मन से काम लेता और जिस के बिना, प्राकृत मन होते हुवे भी कुछ विचार नहीं हो सका ॥ २० ॥



अजात इत्येवं कश्चिद्भीरुः प्रपद्यते ।

रुद्र यत्त दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम् ॥ २१ ॥

पदपाठः—अजातः १ । इति अ० । एवम् अ० । कश्चित् अ० । भीरुः १ । प्रपद्यते क्रि० । रुद्र सम्बो० । यत् १ । ते ६ । दक्षिणम् १ । मुखम् १ । तेन ३ । माम् २ । पाहि क्रि० । नित्यम् २ ॥ २१ ॥

अन्वितपदार्थः—(रुद्र) हे दुष्टदमन ! भवान् (अजातः) जन्मरहितः ( इति ) अस्मात्कारणात् ( कश्चित् ) ( भीरुः ) जन्मभीरुः ( एवम् ) उक्तप्रकारेण भवन्तम् ( प्रपद्यते ) शरणागतो भवति । ( यत् ) ( ते ) तव ( दक्षिणम् ) कुशलम् ( मुखम् ) साक्षात्करणम् ( तेन, मां, नित्यं, पाहि ) ॥ २१ ॥

भा०—( रुद्र ) हे रुद्र ! ( अजातः ) आप अजन्मा है ( इति ) इस कारण ( कश्चित् ) कोई ( भीरुः ) जन्म से डरने वाला ( एवम् ) इस प्रकार ( प्रपद्यते ) शरण आता है सो ( ते ) आप का ( यत् ) जो ( दक्षिणम् ) अत्यन्त चतुर [ज्ञानयुक्त] ( मुखम् ) साक्षाद्भाव है ( तेन ) उस से ( माम् ) मेरी ( नित्यम् ) नित्य (पाहि) रक्षा कीजिये ॥

कोई जन्मदुःख से डरने वाला इस कारण आप के शरण में आता है कि आप अजन्मा हैं उस का जन्म बुझा देंगे । इसलिये भगवन् ! आप अपने अनन्तज्ञानयुक्त साक्षात्कार से मेरी रक्षा करें ॥ २१ ॥

इदानीं रक्षाप्रकरणे वेदेषु रक्षार्थं भवत्प्रार्थना विहितेति ते ऋषयो रक्षार्थनामन्त्रं पठन्ति—

मानस्तोके तनये मान् आयुषि मानो गोषु मानो अश्वेषु  
रीरिषः । वीरान्मानो रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदामित्वा  
हवामहे ॥ २२ ॥

इति श्वेताश्वतरोपनिषदि चतुर्थोऽध्यायः ॥

पदपाठः—मा अ० । नः ६ । तोके ७ । तनये ७ । मा अ० । नः ६ । आयुषि ७ । मा अ० । नः ६ । गोषु ७ । मा अ० । नः ६ । अश्वेषु ७ । रीरिषः क्रि० । वीरान् २ । मा अ० । नः ६ । रुद्र सम्बो० । भामिनः २ । वधीः क्रि० । हविष्मन्तः १ । सदम् २ । इत् अ० । त्वा २ । हवामहे क्रि० ॥ २२ ॥



अन्वितपदार्थः—( रुद्र ) हे दुष्टदमन ! वयं न दुष्टाः किन्तु भवत्सेवका भवदाज्ञापालकाः अतएव ( नः ) अस्माकम् ( तोके ) सद्योजातेऽपत्ये ( तनये ) पञ्चमवर्षादूर्ध्ववयस्के संताने ( मा ) न ( मा, नः, आयुषि, मा, नः, गोषु, मा, नः, अश्वेषु ) ( रीरिषः ) प्रहारं कुरु ( नः, वीरान् ) ( भामिनः ) मन्युवतः ( मा, अवधीः ) । ( हविष्मन्तः ) भक्त्याद्युपायनवन्तो वयम् ( सदम् ) स्थिर-स्वरूपम् ( इत् ) एव ( त्वा ) त्वाम् ( हवामहे ) स्वीकुर्मः ॥

यद्यपि प्रकृतानां श्वेताश्वतरादीनामृषीणां नाधुना पुत्रादिरक्षाप्रार्थना युक्ता परन्तु नहि ते आत्मपुत्रादिरक्षां प्रार्थयन्ते किन्तु जन्ममरणरूपसंसार-भीताः सन्तो हि जन्मादिदुःखेभ्यो रक्षां प्रार्थयमानाः “ मान० ” इति प्रसंग-प्राप्तं मन्त्रमूचुः । यजुषि ६१ । १६ ऋचि च १ । ८ । ६ । ८ । अयं मन्त्रः । ऋचि च “ आयौ ” इति मानोवीरानिति यजुषि च पाठान्तरम् ॥ २२ ॥

इति तुलसीराम स्वामि कृते श्वेता० भाष्ये चतुर्थाऽध्यायः समाप्तः ॥ ४ ॥

भा० ( रुद्र ) हे रुद्र ! ( मा ) मत ( नः ) हमारी ( आयुषि ) आयुः पर ( मा ) मत ( नः ) हमारी ( गोषु ) गौओं पर ( मा ) मत ( नः ) हमारे ( अश्वेषु ) घोड़ों पर ( रीरिषः ) प्रहार करें ( नः ) हमारे ( भामिनः ) क्रुद्ध ( वीरान् ) वीर पुरुषों को ( मा ) मत ( अवधीः ) मारिये ( सदम् ) स्थिर-स्वरूप ( त्वा ) आप को ( इत् ) ही ( हवामहे ) हम स्वीकार करते हैं ॥

हे रुद्र ! आप दुष्टदमनकर्ता हैं और हम आप के सेवक आप की आज्ञा वेद के अनुगामी हैं इसलिये हमारे तोक, तत्काल जन्मे बच्चे और तनय—पांच वर्ष के ऊपर अवस्था के सन्तान, गौ, घोड़े, वीर पुरुषों की रक्षा कीजिये, मारिये नहीं । यद्यपि श्वेताश्वतरादि ऋषियों को प्रकरण में पुत्रादि की रक्षा-प्रार्थना का प्रयोजन नहीं है परन्तु जन्मादि दुःखों से व्याकुल हुवे वे ऋषि जन्मादिदुःखों से अपनी रक्षा चाहते हुवे रक्षाप्रार्थनाप्रसङ्ग में इस यजुः १६ । १६ और ऋक् १ । ८ । ६ । ८ में आये मन्त्र को केवल “ रक्षाप्रार्थना आप के वेद में हैं, इस अभिप्राय में पढ़ते हैं । न कि स्वयं भी पुत्रादि के प्रार्थी होकर ऋग् में “ आयौ ” और यजुः में “ मानो वीरान् ” इतना पाठभेद है ॥ २२ ॥

यह तुलसीराम स्वामिकृत श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्य में चतुर्थाऽध्याय समाप्त हुवा ॥४॥



पूर्वाध्यायशेषमपूर्वार्धं प्रतिपादयितुं पञ्चमाध्याय आरभ्यते—

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे ।

क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥१॥

पदपाठः—द्वे १ । अक्षरे १ । ब्रह्मपरे १ । तु अ० । अनन्ते १ । विद्याविद्ये १ । यत्र अ० । गूढे १ । क्षरम् १ । तु अ० । अविद्या १ । हि अ० । असृतम् १ । तु अ० । विद्या १ । विद्याविद्ये २ । ईशते क्रि० । यः १ । तु० अ० । सः १ । अन्यः १ ॥ १ ॥

अन्वितपदार्थः—( यत्र ) यस्मिन् ( अक्षरे ) अविनाशिनि ( ब्रह्मपरे ) परब्रह्मणि । पूर्वनिपातआर्धः । ( तु ) पुनरर्थे ( अनन्ते ) देशकालाद्यनवच्छिन्ने ( द्वे ) ( विद्याविद्ये ) आत्मज्ञानं विद्या तद्विज्ञान्यपदार्थज्ञानमविद्या विद्या चाविद्या च विद्याविद्ये ( गूढे ) अन्तर्हिते सर्वैरविज्ञाते ( निहिते ) स्तः । तत्र ( क्षरं, तु, अविद्या ) आत्मभिन्नपदार्थज्ञानं क्षरं विनाशि । अन्यपदार्थानां नाशवत्त्वात् । ( हि ) निश्चयेन ( विद्या, तु, असृतम् ) आत्मज्ञानं, तु, मोक्षदम् । ( यः, तु, विद्याविद्ये, ईशते, सः, अन्यः ) यश्च विद्याया आत्मज्ञानस्य, अविद्यायास्तदभिन्नपदार्थविज्ञानस्य च स्वामी सोऽन्यः परमात्मास्ति ॥ १ ॥

भा०—पूर्वाध्याय से बचे हुवे उसी अपूर्व अर्थ को प्रतिपादन करने के लिये पञ्चमाध्याय का आरम्भ किया जाता है—

( यत्र ) जिस ( अक्षरे ) अविनाशी ( तु ) और ( अनन्ते ) अनन्त ( ब्रह्मपरे ) परब्रह्म में ( द्वे ) दो ( विद्याविद्ये ) विद्या और अविद्या ( गूढे ) गूढ ( निहिते ) वर्तमान हैं । ( तु ) और ( यः ) जो ( विद्याविद्ये ) विद्या और अविद्या का ( ईशते ) ईश्वर है । ( सः ) वह ( अन्यः ) और ही है । ( तु ) और ( अविद्या ) अविद्या ( क्षरम् ) नाशवाली है ( हि ) निश्चय ( विद्या ) विद्या ( तु ) तौ ( असृतम् ) मोक्षदायिका है ॥

वेदान्तशास्त्र में आत्मज्ञान को विद्या कहते हैं और आत्मातिरिक्तपदार्थों के ज्ञान को अविद्या कहते हैं अर्थात् आत्मविद्या=विद्या । और पदार्थविद्या=अविद्या । इस रीति से परमात्मा में विद्या और अविद्या नाम के दोनों ज्ञान हैं और वह उन दोनों का ईश्वर है । उस के वेद रूप ज्ञान में दोनों प्रकार के ज्ञान



हैं। जिन में से एक पदार्थविज्ञान तो नश्वर है परन्तु दूसरा आत्मज्ञान मोक्षदायक है ॥ १ ॥

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः ।  
ऋषिं प्रसूतंकपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्विभर्ति जायमानं च पश्येत् ॥ २ ॥

पदपाठः— यः १ । योनिम् २ । योनिम् २ । अधितिष्ठति क्रि० । एकः १ । विश्वानि २ । रूपाणि २ । योनीः २ । च अ० । सर्वाः २ । ऋषिम् २ । प्रसूतम् २ । कपिलम् २ । यः १ । तम् २ । अग्रे अ० । ज्ञानैः ३ । विभर्ति क्रि० । जायमानम् २ । च अ० । पश्येत् क्रि० ॥ २ ॥

अन्वितपदार्थः—(यः) सर्वेश्वरः (योनिं, योनिम्, अधितिष्ठति) (एकः) असहायः (यः) पूर्वोक्तः सर्वेश्वरः (ऋषिम्) ज्ञानिनं ज्ञानाधिकरणमात्मानं जीवात्मानम् (प्रसूतम्) गर्भाशयाद्विस्तृतम् (कपिलम्) हतज्ञानप्रभम् (ज्ञानैः) ज्ञानेन्द्रियैः (अग्रे) प्रयत्नावस्थायाम् (विभर्ति) पुष्पाति (जायमानम्) उत्पन्नमानम् (तम्) जीवात्मानम् (च) (विश्वानि, रूपाणि, सर्वाः, योनीः, च, (पश्येत्) पश्यति लकारव्यत्ययः ॥

अयंभावः—यः सर्वेश्वरः सर्वयोनिगतानां जीवात्मनामधिष्ठातास्ति स एव प्रसूतं हतज्ञानं जीवात्मानं ज्ञानेन्द्रियसहायतादानेन पुष्पाति, जीवात्मनो योनीनां च सर्वासां साक्षी चापि स एवेति ॥ २ ॥

भा०—(यः) जो (योनिं योनिम्) सब योनियों का (एकः) एक (अधितिष्ठति) अधिष्ठाता है वही (ऋषिम्) चेतन जीवात्मा (प्रसूतम्) उत्पन्न हुवे (कपिलम्) हतज्ञान का (अग्रे) वाल्यावस्था में (ज्ञानैः) ज्ञानेन्द्रियों से (विभर्ति) पोषण करता है (च) और (जायमानम्) उत्पन्न हुवे (तम्) उस को (च) और (विश्वानि, रूपाणि) सब, रूपों तथा (योनीः) योनियों को (पश्येत्) देखता है ॥

तात्पर्य यह है कि परमात्मा प्रत्येक योनि का एकेला ही अधिष्ठाता है। और एक २ योनि के अधिष्ठाता जीवात्मा लोगों को जब वे वाल्यावस्था में कपिल अर्थात् ज्ञान की ज्योति से रहित से होजाते हैं तो परमात्मा ही उन को ज्ञानेन्द्रियां देता और पुष्ट करता है अर्थात् उन के ज्ञान को पकाता है। और उन जीवात्माओं तथा सब रूप और योनियों का साक्षी रहता है । २।



एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन्क्षेत्रे संहरत्येष देवः । भूयः  
सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥ ३ ॥

पदपाठः—एकैकम् २ । जालम् २ । बहुधा अ० । विकुर्वन् १ । अस्मिन् १ ।  
क्षेत्रे १ । संहरति क्रि० । एषः १ । देवः १ । भूयः अ० । सृष्ट्वा अ० । पतयः १ ।  
तथा अ० । ईशः १ । सर्वाधिपत्यम् २ । कुरुते क्रि० । महात्मा १ ॥ ३ ॥

अन्वितपदार्थः—(एषः, देवः) एष, परमात्मा (एकैकम्) प्रत्येकम् (जालम्)  
मोहाऽऽस्पदं संसाररूपम् जालम् (बहुधा, विकुर्वन्) विकृतं कुर्वन्सन् (संहरति)  
प्रलयकालइतिशेषः (भूयः) पुनरपि (अस्मिन्) प्रकृत्यात्मके (क्षेत्रे) (ईशः)  
ऐश्वर्यवान् । (तथा) यथापूर्वम् (पतयः) पतीन् इति वक्तव्ये व्यत्ययेन प्रथमा ।  
प्रजापतीन्सूर्यादीन् (सृष्ट्वा) उत्पाद्य (महात्मा) महान्वासावात्मा (सर्वाधिपत्यं,  
कुरुते) ॥

भा०—(एषः) यह (देवः) दिव्यगुणयुक्त (ईशः) ऐश्वर्यवान् (महात्मा) महान्  
आत्मा=परमात्मा (एकैकम्) प्रत्येक (जालम्) जाल को (बहुधा) बहुत प्रकार  
से (विकुर्वन्) विकारी करता हुआ (अस्मिन्) इस (क्षेत्रे) क्षेत्र में (संहरति)  
संहार करता है (भूयः) फिर (पतयः) प्रजापतियों को (तथा) वैसे ही (सृष्ट्वा)  
रच कर (सर्वाधिपत्यम्) सब पर राज्य (कुरुते) करता है ॥

अर्थात् परमात्मा प्रत्येक संसाररूपी जाल को बहुत प्रकार से बनाता,  
बिगाड़ता, संहार करता और उसी प्रकार फिर २ प्रजापतियों=सूर्यादि लोक-  
पालों को रच कर उन का राज्य करता है ॥ ३ ॥

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक्प्रकाशयन्भ्राजते यद्वनड्वान् ।

एवं स देवो भगवान् वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः ॥ ४ ॥

पदपाठः—सर्वाः २ । दिशः २ । ऊर्ध्वम् २ । अधः अ० । च अ० । तिर्यक् २ ।  
प्रकाशयन् १ । भ्राजते क्रि० । यत् अ० । उ अ० । अनड्वान् १ । एवम् अ० ।  
सः १ । भगवान् १ । वरेण्यः १ । योनिस्वभावान् २ । अधितिष्ठति क्रि० । एकः १ ॥ ४ ॥

अन्वितपदार्थः—(यत्, उ) यथा (अनड्वान्) अनः प्राणं वहति सोऽन-  
ड्वान्सूर्यः (सर्वाः, दिशः) पूर्वाद्याश्चतस्रः (ऊर्ध्वम्) उपरि (अधः) नीचैः (च)



( तिर्यक् ) विदिशः ( प्रकाशयन् ) प्रकाशं प्रापयन्सन् ( आजते ) स्वयमपि प्रकाशते ( एवम् ) तथैव ( सः ) ( देवः ) दिव्यगुणः ( भगवान् ) ऐश्वर्यवान् ( वरेण्यः ) स्वीकरणीयः उपास्यः ( एकः ) असहायः ( योनिस्वभावान् ) योनीश्च स्वभावांश्च ( अधितिष्ठति ) ॥

यथा सूर्यः स्वयंप्रकाशः सन्नन्याः सर्वाः दिशो विदिशश्च प्रकाशयति तथै-  
वेश्वरः सर्वेश्वरत्वेन वर्तते ॥ ४ ॥

भा०-(यत्, उ) जिस प्रकार ( अनङ्वान् ) सूर्य ( सर्वाः ) सब ( दिशः ) दिशाओं और ( ऊर्ध्वम् ) ऊपर ( च ) और ( अधः ) नीचे ( तिर्यक् ) तिरछी ओर ( प्रकाशयन् ) प्रकाशित करता हुवा ( आजते ) स्वयं प्रकाशता है ( एवम् ) इसी प्रकार ( सः ) वह ( देवः ) दिव्यगुणी ( भगवान् ) ऐश्वर्य वाला ( वरेण्यः ) भक्ति करने योग्य ( एकः ) अकेला ( योनिस्वभावान् ) योनि और स्वभावों का ( अधि-  
तिष्ठति ) राज्य करता है ॥

अनङ्वान् पद से सूर्य का ग्रहण संस्कृतभाष्य में सप्रमाण किया है ।  
जैसे सूर्य स्वयंप्रकाश होकर पूर्वादि चारों दिशा विदिशा नीचे ऊपर तिरछा  
सब ओर के पदार्थों को प्रकाश पहुंचाता है वैसे ही परमात्मा सब पर राज्य  
करता है ॥ ४ ॥

पुनः किम्भूतः स इति तमेव विशिनष्टि-

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद्यः ।  
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः ॥ ५ ॥

पदपाठः-यत् १ । च अ० । स्वभावम् २ । पचति क्रि० । विश्वयोनिः १ ।  
पाच्यान् २ । च अ० । सर्वान् २ । परिणामयेत् क्रि० । यः १ । सर्वम् २ । एतत् २ ।  
अधितिष्ठति क्रि० । एकः १ । गुणान् २ । च अ० । सर्वान् २ । विनियोजयेत्  
क्रि० । यः १ ॥ ५ ॥

अश्वितपदार्थः-( यत् ) यः लिङ्गव्यत्ययः ( स्वभावम् ) तत्तत्पदार्थस्य स्व-  
कौयं भावम् ( पचति ) स्वकार्यकरणक्षमं सम्पादयति ( च ) पुनरर्थे ( पाच्यान् )  
विपरिणामाहान् ( सर्वान् ) समस्तान् ( यः ) ( परिणामयेत् ) विपरिणामयति  
इत्यस्य स्थाने आर्षम् । ( च ) पुनरर्थे ( एकः ) एक एव ( एतत्, सर्वम् ) ( विश्वम् )  
जगत् ( अधितिष्ठति ) ( च ) पुनरर्थे ( सर्वान्, गुणान् ) तत्तद्द्रव्यगतान्सर्वान्



गुणान् गन्धादीन् ( यः ) ( विनियोजयेत् ) विनियोजयति । लकारव्यस्ययः । स्वश्वकार्यनियुक्तान्सम्पादयति । सः ( सर्वयोनिः ) सर्वेषामुत्पत्तिस्थानमस्ति इति ज्ञातव्यम् ॥

यथा पक्वं सत् फलं स्वादु हृद्यं पूर्णं भक्ष्यपक्वं चाऽस्वादुशोभनमपूर्णं भवति तथैव स्रष्टृसृष्टाः सर्वे पदार्थाः शोभनाः सम्पन्नाः पक्वाइत्युच्यन्ते । तेषां पाचयिता पूरयिता विपरिणमयिता च स्रष्टैवेति निर्धिवादम् । अतएवात्रोक्तं स एव सर्वस्रष्टृपदार्थस्वभावं पचति तत्तद्गुणांश्च । स एव च तत्तद्द्रव्यगुणान् तत्तत्कार्येषु नियुक्तान् करोति । इदमेव तस्याधिष्ठातृत्वम् ॥ ५ ॥

भा०—(च) और (यत्) जो (स्वभावम्) स्वभाव को (पचति) पकाता है (च) और (सर्वान्) सब (पाचयान्) पचाये योग्यों को (यः) जो (परिणामयेत्) पकाता है (यः) जो (एकः) अकेला (सर्वम्) सब (एतत्) इस (विश्वम्) जगत् का (अधितिष्ठति) राज्य करता है (च) और (सर्वान्) सब (गुणान्) गुणों को ( विनियोजयेत् ) नियुक्त करता है ॥

प्रत्येक स्रष्टृ पदार्थ के स्वभाव को स्रष्टा ने ही पकाया है वही उस २ द्रव्य के उस २ गुण को अपने २ काम में नियुक्त करता है अर्थात् वह सब पर अधिष्ठाता है । उस की आज्ञा का उल्लङ्घन कोई नहीं कर सक्ता ॥ ५ ॥

तद्वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं तद्ब्रह्मा वेदते ब्रह्म योनिम् ।

ये पूर्वदेवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥६॥

पदपाठः—तत् २ । वेदगुह्योपनिषत्सु ७ । गूढम् २ । तत् २ । ब्रह्मा १ । वेदते क्रि० । ब्रह्म २ । योनिम् २ । ये १ । पूर्वदेवाः १ । ऋषयः १ । च अ० । तद् २ । विदुः क्रि० । ते १ । तन्मयाः १ । अमृताः १ । वै अ० । बभूवुः क्रि० ॥ ६ ॥

अन्वितपदार्थः—(तत्) पूर्वोक्तं सर्वस्याधिष्ठातृ (वेदगुह्योपनिषत्सु) वेदानां गुह्याः सारभूतारहस्यभूता वा या उपनिषदः उपासनाशिक्षास्तासु (गूढम्) साधारणैरविज्ञेयत्वेन वर्णितम् (योनिम्) सर्वस्योत्पत्तिस्थानम् (तत्, ब्रह्म) (ब्रह्मा) वेदवित् (वेदते) वेत्ति, नत्ववेदवित् । (ये) पूर्वदेवाः) पूर्वं च ते देवा विद्वांसः (ऋषयश्च) ज्ञानवृद्धा महर्षयश्च (तत्) ब्रह्म (विदुः) विदांचक्रुः (ते) (तन्मयाः) तन्मनस्काः सन्तः (वै) निश्चयेन (अमृताः, बभूवुः) ॥६॥

भा०—(तत्) उस (वेदगुह्योपनिषत्सु) वेदों की रहस्यभूत जो उपनिषद्



ब्रह्मविद्या उन में (गूढम्) गूढभाव से वर्णित (योनिम्) उत्पत्तिस्थान (ब्रह्म) ब्रह्म को (ब्रह्मा) वेदवेत्ता विद्वान् (वेदते) जानता है (तत्) वह ब्रह्म है। (ये) जिन (पूर्वदेवाः) पूर्वले विद्वानों (च) और (ऋषयः) ऋषियों ने (तत्) उसे (विदुः) जाना (ते) वे (तन्मयाः) उसी में रत होते हुवे (वै) निश्चय (अमृताः) अमर (बभूवुः) हुए ॥६॥

षड्भिर्जीवात्मानं वर्णयति-

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।  
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः ॥७॥

पदपाठः-गुणान्वयः १ । यः १ । फलकर्मकर्ता १ । कृतस्य ६ । तस्य ६ । एव ० । सः १ । च ० । उपभोक्ता १ । सः १ । विश्वरूपः १ । त्रिगुणः १ । त्रिवर्त्मा १ । प्राणाधिपः १ । संचरति क्रि० । स्वकर्मभिः ३ ॥७॥

अन्वितपदार्थः-( यः ) ( गुणान्वयः ) प्रकृतिगुणैरन्वयः साहित्यमस्य सः (फलकर्मकर्ता) फलानां कर्मणां च कर्ता । फलानां कर्माधीनत्वात्कर्मणां च जीवात्माधीनत्वादुभयोरपि जीवात्मैव कर्ता । (तस्य, कृतस्य, च, सः, एव, उपभोक्ता) । (सः) विश्वरूपः) विश्वानि समस्तानि नानायोनिगतानि रूपाणि यस्य सः ( त्रिगुणः ) त्रयोरजआदिका गुणाः सशरीरस्य यस्य सः ( त्रिवर्त्मा ) त्रयोमार्गा मध्यमोत्तमनिकृष्टानि वर्त्मानि यस्य सः (प्राणाधिपः) प्राणानामधिपः स्वामी यदधीनाः प्राणायदनुगामिनश्च (स्वकर्मभिः) ( संचरति ) सञ्चरते नाना-योनिषु इति शेषः ॥

यद्यपि जीवात्मनि केवले देहेन्द्रियरहिते नैव त्रिगुणत्वादयोधर्मा उपपद्यन्ते परन्तु संसृतस्यात्मनोऽत्र वर्णने सर्वं वक्तुं शक्यते ॥७॥

भा०-अब छः श्लोकों से जीवात्मा का वर्णन करते हैं (यः) जो (गुणान्वयः) गुणों से मेल वाला (फलकर्मकर्ता) फलों और कर्मों का कर्ता है (सः, एव) वह, ही (तस्य, कृतस्य, उपभोक्ता, च) उस, किये का, भोगने वाला, भी है । (सः) वह (विश्वरूपः) अनेक रूप धारता है ( त्रिगुणः ) तीन गुणों का धर्ता (त्रिवर्त्मा) तीन मार्गों वाला (प्राणाधिपः) प्राणों का स्वामी (स्वकर्मभिः) अपने कर्मों से (संचरति) घूमता फिरता है ॥

तात्पर्य यह है कि जीवात्मा वास्तव में सत्त्वादि प्रकृति के ३ गुणों का



साथी होकर त्रिगुण कहा जाता है और इसी से कर्मानुसार फलभोगार्थ नाना योनियों में घूमता है ॥७॥

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः ।

बुद्धेर्गुणेनाऽऽत्मगुणेन चैव आराग्रमात्रोऽपि दृष्टः ॥८॥

पदपाठः—अङ्गुष्ठमात्रः १ । रवितुल्यरूपः १ । संकल्पाहंकारसमन्वितः १ । यः १ । बुद्धेः ६ । गुणेन ३ । आत्मगुणेन ३ । च अ० । एव अ० । आराग्रमात्रः १ । हि अ० । अपरः १ । अपि अ० । दृष्टः १ ॥८॥

अन्वितपदार्थः—(बुद्धेः) अन्तःकरणस्य (गुणेन) प्रभावेन (अङ्गुष्ठमात्रः) अङ्गुष्ठपरिमितहृदयदेशापेक्षया तन्मात्रः (रवितुल्यरूपः) सूर्यतुल्यप्रभः । यथासूर्यो ब्रह्माण्डस्यांशो लोकान्प्रकाशयति तथैव जीवात्मापि ब्रह्माण्डस्यानिनो देहस्य प्रकाशकः । (सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितः) सङ्कल्पेनाऽहङ्कारेण च समन्वितो युक्तः (यः, च) (आत्मगुणेन) आत्मनो निजस्य चैतन्यगुणेन (आराग्रमात्रः) प्रतीदाग्रप्रतीतलोहकण्टकाग्रमात्रः (अपरः) षष्ठोक्तात्परमेश्वरादन्यः (अपि, हि, दृष्टः) अस्माभिरिति शेषः ॥

जीवात्मा बुद्धेरन्तःकरणस्य गुणेनाङ्गुष्ठमात्रः शक्यते वर्णयितुमन्तःकरणस्याङ्गुष्ठमात्रहृदयात्मकत्वात् परन्तु आत्मनश्चैतन्यरूपेण तु आराग्रमात्र एवेत्याशयः ॥८॥

भा०—(यः) जो (बुद्धेः) अन्तःकरण के (गुणेन) गुण से (अङ्गुष्ठमात्रः) अंगूठे के परिमाण का है (च) परन्तु (आत्मगुणेन) अपने स्वरूप से (आराग्रमात्रः, एव) आर के अग्र भाग के परिमाण वाला, ही है (रवितुल्यरूपः) सूर्य के तुल्य प्रकाशक है । (सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितः) सङ्कल्प और अहङ्कार से युक्त । ऐसा (अपरः, अपि, हि, दृष्टः) दूसरा, भी, निश्चय, देखा जाता है ॥

अर्थात् जीवात्मा वस्तुतः अपने स्वरूप से इतना छोटा है जितनी सुई की नोक का अन्तिम भाग । इस दृष्टान्त से उस का अत्यन्त अणु होना बतया है । परन्तु अन्तःकरण जो अंगूठे के बराबर के हृदय में है उस के गुण से जीवात्मा को भी अङ्गुष्ठमात्र कहा जाता है । जैसे सूर्य अपनी कीली पर घूमता हुआ ब्रह्माण्ड के अन्य लोकों को प्रकाशित करता है इसी प्रकार जीवात्मा हृदयदेश में रहता हुआ इस छोटे से ब्रह्माण्डस्थानी देहेन्द्रियसमूह को प्रकाशित करता है । इस प्रकार जीवात्मा जो छठे श्लोक में कहे परमात्मा से अपर है वह भी उन ऋषियों ने जाना ॥ ८ ॥



वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।

भागो जीवः स विज्ञेयः स चाऽऽनन्त्याय कल्पते ॥९॥

पदपाठः—वालाग्रशतभागस्य ६ । शतधा अ० । कल्पितस्य ६ । च अ० ।  
भागः १ । जीवः १ । सः १ । विज्ञेयः १ । सः १ । च अ० । आनन्त्याय ४ । क-  
ल्पते क्रि० ॥ ९ ॥

अन्वितपदार्थः—(वालाग्रशतभागस्य) सनुष्यमूर्ध्वजस्य यदग्रं तस्य यः शत-  
तमो भागस्तस्याऽपि (शतधा, कल्पितस्य, च) अर्थात् दशसहस्रतमस्य बाला-  
ग्रभागस्य (भागः) अंशो योऽस्ति (सः) (जीवः, विज्ञेयः) । (सः, च, आनन्त्याय,  
कल्पते) अर्थात् परिच्छिन्नोपि यथा पिपीलिकादेहं तथा हस्तिदेहमपि प्रका-  
शयति नहि पिपीलिकास्यस्य जीवात्मनो देहप्रकाशनसामर्थ्यं पिपीलिकया  
परिमितं भवति । अनन्तशब्दोऽत्राविज्ञातान्तपरः ॥९॥

भा०—(वालाग्रशतभागस्य) बाल की नोक के सौवें भाग का (च)  
फिर (शतधा, कल्पितस्य) सौ वें भाग का (भागः) कोई अंश जितना हो (सः)  
वितना (जीवः) जीवात्मा (विज्ञेयः) जानना चाहिये (सः, च) और, वह  
(आनन्त्याय) अनन्त होने के लिये (कल्पते) समर्थ है ॥

बद्यपि जीवात्मा बाल की नोक के दश सहस्रवें भाग का कोई भाग  
जितना परिच्छिन्न है परन्तु उस में जो सामर्थ्य देहेन्द्रियादि को प्रकाशित  
करने का है उस सामर्थ्य का अन्त जानना कठिन है । क्योंकि चींटी के देह  
और हाथी के देह को एक ही प्रकार देह भर में जीवात्मा प्रकाश पहुंचाता  
है । यदि जीवात्मा का सामर्थ्य चींटी के बराबर परिमाण का होता तो हाथी  
के देह में प्रकाश सर्वत्र न होसका । यहां अनन्त का तात्पर्य यह है कि जिस  
का अन्त हो तो पर जाना न जावे । अन्यथा पूर्वापर विरोध आवेगा ॥९॥

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः ।

यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्यते ॥ १० ॥

पदपाठः—न अ० । एव अ० । स्त्री १ । न अ० । पुमान् १ । एषः १ । न अ० ।  
च अ० । एव अ० । अयम् १ । नपुंसकः १ । यत् २ । यत् २ । शरीरम् २ । आदत्ते  
क्रि० । तेन ३ । तेन ३ । सः १ । रक्ष्यते क्रि० ॥१०॥



अन्वितपदार्थः—( एषः ) पूर्वोक्तोजीवात्मा ( न, एव, स्त्री, न, पुमान्, न, च, अयम्, नपुंसकः, एव ) किन्तु ( यत्, यत्, शरीरम्, आदत्ते, तेन, तेन, सः, रक्षयते ) ॥

जीवात्मनि देहसंगात् पुंस्त्वादिकं न वस्तुतः स्वतः इत्यर्थः ॥ १० ॥

भा०—( एषः ) यह ( स्त्री ) स्त्री ( न, एव ) नहीं ( न, पुमान् ) न, पुरुष ( च ) और ( न, नपुंसकः, एव ) न, नपुंसक, ही है किन्तु ( यत्, यत्, शरीरम्, आदत्ते ) जिस, जिस, शरीर को, ग्रहण करता है ( तेन, तेन ) उस २ से ( सः ) वह ( रक्षयते ) रखा जाता है ॥

अर्थात् जीवात्मा में वास्तविक पुरुषत्वादि नहीं किन्तु देह के संग से हैं ॥ १० ॥

संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासाम्बुवृष्ट्या चाऽऽत्मविवृद्धिजन्म ।  
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते ॥ ११ ॥

पदपाठः—संकल्प—दृष्टिमोहैः ३ । ग्रासाम्बुवृष्ट्या ३ । च अ० । आत्मविवृद्धिजन्म २ । कर्मानुगानि ३ । अनुक्रमेण ३ । देही १ । स्थानेषु ७ । रूपाणि २ । अभिसंप्रपद्यते क्रि० ॥ ११ ॥

अन्वितपदार्थः—( देही ) देहस्य स्वामी जीवात्मा (सङ्कल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैः) संकल्पनं च स्पर्शनं च दृष्टिश्च मोहोऽज्ञानं च तैः ( स्थानेषु ) देहेषु (कर्मानुगानि) कर्मानुसारीणि ( रूपाणि ) स्त्रीपुंनपुंसकादीनि ( अनुक्रमेण ) कर्मानुसारेण (अभिसंप्रपद्यते) प्राप्नोति (च) पुनरर्थे ( ग्रासाम्बुवृष्ट्या ) ग्रासाम्बुनोरन्नपानयोर्वृष्ट्याऽऽसेचनेन (आत्मविवृद्धिजन्म) आत्मनो देहस्य विवृद्धिं जन्म च प्राप्नोति ॥ ११ ॥

भा०—( देही ) जीवात्मा ( 'संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैः' ) सङ्कल्प, स्पर्श, दर्शन और मोह से ( स्थानेषु ) देहों में (कर्मानुगानि) कर्मानुसारी (रूपाणि) रूपों को (अभिसंप्रपद्यते) प्राप्त होता है ( च ) और ( अनुक्रमेण ) क्रम पूर्वक ( ग्रासाम्बुवृष्ट्या ) अन्न पान के सेचन से ( आत्मविवृद्धिजन्म ) देह-वृद्धि और जन्म को भी प्राप्त होता है ॥

अर्थात् कर्मानुसार जैसे अन्न पान से देह बढ़ता है वैसे संकल्प, स्पर्श, दर्शन आदि के प्रभाव से कभी स्त्री कभी पुरुष आदि बनता है ॥ ११ ॥



स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति ।  
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः ॥१२॥

पदपाठः—स्थूलानि २ । सूक्ष्माणि २ । बहूनि २ । च अ० । एव अ० । रूपा-  
णि २ । देही १ । स्वगुणैः ३ । वृणोति क्रि० । क्रियागुणैः ३ । आत्मगुणैः ३ ।  
च अ० । तेषाम् ६ । संयोगहेतुः १ । अपरः १ । अपि अ० । दृष्टः १ ॥ १२ ॥

अन्वितपदार्थः—( देही ) देहधारी ( स्थूलानि, सूक्ष्माणि, च, बहूनि,  
रूपाणि, स्वगुणैः, वृणोति ) । ( तेषां, संयोगहेतुः ) तेषां स्थूलसूक्ष्मदेहोपादा-  
नानां प्रयोजकः ( अपरः ) अन्यः परमात्मा ( क्रियागुणैः, आत्मगुणैः, च,  
अपि, दृष्टः, एव ) ॥

जीवात्मा स्वकीयकर्मप्रभावजानि अनेकानि रूपाणि स्वीकरोति । तस्य  
तत्तद्रूपप्रदाताऽपरः परमात्मा तदीयक्रियागुणैः स्वरूपगुणैश्च विज्ञेयः ॥ १२ ॥

भा०—( देही ) जीवात्मा ( स्थूलानि, च, सूक्ष्माणि, बहूनि, रूपाणि )  
स्थूल, और, सूक्ष्म, बहुत, देहों को ( स्वगुणैः ) अपने कर्म के प्रभावों से  
( वृणोति ) स्वीकार करता है । ( अपरः, अपि ) दूसरा भी ( क्रियागुणैः )  
क्रियाओं से उत्पन्न हुये गुणों ( च ) और ( आत्मगुणैः ) स्वरूप से उत्पन्न  
हुये गुणों से ( दृष्टः, एव ) जाना, ही, जाता है । जो कि ( तेषां, संयोगहेतुः )  
उनके, संयोग का हेतु है ॥

जीवात्मा कर्म के प्रभाव से अनेक प्रकार के देह धारता है और दूसरा  
परमात्मा उन २ देहों को धारण करवाता है और वह परमात्मा अपनी  
स्वभाविक क्रिया के गुणों और सत्ता मात्र के गुणों से पहचान जाता है ॥१२॥

पूर्वश्लोके “ अपरोपि दृष्टः ” इत्युक्तं परमात्मानं स्तुत्वाऽध्यायं समाप-  
यति द्वाभ्याम्—

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।  
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१३॥

पदपाठः—अनाद्यन्तम् २ । कलिलस्य ६ । मध्ये ७ । विश्वस्य ६ । स्रष्टा-  
रम् २ । अनेकरूपम् २ । विश्वस्य ६ । एकम् २ । परिवेष्टितारम् २ । ज्ञात्वा  
अ० । देवम् २ । मुच्यते क्रि० । सर्वपाशैः ३ ॥ १३ ॥

अन्वितपदार्थः—( अनाद्यनन्तं, कलिलस्य, मध्ये, विश्वस्य, स्रष्टारम्,



अनेकरूपम्, विश्वस्य, परिवेष्टितारम्, एकं, देवं, ज्ञात्वा, [नरः] (सर्वपाशैः, मुच्यते) व्याख्यातप्रायं चतुर्थाध्यायचतुर्दशपद्ये ॥ १३ ॥

भा०—(अनाद्यनन्तम्) आदि अन्त से रहित, (कलिलस्य, मध्ये, विश्वस्य, स्त्रष्टारम्) कलिल के, बीच में, जगत् के, रचने वाले, (अनेकरूपम्) विविध सृष्टि के स्त्रष्टा, (विश्वस्य, परिवेष्टितारम्) सब के लपेटने वाले, (एकम्) एक, (देवम्) देव को (ज्ञात्वा) जानकर [मनुष्य] (सर्वपाशैः) सब बन्धनों से (मुच्यते) छूट जाता है। इस की व्याख्या चतुर्थाध्याय के १४ वें पद्य में प्रायः आचुकी है ॥ १३ ॥

~~~~~

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम् ।

कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥ १४ ॥

~~~~~

इति श्वेताश्वतरोपनिषदि पञ्चमोऽध्यायः ॥

पदपाठः—भावग्राह्यम् २। अनीडाख्यम् २। भावाभावकरम् २। शिवम् २। कलासर्गकरम् २। देवम् २। ये १। विदुः क्रि०। ते १। जहुः क्रि०। तनुम् २ ॥१४॥

अन्वितपदार्थः—(ये) भक्ताः (भावग्राह्यम्) भावेन भक्त्या ग्रहीतुं योग्यम् (अनीडाख्यम्) नीडं शरीरं तद्रहिता आख्या यस्य तम् (भावाभावकरम्) कार्यसृष्टिप्रलयकर्तारम् (शिवम्) मङ्गलस्वरूपम् (कलासर्गकरम्) प्रश्नोपनिषदुक्तानां षोडशकलानां सर्गस्य कर्तारम् (देवम्) द्योतनात्मकम् (विदुः) जानन्ति (ते) (तनुं जहुः) जन्ममृत्युजराव्याधादिदेहधर्मास्त्यजन्ति मोक्षमाप्नुवन्ति ॥

इति तुलसीरामस्वामिकृते श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्ये पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

भा०—(ये) जो लोग (भावग्राह्यम्, अनीडाख्यम्, भावाभावकरम्, शिवम्, कलासर्गकरम्, देवम्) भक्ति से मिलने वाले, देहरहित, उत्पत्ति प्रलय के कर्ता, शान्त, कलाओं के सृजने वाले, देव को (विदुः) जानते हैं (ते) वे लोग (तनुम्) देह को (जहुः) त्यागते हैं ॥

अर्थात् जो ईश्वर के भक्त, ईश्वर को यथार्थभाव से जान कर उस की भक्ति करते हैं वे ही देह के बन्धन से छूटते हैं। इस में जो “भावग्राह्यम्” का अर्थ “उत्पत्ति प्रलय के कर्ता” किया है, इस में कारण का भाव अभाव



६८

## श्वेताश्वतरोपनिषद्-

नहीं समझना क्योंकि कारण नित्य है किन्तु कार्य का भाव अभाव ही किया जाता है वही उत्पत्ति और प्रलय है ॥ १४ ॥

यह तुलसीरामस्वामिकृत श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्य में पञ्चम अध्याय हुआ ॥५॥



## अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

स्वविचारणीयविषयस्यादिभूतं प्रश्नं स्मरन्तस्ते श्वेताश्वतरादयो महर्षयो हि समापयन्तोऽपि प्रकृतप्रथमाध्यायस्य कालादिकारणविचारणां पुरस्कृत्य षष्ठाध्यायमारभन्ते-

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः ।

देवस्यैव महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥ १ ॥

पदपाठः—स्वभावम् २ । एके १ । कवयः १ । वदन्ति क्रि० । कालम् २ । तथा अ० । अन्ये १ । परिमुह्यमानाः १ । देवस्य ६ । एषः १ । महिमा १ । तु अ० । लोके ७ । येन ३ । इदम् १ । भ्राम्यते क्रि० । ब्रह्मचक्रम् १ ॥ १ ॥

अन्वितपदार्थः—( येन, इदं, ब्रह्मचक्रम्, भ्राम्यते ) तम् ( एके ) केचित् ( कवयः ) पण्डिताः ( स्वभावम्, वदन्ति ) ( तथा, अन्ये, परिमुह्यमानाः, कालम् ) वदन्तीति सम्बन्धः ( तु ) अवधारणार्थः ( लोके, एषः, महिमा, देवस्य ) जगति, एतन्माहात्म्यं, देवस्य परमात्मन एव येन महिम्ना ब्रह्मचक्रं भ्राम्यते इत्यन्वयः ॥

अस्तु नाम स्वभावस्य कालस्य एतदुपलक्षितं यदृच्छाभूतपुरुषादीनां चापि प्रथमाध्यायोक्तानां पदार्थानां स्वस्वगौणांशे कारणता । परन्तु महिमा महत्त्वं तु देवस्य परमात्मन एवैष सर्वेषु इति निरचिन्वंस्ते श्वेताश्वतरादयः ॥ १ ॥

येनावृतं विश्वमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः ।

तेनेशितं कर्म विवर्तते ह पृथ्व्याप्येतजोऽनिलखानि चिन्त्यम् ॥ २ ॥

पदपाठः—येन ३ । आवृतम् १ । नित्यम् २ । इदम् १ । हि अ० । सर्वम् १ । ज्ञः १ । कालकारः १ । गुणी १ । सर्वविद्यः १ । तेन ३ । ईशितम् १ । कर्म १ । विवर्तते क्रि० । ह अ० । पृथ्व्या—खानि १ । चिन्त्यम् १ ॥ २ ॥

अन्वितपदार्थः—( येन, इदं, सर्वं, नित्यम्, आवृतम् ) सः ( ज्ञः ) चेतनः



(कालकारः) कालं भूतभविष्यद्वर्तमानादिलक्षणं सूर्याद्युत्पत्त्या करोति, नहि तत्कृतसाधनैर्विना कालावयवानां परिज्ञानं व्यवहारश्च केनापि कर्तुं शक्यः । (गुणी) गुणानां स्वामी (सर्वविद्यः) सर्वाविद्या यस्य सः (तेन) (ह) एव (ईशितम्) अधिष्ठितम् (कर्म) कार्योत्पादादि (विवर्तते) विविधतया वर्तते (पृथ्व्याप्यते-जोऽनिलखानि) पृथ्वी च आप्यं च तेजश्च अनिलश्च खमाकाशं च तान्यपि तेनैवेशितानीति भावः । ग्रन्थारम्भे यदुक्तं चिन्त्यमिति तदिदमेव (चिन्त्यम्) आसीत् अस्ति चेति शेषः ॥ २ ॥

भा०—(येन, इदं, सर्वं, नित्यम्, आवृतम्) जिस से, यह, सब, सदा, ढका रहता है [वह] (ज्ञः) चेतन (कालकारः) काल का कर्ता (गुणी) गुणों का स्वामी (सर्वविद्यः) सब विद्या वाला है (लोके तेन, ईशितं, ह, कर्म, विवर्तते) जगत् में, उस के, अधिकार में, ही, कर्म, अनेक प्रकार प्रवृत्त हुवा है (पृथ्व्याप्य-तेजोऽनिलखानि) पृथिवी जल तेज वायु आकाश [भी उसी के अधिकार में हैं] चिन्त्यम्) यही विचारणीय है ॥

तात्पर्य यह है कि ग्रन्थारम्भ में कहा था कि “चिन्त्यम्” कारण विचारणीय है, सो विचारणीय यही था कि पृथिवी जल तेज वायु आकाश और उत्पत्ति आदि कर्म का अधिकार परमात्मा को है। तथा वही सूर्यादि का उत्पादक होने से कालविभाग का भी कर्ता है। वह चेतन, सर्वज्ञ, और प्रकृति के गुणों का स्वामी है ॥ २ ॥

युग्मम्—

तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूयस्तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम् ।  
एकेन द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा कालेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मैः ॥३॥  
आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः ।  
तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः ॥४॥

पदपाठः—तत् १ । कर्म २ । कृत्वा अ० । विनिवर्त्य अ० । भूयः अ० । तत्त्वस्य ६ । तत्त्वेन ३ । समेत्य अ० । योगम् २ । एकेन ३ । द्वाभ्याम् ३ । त्रिभिः ३ । अष्टभिः ३ । वा अ० । कालेन ३ । च अ० । एव अ० । आत्मगुणैः ३ । च अ० । सूक्ष्मैः ३ ॥३॥ आरभ्य अ० । कर्माणि २ । गुणान्वितानि २ । भावान् २ । च अ० । सर्वान् २ । विनियोजयेत् क्रि० । यः १ । तेषाम् ६ । अभावे ७ ।



कृतकर्मनाशः १ । कर्मक्षये १ । याति क्रि० । सः १ । तत्त्वतः अ० । अन्यः १ ॥४॥

अन्वितपदार्थः (यः) परमात्मनोभक्तः (कर्म, कृत्वा) वेदविहितकर्तव्यधर्म-  
मनुष्ठाय ( एकेन ) आत्मना ( वा ) अथवा ( द्वाभ्याम् ) देहात्मभ्याम् ( त्रिभिः )  
सत्त्वजस्तमोभिः ( अष्टभिः ) प्रथमाध्यायस्य चतुर्थश्लोकभाष्याङ्केनाऽष्टकेन ( कालेन )  
प्रातःसायमादिना ( च ) ( आत्मगुणैः ) आत्मन इच्छाद्वेषप्रयत्नादिलक्षणैर्गुणैः ( चैव )  
पादपूरणार्थम् । किम्भूतैरात्मगुणैः ( सूक्ष्मैः ) । ( कर्माणि, आरम्भ्य ) किम्भूतानि  
( गुणान्वितानि ) गुणैर्युक्तानि ( सर्वान्, भावान्, च ) ( विनियोजयेत् ) विदध्यात्  
( भूयः ) पुनः ( विनिवर्त्य ) निवृत्तं कृत्वा सर्वं संन्यस्य, ( तत्त्वस्य ) आत्मनः ( तत्त्वेन )  
परमात्मना ( योगम् ) ( समेत्य ) संगस्य्य । अन्तर्हितोऽणिजर्थः । पुनः ( तेषाम् ) कर्म-  
णाम् ( अभावे ) अनुष्ठानराहित्येनाऽभावे ( कृतकर्मनाशः ) पूर्वकृतस्य, कर्मणः  
नाशो निर्बलता तिरोधानमदृश्यता प्ररोहणाऽत्मत्वमिति यावत् । ( कर्मक्षये )  
सति च कर्मणां क्षयेऽक्षमत्वे ( सः ) जीवात्मा ( तत्त्वतः ) परमात्मनः ( अन्यः )  
द्वितीयः ( तत् ) ब्रह्म ( याति ) प्राप्नोति ॥

मुमुक्षुणा तावत् कर्तव्यधर्मानुष्ठानं कार्यं तत् आत्मशरीरेन्द्रियादिभिः  
कर्माणि आरम्भ्य, पुनश्च सर्वं संन्यस्य, कर्मणां नाशो दौर्बल्यं कार्यं, सति च तस्मिन्  
परं ब्रह्म प्राप्नोति ॥३॥४॥

भा०—( यः ) जो कोई ( कर्म, कृत्वा ) कर्म, करके ( एकेन, द्वाभ्यां, त्रिभिः,  
अष्टभिः, वा, कालेन, सूक्ष्मैः, आत्मगुणैः, च ) एक, दो, तीन, आठ, वा, काल  
और सूक्ष्म आत्मिकगुणों से ( कर्माणि, आरम्भ्य ) कर्मों का, आरम्भ करके जो  
( गुणान्वितानि ) गुणों से युक्त होते हैं उन्हें ( भूयः ) फिर ( विनिवर्त्य ) त्यागकर  
( च ) और ( सर्वान् ) सब ( भावान् ) भक्तियों को ( विनियोजयेत् ) करे वा लगावे  
( सः ) वह ( तत्त्वतः ) परमात्मा से ( तत्त्वस्य ) जीवात्मा का ( योगम् ) मेल ( समेत्य )  
मिला कर ( तेषाम् ) उन कर्मों के ( अभावे ) न होने पर ( कृतकर्मनाशः ) किये  
कर्मों का नाश होता और ( कर्मक्षये ) कर्मके क्षय होने पर ( तत् ) उस ब्रह्म को  
( याति ) प्राप्त हो जाता है ( चैव ) पादपूरणार्थ है ॥

मुमुक्षु को योग्य है कि प्रथम वेदविहित शुभ कर्म करे, एक-आत्मा, दो  
देह तथा आत्मा, तीन-३ गुण, आठ-जो प्रथमाध्याय के चतुर्थ श्लोक के भाष्य  
में अष्टक गिनाये उन से, काल से वा आत्मा के इच्छा द्वेष प्रयत्नादि सूक्ष्म  
गुणों से उत्तम कर्मों का आरम्भ करे, सर्व प्रकार से भक्ति करे, फिर कर्मों का  
त्याग करे, त्याग होने से आगे की कर्मसंचय का अभाव होगा और पूर्वकृत



कर्मा का भोग से नाश होगा और जब कर्म क्षीण अर्थात् निर्बल असमर्थ हो जाय तब आत्मा का परमात्मा से मेल करे, और उसे प्राप्त होवे ॥ ४ ॥

अथ किं कृत्वा तद्ब्रह्म प्राप्नोति इत्यत्राह—

आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोपि दृष्टः ।

तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ॥ ५ ॥

पदपाठः—आदिः १ । सः १ । संयो—हेतुः १ । परः १ । त्रिकालात् ५ । अकलः १ । अपि अ० । दृष्टः १ । तम् २ । विश्वरूपम् २ । भवभूतम् २ । ईड्यम् २ । देवम् २ । स्वचित्तस्थम् २ । उपास्य अ० । पूर्वम् २ ॥ ५ ॥

अन्वितपदार्थः—यः (आदिः) सनातनः (सः) (संयोगनिमित्तहेतुः) संयोगे सृष्टौ निमित्तहेतुर्निमित्तं कारणम् नतूपादानम् । (त्रिकालात्, परः) त्रयो भूतादयः कालावयवास्तेभ्योऽपि परः त्रिकालातीतः कालानवाच्छिन्न इति यावत् (अपि) निश्चयेन (अकलः) न विद्यन्ते निजस्वरूपे कला अंशा यस्य सः (दृष्टः) साक्षादनुभूतः (तम्) (विश्वरूपम्) जगत्स्रष्टारम् (भवभूतम्) भव उत्पत्तिस्थानं तद्भूतस्तम् (ईड्यम्) स्तुत्यर्हम् (देवम्) प्रकाशकम् (स्वचित्तस्थम्) स्वस्य चित्ते स्थितम् (पूर्वम्, उपास्य) यातीति पूर्वम् सम्बन्धः ॥ ५ ॥

भा०—फिर क्या करके उसे प्राप्त हो सके हैं, यह कहते हैं—जो (आदिः) सनातन है (सः) वह (संयोगनिमित्तहेतुः) संयोग का निमित्त कारण है (त्रिकालात्, परः) तीन कालों से, परे है (अकलः) अखण्ड है (अपि) निश्चय (दृष्टः) अनुभव किया है (तम्) उस (विश्वरूपम्) जगत्पिता (भवभूतम्) उत्पत्तिस्थान (ईड्यम्) स्तुति के योग्य (स्वचित्तस्थम्) अपने हृदय में स्थित (देवम्) देव को (पूर्वम्) प्रथम (उपास्य) उपासना करके [तब उसे प्राप्त होता है—पूर्वश्लोक से सम्बन्ध है] ॥

तात्पर्य यह है कि मुमुक्षु को प्रथम उपासना करनी चाहिये जिस से वह सनातन, संसार का निमित्त कारण, त्रिकालानवाच्छिन्न, अखण्ड, जगत्स्रष्टा, स्तुतियोग्य, जगत्पिता अपने हृदय ही में साक्षात् होवे ॥ ५ ॥

पुनः किं कृत्वा, तदाह—

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्तते ऽयम् ।

धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम ॥ ६ ॥



पदपाठः-सः १ । वृक्षकालाकृतिभिः ३ । परः १ । अन्यः १ । यस्मात् ५ । प्रपञ्चः १ । परिवर्तते क्रि० । अयम् १ । धर्मावहम् २ । पापनुदम् २ । भगेशम् २ । ज्ञात्वा अ० । आत्मस्थम् २ । अमृतम् २ विश्वधाम २ ॥६॥

अन्वितपदार्थः-(सः) (वृक्षकालाकृतिभिः, परः) वृक्षात् छेदनभेदनधर्मकात्-कालाद्भूनादेः-आकृतेराकारात्, परस्तद्विवर्जितः (अन्यः) नासौ वृक्षो न कालो न चाकृतिमान् (यस्मात्, अयं, प्रपञ्चः, परिवर्तते) यस्माद्धेतोरयं विश्वप्रपञ्चः, सर्वतः प्रवर्तते । तम् (धर्मावहम्) धर्मप्रेरयितारम् (पापनुदम्) पापप्रणाशनम् (भगेशम्) भगस्येशम् (अमृतम्) मरणधर्मरहितम् (विश्वधाम) सर्वेषां निवासस्थानम् (आत्मस्थम्) हृदयस्थम् (ज्ञात्वा) याति इति चतुर्थेन सम्बन्धः ॥ ६ ॥

भा०-फिर क्या करके उसे प्राप्त हो-

(सः) वह (वृक्षकालाकृतिभिः) छेदन भेदन, काल, आकार से (परः) रहित (अन्यः) भिन्न है । (यस्मात्) जिस से (अयम्) यह (प्रपञ्चः) संसार (परिवर्तते) प्रवृत्त होता है । उस (धर्मावहम्) धर्मप्रसारक (पापनुदम्) अधर्मनाशक (भगेशम्) ऐश्वर्य के स्वामी (अमृतम्) अमर (विश्वधाम) सर्वाधार (आत्मस्थम्) आत्मा में स्थित की (ज्ञात्वा) जान कर । [उसे प्राप्त होता है-चतुर्थ श्लोक से सम्बन्ध है] ॥६॥

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् ।

पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥७॥

पदपाठः-तम् २ । ईश्वराणाम् ६ । परमम् २ । महेश्वरम् २ । तम् २ । देवतानाम् ६ । परमम् २ । च अ० । दैवतम् २ । पतिम् २ । पतीनाम् ६ । परमम् २ । परस्तात् अ० । विदाम क्रि० । देवम् २ । भुवनेशम् २ । ईड्यम् २ ॥७॥

अन्वितपदार्थः-(तम्) पूर्वोक्तम् (ईश्वराणां, परमं, महेश्वरम्) समर्थानां, परमं, महासमर्थम् (तं, देवतानां, परमं, दैवतं, च, पतीनां, परमं, परस्तात् पतिं, भुवनेशम्, ईड्यं, देवं, विदाम) वयं श्वेताश्वरादय इति शेषः ॥७॥

भा०-(तम् ईश्वराणां परमं महेश्वरम्) उस शक्तिमानों में परम महाशक्तिमान् (तं देवतानां परमं दैवतं च) और उस देवों में बड़े देव (पतीनां, परमं, परस्तात्, पतिम्) रक्षकों में, बड़े, परले, रक्षक (भुवनेशम्) विश्वपति



( ईदृश्यम् ) स्तुत्यर्हं ( देवम् ) देव को ( विद्वान् ) [ हम श्वेताश्वतरादिकों ने ] जाना है ॥ १ ॥

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।  
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥ ८ ॥

पदपाठः—न अ० । तस्य ६ । कार्यम् १ । करणम् १ । च अ० । विद्यते क्रि० । न अ० । तत्समः १ । च अ० । अभ्यधिकः १ । च अ० । दृश्यते क्रि० । परा १ । अस्य ६ । शक्तिः १ । विविधा १ । एव अ० । श्रूयते क्रि० । स्वाभाविकी १ । ज्ञानबलक्रिया १ । च अ० ॥ ८ ॥

अन्वितपदार्थः—( तस्य ) पूर्वोक्तस्य परमात्मनः ( कार्यम् ) परिणामः ( करणम् ) हस्तपादादिसाधनम् ( च ) ( न विद्यते ) ( तत्समः, अभ्यधिकः, च, न, दृश्यते । अस्य, परा, शक्तिः, स्वाभाविकी, ज्ञानबलक्रिया, च, विविधा, एव, श्रूयते ) ॥

ये खल्वद्वैतिनोऽभिन्ननिमित्तोपादानकारणं मन्यन्ते ये च साकारवादिनस्तस्य हस्तपादादिसाधनं मन्यन्ते ते क्रमेण “ न तस्य कार्यम् ” “ न च करणम् ” इत्यनेन नूनं प्रत्युक्ता भवन्ति ॥ ८ ॥

भा०—( तस्य ) उस का ( कार्यम् ) कार्य ( च ) और ( करणम् ) साधन ( न विद्यते ) नहीं, है । ( तत्समः ) उस के समान ( च ) और ( अभ्यधिकः ) उस से अधिक ( न दृश्यते ) नहीं दीखता । किन्तु ( अस्य ) उस की ( परा, शक्तिः ) बड़ी, शक्ति ( च ) और ( स्वाभाविकी, ज्ञानबलक्रिया ) स्वाभाविक, ज्ञान बल और क्रिया ( विविधा, एव ) विचित्र, ही ( श्रूयते ) वेदों में वर्णित है ॥

इस में जो यह कहा है कि “ उस का कार्य नहीं ” इससे अद्वैतवादियों का ब्रह्म को जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान मानना विरुद्ध हुवा और “ उस का साधन नहीं ” इस से साकारवादियों का उस के हाथ पैर मानना विरुद्ध है ॥ ८ ॥

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न च शिता नैव च तस्य लिङ्गम् ।  
स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥ ९ ॥



१०४

## श्वेताश्वतरोपनिषद्-

पदपाठः-न अ० । तस्य ६ । कश्चित् १ । पतिः १ । अस्ति क्रि० । लोके ७ ।  
न अ० । च अ० । ईशिता १ । न अ० । एव अ० । च अ० । तस्य ६ । लिङ्गम्  
१ । सः १ । कारणम् १ । कर-धिपः १ । न अ० । च अ० । अस्य ६ । कश्चित्  
१ । जनिता १ । न अ० । च अ० । अधिपः १ ॥ ९ ॥

अन्वितपदार्थः-( लोके, तस्य, कश्चित्, पतिः, न, अस्ति । न, च, ईशि-  
ता । न, तस्य, लिङ्गम्, एव । न, च, अस्य, कश्चित्, जनिता । न, च, अ-  
धिपः ) किन्तु ( सः, कारणम् ) निमित्तम् ( करणाधिपाधिपः ) करणानि इन्द्रि-  
याणि तेषामधिपोजीवात्मा तस्याप्यधिपः स्वामी ॥ ९ ॥

भा०-(लोके, न, तस्य, कश्चित्, पतिः, अस्ति ) संसार में, न, उस का,  
कोई, पति, है ( न, च, ईशिता ) और न, वश करने वाला है ( न, च,  
तस्य, लिङ्गम्, एव, ) और न, उस का , चिन्ह, ही है ( न, च, अस्य, क-  
श्चित्, जनिता ) और, न, उस का, कोई, उत्पन्न करने वाला ( च ) और  
( न अधिपः ) न स्वामी है । किन्तु ( सः ) वही ( करणाधिपाधिपः ) इन्द्रि-  
यों के स्वामी जीवात्मा का भी स्वामी और ( कारणम् ) निमित्त है ॥ ९ ॥

यस्तन्तुनाभइव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः

स्वमावृणोत् । स नो दधाद्ब्रह्माप्ययम् ॥ १० ॥

पदपाठः-यः १ । तन्तुनाभइव अ० । तन्तुभिः ३ । प्रधानजैः ३ । स्वभा-  
वतः अ० । देवः १ । एकः १ । स्वम् २ । आवृणोत् क्रि० । सः १ । नः ६ । दधात्  
क्रि० । ब्रह्माप्ययम् २ ॥ १० ॥

अन्वितपदार्थः-( यः ) ( प्रधानजैः ) प्राकृतैः ( तन्तुभिः ) ( तन्तुनाभइव )  
लूताकीटजर्णनाभिरिव ( एकः, देवः, ) ( स्वभावतः ) न तु रागादिना ( स्वम् )  
स्वस्येदं विश्वम् ( आवृणोत् ) आच्छादयत् ( सः ) ( नः ) अस्माकम् ( ब्रह्माप्ययम् )  
ब्रह्मणि निश्चितां गतिम् ( दधात् ) दधातु ॥

अभिन्ननिमित्तोपादानवादिनो यमूर्णनाभदृष्टान्तं स्वपक्षपोषकं मन्यन्ते  
स ह्यत्र प्रधानजैस्तन्तुभिर्नत्वात्मजैरिति स्पष्टं तत्पक्षप्रतिषेधकः ॥ १० ॥

भा०-( यः ) जो ( तन्तुनाभइव ) मकड़ी के समान ( प्रधानजैः ) प्रकृति  
से उपजे ( तन्तुभिः ) तन्तुओं से ( स्वम् ) अपने को ( आवृणोत् ) सब ओर  
से पूरलेता है ( स्वभावतः ) स्वभाव से ( एकः, देवः ) एक, देव है ( सः )  
वह ( नः ) हमारी ( ब्रह्माप्ययम् ) ब्रह्म में निश्चित गति ( दधात् ) धारण करे ॥



अद्वैतवादी लोग सकड़ी के टूटान्त से ब्रह्म को ही उपादान कारण भी सिद्ध किया करते हैं परन्तु यहां स्पष्ट लिखा है कि “ प्रधानजैः तन्तुभिः ” प्रकृति से उपजे तन्तुओं से। इस लिये ब्रह्म उपादान नहीं है ॥ १७ ॥

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ १८ ॥

पदपाठः—एकः १। देवः १। सर्वभूतेषु ७। गूढः १। सर्वव्यापी १। सर्व—त्मा १। कर्माध्यक्षः १। सर्वभू—वासः १। साक्षी १। चेता १। केवलः १। निर्गुणः १। च अ० ॥

अन्वितपदार्थः—(एकः) असहायः ( देवः ) दिव्यगुणः ( सर्वभूतेषु, गूढः, सर्वव्यापी, सर्वभूतान्तरात्मा ) (कर्माध्यक्षः) जीवकृतकर्मणामध्यक्षः ( सर्वभूताधिवासः, साक्षी ) ( चेता ) चेतनः ( केवलः ) अविकृतः ( निर्गुणः ) सत्त्वादि-प्रकृतिगुणैरहितः ( च ) ॥ १८ ॥

भा०—( देवः ) दिव्यगुणयुक्त ( एकः ) अकेला ( सर्वभूतेषु, गूढः ) सर्वभूतोंमें, छिप ( सर्वव्यापी ) सर्वव्यापक ( सर्वभूतान्तरात्मा ) सर्वप्राणियों का अन्तर्पामी ( कर्माध्यक्षः ) कर्मफलप्रदाता ( सर्वभूताधिवासः ) सर्वप्राणियों में अधिकारी होकर बसने वाला ( साक्षी ) देखने वाला ( चेता ) चेतन ( केवलः ) असंयुक्त ( च ) और ( निर्गुणः ) गुणों [सत्त्व रजः तमः] से रहित है ॥ १८ ॥

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति ।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥

पदपाठः—एकः १। वशी १। निष्क्रियाणाम् ६। बहूनाम् ६। एकम् २। बीजम् २। बहुधा अ०। यः १। करोति क्रि०। तम् २। आत्मस्थम् २। ये १। अनुपश्यन्ति क्रि०। धीराः १। तेषाम् ६। सुखम् १। शाश्वतम् १। न अ०। इतरेषाम् ६ ॥ १९ ॥

अन्वितपदार्थः—(एकः, वशी) ( निष्क्रियाणाम् ) क्रियाक्षमानां जड़ानाम् ( बहूनाम् ) असंख्यपदार्थानाम् (एकं, बीजं, यः, बहुधा करोति। तम्, आत्मस्थं, ये, धीराः, अनुपश्यन्ति, तेषां, शाश्वतं, सुखम्, इतरेषां, न) ॥ १९ ॥

भा०—(यः) जो (वशी) वश में करने वाला ( एकः ) अकेला ही (बहूनां, निष्क्रियाणाम्, एकं, बीजम्) बहुत से, जड़पदार्थों के, एक, बीज को (बहुधा करोति) अनेक प्रकार से रचता है ( तम्, आत्मस्थम् ) उस, आत्मा में स्थित को (ये, धीराः) जो, धीर पुरुष (अनुपश्यन्ति) देखते हैं (तेषां, शाश्वतं, सुखम्)



१०६

श्वेताश्वतरोपनिषद्-

उन्हीं को, निरन्तर, सुख है (इतरेषां न) आरों को नहीं ॥ १२॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।  
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १३ ॥

पदपाठः-नित्यः १ । नित्यानाम् ६ । चेतनः १ । चेतनानाम् ६ । एकः १ ।  
बहूनाम् ६ । यः १ । विदधाति क्रि० । कामान् २ । तत् २ । कारणम् २ । सां-  
ख्यम् २ । ज्ञात्वा अ० । देवम् २ । मुच्यते क्रि० । सर्वपाशैः ३ ॥ १३ ॥

अन्वि०-(यः नित्यानां नित्यः, चेतनानां चेतनः, बहूनाम् एकः, कामान्  
विदधाति) (तत्) तं पुरुषव्यत्ययः (सांख्ययोगाधिगम्यम्) सांख्येन योगेन च  
प्राप्तुमर्हम् (कारणम्) निमित्तकारणम् (देवं ज्ञात्वा सर्वपाशैः मुच्यते) ॥

आत्मानो नित्याश्चेतना बहवश्च । तेषां मध्ये एकः परमात्मानित्यश्चे-  
तनस्तेषां कामान्विदधाति मनोरथान् पूरयति तैर्भक्त्या संतोषितः । तमेव  
ज्ञात्वा सर्वबन्धविमुक्तिः ॥ १३ ॥

भा०-(यः) जो (नित्यानां बहूनां चेतनानाम्) नित्य अनेक चेतनों  
[जीवात्माओं] में रहने वाला (एकः, नित्यः, चेतनः) एक, नित्य, चेतन है  
(तत्) उस (कारणम्) निमित्तकारण (देवम्) देव को (ज्ञात्वा) जान कर  
(सर्वपाशैः, मुच्यते) सब बन्धनों से, छुटा जाता है । वही (कामान्, विदधाति)  
कामना, पूरी करता है ॥

इस में यह बतलाया गया है कि जीवात्मा बहुत, नित्य, और चेतन हैं  
तथा परमात्मा भी नित्य, चेतन है परन्तु वह एक है और उस को जानने से  
मोक्ष मिलता है और सब उपासकों की कामना पूरी करता है ॥ १३ ॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमाविद्युतो भान्तिकुतोऽयमग्निः ।  
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १४ ॥

पदपाठः-न अ० । तत्र अ० । सूर्यः १ । भाति क्रि० । न अ० । चन्द्र-  
तारकम् १ । न अ० । इमाः १ । विद्युतः १ । भान्ति क्रि० । कुतः अ० । अयम् १ ।  
अग्निः १ । तम् २ । एव अ० । भान्तम् २ । अनु अ० । भाति क्रि० । सर्वम् १ ।  
तस्य ६ । भासा ३ । सर्वम् १ । इदम् १ । विभाति क्रि० ॥ १४ ॥

अन्वितपदार्थः-(तत्र) तद्ग्रे (न सूर्योभाति, न चन्द्रतारकं न इमाः  
विद्युतो भान्ति, अयम् अग्निः कुतः) किन्तु (तम् एव भान्तम् अनु सर्वं भाति)  
अर्थात् (तस्य भासा इदं सर्वं विभाति) ॥



यदीदृशमत्यन्तप्रकाशं ब्रह्म तर्हि कुतो न सर्वैः स्वप्रकाशेन दृश्यते? सत्यम् ।  
सूर्यस्याऽपि स्थूलपिण्डएव चर्मचक्षुषा दृश्यते तत्प्रकाशानुप्रकाशिताभूम्यादयश्च ।  
न तु तस्य सर्वतः प्रसृतः प्रकाशः । एवमेव परमात्माऽपि सूक्ष्मत्वात्स्वयं न दृश्यते  
तत्प्रकाशानुप्रकाशिताः स्थूलाः पदार्थाश्च दृश्यन्ते ॥ १४ ॥

भा०—( तत्र ) उस के सामने ( न, सूर्यो, भाति ) न, सूर्य, चमकता है  
( न, चन्द्रतारकम् ) न, चन्द्रमा और तारे । ( न, इमाः, विद्युतः, भान्ति )  
न, ये, विजुलियां, चमकती हैं ( अयम्, अग्निः, कुतः ) यह, अग्नि तौ,  
कहां से चमके, किन्तु ( तम्, एव, भान्तम्, अनु ) उस, ही, चमकते के, पीछे  
( सर्वं, भाति ) सब, चमकता है । अर्थात् ( तस्य, भासा, इदं, सर्वं, विभाति )  
उस के, प्रकाश से, यह, सब, चमकता है ॥

जैसे सूर्य के प्रकाश में सब का प्रकाश दब जाता है वैसे परमात्मा का प्रकाश  
सब से अधिक है यहां तक कि अन्य सूर्य चन्द्र तारे विजुली आदि सब में  
उस का प्रकाश काम कर रहा है ॥

प्र०—यदि परमात्मा का ऐसा भारी प्रकाश है तौ वह अपने प्रकाश से  
दीखता क्यों नहीं ? उ०—जैसे सूर्य का प्रकाश हम को नहीं दीखता जो कि  
उस के चारों ओर फैला है किन्तु जब वह प्रकाश किसी पृथिवी आदि स्थूल  
पदार्थ पर पड़ता है तौ वह पृथिव्यादि पदार्थ ही उस के प्रकाश से चमकता  
है अथवा सूर्य लोक स्थूल होने से उस प्रकाश से दीखता है । इसी प्रकार  
परमात्मा भी सूक्ष्म होने से नहीं दीखता किन्तु उस के प्रकाश से सूर्यादि  
स्थूल पदार्थ चमकते हैं, वह स्वयं नहीं दीखता ॥ १४ ॥

एकोह ७तो भुवनस्याऽस्यमध्ये स एवाग्निः सलिले सन्निविष्टः ।  
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्थाविद्यतेऽयनाय ॥ १५ ॥

पदपाठः—एकः १ । हंसः १ । भुवनस्य ६ । अस्य ६ । मध्ये ७ । सः १ ।  
एव अ० । अग्निः १ । सलिले ७ । सन्निविष्टः १ । तम् २ । एव अ० । विदि-  
त्वा अ० । अति अ० । मृत्युम् २ । एति क्रि० । न अ० । अन्यः १ । पन्थाः १ ।  
विद्यते क्रि० । अयनाय ४ ॥ १५ ॥

अन्वितपदार्थः—(एकः) (हंसः) सर्वज्ञः (अस्य, भुवनस्य, मध्ये, सन्निविष्टः,  
सः, एव ) ( अग्निः ) प्रकाशस्वरूपः (सलिले) जले [सन्निविष्टः] । (तमेव ज्ञा०)  
उत्तरार्धेभिदं वैदिकं तृतीयस्याऽष्टमे पद्ये व्याख्यातम् ॥ १५ ॥



भा०—( एकः, हंसः ) एक, सर्वज्ञ ( अस्य, भुवनस्य, नद्ये, संनिविष्टः ) इस, पृथिव्यादि के, बीच में, घुसा है ( सः, एव, अग्निः ) वह, ही, प्रकाश स्वरूप ( सलिले ) जल में [ घुसा है ] । ( तमेव ज्ञा० ) यह उसीर्थ वेद का है इस का अर्थ इस उपनिषद् के तृतीय अध्याय के अष्टम श्लोक में कहे हैं कि “ उसी को जान कर मृत्यु को लांच सकता है अन्य कोई मार्ग नहीं ” ॥ १५ ॥

सविश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकारो गुणी सर्ववित् ।

प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥ १६ ॥

पदपाठः—सः १ । विश्वकृत् १ । विश्वविद् १ । आत्मयोनिः १ । ज्ञः १ । कालकारः १ । गुणी १ । सर्ववित् १ । यः १ । प्रधा—पतिः १ । गुणेशः १ । संसा—हेतुः १ ॥ १६ ॥

अन्वितपदार्थः—(यः) (प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः । प्रधानस्योपादानस्य, क्षेत्रज्ञस्य जीवात्मनश्च पतिः पालयिता स्वामी ( गुणेशः ) गुणानामीशः ( संसा—हेतुः ) संसारस्य जगतो मोक्षस्थितिबन्धानां प्रयोजकः ( सः ) ( विश्वकृत् ) जगदुत्पादकः ( विश्वविद् ) जगज्ज्ञः ( आत्मयोनिः ) आत्मा स्व एव योनिः कारणं यस्य, न कुतश्चिज्जातः, स्वयंभूरिति यावत् । अद्वैतिभिश्च—आत्मा च योनिश्चेति समस्य, सर्वरूपात्मा सर्वस्य योनिश्चेति पूर्वापरविरुद्धं व्याख्यातम् । ( ज्ञः ) मनीषी ( कालकारः ) कालं भूतादिकं कालावयवं सूर्योत्पादादिना करोति सः ( गुणी ) सर्वश्रेष्ठगुणाढ्यः ( सर्ववित् ) ॥ १६ ॥

भा०—( यः ) जो ( प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः ) प्रकृति और जीवात्मा का स्वामी ( गुणेशः ) गुणों का वश में रखने वाला ( संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ) संसार के मोक्ष रक्षा और बन्धन का प्रयोजक है ( सः ) वह ( विश्वकृत् ) जगत् रचने वाला ( विश्वविद् ) और जगत् का जानने वाला ( आत्मयोनिः ) स्वयंभू ( ज्ञः ) चेतन ( कालकारः ) कालविभाग का कर्त्ता ( गुणी ) सद्गुणों से युक्त ( सर्ववित् ) सर्वज्ञ है ॥

स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता ।

य ईशो अस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुवर्धित ईशानाय ॥ १७ ॥

पदपाठः—सः १ । तन्मयः १ । हि अ० । असृतः १ । ईशसंस्थः १ । ज्ञः १ । सर्वगः १ । भुवनस्य ६ । अस्य ६ । गोप्ता १ । यः १ । ईशे क्रि० । अस्य ६ ।



जगतः ६ । नित्यम् २ । एव अ० । न अ० । अन्यः १ । हेतुः १ । विद्यते क्रि० ।  
ईशनाय ४ ॥ १७ ॥

अश्वितपदार्थः—(सः) (तत्त्वयः) आत्मस्यः, न कस्य चित्कार्यरूपः (हि) निश्चयेन (अमृतः) (ईशसंस्थः) ईशे स्वस्वरूपे संस्था स्थितिर्यस्याऽविकृत इत्यर्थः । (ज्ञः) चेतनः एतेनाऽचेतनत्वं वारितम् (सर्वगः) एतेन देशकालवस्तुपरिच्छेदो वारितः । (अस्य, भुवनस्य, नित्यम्, एव, गोप्ता) (यः, अस्य, जगतः) (ईशे) ईष्टे (अन्यः) अपरः (हेतुः) कारणम् (ईशनाय, न, विद्यते) ॥ १७ ॥

भा०—(सः) वह (तन्मयः) आत्ममय है, किसी अन्य का विकार नहीं ।  
(हि) निश्चय (अमृतः) अमर है (ईशसंख्यः) एकरस है (ज्ञः) चेतन है (सर्वगः)  
विभु है (अस्य, भुवनस्य, नित्यम्, एव, गोप्ता ) इस, जगत् की, नित्य, ही,  
रक्षा करता है (यः) जो (अस्य, जगतः) इस, जगत् की (ईशे) ईश्वरता करता  
है (ईशनाय) अधीन रखने के लिये (अन्यः, हेतुः) अन्य, कारण ( न, विद्यते)  
नहीं है ॥ १७ ॥

A decorative horizontal border consisting of a series of repeating stylized floral or star-like motifs.

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्राहिणोति तस्मै ।

त० ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥१८॥

पदपाठः—यः १ । ब्रह्माणम् २ । विदधाति क्रि० । पूर्वम् २ । यः १ । वै अ० ।  
वेदान् २ । च अ० । ग्रहिणोति क्रि० । तस्मै ४ । तम् २ । ह अ० । देवम् २ ।  
आत्मबुद्धिप्रकाशम् २ । मुमुक्षुः १ । वै अ० । शरणम् २ । अहम् १ । प्रपद्ये क्रि० ॥१८॥

अन्वितपदार्थः—आसन्नायां ग्रन्थसमाप्तौ श्वेताश्वतरादिषु ग्रन्थेक ऋषिरात्मसमर्पणं करोति—

(यः, पूर्वं, ब्रह्माणं, विदधाति, तस्मै, वेदान्, च, प्रहिणोति, तम्, आत्म-  
बुद्धिप्रकाशं, देवम् । मुमुक्षुः, अहं, वै, शरणम्, प्रपद्ये ) ॥

यः सृष्ट्यादौ सदा वेदज्ञमुत्पाद्य तस्मै वेदान् प्रददाति तं परमात्मानं शरणं प्रपन्नोऽस्मि इति प्रत्येकस्य ऋषेरुक्तिः ॥१८॥

भा०—अब ग्रन्थ समाप्त होने को है इसलिये प्रत्येक ऋषि परमात्मा के शरण में आत्मसमर्पण करता है कि—(यः) जो (पूर्वम्) आदि में ( ब्रह्माणम् ) वेदवेत्ता को ( विदधाति ) बनाता (च) और (तस्मै) उस के लिये ( वेदान् ) वेदों का (प्रहिणोति) प्रदान करता है ( वै ) निश्चय ( तम्, आत्मबुद्धिप्रकाशम्,



देवम् ) उस, आत्मा और बुद्धि के प्रकाशक, देव को (अहं, मुमुक्षुः) मै, मोक्षार्थी (शरणं, प्रपद्ये) शरण, आता हूँ ॥१८॥

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ॥

अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ॥१९॥

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ॥

तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥२०॥

पदपाठः—निष्कलम् २ । निष्क्रियम् २ । शान्तम् २ । निरवद्यम् २ । निर-  
ञ्जनम् २ । अमृतस्य ६ । परम् २ । सेतुम् २ । दग्धेन्धनमिव अ० । अनलम् २  
॥१९॥ यदा अ० । चर्मवत् अ० । आकाशम् २ । वेष्टयिष्यन्ति क्रि० । मानवाः  
१ । तदा अ० । देवम् २ । अविज्ञाय अ० । दुःखस्य ६ । अन्तः १ । भविष्यति  
क्रि० ॥ २० ॥

अन्वितपदार्थः—(यदा) यस्मिन्काले (मानवाः) मनुष्यास्तदुपलक्षिता अन्ये  
जन्तवश्च ( चर्मवत् ) त्वग्वत् ( आकाशं, वेष्टयिष्यन्ति ) कोर्य आकाश एव  
सर्वतोवेष्टितो भविष्यति नान्यत् किमपि । अर्थात् प्रलयोभविष्यति ( तदा )  
तस्मिन्काले ( निष्कलं, निष्क्रियं, शान्तं, निरवद्यं, निरञ्जनम्, अमृतस्य परं सेतुं,  
दग्धेन्धनमिव, अनलम्, देवम् ) ( अविज्ञाय ) अज्ञात्वैव ( दुःखस्य अन्तो  
भविष्यति ) । प्रलये सर्वजीवानां परमात्मज्ञानमन्तरेणैव सर्वदुःखनिवृत्तिस्तु  
सुषुप्ताविव भविष्यति परन्तु नाऽऽनन्दप्राप्तिः । अतएव पूर्णानन्दप्राप्तयेऽस्माभिः  
प्रयत्नः कर्तव्य इत्यर्थः ॥ १९ ॥ २० ॥

भा०—( यदा ) जब ( मानवाः ) मनुष्यादिप्राणी ( चर्मवत् ) त्वचा के  
समान ( आकाशं वेष्टयिष्यन्ति ) आकाश को ही सब ओर वेष्टित करेंगे ( तदा )  
तब ( निष्कलम्, निष्क्रियं, शान्तं, निरवद्यं, निरञ्जनम्, अमृतस्य परं सेतुं,  
दग्धेन्धनमिव अनलं, देवम् ) अखण्ड, अकम्प, शान्त, निर्दोष, उज्ज्वल,  
मोक्ष के परम, पहुँचानेवाले, निर्धन अग्नि के समान प्रकाशमान, परमात्मा  
को ( अविज्ञाय ) विना जाने ( दुःखस्य, अन्तः, भविष्यति ) दुःख का, अन्त,  
होजायगा ॥

तात्पर्य यह है कि जब प्रलय होगा और सब को अपने चारों ओर  
आकाश ही आकाश घिरा पाया जायगा अन्य कुछ नहीं । तब यद्यपि सुषुप्ति



के समान दुःख का अभाव होजायगा परन्तु वहां आनन्द की प्राप्ति होगी । इस लिये उपनिषद् का मुख्य तात्पर्य जो केवल दुःख से छूटना ही नहीं किन्तु दुःख से छूट कर आनन्द की प्राप्ति है सो ब्रह्मज्ञान विना असम्भव होने से ज्ञान का उपाय करना उचित है ॥ १९ ॥ २० ॥

उपनिषत् समाप्ता । इदानीं श्वेताश्वतरमहर्षेर्विषयेऽपरः कश्चित् पुस्तकप्रकाशक आह—

तपः प्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वाम् ।

अन्त्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम् ॥ २१ ॥

अश्रितपदार्थः—गुरुपरम्परया ब्रह्मविद्याया मोक्षप्रदत्वं प्रदर्शयितुं परम्परां तदधिकारिणं च दर्शयति—( श्वेताश्वतरः, विद्वान् ) (अथ ) स्वानुभवदाढ्यान्तरम् ( तपः प्रभावात् ) तपसोवेदाध्ययनादेः प्रभावात् ( देवप्रसादात् च ) परेशकृपया च ( परमं, पवित्रं, सम्यगृषिसंघजुष्टम्, ब्रह्म, ह ) कर्मभूतम् ( अन्त्याश्रमिभ्यः ) संन्यासिभ्यः ( प्रोवाच ) ॥

पूर्वं स्वयं ज्ञात्वाऽनन्तरमन्येभ्य उपदेष्टव्यमिति भावः ॥ २१ ॥

भा०—ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषद् समाप्त हुई अब श्वेताश्वतर के विषय में कोई अन्य पुरुष पुस्तक का प्रकाशक कहता है कि—(अथ) इस के पश्चात् ( विद्वान् श्वेताश्वतरः ) ब्रह्मज्ञानी श्वेताश्वतर ने ( तपःप्रभावात् ) तप के प्रभाव (च) और ( देवप्रसादात् ) ईश्वर की कृपा से ( परमं, पवित्रं, सम्यगृषिसंघजुष्टं, ब्रह्म ) परम, पवित्र, अच्छे प्रकार ऋषिसमुदाय से सेवित, ब्रह्म का ( अन्त्याश्रमिभ्यः ) संन्यासियों को (प्रोवाच) उपदेश किया (ह) ऐसा प्रसिद्ध है ॥

अर्थात् श्वेताश्वतरादि ऋषियों ने परस्पर विचार करके इस उपनिषद् में लिखे अनुसार ब्रह्मज्ञान में अपना पूर्ण निश्चय किया और फिर उन में से श्वेताश्वतर ने अन्य संन्यासियों को बताया । इसी प्रकार सब को चाहिये कि प्रथम स्वयं जान कर अन्यो को उपदेश करें ॥२१॥

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम् ।

नाऽप्रशान्ताय दातव्यं नाऽपुत्राया ऽशिष्याय वा पुनः ॥२२॥

अश्रितपदार्थः—( तेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम् ) इदं शास्त्रम् (अप्रशान्ताय वा अपुत्राय पुनः अशिष्याय न दातव्यम्) ॥

ज्ञानमिदं प्रशान्ताय पुत्राय शिष्याय च दातव्यम् । पुत्रशिष्ययोः प्रशान्तो



विशेषणम् । अनधिकारिणे दत्तमूषरोपं बीजमिव निष्फलं न वृथा करणीयमे-  
त्याशयः ॥ २२ ॥

भा०-( वेदान्ते ) वेदान्त शास्त्र में ( परमं गुह्यम् ) परम गूढ ( पुराकल्पे,  
प्रचोदितम् ) प्राचीन समय में, वर्णित इस ज्ञान को ( अप्रशान्ताय, अपुत्राय,  
वा पुनः, अशिष्याय ) जो शान्त नहीं, पुत्र नहीं, और, शिष्य नहीं उसे ( न  
दातव्यम् ) न दे ॥

जैसे ऊपर में बीज बोने से वृथा जाता है ऐसे ही अनधिकारी के साथ  
बकवाद करने से ज्ञान भी वृथा जाता है । इसलिये शान्तस्वभाव अपने पुत्रों  
और शिष्यों को उपदेश करना चाहिये । जिसे उपदेश ग्रहण करना हो उसे  
अद्वापूर्वक विद्वान् का शिष्य बन कर सीखना चाहिये ॥ २२ ॥

यस्य देवे पराभक्तिर्यस्य देवे तथा गुरौ ॥

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः । प्रकाशन्ते  
महात्मनः ॥ २३ ॥ ओं पूर्णमदः० । ओं भद्रं कर्णे० । ओं सहना-  
ववतु० ॥ शान्तिः ३ ॥

इति श्वेताश्वतरोपनिषदि षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

समाप्तोपनिषच्च ॥

अन्वितपदार्थः-( यस्य, महात्मनः, देवे, परा, भक्तिः, यस्य, यथा, देवे,  
तथा, गुरौ, ) [ परा भक्तिः ] तस्य, कथिताः, हि, एते, अर्थाः, प्रकाशन्ते ) पुनः  
पाठोग्रन्थसमाप्तिसूचनार्थः । देवगुर्वोः पूर्णभक्तौ साम्यं नान्यत्र ॥ २३ ॥

भा०-जिस, महात्मा की, ईश्वर में, पूर्ण, भक्ति हो । जिस की, जैसी, ईश्वर  
में, वैसी, गुरु में [ पूर्ण भक्ति हो ] उस को, उपदेश किये हुवे, ही, ये, अर्थ,  
समझे जाते हैं ॥

ईश्वर में जैसी भक्ति पूर्ण हो वैसी गुरु में भी हो किन्तु यह नहीं कि गु-  
को ईश्वर वा उस के समान माने । प्रकाशन्ते महात्मनः । यह प-  
वार ग्रन्थसमाप्ति को सूचित करता है ॥ २३ ॥ ओं पूर्ण० इत्यादि मङ्गलार्थ हैं ॥

इति तुलसीरामस्वामिकृते श्वेताश्वतरोपनिषद्वाङ्मयषष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

उपनिषच्च समाप्ता ॥



## स्वामियन्त्रालय मेरठ के पुस्तकों का सूचीपत्र ॥

दभाष्य सजिल्द २९) भूमिका विनाजिल्द २॥) सजिल्द २॥॥-) पञ्च-  
विधि ॥ सजिल्द १-) ॥ उणादिकोष ॥-) निरुक्त १) संस्कारविधि १।)  
शतपथ १ काण्ड ॥ वर्णोच्चारणशिक्षा -) आर्य्यभि-  
जिल्द ॥-) आर्य्यसमाज के नियमोपनियम ॥ हवनमन्त्र ॥  
मुदी भाषा टीका सहित १॥॥) कपड़े की जिल्द सहित २) दशोप-  
मूल, कपड़े की जिल्द १॥) भर्तृहरिनीति, वैराग्य शतक भा० टी० ॥॥  
त्र पूर्वार्द्ध ॥॥) सीताचरित्र नावल हिन्दी प्रथ० ॥॥) गीता भाषा टीका  
सत्यसत्यविचार -)। वेश्यानाटक ॥॥) आर्य्यसमाज के नियम ॥  
पाख्यान का विज्ञापन =) सेंकड़ा। दसयन्तीस्वयंवरनाटक ॥) सभा-  
शामी जी का चित्र रङ्गीन -)॥ पं० गुरुदत्त का चित्र [रङ्गीन] -)॥  
चित्रदोनों प्रत्येक -) प्रबन्धाकाँदय १-) अष्टाध्यायी मूल ॥) अङ्गुलिगणिता-  
॥ ॥) ऐतिहासिकनिरीक्षण [ पं० लेखराम ] =) क्या स्वामी दयानन्द  
॥ ॥) अबलाविनय ॥) वैदिकदेवपूजा -)॥ चाणक्यनीतिसार भाषा  
प्रश्नोत्तररत्नमाला भाषा टीका और आर्य्यविद्याहमङ्गलाष्टक -) आ-  
री ॥) भजनेन्दु -) सहन्त ब्रह्मकुशल के उत्तर में ऋगादिभाष्यभूमि-  
यमोंशः -)॥ द्वितीयोंशः -)॥ शास्त्रार्थकिराणा -) देवनागरीव-  
मनुसांसाशननिषेध -) अज्ञाननिवारण इस में पादरी खड्गसिंह के  
का उत्तर है -)॥ पं० गुरुदत्त एम० ए० का ईशोपनिषद्भाष्य ॥  
दयानन्दस० जी कृत पुस्तकें छोड़कर अन्य पुस्तकों पर कमीशन ४)  
में १०) के दिये जायेंगे ॥

### भावप्रकाश १०)

यह वैद्यक का प्रसिद्ध ग्रन्थ संस्कृत तथा भाषा दोनों टीके सहित है ।

आप का सुहृद्-तुलसीराम स्वामी सम्पादक वेदप्रकाश-मेरठ

## सुरमा

प्रमुखाञ्जन सुरमा-आजकल बारीक अक्षर पढ़ने वालों की तथा नेत्र-

सब रोगोंमें अतिलाभदायक है ॥) तोला श्वेत ॥-) तोला

) ज्वरप्रभस्म-नित्य, तेइया, जाड़ेके ज्वरमें, खांसी में अतिलाभदायक १)

सारासि चूर्ण-दस्त रोकनेको ॥) डिब्बी ।

सीकी गोली-८ घड़ीमें आराम लिखा है १०८ गोली १)

प्रसूतारि-प्रसूतमें लाभदायक १) बोटल । ३ पावकी

ददुप्र दादकी दवा ३ दिनमें आराम १) डिब्बी

पं० कुहनलाल स्वामी-परीक्षितगढ़ जि० मेरठ



केवल ३१ । १२ । १७ तक ही

## ॥) की संस्कृत-भाषा-चतुर्थ पुस्तक का ॥) का

जिन लोगों ने इस से पूर्व बिना गुरु के संस्कृत व्याकरण का साधन  
कराने, संस्कृत बोलने, लिखने, अनुवाद (तर्जुमा) सिखाने वाली  
भाषा प्रथम, द्वितीय, तृतीय, पुस्तकों को पढ़ा है और चतुर्थ पुस्तक को  
२ वर्ष से सहस्रावधि पत्र लिख रहे हैं उन का सूचीपत्र हम ने  
अतः उन सब की सूचना है कि अब यह पुस्तक अर्थात् १० प्रक्रिया,  
१० प्रक्रिया, कारक, समास, तद्धित, और अव्ययों तथा सर्वनामों  
प्रकरण पर साधारण सुगम प्रयोग, नियम और उदाहरणों सहित  
तैयार होगया है ॥ प्रथम पुस्तक छः बार में १००० पुस्तक रूप में  
पुस्तक छपे । ऐसा ही तृतीय पुस्तक ४५०० रूप में छपने लगे  
छपवाते समय हम यह नहीं जानते थे कि सर्वसाधारण सुगम  
उपयोगी बनकर हमारा अम सफल करेंगे इसलिये इस पुस्तक  
१०० ही छपाया । छपने के बीच में बहुत ग्राहक मिलते हुये हैं  
हिये शीघ्र संगाले ॥ सूच्य प्रथम ० पु ॥॥ द्वि०-॥ तृ०-॥ चतुर्थ ॥  
परन्तु चारों भाग एकसाथ लेने पर केवल ॥॥) बची जिसका ॥॥) पत्र  
॥॥) केवल ३१ । १२ । १७ तक रहेगा फिर ॥॥) होना होगा ॥॥)

## “ऋगादिभाष्यभूमिकेन्दूपरामे द्वितीयोऽध्याः ॥

ऐसा और इतना संक्षेप से अब तक कोई नहीं दया । अथवा  
“मन्त्रब्राह्मण दोनों वेद हैं वा क्या” ? इत्यादिका निर्णय ११ प्रश्नों से  
है । इस में अथर्ववेद तैत्तिरीय शतपथब्रा० साङ्ख्य कात्यायन की  
परिशिष्ट मीमांसा मनुस्मृति ऐतरेयब्रा० अष्टाध्यायी महाभाष्य की  
अमरकोश लघुशब्देन्दुशेखर निरुक्त सायणभाष्य ऋग्वेद यजुर्वेद  
सामवेद दर्शन तैत्तिरीयआरण्यक पिङ्गलसूत्र चरण्यसूत्र व्याख्यारत्नकर  
व्यास के प्रमाण सङ्ग्रह कर के (मैंने) तुलसीराम स्वामी से बनाया ॥  
गण्यसमाप्ति को सूचितः (इस में अदितिकी कथा दर्शनीय है) ॥

इति तुलसीरामस्व

तुलसीराम स्वामी सम्पादक वेदप्रकाश

स्वामियन्त्रालय-मेरठ



साम्ब  
बाली  
साम्ब

साम्ब  
बाली  
साम्ब

साम्ब  
बाली  
साम्ब

साम्ब  
बाली  
साम्ब

साम्ब  
बाली  
साम्ब

साम्ब  
बाली  
साम्ब

साम्ब  
बाली  
साम्ब

साम्ब  
बाली  
साम्ब

साम्ब  
बाली  
साम्ब



ब  
श  
रि  
पु  
व  
व  
र  
पु  
ह  
र  
वै  
मे ज  
ई  
ई  
म  
म







४७

११२

विशेष

स्याश

प्रचो

वा पु

दातव

अकव

और

अहुत

मह

वव

तथा,

पाठो

में, वै

समझे ज

ईष्ट

को ईष्ट

वार ग्रन्

Gurukul



Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



पुस्तकालय

**गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार**

वर्ग संख्या २२५

आगत संख्या ७३५५

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित  
30 वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए  
अन्यथा 50 पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब शुल्क लगेगा।

---



गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार  
उत्तरकाशी  
संख्या गुरुकुल कांगड़ी विभाग आदि  
संख्या १



